Shri Atmananda Jain Granth Ratnamala Serial No. 88

# BRIHAT KALPA SUTRA

AND

# ORIGINAL NIRYUKTI

OF

## STHAVIR ARYA BHADRABAHU SWAMI

AND

A Bhashya by Shri Sanghadas Gani Kshamashramana thereon with a Commentary begun by Acharya Shri Malayagiri and Completed by *Acharya Shri Kshemakirti.*

---

Volume V

FOURTH AND FIFTH UDDESHAS

EDITED BY

GURU SHRI CHATURVIJAYA

AND HIS

SHISHYA PUNYAVIJAYA

THE FORMER BEING THE DISCIPLE OF

PRAVARTAKA SHRI KANTIVIJAYAJI

INITIATED BY

NYAYAMBHONIDHI SHRIMAD VIJAYANANDA SURIJI

1st ACHARYA OF

BRIHAT TAPA GACHCHHA SAMVIGNA SHAKHA.

---

**Publishers:—SHRI ATMANAND JAIN SABHA, BHAVNAGAR**

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| Vir Samvat 2463 | | Copies 500 | Atma Samvat | 42 |
| Vikrama Samvat 1994 | | | A. D. | 1938 |

Printed by Ramchandra Yesu Shedge,
at the Nirnaya Sagar Press,
26-28, Kolbhat Street,
Bombay.



Published by Vallabhadas Tribhuvandas
Gandhi, Secretary, Shree Jain
Atmananda Sabha,
Bhavnagar.

श्रीआत्मानन्द-जैनग्रन्थरत्नमालाया अष्टाशीतितमं रत्नम् ( ८८ )

स्थविर-आर्यभद्रबाहुस्वामिप्रणीतस्वोपज्ञनिर्युक्त्युपेतं

# बृहत् कल्पसूत्रम् ।

श्रीसङ्घदासगणिक्षमाश्रमणसूत्रितेन भाष्येणोपबृंहितम् ।

जैनागम-प्रकरणाद्यनेकग्रन्थातिगूढार्थप्रकटनप्रौढटीकाविधानसमुपलब्ध-
'समर्थटीकाकारे'तिख्यातिभिः श्रीमद्भिर्मलयगिरिसूरिभिः
प्रारब्धया बृद्धपोशालिकतपागच्छीयैः श्रीक्षेमकीर्त्त्या-
चार्यैः पूर्णीकृतया च वृत्त्या समलङ्कृतम् ।

तस्यायं

## प ञ्च मो वि भा गः

## चतुर्थ-पञ्चमावुद्देशकौ ।

तत्सम्पादकौ—

सकलागमपरमार्थप्रपञ्चनप्रवीण-बृहत्तपागच्छान्तर्गतसंविग्नशाखीय—आद्याचार्य—
न्यायाम्भोनिधि—श्रीमद्विजयानन्दसूरीश( प्रसिद्धनाम—श्रीआत्मारामजी—
महाराज )शिष्यरत्नप्रवर्त्तक-श्रीमत्कान्तिविजयमुनिपुङ्गवानां
शिष्य-प्रशिष्यौ चतुरविजय-पुण्यविजयौ ।

प्रकाशं प्रापयित्री—

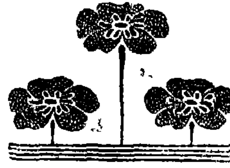
भावनगरस्था श्रीजैन-आत्मानन्दसभा ।

वीरसंवत् २४६५
ईस्वी सन १९३८

प्रतयः ५००

विक्रमसंवत् १९९४
आत्मसंवत् ४२

इदं पुस्तकं मुम्बय्यां कोलभाटवीथ्यां
२६-२८ तमे गृहे निर्णयसागर-
मुद्रणालये रामचन्द्र येसु शेडगे-
द्वारा मुद्रापितम्



प्रकाशितं च तत् "वल्लभदास त्रिभुवनदास
गांधी, सेक्रेटरी श्रीआत्मानन्द जैन
सभा, भावनगर" इत्यनेन

बृहत्तपागच्छान्तर्गत संविग्नशाखीय आद्याचार्य

न्यायाम्भोनिधि श्री १००८ श्री विजयानन्द सूरि

पट्ट प्रतिष्ठित आचार्यप्रवर



जन्म विक्रम संवत [illegible]

श्री १००८ श्री विजयवल्लभसूरि महाराज

आचार्यपदारोहण—विक्रम संवत [illegible] लाहोर

चारित्रसुवर्णोत्सव विक्रम संवत [illegible] ज्येष्ठ वदि [illegible]



# वल्लभ-सुवर्ण-स्मरणम्

विश्वनी महाविभूतिसमा, ज्ञान-तपोमूर्ति, जैनशासनप्रभावक,

बृहत्तपोगच्छान्तर्गत संविग्नशाखीय आद्याचार्य,

न्या या म्भो नि धि

श्री १००८ श्री विजयानन्द सूरीश्वर

प्रसिद्धनाम श्रीआत्मारामजी महाराजना

विश्वमान्य, सुवर्णोज्ज्वलनामधेय, पुनित पट्टधर

## आचार्य भगवान

## श्री १००८ श्री विजयवल्लभ सूरिवरना

चारित्रार्धशताब्दिरूप चारित्रसुवर्णोत्सवना पवित्र स्मरणमां

सुवर्णालङ्कृत बृहत्कल्पसूत्रनो पञ्चम विभाग

तेओश्रीना सुवर्णोज्ज्वल सुकोमळ करकमलमां समर्पण

करीए छीए.

संवत १९९४ ज्येष्ठ वदि ९

ता. २२-६-१९३८

पाटण

निवेदको-गुरु-शिष्य

मुनि चतुरविजय-पुण्यविजय

## बृहत्कल्पसूत्रपञ्चमविभागसंशोधनकृते सङ्गृहीतानां प्रतीनां सङ्केताः ।

भा० पत्तनस्थभाभापाटकसत्कचित्कोशीया प्रतिः ।
डे० अमदावाददेलाउपाश्रयभाण्डागारसत्का प्रतिः ।
मो० पत्तनान्तर्गतमोंकामोदीभाण्डागारसत्का प्रतिः ।
ले० पत्तनसागरगच्छोपाश्रयगतलेहेरुवकीलसत्कज्ञानकोशगता प्रतिः ।
कां० प्रवर्तकश्रीमत्कान्तिविजयसत्का प्रतिः ।
तामू० पत्तनीयश्रीसङ्घभाण्डागारसत्का ताडपत्रीया मूलसूत्रप्रतिः ।
ताटी० पत्तनीयश्रीसङ्घभाण्डागारसत्का ताडपत्रीया टीकाप्रतिः ।
ताभा० पत्तनीयश्रीसङ्घभाण्डागारसत्का ताडपत्रीया भाष्यप्रतिः ।

प्रकाश्यमानेऽस्मिन् ग्रन्थेऽस्माभिर्येऽशुद्धाः पाठाः प्रतिषूपलब्धास्तेऽस्मत्कल्पनया संशोध्य ( ) एतादृग्वृत्तकोष्ठकान्तः स्थापिताः सन्ति, दृश्यतां पृष्ठ १० पङ्क्ति २६, पृ० १७ पं ३०, पृ० २५ पं० १२, पृ० ३१ पं० १७, पृ० ४० पं० २४ इत्यादि । ये चास्माभिर्गलिताः पाठाः सम्भावितास्ते [ ] एतादृक्चतुरस्रकोष्ठकान्तः परिपूरिताः सन्ति, दृश्यतां पृष्ठ ३ पंक्ति ९, पृ० १५ पं० ६, पृ० २८ पं० ५, पृ० ४९ पं० २६ इत्यादि ।

## प्रकाश्यमानेऽस्मिन् ग्रन्थे
## टीकाकृताऽस्माभिश्च निर्दिष्टानामवतरणानां
## स्थानदर्शकाः सङ्केताः ।

| | |
|---|---|
| अनुयो० | अनुयोगद्वारसूत्र |
| आचा० श्रु० अ० उ० | आचाराङ्गसूत्र श्रुतस्कन्ध अध्ययन उद्देश |
| आव० हारि० वृत्तौ | आवश्यकसूत्र हारिभद्रीयवृत्तौ |
| आव० नि० गा० / आव० निर्यु० गा० | आवश्यकसूत्र निर्युक्ति गाथा |
| आव० मू० भा० गा० | आवश्यकसूत्र मूलभाष्य गाथा |
| उ० सू० | उद्देश सूत्र |
| उत्त० अ० गा० | उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन गाथा |
| ओघनि० गा० | ओघनिर्युक्ति गाथा |
| कल्पबृहद्भाष्य | बृहत्कल्पबृहद्भाष्य |
| गा० | गाथा |
| चूर्णि | बृहत्कल्पचूर्णि |
| जीत० भा० गा० | जीतकल्पभाष्य गाथा |
| तत्त्वार्थ० | तत्त्वार्थाधिगमसूत्राणि |
| दश० अ० उ० गा० | दशवैकालिकसूत्र अध्ययन उद्देश गाथा |
| दश० अ० गा० / दशवै० अ० गा० | दशवैकालिकसूत्र अध्ययन गाथा |
| दश० चू० गा० | दशवैकालिकसूत्र चूलिका गाथा |
| देवेन्द्र० गा० | देवेन्द्र-नरकेन्द्रप्रकरणगत देवेन्द्रप्रकरण गाथा |
| नाट्यशा० | भरतनाट्यशास्त्रम् |
| पञ्चव० गा० | पञ्चवस्तुक गाथा |
| पिण्डनि० गा० | पिण्डनिर्युक्ति गाथा |
| प्रज्ञा० पद | प्रज्ञापनोपाङ्गसटीक पद |
| प्रशम० आ० | प्रशमरति आर्या |
| मल० | मलयगिरीया टीका |
| महानि० अ० | महानिशीथसूत्र अध्ययन |
| विशे० गा० | विशेषावश्यकमहाभाष्य गाथा |
| विशेषचूर्णि | बृहत्कल्पविशेषचूर्णि |

| | |
|---|---|
| व्य० भा० पी० गा० | व्यवहारसूत्र भाष्य पीठिका गाथा |
| व्यव० उ० भा० गा० | व्यवहारसूत्र उद्देश भाष्य गाथा |
| श० उ० | शतक उद्देश |
| श्रु० अ० उ० | श्रुतस्कन्ध अध्ययन उद्देश |
| सि० / सिद्ध० | सिद्धहेमशब्दानुशासन |
| सि० हे० औ० सू० | सिद्धहेमशब्दानुशासन औणादिक सूत्र |
| हैमाने० द्विस्व० | हैमानेकार्थसङ्ग्रह द्विस्वरकाण्ड |

यत्र टीकाकृद्भिर्ग्रन्थाभिधानादिकं निर्दिष्टं स्यात् तत्रास्माभिरुल्लिखितं श्रुतस्कन्ध-अध्ययन-उद्देश-गाथादिकं स्थानं तत्तद्ग्रन्थसत्कं ज्ञेयम्, यथा पृष्ठ १५ पं० ९ इत्यादि। यत्र च तन्नोल्लिखितं भवेत् तत्र सामान्यतया सूचितमुद्देशादिकं स्थानमेतत्प्रकाश्यमानबृहत्कल्पसूत्रग्रन्थसत्कमेव ज्ञेयम्, यथा पृष्ठ २ पंक्ति २-३-४, पृ० ५ पं० ३, पृ० ८ पं० २७, पृ० ११ पं० २७, पृ० ६७ पं० १२ इत्यादि।

---

## प्रमाणत्वेनोद्धृतानां प्रमाणानां स्थानदर्शक-ग्रन्थानां प्रतिकृतयः।

| | |
|---|---|
| अनुयोगद्वारसूत्र— | शेठ देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फंड सुरत। |
| अनुयोगद्वारसूत्र चूर्णी— | रतलाम श्रीऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था। |
| अनुयोगद्वारसूत्र सटीक (मलधारीया टीका) — | शेठ देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड सुरत। |
| आचाराङ्गसूत्र सटीक— | आगमोदय समिति। |
| आवश्यकसूत्र चूर्णी— | रतलाम श्रीऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था। |
| आवश्यकसूत्र सटीक (श्रीमलयगिरिकृत टीका) — | आगमोदय समिति। |
| आवश्यकसूत्र सटीक (आचार्य श्रीहरिभद्रकृत टीका) — | आगमोदय समिति। |
| आवश्यक निर्युक्ति— | आगमोदय समिति प्रकाशित हारिभद्रीय टीकागत। |
| ओघनिर्युक्ति सटीक— | आगमोदय समिति |
| कल्पचूर्णि— | हस्तलिखित। |
| कल्पबृहद्भाष्य— | " |
| कल्पविशेषचूर्णि— | " |
| कल्प-व्यवहार-निशीथसूत्राणि— | जैनसाहित्यसंशोधक समिति। |

| | |
|---|---|
| जीवाजीवाभिगमसूत्र सटीक— | आगमोदय समिति । |
| दशवैकालिक निर्युक्ति टीका सह— | शेठ देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड सुरत । |
| दशाश्रुतस्कन्ध अष्टमाध्ययन ( कल्पसूत्र ) — | शेठ देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फंड सुरत । |
| देवेन्द्रनरकेन्द्र प्रकरण सटीक— | श्रीजैन आत्मानन्दसभा भावनगर । |
| नन्दीसूत्र सटीक ( मलयगिरिकृत टीका ) — | आगमोदय समिति । |
| नाट्यशास्त्रम्— | निर्णयसागर प्रेस मुंबई । |
| निशीथचूर्णि— | हस्तलिखित । |
| पिण्डनिर्युक्ति— | शेठ देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फंड सुरत । |
| प्रज्ञापनोपाङ्ग सटीक— | आगमोदय समिति । |
| बृहत्कर्मविपाक— | श्रीजैन आत्मानन्द सभा भावनगर । |
| महानिशीथसूत्र— | हस्तलिखित । |
| राजप्रश्नीय सटीक— | आगमोदय समिति । |
| विपाकसूत्र सटीक— | ,, |
| विशेषणवती— | रतलाम श्रीऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था । |
| विशेषावश्यक सटीक— | श्रीयशोविजय जैन पाठशाला बनारस । |
| व्यवहारसूत्रनिर्युक्ति भाष्य टीका— | श्रीमाणेकमुनिजी सम्पादित । |
| सिद्धप्राभृत सटीक— | श्रीजैन आत्मानन्द सभा भावनगर । |
| सिद्धहेमशब्दानुशासन— | शेठ मनसुखभाई भगुभाई अमदाबाद । |
| सिद्धान्तविचार— | हस्तलिखित । |
| सूत्रकृताङ्ग सटीक— | आगमोदय समिति । |
| स्थानाङ्गसूत्र सटीक | ,, |



॥ अर्हम् ॥

# प्रासंगिक निवेदन ।

निर्युक्ति-भाष्य-वृत्तिसहित बृहत्कल्पसूत्रना आ अगाउ अमे चार विभाग प्रसिद्ध करी चूक्या छीए । आजे एनो पांचमो विभाग प्रसिद्ध करवामां आवे छे । आ विभागमां बृहत्कल्पसूत्रना चोथा पांचमा उद्देशानो समावेश करवामां आव्यो छे । आ विभागनी समाप्ति साथे प्रस्तुत ग्रन्थना मनाता ४२६०० श्लोक प्रमाण पैकी लगभग ४०००० श्लोक सुधीनो अंश समाप्त थाय छे ।

प्रस्तुत विभागना संशोधनमां, चोथा विभागना "प्रासङ्गिक निवेदन"मां जणावेल तृतीयखंडनी छ प्रतिओ उपरांत **मो० ले०** प्रतिना चतुर्थखंडनी प्रतिओनो पण अमे उपयोग कर्यो छे, जेनो परिचय आ नीचे आपवामां आवे छे ।

## चतुर्थखंडनी मो० ले० प्रतिओ

**१ मो० प्रति**—आ प्रति **पाटण-सागरगच्छना** उपाश्रयमां रहेला शेठ **मोंका मोदीना** ज्ञानभंडारनी छे । एनां पानां ८२ छे । दरेक पानानी पूठीदीठ सत्तर सत्तर लीटीओ छे अने ए दरेक लीटीमां ६९–७६ अक्षरो छे । प्रतिनी लंबाई १३॥। इंचनी अने पहोळाई ५। इंचनी छे । प्रतिना अंतमां लेखकनी पुष्पिका आदि कशुंय नथी; ते छतां आ ग्रंथ एक ज लेखकना हाथे लखाएल होई तेना पहेला बीजा खंडो अनुक्रमे संवत १५७३–७४ मां लखाएला होवाथी आ चोथो खंड संवत १५७५–७६ मां लखाएल हशे एमां जरा पण शंकाने स्थान नथी । कारण के–लेखके आ प्रतिनो पहेलो खंड संवत १५७३ ना अषाड महिनामां पूर्ण कर्यो छे अने एनो बीजो खंड संवत १५७४ ना भाद्रवा महिनामां समाप्त कर्यो छे; एटले जो लेखके आ ज गतिए प्रस्तुत ग्रन्थना त्रीजा चोथा खंडो लख्या होय तो संभव छे के–आ त्रीजा चोथा खंडो अनुक्रमे संवत १५७५–७६ मां लखाएला होवा जोइए । आ प्रति जीर्णप्राय स्थितिमां छे । प्रति **मोदीना** भंडारनी होई एनी अमे **मो०** संज्ञा राखी छे ।

**२ ले० प्रति**—आ प्रति **पाटण-सागरगच्छना** उपाश्रयमां रहेला **लेहेरु** वकीलना ज्ञानभंडारनी छे । एनां पानां ७७ छे । दरेक पानानी पूठीदीठ सत्तर सत्तर लीटीओ छे अने दरेक लीटीमां ७४–७९ अक्षरो छे । प्रतिनी लंबाई १३ इंचनी अने पहोळाई ५ इंचनी छे । प्रतिना अंतमां लेखकनी पुष्पिका वगेरे कशुं य नथी; ते छतां आ ग्रंथ एक ज लेखकना हाथे लखाएल होई तेनो प्रथमखंड संवत १५७८ ना आसो मासमां लखाएल होवाथी बाकीना बीजा खंडो ते पछीना वर्षमां लखाएला छे एमां लेश पण शंकाने स्थान नथी । प्रतिनी स्थिति जीर्णप्राय छे । प्रति **लेहेरु** वकीलना भंडारनी होई एनी अमे **ले०** संज्ञा राखी छे ।

आ बन्ने य प्रतिओ अमे उपरोक्त भंडारोनी संरक्षक हेमचन्द्रसभा द्वारा मेळवी छे ।

## प्रतिओनी समविषमता

प्रस्तुत ग्रन्थना प्रसिद्ध करवामां आवेला चार विभागोमां हस्तलिखित प्रतिओनी समविषमताने अंगे अमे जे हकीकत जणावी छे ते करतां आ विभागमां एने अंगे अमारे जुदुं ज कहेवानुं छे । पहेला चार विभागोमां संशोधनमाटे एकठी करेल प्रतो जुदा जुदा पाठभेदवाळी होई चार वर्गमां वहेंचाई जती हती, ज्यारे प्रस्तुत विभागथी शरू करी ग्रन्थ-समाप्ति पर्यंत ए वर्गभेद दूर थइ जई बधीये प्रतिओ मात्र बे वर्गमां वहेंचाई गइ छे—एक वर्ग ताटी० मो० ले० भा० डे० प्रतिओनो अने बीजो वर्ग कां० प्रतिनो । पहेला वर्गनी प्रतिओ आपसमां क्यारेक क्यारेक जुदी पडी जाय छे, तेम छतां पहेला त्रण उद्देशामां आ प्रतिओ पाठभेदना विषयमां जे प्रकारनुं समविषम वलण धरावती हती तेवुं आ विभागथी नथी रह्युं । आ विभागथी पाठभेदमाटे जुदुं वलण फक्त कां० प्रति ज धरावे छे । आमां घणे ठेकाणे पंक्तिओनी पंक्तिओ अने टीकानी टीकाना अंशो पाठ-भेदवाळा तेमज वधारेना छे । आ दरेक पाठभेदो अने वधाराना अंशोने अमे ते ते ठेकाणे टिप्पणमां आप्या छे । क्वचित् क्वचित् निरर्थक जणाता पाठभेदोनी उपेक्षा पण करी छे, तेम छतां मोटे भागे पाठभेद आदिनी नोंध लेवा माटे अमे अप्रमत्त ज रह्या छीए । आ बधा उमेरेला अने परिवर्तित पाठभेदो पैकी जे पाठो अमने महत्त्वना लाग्या छे तेमने अमे मूळमां दाखल कर्या छे अने बीजी प्रतिना पाठोने टिप्पणमां आप्या छे, पण आवुं कोई विरल विरल प्रसंगे ज बनवा पाम्युं छे । कां० प्रतिमां जे वधारानी पंक्तिओ अने टीकाअंशो छे ते मोटे भागे एवा छे के जेनुं ग्रन्थकारे पहेलां अनेकवार व्याख्यान करी दीधुं छे । केटलाक उमेराओ लिंग-वचन-विभक्तिना फेरफारनी सूचनाविषयक छे तो केट-लाक उमेराओ गाथामां आवता च वा तु अपि आदि अव्ययोनी अर्थसूचनाविषयक छे; केटलाक उमेराओ गाथा आदिनी प्रतीकना उमेराने लगता छे तो केटलाक उमेराओ अमुक शब्दोने स्पष्ट रीते समजाववामाटे समानार्थक शब्दना उमेराने लगता छे । आ बधी वस्तु टीकाकारे प्रस्तुत ग्रन्थना व्याख्यानमां सेंकडो वखत कही दीधेल होवाथी कां० प्रतिमांना उपरोक्त उमेराओनुं कशुं ज महत्त्व रहेतुं नथी । तेमज आ पाठोने अमारा पासेनी ताडपत्रीय वगेरे प्राचीनतम टीकाप्रतिओनो अने चूर्णि-विशेषचूर्णिनो पण टेको नथी, ए कारणथी अमे आ बधा पाठभेदोनी नोंध टिप्पणमां लेवानुं उचित मान्युं छे ।

अंतमां अमे एटली आशा राखीए छीए के प्रस्तुत संशोधनमां तेम ज पाठभेदोनी नोंध लेवामां अमे अतिघणी काळजी राखी छे ते छतां आ संबंधमां अमारी स्खलना जणाय तो विद्वान् वाचको क्षमा करे ।

निवेदक—गुरु–शिष्य

मुनि चतुरविजय–पुण्यविजय

॥ अर्हम् ॥

## चतुर्थोद्देशकप्रकृतानामनुक्रमः ।



१ प्रकृतमिदं **उपसम्पत्प्रकृतम्** इत्यनेन नाम्नाऽप्युच्येत ॥

२ अत्र मूले यद्यपि **उपाश्रयप्रकृतम्** इति मुद्रितं तथापि तत्र **उपाश्रयविधिप्रकृतम्** इति ज्ञेयम् ॥

## पञ्चमोद्देशकप्रकृतानामनुक्रमः ।

॥ अर्हम् ॥

# बृहत्कल्पसूत्र पंचम विभागनो विषयानुक्रम।

## चतुर्थ उद्देश।

---

---

## पंचम उद्देशक ।

पूज्यश्रीभद्रबाहुस्वामिविनिर्मितस्वोपज्ञनिर्युक्त्युपेतं

# बृहत् कल्पसूत्रम् ।

श्रीसङ्घदासगणिक्षमाश्रमणसूत्रितेन लघुभाष्येण भूषितम् ।

आचार्यश्रीमलयगिरिपादविरचितयाऽर्धपीठिकावृत्त्या तपाश्रीक्षेमकीर्त्याचार्यवरानुसन्धितया शेषसमग्रवृत्त्या समलङ्कृतम् ।

चतुर्थ-पञ्चमावुद्देशकौ ।

॥ अर्हम् ॥

# बृहत्कल्पसूत्र-पञ्चमविभागस्य शुद्धिपत्रम्

| पत्रम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---|---|---|---|
| १३१८ | १० | अम्हेदाणि | अम्हे दाणि |
| १३८८ | २३ | वुग्गाहिया, | वुग्गाहिया |
| १४१८ | २४ | ४३४१ | ५३४१ |
| १४३२ | ९ | ५६९६ | ५३९६ |
| १४३३ | २७ | बहुरोगे | बहुरोगी |
| १४४८ | २६ | ५५६३ | ५४६३ |
| १४५३ | १७ | वतवत्तो | वतऽवत्तो |
| १४९२ | २३ | परिहीणो | परिहीनो |
| १४९८ | १६ | श्र य प्र कृ | श्र य वि धि प्र कृ |
| १५५५ | १३ | वनस्पतिकायाः | वनस्पतिकायः |
| १५८० | ३० | व्युत्सजनं | व्युत्सर्जनं |
| १५८५ | ९ | -तोयं बिंदुम्मि | -तोयंबिंदुम्मि |



॥ श्रीमद्विजयानन्दसूरिवरेभ्यो नमः ॥

## पूज्यश्रीभद्रबाहुस्वामिविनिर्मितस्वोपज्ञनिर्युक्त्युपेतं

# बृहत् कल्पसूत्रम् ।

श्रीसङ्घदासगणिक्षमाश्रमणसूत्रितेन लघुभाष्येण भूषितम् ।

तपाश्रीक्षेमकीर्त्त्याचार्यविहितया वृत्त्या समलङ्कृतम् ।

## चतुर्थ उद्देशः ।

### अ नु द्धा ति क प्र कृ त म्

व्याख्यातस्तृतीय उद्देशकः, सम्प्रति चतुर्थ आरभ्यते । तस्य चेदमादिसूत्रम्—

**तओ अणुग्घाइया पन्नत्ता, तं जहा—हत्थकम्मं करेमाणे, मेहुणं पडिसेवमाणे, राईभोयणं भुंजमाणे १ ॥**

अथास्य सूत्रस्य कः सम्बन्धः ? इति चिन्तायां सम्बन्धविधिमेव तावदुपदर्शयति—

सुत्ते सुत्तं बज्झति, अंतिमपुप्फे व बज्झती तंतू ।
इय सुत्तातो सुत्तं, गहंति अत्थातो सुत्तं वा ॥ ४८७७ ॥

इह सम्बन्धोऽनेकधा भवति—यथा पुष्पेषु ग्रथ्यमानेषु यदा 'सूत्रम्' तन्तुर्निष्ठितो भवति तदा तत्रैव सूत्रेऽपरं सूत्रं बध्यते, अन्तिमपुष्पे वा तन्तुर्बध्यते, बद्धा च पुष्पाणि ग्रथ्यन्ते; एवं यस्मिन्नन्तिमसूत्रे उद्देशको निष्ठितो भवति ततः सूत्रादपरस्योद्देशकस्य यद् आद्यं सूत्रं तद् यदि सदृशाधिकारिकं भवति तदा सूत्रात् सूत्रं ग्रथ्नन्तीत्युच्यते । क्वापि पुनरर्थादपरसूत्रं सम्बध्यते । वाशब्दोपादानात् क्वाप्यर्थादर्थस्य सम्बन्धः क्रियते ॥ ४८७७ ॥

तत्रार्थात् सूत्रसम्बन्धं तावद् दर्शयति—

घोसो त्ति गोउलं ति य, एगट्ठं तत्थ संवसं कोई ।
खीरादिविंधियतणू, मा कम्मं कुज्ज आरंभो ॥ ४८७८ ॥

१ °ज्झते तं° ताभा० ॥ २ सुत्तं, अत्थातो वा भवे सुत्तं मो० डे० ॥ ३ °कारकं डे० ॥ ४ °परं सू° भा० कां० ॥ ५ खीरादिपीणियतणू ताभा० ॥

घोष इति गोकुलमिति चैकार्थम् । तत्र तृतीयोद्देशकान्त्यसूत्राभिहितचलक्षेत्रद्वारावसरायाते गोकुले संवसन् कश्चित् साधुः 'क्षीरादिबृंहिततनुः' प्रचुरदुग्ध-दध्याद्युपचितशरीरो मोहोद्भवेन मा हस्तकर्म कुर्यात्, ◁ [1]उपलक्षणमिदम्, तेन ▷ मा वा मैथुनं प्रतिसेवेत, अतस्तद्वारणार्थमादिसूत्रस्यारम्भः क्रियते ॥ ४८७८ ॥ अथ सूत्रात् सूत्रसम्बन्धमाह—

**हेट्ठाऽणंतरसुत्ते, वुत्तमणुग्घाइयं तु पच्छित्तं ।**
**तेण व सह संबंधो, [2]एसो संदट्ठओ णामं ॥ ४८७९ ॥**

तृतीयोद्देशके यदधस्तादन्त्यसूत्रं तस्य 'अनन्तरसूत्रे' **रोधकारुये** यो बहिर्भिक्षा[3]चर्यां गतस्तां रजनीं तत्रैव बहिरावसति तस्यानुद्घातिकं प्रायश्चित्तं साक्षादेवोक्तम्, अत्रापि तदेवानुद्घातिकं साक्षादेव सूत्रेणाभिधीयते, एवं 'तेन वा' **रोधकसूत्रेण** समं 'सन्दष्टको नाम' सदृशपूर्वापरसूत्रद्वयसन्दंशकगृहीत इव सम्बन्धो भवति ॥ ४८७९ ॥ अथान्याचार्यपरिपाट्या सम्बन्धमेवाह—

**उवचियमंसा वतियानिवासिणो मा करेज्ज करकम्मं ।**
**इति सुत्ते आरंभो, आइल्लपदं च सूएइ ॥ ४८८० ॥**
**तह वि य अठायमाणे, तिरिक्खमाईसु होइ मेहुन्नं ।**
**निसिभत्तं गिरिजण्णे, अरुणम्मि व दुद्धमाईयं ॥ ४८८१ ॥**

व्रजिकानिवासिनः सन्तः साधव उपचितमांसाः सञ्जाताः करकर्म मा कार्षुरिति प्रस्तुतसूत्रविषय आरम्भः । [4]अयं च सम्बन्धः "हत्थकम्मं करेमाणे" इतिलक्षणं अत्राद्यपदं सूचयति ॥ ४८८० ॥

'तथापि' करकर्मणाऽप्यतिष्ठति परिणामे तिरश्चादिषु मै[5]थुनप्रतिसेवनमपि कदाचिद् भवेद् इति द्वितीयपदसूचा । व्रजिकायां च **गिरियज्ञादौ** मायाङ्कसङ्खड्यां निशिभक्तं प्रतिसेवेत अरुणोदयवेलायां वा दुग्धादिकं गृह्णीयादिति तृतीयपदसूचा ॥ ४८८१ ॥

अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य व्याख्या—'त्रयः' त्रिसङ्ख्याकाः 'अनुद्घातिकाः' उद्घातो नाम— "अद्धेण छिन्नसेसं" ( गा० ) इत्यादिविधिना भागपातः सान्तरदानं वा उद्घातः, स विद्यते येषु ते उद्घातिकाः, तद्विपरीता अनुद्घातिकाः 'प्रज्ञप्ताः' तीर्थकरादिभिः प्ररूपिताः । 'तद्यथा' इत्युपप्रदर्शनार्थः । हन्ति हसति वा मुखमावृत्यानेनेति हस्तः—शरीरैकदेशो निक्षेपाऽऽदानादिसमर्थः, तेन यत् कर्म क्रियते तद् हस्तकर्म, तत् कुर्वन् । तथा स्त्री-पुंसयुग्मं मिथुनमुच्यते, तस्य भावः कर्म वा मैथुनम्, तत् प्रतिसेवमानः । तथा रात्रौ भोजनम्—अशनादिकं भुञ्जानः । एष सूत्रार्थः ॥ अथ **निर्युक्तिवि[6]स्तरमाह**—

**एक्कस्स उ अभावे, कतो तिगं तेण एक्कगस्सेव ।**
**णिक्खेवं काऊणं, णिप्फत्ती होइ तिण्हं तु ॥ ४८८२ ॥**

इह त्रयाणां सङ्ख्या प्रथमतो वक्तव्या । तत्रैकस्याभावे कुतस्त्रिकं सम्भ[7]वैति ? तेन कारणेन

---

१ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः भा० कां० नास्ति ॥ २ एसो संदंसओ णाम ताभा० । एसो च सवट्ठओ भणिओ कां० ॥ ३ °चर्यागत° भा० मो० ॥ ४ अमुं च सम्बन्धं "ह° भा० ॥ ५ °थुनं प्रतिसेवेत इति द्वि° भा० ॥ ६ °स्तरः—एक° कां० ॥ ७ °वति ? अतः प्र° भा० कां० ॥

प्रथमत एकस्यैव निक्षेपं कृत्वा ततस्त्रयाणां निक्षेपस्य निष्पत्तिः कर्तव्या भवति ॥ ४८८२ ॥

यथाप्रतिज्ञातमेव करोति—

**नामं ठवणा दविए, मातुगपद संगहेकए चेव ।**
**पज्जव भावे य तहा, सत्तेएक्केकगा होंति ॥ ४८८३ ॥**

नामैककं स्थापनैककं द्रव्यैककं मातृकापदैककं सङ्ग्रहैककं पर्यवैककं भावैककम् । एतानि सप्तैककानि भवन्ति ॥ ४८८३ ॥

तत्र नाम-स्थापने क्षुण्णे । द्रव्यैककं पुनर्ज्ञशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्तमाह—

**दव्वे तिविहं मादुकपदम्मि उप्पण्ण-भूय-विगतादी ।**
**सालि त्ति व गामो त्ति व, संघो त्ति व संगहेक्कं तु ॥ ४८८४ ॥**

'द्रव्ये' द्रव्यविषयं एककं त्रिविधम्, तद्यथा—सचित्तमचित्तं मिश्रं च । सचित्तं पुनरपि द्विपद-चतुष्पदा-ऽपदभेदात् त्रिधा । तत्र द्विपदैककं एकः पुरुषः, चतुष्पदैककं एकोऽश्व एको हस्ती, अपदैककं एको वृक्ष इत्यादि । अचित्तैककं एकः परमाणुः एकमाभरणम् । मिश्रैककं सालङ्कार एकः पुरुषः । मातृकापदे तु चिन्त्यमाने एककं उत्पन्न-भूत-विगतादिकम्, "उप्पन्ने इ वा, विगते इ वा, धुवे इ वा" इत्यस्य पदत्रयस्यैकतरमित्यर्थः । आदिशब्दाद् अकाराद्य-क्षरात्मिकाया वा मातृकाया एकतरं पदम् । सङ्ग्रहैककं बहुत्वेऽप्येकवचनाभिधेयम्, यथा—शालिरिति वा ग्राम इति वा सङ्घ इति वा ॥ ४८८४ ॥ अथ पर्यायैककादीनि दर्शयति—

**दुविकप्पं पज्जाए, आदिट्ठं जण्ण-देवदत्तो त्ति ।**
**अणादिट्ठं एक्को त्ति य, पसत्थमियरं च भावम्मि ॥ ४८८५ ॥**

पर्यायैककं 'द्विविकल्पं' द्विप्रकारम्, तद्यथा—आदिष्टमनादिष्टं च, विशेषरूपं सामान्य-रूपं चेत्यर्थः । तत्रादिष्ट यज्ञदत्तो देवदत्त इत्यादि, अनादिष्टमेकः कोऽपि मनुष्य इत्यादि । अथवा पर्यायैककं वर्णादीनामन्यतम एकः पर्यायः । भावैककं द्विधा—आगमतो नोआगम-तश्च । आगमतो ज्ञाता उपयुक्तः । नोआगमतः प्रशस्तम् 'इतरच्च' अप्रशस्तमिति द्विधा । प्रशस्तमौपशमिकादीनामेकतरो भावः, अप्रशस्तमौदयिको भावः । अत्राप्रशस्तभावैककेनाधि-कारः, हस्तकर्मादीनामप्रशस्तभावोदयादेव सम्भवात् ॥ ४८८५ ॥ अथ 'त्रिकस्य निक्षेपे कृते द्विकनिक्षेपः कृत एव भवति' इति मन्यमानस्त्रिकनिक्षेपज्ञापनार्थमिदमाह—

**नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले य गणण भावे य ।**
**एसो उ खलु तिगस्सा, निक्खेवो होइ सत्तविहो ॥ ४८८६ ॥**

नामत्रिकं स्थापनात्रिकं द्रव्यत्रिकं क्षेत्रत्रिकं कालत्रिकं गणनात्रिकं भावत्रिकं चेति । एष खलु त्रिकस्य निक्षेपः सप्तविधो भवति ॥ ४८८६ ॥

नाम-स्थापनात्रिके गतार्थे । द्रव्यत्रिकं ज्ञ-भव्यशरीरव्यतिरिक्तं ज्ञापयति—

---

१ द्रव्यैककं त्रिविधम्—सचि° भा० कां० ॥ २ °त् त्रेधा भा० ॥ ३ °पदैककं तु उत्प° भा० कां० ॥ ४ द्विधा—आदि° भा० कां० ॥ ५ °मान्यं चे° कां० ॥ ६ °स्तमप्रशस्तं चेति द्वि° भा० कां० ॥

**दव्वे सचित्तादी, सचित्तं तत्थ होइ तिविहं तु ।**
**दुपय चतुप्पद अपदं, परूवणा तस्स कायव्वा ॥ ४८८७ ॥**

द्रव्यत्रिकं सचित्ता-ऽचित्त-मिश्रभेदात् त्रिधा । तत्र सचित्तत्रिकं भूयस्त्रिविधं भवति । तद्यथा—द्विपदत्रिकं चतुष्पदत्रिकं अपदत्रिकम् । तस्य च सप्रभेदस्यापि परूपणा कर्त्तव्या । सा च यथा सचित्तैककस्य कृता तथैवावगन्तव्या ॥४८८७॥

**परमाणुमादियं खलु, अचित्तं मीसगं च मालादी ।**
**तिपदेस तदोगाढं, तिण्णि व लोगा उ खेत्तम्मि ॥ ४८८८ ॥**

परमाणुत्रयम्, आदिशब्दाद् द्विप्रदेशिकत्रयं यावदनन्तप्रदेशिकत्रयम्, एतदचित्तत्रिकं द्रष्टव्यम् । मिश्रत्रिकं तु मालात्रयं मन्तव्यम्, तत्र हि पुष्पाणि सचित्तानि सूत्रमचित्तमिति कृत्वा । आदिग्रहणेन सालङ्कारपुरुषत्रयमित्यादि गृह्यते । क्षेत्रत्रयम्—त्रय आकाशप्रदेशाः, "तदोगाढं" ति तेषु वा—त्रिषु आकाशप्रदेशेषु अवगाढं द्रव्यं क्षेत्रत्रयम्, 'त्रयो वा लोकाः' अधोलोक-तिर्यग्लोकोर्द्धलोकलक्षणाः क्षेत्रत्रयमुच्यते ॥ ४८८८ ॥

**तिसमय तट्ठितिगं वा, कालतिगं तीयमातिणो चेव ।**
**भावे पसत्थमितरं, एकेकं तत्थ तिविहं तु ॥ ४८८९ ॥**

कालत्रयं त्रयः समयाः, "तट्ठितिगं व" त्ति त्रिसमयस्थितिकं वा द्रव्यं कालत्रयम्, अथवा अतीता-ऽनागत-वर्तमानकाला एव कालत्रयम् । भावत्रयं प्रशस्तम् 'इतरद्' अप्रशस्तं चेति द्विधा । पुनरेकैकं त्रिविधम् । तत्र ज्ञानं दर्शनं चारित्रं चेति प्रशस्तम्, मिथ्यात्वमज्ञानमविरतिश्चेत्यप्रशस्तम् । अविरतिरपि हस्तकर्म-मैथुन-रात्रिभक्तप्रतिसेवाभेदादिह प्रस्तावे त्रिविधा । अत्र चानयैवाधिकारः ॥४८८९॥ व्याख्यातं त्रय इति पदम् । अथानुद्घातिकपदं व्याख्यातुमाह—

**उग्घातमणुग्घाते, निक्खेवो छव्विहो उ कायव्वो ।**
**नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले य भावे य ॥ ४८९० ॥**

इह ह्रस्वत्वाद् दीर्घत्ववद् उद्घातिकादनुद्घातिकस्य प्रसिद्धिरिति कृत्वा द्वयोरप्युद्घातिका-ऽनुद्घातिकयोः षड्विधो निक्षेपः कर्त्तव्यः । तद्यथा—नामनि स्थापनायां द्रव्ये क्षेत्रे काले भावे चेति ॥४८९०॥ तत्र नाम-स्थापने गतार्थे । द्रव्यादिविषयमुद्घातिकमनुद्घातिकं च दर्शयति—

**उग्घायमणुग्घाया, दव्वम्मि हलिद्दराग-किमिरागा ।**
**खेत्तम्मि कण्हभूमी, पत्थरभूमी य हलमादी ॥ ४८९१ ॥**

'द्रव्ये' द्रव्यत उद्घातिको हरिद्रारागः, सुखेनैवापनेतुं शक्यत्वात्; अनुद्घातिकः कृमिरागः, अपनेतुमशक्यत्वात् । क्षेत्रत उद्घातिकं कृष्णभूमम्, अनुद्घातिका प्रस्तरभूमिः । कुतः ? इत्याह—"हलमादि" त्ति हल-कुलिकादिभिः कृष्णभूममुद्घातयितुं—क्षोदयितुं शक्यम्, प्रस्तरभूमिरशक्या ॥ ४८९१ ॥ तथा—

**कालम्मि संतर णिरंतरं तु समयो य होतऽणुग्घातो ।**

---

१ °यास्त्रिधा भ° कां० ॥ २ चाविरत्याऽधि° भा० कां० । "एत्थ अविरईए अहियारो" इति चूर्णौ विशेषचूर्णौ च ॥ ३ °तयितुं शक्यम्, न प्रस्तरभूमिः ॥ ४८९१ ॥ काल° कां० ॥

**भव्वस्स अट्ठ पयडी, उग्घातिम एतरा इयरे ॥ ४८९२ ॥**

कालत उद्घातिकं सान्तरं प्रायश्चित्तस्य दानम्, अनुद्घातिकं निरन्तरदानम् । तुशब्दाद् लघुमासादिकमुद्घातिकम्, गुरुमासादिकमनुद्घातिकम् । अथवा कालतः समयोऽनुद्घातिको भवति, खण्डशः कर्तुमशक्यत्वात्; आवलिकादय उद्घातिकाः, खण्डयितुं शक्यत्वात् । भावत उद्घातिका भव्यस्याष्टौ कर्मप्रकृतयः, उद्घातयितुं शक्यत्वात् । 'इतरस्य' अभव्यस्य सत्कास्ता एव 'इतराः' अनुद्घातिकाः ॥ ४८९२ ॥ कुतः ? इति चेद् उच्यते—

**जेण खवणं करिस्सति, कम्माणं तारिसो अभव्वस्स ।**
**ण य उप्पज्जइ भावो, इति भावो तस्सऽणुग्घातो ॥ ४८९३ ॥**

'येन' शुभाध्यवसायेन 'कर्मणां' ज्ञानावरणादीनां क्षपणमसौ करिष्यति स तादृशो भावोऽभव्यस्य कदाचिदपि नोत्पद्यते इत्यतस्तस्य भावोऽनुद्घातः, कर्मणामुद्घातं कर्तुमसमर्थः, अत एव तस्य कर्माणि अनुद्घातिकानि भण्यन्ते । अत्र च प्रायश्चित्तानुद्घातिकेनाधिकारः ॥ ४८९३ ॥

तच्च कुत्र भवति ? इत्याह—

**हत्थे य कम्म मेहुण, रातीभत्ते य होंतऽणुग्घाता ।**
**एतेसिं तु पदाणं, पत्तेय परूवणं वोच्छं ॥ ४८९४ ॥**

हस्तकर्मकरणे मैथुनसेवने रात्रिभक्ते, एतेषु त्रिषु सूत्रोक्तपदेषु 'अनुद्घातिकानि' गुरुकाणि प्रायश्चित्तानि भवन्ति । तत्र हस्तकर्मणि मासगुरुकम्, मैथुन-रात्रिभक्तयोश्चतुर्गुरुकाः । एतच्च प्रायश्चित्तं यदा यत्र स्थाने भवति तत् पुरस्ताद् व्यक्तीकरिष्यते । अथ 'एतेषां' हस्तकर्मादीनां त्रयाणामपि पदानां 'प्रत्येकं' पृथक् पृथक् प्ररूपणां वक्ष्ये[1] ॥ ४८९४ ॥

यथाप्रतिज्ञातमेव निर्वाहयितुकामो हस्तकर्मप्ररूपणां तावदाह—

**नामं ठवणाहत्थो, दव्वहत्थो य भावहत्थो य ।**
**दुविहो य दव्वहत्थो, मूलगुणे उत्तरगुणे य ॥ ४८९५ ॥**

नामहस्तः स्थापनाहस्तो द्रव्यहस्तो भावहस्तश्चेति चतुर्धा हस्तः । तत्र नाम-स्थापनाहस्तौ गतार्थौ । द्रव्यहस्तो ज्ञशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्तो द्विविधो भवति, तद्यथा—मूलगुणनिर्वर्तित उत्तरगुणनिर्वर्तितश्च । तत्र यो जीवविप्रमुक्तस्य शरीरस्य हस्तः स मूलस्य–जीवस्य गुणेन–प्रयोगेण निर्वर्तित इति मूलगुणनिर्वर्तितः, यस्तु काष्ठ-चित्र-लेप्यकर्मादिषु हस्तः स उत्तरगुणनिर्वर्तित उच्यते ॥ ४८९५ ॥ अथ भावहस्तमाह—

**जीवो उ भावहत्थो, णेयव्वो होइ कम्मसंजुत्तो ।**
**बितियो वि य आदेसो, जो तस्स विजाणओ पुरिसो ॥ ४८९६ ॥**

[2]◁ "जीवो" त्ति विभक्तिव्यत्ययाद् ▷ यो जीवस्य हस्तः 'कर्मसंयुक्तः' आदान-निक्षेपादिक्रियायुक्तः स नोआगमतो भावहस्त[3] उच्यते । द्वितीयोऽपि चात्रादेशः समस्ति—यः 'तस्य' हस्तस्य 'विज्ञायकः' तदुपयुक्तः पुरुषः सोऽपि भावहस्तः, आगमत इत्यर्थः । अत्र नोआगमतो

१ ताटी० मो० डे० विनाऽन्यत्र—वक्ष्ये ॥ ४८९४ ॥ तद्यथा—नामं कां० ॥ २ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः भा० नास्ति ॥ ३ °हस्तो ज्ञातव्यः । द्वि° कां० ॥

भावहस्तेनाधिकारः ॥ ४८९६ ॥ अथ कर्मपदं व्याचष्टे—

**नामं ठवणाकम्मं, दव्वकम्मं च भावकम्मं च ।**
**दव्वम्मि तुण्णदसिता, अधिकारो भावकम्मेणं ॥ ४८९७ ॥**

नामकर्म स्थापनाकर्म द्रव्यकर्म भावकर्म चेति चतुर्धा कर्मणो निक्षेपः । तत्र नाम-स्थापने क्षुण्णे । द्रव्यकर्म ज्ञशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्तं तुन्नणं वा दशिकानां बन्धनं वा, उपलक्षण-मिदम्, तेन कुम्भकार-रथकारादिगतमपि द्रव्यकर्म मन्तव्यम् । यद्वा व्यतिरिक्तं द्रव्यकर्म द्विधा—कर्मद्रव्यं नोकर्मद्रव्यं च । कर्मद्रव्यं ज्ञानावरणादिकर्मपर्यायमनापन्नाः कर्मवर्गणापुद्गलाः, यद्वा यद् ज्ञानावरणादिकं कर्म बद्धं न तावदुदयमागच्छति तत् कर्मद्रव्यम् । नोकर्मद्रव्यं आकुञ्चन-प्रसारणोत्क्षेपणा-ऽवक्षेपण-गमनभेदात् पञ्चधा । भावकर्म द्विधा—आगमतो नोआगमतश्च । आगमतः कर्मपदार्थज्ञाता उपयुक्तः, नोआगमतोऽष्टविधो ज्ञानावरणादिकर्मणामुदयः । एषां मध्येऽत्र कतमेनाधिकारः ? इति चेद् अत आह—अधिकारोऽत्र 'भावकर्मणा' मोहोदयलक्षणेन । शेषास्तु शिष्यमतिव्युत्पादनार्थं प्ररूपिताः । ततो भावहस्तेन यत् कर्म क्रियते तद् हस्तकर्म भण्यते इति प्रक्रमः ॥ ४८९७ ॥ अथ भावकर्मैव व्याचिख्यासुराह—

**दुविहं च भावकम्मं, असंकिलिट्ठं च संकिलिट्ठं च ।**
**ठप्पं तु संकिलिट्ठं, असंकिलिट्ठं तु वोच्छामि ॥ ४८९८ ॥**

द्विविधं च भावकर्म, तद्यथा—असंक्लिष्टं च संक्लिष्टं च । चशब्दौ स्वगतानेकभेदसूचकौ । तत्र संक्लिष्टं 'स्थाप्यं' पश्चाद् वक्ष्यते । असंक्लिष्टं तु साम्प्रतमेव वक्ष्यामि ॥ ४८९८ ॥

यथाप्रतिज्ञातमेव प्रमाणयति—

**छेदणे भेयणे चेव, घंसणे पीसणे तहा ।**
**अभिघाते सिणेहे य, काये खारे त्ति यावरे ॥ ४८९९ ॥**

छेदनं भेदनं चैव घर्षणं पेषणं तथा अभिघातः स्नेहश्च कायः क्षार इति चापरः । एवमसंक्लिष्टस्य कर्मणोऽष्टौ भेदा भवन्ति ॥ ४८९९ ॥ एतानि च छेदनादीनि शुषिरे वा कुर्याद-शुषिरे वा । पुनरेकैकं शुषिरच्छेदनादि द्विधा । कथम् ? इति चेद् उच्यते—

**एक्केक्कं तं दुविहं, अणंतर परंपरं च णायव्वं ।**
**अट्ठाऽणट्ठा य पुणो, होति अणट्ठाय मासलहुं ॥ ४९०० ॥**

यदशुषिरस्य शुषिरस्य वा छेदनं तदेकैकं द्विविधम्—अनन्तरं परम्परं च ज्ञातव्यम् । पुनरेकैकं द्विधा—अर्थादनर्थाच्च, सार्थकं निरर्थकं चेत्यर्थः । अनर्थकं छेदनादिकं कुर्वतो मासलघु, असामाचारीनिष्पन्नमिति भावः ॥ ४९०० ॥

कथं पुनः छेदनमनन्तरं परम्परं वा सम्भवति ? इत्याह—

**नह-दंतादि अणंतर, पिप्पलमादी परंपरे आणा ।**
**छप्पइगादि असंजमे, छेदे परितावणातीया ॥ ४९०१ ॥**

नखैर्दन्तैः आदिग्रहणात् पादेन वा यत् छिद्यते तदनन्तरं छेदनमुच्यते । पिप्पलकेन आदिग्रहणात् पाइलक-छुरिका-कुठारादिभिर्यत् छिद्यते तत् परम्परच्छेदनम् । एवमनन्तरं पर-

म्परं वा छिन्दता तीर्थंकर-गणधराणामाज्ञाभङ्गः कृतो भवति । तं छिन्दन्तं दृष्ट्वाऽन्येऽपि छिन्दन्ति इत्यनवस्था । 'एते तिष्ठन्तश्छेदनादिकं सिट्टरं कुर्वन्ति न स्वाध्यायम्' एवं शय्यातरादौ चिन्तयति मिथ्यात्वम् । विराधना द्विविधा—संयमे आत्मनि च । तत्र वस्त्रादौ छिद्यमाने षट्पदिकादयो यद् विनाशमश्नुवंते सोऽसंयमः, संयमविराधनेत्यर्थः । अथ छेदनं कुर्वतो हस्तस्य पादस्य वा छेदो भवति तत आत्मविराधना, तत्र च परिताप-महादुःखादिनिष्पन्नं पाराञ्चिकान्तं प्रायश्चित्तम् ॥ ४९०१ ॥ अथ शुद्धं शुद्धेन प्रायश्चित्तमाह—

**अझुसिर झुसिरे लहुओ, लहुगा गुरुगो य होंति गुरुगा य ।**
**संघट्टण परितावण, लहु-गुरुगऽतिवायणे मूलं ॥ ४९०२ ॥**

अशुषिरमनन्तरं छिनत्ति मासलघु, शुषिरमनन्तरं छिनत्ति चतुर्लघुकम् । अशुषिरं परम्परं छिदन्तो गुरुको मासः, शुषिरं परम्परं छिन्दतश्चतुर्गुरुकाः भवन्ति । शुषिरे बहुतरदोषत्वाद् गुरुतरम्, परम्परे शस्त्रग्रहणे संक्लिष्टतरं चित्तमिति कृत्वा गुरुतमं प्रायश्चित्तम् । एवं शुद्धपदे षट्कायविराधनाभावे मन्तव्यम् । अशुद्धपदे पुनरिदमपरं प्रायश्चित्तम्—"संघट्टण" इत्यादि, छेदनादिकं कुर्वन् द्वीन्द्रियान् सङ्घट्टयति चतुर्लघु, परितापयति चतुर्गुरु, उपद्रावयति षड्लघु; त्रीन्द्रियान् सङ्घट्टयति चतुर्गुरु, परितापयति षड्लघु, उपद्रावयति षड्गुरु; चतुरिन्द्रियान् सङ्घट्टयति षड्लघु, परितापयति षड्गुरु, उपद्रावयति छेदः; पञ्चेन्द्रियान् सङ्घट्टयति षड्गुरु, परितापयति छेदः, पञ्चेन्द्रियमतिपातयति मूलम् । एवमिन्द्रियानुलोम्येन सविस्तरं[2] यथा पीठिकायामुक्तं ( गा० ४६१ ) तथैवात्रापि मन्तव्यम् ॥ ४९०२ ॥ अथवा द्वितीयोऽयमादेशः—

**अझुसिरऽणंतर लहुओ, गुरुगो अ परंपरे अझुसिरम्मि ।**
**झुसिराणंतरें लहुगा, गुरुगा तु परंपरे अहवा ॥ ४९०३ ॥**

अशुषिरेऽनन्तरे लघुको मासः, अशुषिरे परम्परे गुरुको मासः । शुषिरेऽनन्तरे चतुर्लघु, शुषिरे परम्परे चतुर्गुरुकाः । अथवेति प्रायश्चित्तस्य प्रकारान्तरताद्योतकः ॥ ४९०३ ॥

एवं तावत् छेदनपदं व्याख्यातम् । अथ भेदनादीनि पदानि व्याख्यातुकाम इदमाह—

**एमेव सेसएसु वि, कर-पादादी अणंतरं होइ ।**
**जं तु परंपरकरणं, तस्स विहाणं इमं होति ॥ ४९०४ ॥**

'एवमेव' छेदनवत् 'शेषेष्वपि' भेदनादिषु पदेषु प्रायश्चित्तं वक्तव्यम् । नवरं कर-पादाभ्याम्[3] आदिशब्दाद् जानु-कूर्परादिभिः शरीरावयवैः क्रियमाणं भेदनादिकमनन्तरं भवति । यत् तु भेदनादेः परम्पराकरणं तस्य विधानमिदं भवति ॥ ४९०४ ॥ तद्यथा—

**कुवणयमादी भेदो, घंसण मणिमादियाण कट्ठादी ।**
**पट्टावरादि पीसण, गोप्फण-धणुमादि अभिघातो ॥ ४९०५ ॥**

"कुवणओ" लगुडस्तेन आदिशब्दाद् उपल-लेष्टुकादिभिर्वा घटादेः 'भेदः' भेदनम्[4], द्विधा त्रिधा वा च्छिद्रपातनमित्यर्थः[5], एतत् परम्पराभेदनमुच्यते । एवं घर्षणं मणिकादीनां मन्त-

१ °वते सा संयमविराधना । अथ भा० ॥ २ °स्तरं प्रायश्चित्तं यथा कां० ॥ ३ °करेण वा पादेन वा आ° कां० ॥ ४ °नं भवति । घर्ष° कां० ॥ ५ °च्छिद्रं पातयतीत्यर्थः । घर्ष° भा० ॥

व्यम्, यथा मणिकारा लकुटवेधान् कृत्वा मणिकान् घर्षन्ति । आदिशब्दात् प्रवालादिपरिग्रहः । "कट्ठाइ" त्ति चन्दनकाष्ठं फलकादिकं वा यद् घर्षति तद्वा घर्षणम् । "पट्ट" त्ति गन्धपट्टकस्तत्र वराः—प्रधाना ये गन्धास्तदादीनां पेषणं मन्तव्यम् । गोफणा—चर्मदवरकमयी प्रसिद्धा, तया धनुःप्रभृतिभिर्वा लेष्टुकमुपलं वा यत् प्रक्षिपति एषोऽभिघात उच्यते ॥४९०५॥ अथवा—

विहुवण-णंत-कुसादी, सिणेह उदगादिआवरिसणं तु ।
काओ तु बिंब सत्थे, खारो तु कलिंचमादीहिं ॥ ४९०६ ॥

विधुवनं—वीजनकं णन्तकं—वस्त्रं कुशः—दर्भस्तत्प्रभृतिभिर्वीजयन् यत् प्राणिनोऽभिहन्ति एष वा अभिघात उच्यते । स्नेहो नाम उदकेन आदिशब्दाद् घृतेन तैलेन वा आवर्षणं करोति । कायो नाम द्विपदादीनां 'बिम्बं' प्रतिरूपमित्यर्थः तत् शस्त्रेण परम्पराकरणभूतेन पत्रच्छेद्यादिषु निर्वर्तयति । 'क्षारः' लवणं तमशुषिरे शुषिरे वा कलिञ्चादिभिः प्रक्षिपति । 'कलिञ्चः' वंशकर्परी ॥ ४९०६ ॥ एषु दोषानाह—

एक्केक्कातो पदातो, आणादीया य संजमे दोसा ।
एवं तु अणट्ठाए, कप्पइ अट्ठाएँ जयणाए ॥ ४९०७ ॥

एकैकस्माद् भेदनादिपदादाज्ञाभङ्गादयो दोषाः[1], संयमे आत्मनि च प्रागुक्तनीत्या विराधना, एवमेते दोषा अनर्थकं छेदनादिकं कुर्वतो भवन्ति । अथ अर्थः—प्रयोजनं तस्मिन् प्राप्ते यतनया छेदनादिकं करोति तदा कल्पते ॥ ४९०७ ॥ इदमेव द्वितीयपदं भावयति—

असती अधाकडाणं, दसिगादिगछेदणं व जयणाए ।
गुलमादि लाउणाले, कप्परभेदादि एमेव ॥ ४९०८ ॥

यथाकृतानां वस्त्राणामभावे दशिकाश्छेत्तव्याः, आदिशब्दात् प्रमाणाधिकस्य वा वस्त्रादेश्छेदनं 'यतनया' यथा संयमा-ऽऽत्मविराधना न भवति तथा कर्त्तव्यम् । भेदनद्वारे—गुडादिपिण्डस्य भेदं कुर्यात्, अलाबु—तुम्बकं तस्य वा नालमधिकरणभयाद् भिन्द्यात्, कर्परं—कपालं तदादिना वा कार्यमुत्पन्नं ततो घटग्रीवादेर्भेदनम् 'एवमेव' यतनया कुर्यात् ॥ ४९०८ ॥

अक्खाण चंदणे वा, वि घंसणं पीसणं तु अगतादी ।
वग्घातीणऽभिघातो, अगतादि पताव सुणगादी ॥ ४९०९ ॥

घर्षणद्वारे—अक्षाः—प्रसिद्धाः तेषां विषमाणां समीकरणार्थम्[2], चन्दनस्य वा ग्लानादेः परिदाहोपशमनार्थं घर्षणं कर्त्तव्यम् । पेषणद्वारे—ग्लानादिनिमित्तमेव अगदादेः पेषणं विधेयम् । अभिघातद्वारे—व्याघ्रादीनामभिभवतां गोफणया धनुषा वाऽभिघातः कार्यः, अगदादेर्वा प्रताप्यमानस्य शुनक-काकादयोऽभिपतन्तो लेष्टुना मेषयितव्याः ॥ ४९०९ ॥

बितिय दवुज्झण जतणा, दाहे वा भूमि-देहसिंचणता ।
पडिणीगा-ऽसिवसमणी, पडिमा खारो तु सेह्लादी ॥ ४९१० ॥

स्नेहद्वारे—'द्वितीयम्' अपवादपदं[3] प्रतीत्य स्नेहमुद्वरितं क्षारमध्ये प्रक्षिप्य परिष्ठापयेत् ।

---

१ °षा भवन्ति, संयमे आत्मनि च विराधना छेदनपदवद् भावनीया । एवमेते कां० ॥
२ °रणम्, चन्द° भा० कां० ॥ ३ °पदं तत्र स्ने° भा० ॥

द्रवं–पानकं तस्योज्झनं यतनया विधेयम् । "दाहे" त्ति लूताया उष्णस्य वा गाढतरमभितापे प्रतिश्रयभूमिकायामावर्षणं कुर्यात्, तृषाभिभूतं वा देहं सिञ्चेत्, ग्लानं भक्तप्रत्याख्यानिनं वा दाहाभिभूतं सिञ्चेत् । कायद्वारे—कश्चिद् गृहस्थः प्रत्यनीकस्तस्योपशमनीं प्रतिमां कृत्वा ततो यावदसावनुकूलो भवति तावद् मन्त्रं जपेत्, अशिवप्रशमनीं वा प्रतिमां विदध्यात् । क्षारद्वारे—अनन्तरं परम्परं वा शुषिरेऽशुषिरे वा प्रसूतिशमनार्थं क्षारं प्रक्षिपेत् । तत्र शुषिरे दर्शयति—"खारो तु सिह्लादि" त्ति सेलं–वालमयं सिन्दूरं तत्र क्षारः क्षेपणीयः, किं सञ्जातो न वा ? इति ॥ ४९१० ॥ ◁ उपसंहरन्नाह—▷[1]

**कम्मं असंकिलिट्ठं, एवमियं वण्णियं समासेणं ।**
**कम्मं तु संकिलिट्ठं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥ ४९११ ॥**

एवमिदमसंक्लिष्टं हस्तकर्म समासेन वर्णितम् । साम्प्रतं संक्लिष्टं हस्तकर्म यथानुपूर्व्या वक्ष्यामि ॥ ४९११ ॥ ◁ तदेवाह—▷[2]

**वसहीए दोसेणं, दट्ठुं सरितुं व पुव्वभुत्ताइं ।**
**एतेहिँ संकिलिट्ठं, तमहं वोच्छं समासेणं ॥ ४९१२ ॥**

वसतेर्दोषेण वा स्त्रीणां वाऽऽलिङ्गनादिकं विधीयमानं दृष्ट्वा 'पूर्वभुक्तानि वा' स्त्रीभिः सार्धं हसित-क्रीडितादीनि स्मृत्वा एतैः कारणैः 'संक्लिष्टं' हस्तकर्म यथोत्पद्यते तदहं वक्ष्ये समासेन ॥ ४९१२ ॥ तत्र वसतिदोषं तावदाह—

**दुविहो वसहीदोसो, वित्थरदोसो य रूवदोसो य ।**
**दुविहो य रूवदोसो, इत्थिगत णपुंसतो चेव ॥ ४९१३ ॥**

द्विविधो वसतिदोषो भवति, तद्यथा—विस्तरदोषश्च रूपदोषश्च । तत्र विस्तरदोषो घट्टशालादिका विस्तीर्णा वसतिः, स पश्चाद् वक्ष्यते । रूपदोषो द्विधा—स्त्रीरूपगतो नपुंसकरूपगतश्च ॥ ४९१३ ॥

**एक्केक्को सो दुविहो, सचित्तो खलु तहेव अचित्तो ।**
**अचित्तो वि य दुविहो, तत्थगताऽऽगंतुओ चेव ॥ ४९१४ ॥**

'सः' स्त्रीरूपगतो नपुंसकरूपगतश्च दोष एकैको[3] द्विविधः—सचित्तोऽचित्तश्च, जीवयुतविषयोऽजीवयुतविषयश्चेत्यर्थः । अचित्तः पुनरपि द्विविधः—तत्रगत आगन्तुकश्च ॥ ४९१४ ॥

उभयमपि व्याचष्टे—

**कट्ठे पुत्थे चित्ते, दंतोवल मट्टियं व तत्थगतं ।**
**एमेव य आगंतुं, पालित्तय बेट्टिया जवणे ॥ ४९१५ ॥**

याः काष्ठकर्मणि वा पुस्तकर्मणि वा चित्रकर्मणि वा निर्वर्तिता स्त्रीप्रतिमा यद्वा दन्तमयमुपलमयं मृत्तिकामयं वा स्त्रीरूपं यस्यां वसतौ वसति तत् तस्यां तत्रगतं मन्तव्यम्, तद्विषयो दोषोऽप्युपचारात् तत्रगत उच्यते । एवमेव चागन्तुकमपि मन्तव्यम् । आगन्तुकं नाम–यद् अन्यत आगतम् । ततो यथा तत्रगताः स्त्रीप्रतिमा भवन्ति तथाऽऽगन्तुका अपि भवेयुः ।

---

१–२ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः भा० नास्ति ॥ ३ °गतादिरेकैको दोषो द्विवि° कां० ॥

तथा चात्र **पादलिप्ताचार्य**कृता "बेड्डिक" त्ति **राजकन्यका** दृष्टान्तः । स चायम्—

**पालित्तायरि**एहिं रन्नो भगिणीसरिसिया जंतपडिमा कया । चंकमणुम्मेस-निमेसमयी तालविंटहत्था आयरियाणं पुरतो चिट्ठइ । राया वि अईव **पालित्तग**स्स सिणेहं करेइ । धिज्जाइएहिं पउट्ठेहिं रन्नो कहियं—भगिणी ते समणएणं अभिओगिया । राया न पत्तियंति, भणिओ[1] अ—पेच्छ, दंसेमु ते । राया आगतो, पासित्ता **पालित्तायरियाणं** रुट्ठो पच्चोसरिओ य । तओ सा आयरिएहिं चेड त्ति विगरणी कया । राया सुट्ठुतरं आउट्टो ॥

एवमागन्तुका अपि स्त्रीप्रतिमा भवन्ति । "जवणे" त्ति **यवन**विषये ईदृशानि स्त्रीरूपाणि प्राचुर्येण क्रियन्ते ॥ ४९१५ ॥ व्याख्यातं द्विविधमप्यचित्तम् । अथ सचित्तं व्याख्यायते, तदपि द्विविधम्—तत्रगतमागन्तुकं च[2] । एतदुभयमपि व्याख्यानयति—

**पडिवेसिग-एक्कघरे, सचित्तरूवं तु होति तत्थगयं ।**
**सुण्णमसुण्णघरे वा, एमेव य होति आगंतुं ॥ ४९१६ ॥**

प्रातिवेश्मिकगृहे एकगृहे वा—एकत्रैवोपाश्रये कारणतः स्थितानां यत् स्त्रिया रूपं दृश्यते तत् तत्रगतं सचित्तं रूपं भवति । अथवा शून्यगृहमशून्यगृहं वा प्रविष्टेन या तत्र स्थिता स्त्री विलोक्यते तदपि तत्रगतम् । एवमेव चागन्तुकमपि सचित्तं स्त्रीरूपं[3] भवति, प्रतिश्रये या स्त्री समागच्छति तदागन्तुकमिति भावः ॥ ४९१६ ॥ अत्र तिष्ठतां दोषानुपदर्शयति—

**आलिंगणादी पडिसेवणं वा, दट्ठुं सचित्ताणमचेदणे वा ।**
**सद्देहि रूवेहि य इंधितो तू, मोहग्गि संदिप्पति हीणसत्ते ॥ ४९१७ ॥**

तेषां तत्रगतानामागन्तुकानां वा सचित्तानां स्त्रीरूपाणामालिङ्गनादीनि प्रतिसेवनां वा कुर्वतो दृष्ट्वा, अचेतनानि वा स्त्रीरूपाणि विलोक्य, प्रतिसेव्यमानाया वा स्त्रियः शब्दान् श्रुत्वा, तैः शब्दै रूपैश्च 'इन्धितः' प्रज्वालितः ◁ 'तुः' पुनरर्थे ▷[5] मोहाग्निः कस्यापि हीनसत्त्वस्य भुक्तभोगिनोऽभुक्तभोगिनो वा सन्दीप्यते, ततः स्मृतिकरण-कौतुकदोषा भवेयुः ॥ ४९१७ ॥ कथम् ? इत्याह—

**कोतूहलं च गमणं, सिंगारे कुड्डछिड्डकरणे य ।**
**दिट्ठे परिणय करणे, भिक्खुणो मूलं दुवे इतरे ॥ ४९१८ ॥**

कुतूहलं तस्योत्पद्यते—आसन्ने गत्वा पश्यामि, शृणोमि वा शब्दम्, एवं कुतूहले उत्पन्ने तत्र गमनं कुर्यात्, शृङ्गारं वा गायन्तीं श्रुत्वा गच्छेत्, कुड्यस्य वा छिद्रं कृत्वा प्रलोकयेत्, दृष्टे[6] च सोऽपि तद्भावपरिणतो भवेत्—अहमप्येवं करोमीति, एतद्भावपरिणतः कश्चित् तदेवालिङ्गनादिकं[7] करणं कुर्यात् । एतेषु स्थानेषु भिक्षोर्मूलं यावत् प्रायश्चित्तम्, 'इतरयोः' उपाध्याया-ऽऽचार्ययोर्यथाक्रमं 'द्वे' अनवस्थाप्य-पाराञ्चिके चरमपदे भवतः ॥ ४९१८ ॥

इदमेव व्याचष्टे—

**लहुतो लहुगा गुरुगा, छम्मासा छेद मूल दुगमेव ।**

---

१ °यत्तिओ भणि° कां० ॥ २ झड त्ति मो० ले० ॥ ३ चेति । तदु° कां० ॥ ४ °रूपं वेदितव्यम्, प्रति° कां० ॥ ५ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः कां० एव वर्त्तते ॥ ६ दृष्ट्वा च भा० कां० ॥ ७ °नादिकं कु° भा० ॥

**दिट्ठे य गहणमादी, पुव्वुत्ता पच्छकम्मं च ॥ ४९१९ ॥**

तत्रगतः शृणोति मासलघु, कुतूहलं तस्योत्पद्यते मासगुरु, व्रजतश्चतुर्लघुकाः, शृङ्गारं शृण्वतश्चतुर्गुरुकाः, कुड्यस्य च्छिद्रकरणे षण्मासा लघवः, छिद्रेण पश्यतास्ते षड्गुरवः, तद्भावपरिणते च्छेदः, आलिङ्गनादिकरणे मूलम्, एवं भिक्षोः प्रायश्चित्तमुक्तम् । उपाध्यायस्य मासगुरुकादारब्धमनवस्थाप्ये पर्यवस्यति । आचार्यस्य चतुर्लघुकादारब्धं पाराञ्चिके तिष्ठति । अन्यच्च—आरक्षिकादिभिर्दृष्टे सति ग्रहणा-ऽऽकर्षणादयः पूर्वोक्ता दोषाः । या वा प्रतिमा सा कदाचिदालिङ्ग्यमाना भज्येत ततः पश्चात्कर्मदोषः ॥ ४९१९ ॥

एष वसतिविषयो रूपदोष उक्तः । अथ विस्तरदोषमाह—

**अप्पो य गच्छो महती य साला, निक्कारणे ते य तहिं ठिता उ ।**
**कज्जे ठिता वा जतणाएँ हीणा, पावंति दोसं जतणा इमा तू ॥ ४९२० ॥**

अल्पश्चासौ गच्छो यस्तत्र प्रतिश्रये स्थितः, शाला च सा 'महती' विस्तीर्णा षड्गुशालेत्यर्थः, ते च साधवो निष्कारणे 'तत्र' उपाश्रये स्थिता वर्तन्ते, अथवा कार्ये स्थिताः परं 'यतनया' वक्ष्यमाणलक्षणया हीनाः, ततो वेश्याप्रभृतिषु स्त्रीषु समागच्छन्तीषु 'दोषं' कौतुकस्मृतिकरणादिकं प्राप्नुवन्ति ॥ ४९२० ॥ कारणे तु तत्र तिष्ठतामियं यतना—

**असिवादिकारणेहिं, अण्णाऽसति वित्थडाएँ ठायंति ।**
**ओतप्पोत करिंती, संथारग-वत्थ-पादेहिं ॥ ४९२१ ॥**

अशिवादिभिः कारणैः क्षेत्रान्तरेऽतिष्ठन्तस्तत्र अन्यस्या वसतेरभावे विस्तृतायामपि वसतौ तिष्ठन्ति । तत्र च संस्तारकैर्वस्त्र-पात्रैश्च भूमिकां ओतप्रोतां कुर्वन्ति, मालयन्तीत्यर्थः ॥ ४९२१ ॥ इदमेव व्यनक्ति—

**भूमीए संथारे, अड्डवियड्डे करेंति जह दट्ठुं ।**
**ठातुमणा वि दिवसओ, ण ठंति रत्तिं तिमा जतणा ॥ ४९२२ ॥**

विस्तीर्णायां वसतौ तथा भूम्यां संस्तारकान् अर्दवितर्दान् कुर्वन्ति यथा तान् दृष्ट्वा स्थातुमनसोऽपि न तिष्ठन्ति । एषा दिवसतो यतना । रात्रौ पुनरियं यतना ॥ ४९२२ ॥

**वेसत्थीआगमणे, अवारणे चउगुरुं च आणादी ।**
**अणुलोमण निग्गमणं, ठाणं अन्नत्थ रुक्खादी ॥ ४९२३ ॥**

वेश्यास्त्री यदि रात्रावागच्छति भणति च—'अहमप्यत्र वसामि' इति ततः सा वारणीया । अथ न वारयन्ति ततश्चतुर्गुरुकम् आज्ञादयश्च दोषाः । "अणुलोमणे" त्ति अनुकूलैर्वचनैः सा प्रतिषेद्धव्या न खरपरुषैः, 'मा साधूनामभ्याख्यानं दद्याद्' इति कृत्वा । "निग्गमणे" त्ति यदि सा वेश्या निर्गन्तुं नेच्छति ततः साधुभिर्निर्गन्तव्यम्, 'अन्यस्मिन्' शून्यगृहादि-

१ °श्चत्वारो लघु° भा० कां० ॥ २ षड्गुल° भा० कां० ॥ ३ °भिस्तदीये आलिङ्गनादौ दृष्टे कां० ॥ ४ °न्तरे गच्छन्तस्तत्र तिष्ठन्तोऽन्यस्या कां० ॥ ५ भा० विनाऽन्यत्र—ओतपोत त्ति कुर्वन्ति, माल° ताटी० मो० डे० । ओतपोतां कुर्वन्ति, देशीपदमिदम्, तेन माल° कां० ॥ ६ °च्छति 'अहमप्यत्र वसामि' इतिबुद्ध्या ततः कां० ॥ ७ °हादौ स्थात° कां० ॥

स्थाने स्थातव्यम्, तदभावे वृक्षमूलादावपि स्थेयम्, न पुनस्तत्रेति ॥ ४९२३ ॥

◁ इदमेव व्यक्तीकरोति— ▷

पुढवी ओस सजोती, हरिय तसा उवधितेण वासं वा ।
सावय सरीरतेणग, फरुसादी जाव ववहारो ॥ ४९२४ ॥

यद्यपि बहिः पृथिवीकायोऽवश्यायो वा, 'सज्योतिर्वा' साग्निका वा अन्या वसतिः, हरितकायत्रसप्राणिनो वा तत्र सन्ति तथापि निर्गन्तव्यम् । अथ बहिरुपधिस्तेनभयं वर्षं वा वर्षति श्वापदाः शरीरस्तेनका वा तत्र सन्ति ततः परुषवचनैरपि सा वेश्या भणितव्या— निर्गच्छास्मदीयात् प्रतिश्रयात् । आदिशब्दात् तथाप्यनिर्गच्छन्त्यां बन्धनादिकमपि विधीयते, यावद् व्यवहारोऽपि करणे उपस्थितायाः कर्त्तव्यः ॥ ४९२४ ॥ इदमेव भावयति—

अम्हेदाणि विसहिमो, इड्ढिमपुत्त बलवं असहणोऽयं ।
णीहि अणिंतें बंधण, णिवकड्ढण सिरिघराहरणं ॥ ४९२५ ॥

साधवो भणन्ति—वयं क्षमाशीला इदानीं विविधं विशिष्टं वा सहामहे, ततो यस्तत्राकारवान् साधुः स वक्ष्यते—अयं तु 'ऋद्धिमत्पुत्रः' राजकुमारादिः 'बलवान्' सहस्रयोधी 'असहनः' कोपनो बलादपि भवतीं निष्काशयिष्यति ततः स्वयमेव निर्गच्छ । यदि निर्गच्छति ततो लष्टम्, अथ न निर्गच्छति तदा सर्वेऽपि साधव एको वा बलवान् तां बध्नाति, ततः प्रभाते मुच्यते । मुक्ता च यदि नृपस्यान्तिके साधूनाकर्षति तदा करणे गत्वा कारणिकादीनां व्यवहारो दीयते । तत्र च श्रीगृहोदाहरणं कर्तव्यम् । यथा—

यदि राज्ञः श्रीगृहे रत्नापहारं कुर्वन् कश्चिच्चौरः प्राप्यते ततस्तस्य कं दण्डं प्रयच्छथ ? । कारणिकाः प्राहुः—शिरस्तदीयं गृह्यते । साधवो भणन्ति—अस्माकमप्येषा रत्नापहारिणी अव्यापादिता मुधैव मुक्ता । ते प्राहुः—कानि युष्माकं रत्नानि ? । साधवो भणन्ति—ज्ञानादीनि । कथं तेषामपहारः ? । अनाचारप्रतिसेवनादपध्यानगमनादिनेति ॥ ४९२५ ॥

अथ सस्त्रीकः पुरुषः समागच्छेत् सोऽपि वारणीयः । तथा चाह—

अहिकारो वारणम्मि, जत्तिय अप्फुण्ण तत्तिया वसही ।
अतिरेग दोस भगिणी, रत्तिं आरद्धे णिच्छुभणं ॥ ४९२६ ॥
आवरितो कम्मेहिं, सत्तू विव उट्ठितो थरथरंतो ।
मुंचति य भेंडितातो, एक्केक्कं भे निवादेमि ॥ ४९२७ ॥
निग्गमणं तह चेवा, णिद्दोस सदोसऽनिग्गमे जतणा ।
सज्झाए झाणे वा, आवरणे सद्दकरणे वा ॥ ४९२८ ॥

यत्र केवला पुरुषमिश्रिता वा स्त्री समागच्छति तत्र सर्वत्रापि वारणायामधिकारः, सा कर्तव्येति भावः । अत एव चोत्सर्गतो घट्टशालायां न वस्तव्यं किन्तु यावद्भिः साधुभिः सा "अप्फुण्ण" त्ति व्याप्ता भवति 'तावती' तावत्प्रमाणा वसतिरन्वेषणीया । अथातिरिक्तायां वसतौ वसन्ति ततः 'दोषाः' पूर्वोक्ता भवन्ति । कारणतस्तस्यामपि स्थितानां कश्चित् पुरुषः

१ ◁ ▷ एतदन्तर्गतमवतरणं भा० कां० नास्ति ॥

स्त्रीसहितः समागच्छति स चानुकूलैर्वचोभिर्वारणीयः, वार्यमाणश्च ब्रूयात्—'एषा मे भगिनी संरक्षणीया, साधूनां समीपे चाशङ्कनीया' इति च्छद्मना भणित्वा स्थितोऽसौ, रात्रौ च प्रारब्धस्तां प्रतिसेवितुं ततः साधुभिर्वक्तव्यः—अरे निर्लज्ज ! किमस्मानत्र स्थितान् न पश्यसि यदेवमकार्यं करोषि ?; एवमुक्त्वा निष्काशनं तस्य कर्तव्यम् ॥ ४९२६ ॥

अथासौ निष्काश्यमानो रुष्येद् रुष्टश्च 'कर्मभिः' कषायमोहनीयादिभिः 'आवृतः' आच्छादितः साधूनामुपरि शत्रुरिव रोषेण "थरथरंतो" त्ति भृशं कम्पमानः प्रहारं दातुमुत्थितः वाग्योगेन च 'भिण्डिकाः' त्राडीर्महता शब्देन मुञ्चति, यथा—"भे" युष्माकमेकैकं निपातयामि ॥ ४९२७ ॥

एवं तस्मिन् विरुद्धे सञ्जाते तस्या वसतेः साधुभिर्निर्गमनं 'तथैव' कर्तव्यं यथा पूर्वं वेश्यास्त्रियामुक्तं यदि बहिर्निर्दोषम् । अथ सदोषं ततः 'अनिर्गमे' अनिर्गच्छतामियं यतना—स्वाध्यायो महता शब्देन क्रियते ध्यानं वा ध्यायते । यस्य स्वाध्याये ध्याने वा लब्धिर्न भवति सः 'आवरणं' कर्णयोः स्थगनं विदधाति 'शब्दकरणं वा' महता शब्देन बोलो विधीयते ॥ ४९२८ ॥ एवमपि यतमानस्य कस्यापि तत् प्रतिसेवनं दृष्ट्वा कर्मोदयो भवेत् । कथम् ? इति चेद् उच्यते—

वडपादव उम्मूलण, तिक्खम्मि व विज्जलम्मि वच्चंतो ।
कुणमाणो वि पयत्तं, अवसो जह पावती पडणं ॥ ४९२९ ॥
तह समणसुविहिताणं, सव्वपयत्तेण वी जतंताणं ।
कम्मोदयपच्चइया, विराधणा कासति हवेज्जा ॥ ४९३० ॥

यथा वटपादपस्यानेकमूलप्रतिबद्धस्यापि गिरिनदीसलिलवेगेनोन्मूलनं भवति, ◁ "तिक्खम्मि व" त्ति विभक्तिव्यत्ययाद् ▷ यथा वा तीक्ष्णेन नदीपूरेण कृतप्रयत्नोऽपि पुरुषो ह्रियते, 'विज्जले वा' कर्दमाकुले वा व्रजन् प्रयत्नं कुर्वाणोऽप्यवशः पतनं यथा प्राप्नोति, तथा श्रमणसुविहितानां सर्वप्रयत्नेनापि निर्विकृतिकविधान-वाचनाप्रदानादिना यतमानानां ◁ वसतिदोषेणानाचारदर्शनाद् मोहोदयः सञ्जायते । ततश्च ▷ 'कर्मोदयप्रत्ययिका' ◁ वेदमोहनीयकर्मोदयहेतुका ▷ कस्यचिदनगारस्य चारित्रविराधना भवेत् ॥ ४९२९ ॥ ४९३० ॥ एवमसावुदीर्णमोहो धृतिदुर्बलस्तमुदयमधिसोढुमशक्तो हस्तकर्म करोति तत्र प्रायश्चित्तमाह—

पढमाएँ पोरिसीए, बितिया ततियाएँ तह चउत्थीए ।
मूलं छेदो छम्मासमेव चत्तारि या गुरुगा ॥ ४९३१ ॥

प्रथमायां पौरुष्यां हस्तकर्म करोति मूलम्, द्वितीयायां छेदः, तृतीयायां षण्मासा गुरवः,

---

१ °स्य विधेयम् ॥ ४९२६ ॥ अ° कां० ॥ २ °नस्यापि तत् प्रतिसेवनं दृष्ट्वा कस्यापि मोहोदयो कां० । "एवं पि जयंतस्स कस्सति कम्मोदतो होज्जा । कहं ?—वडपादव० गाहाद्वयम्" इति चूर्णौ विशेषचूर्णौ च ॥ ३ ◁ ▷ एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठः कां० एव वर्त्तते ॥ ४ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः भा० कां० नास्ति ॥ ५ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः कां० एव वर्त्तते ॥ ६ कस्यापि चारि° भा० कां० ॥ ७ मोहोद्भवानन्तरं प्रथ° कां० ॥

चतुर्थ्यां चत्वारो मासा गुरवः ॥ ४९३१ ॥ [1]एनामेव निर्युक्तिगाथां व्याचष्टे—

**निसि पढमपोरिसुब्भव, अदढधिती सेवणे भवे मूलं ।**
**पोरिसिपोरिसिसहणे, एक्केक्कं ठाणगं हसइ ॥ ४९३२ ॥**

'निशि' रात्रौ प्रथमपौरुष्यां मोहो[2]द्भवो जातः तस्यामेवादृढधृतिर्यदि हस्तकर्म सेवते तदा मूलम् । अथ प्रथमपौरुषीमधिसह्य द्वितीयायां सेवते छेदः । द्वे पौरुष्यावधिसह्य तृतीयायां सेवते षड्गुरवः । तिस्रः पौरुषीरधिसह्य चतुर्थ्यां सेवमानस्य चतुर्गुरुकाः । एवं पौरुषीपौरुषीसहने एकैकं प्रायश्चित्तस्थानं ह्रसति ॥ ४९३२ ॥

**बितियम्मि वि दिवसम्मि, पडिसेवंतस्स मासियं गुरुअं ।**
**छट्ठे पच्चक्खाणं, सत्तमए होति तेगिच्छं ॥ ४९३३ ॥**

एवं रात्रौ चतुरो यामानधिसह्य द्वितीये दिवसे प्रथमपौरुष्यां प्रतिसेवमानस्य मासगुरुकम् । ततः परं सर्वत्रापि मासगुरुकम् । लघूनि तु प्रायश्चित्तानि अत्र[3] न भवन्ति, अत एवेदं हस्तकर्मसेवनमनुद्घातिकमुच्यते । एवमसौ प्रतिसेव्य सङ्घाटिकस्यान्यस्य वा कस्याप्यालोचयेत् । स च[4] प्रागुक्तहस्तकर्मकारकसाधुपञ्चकापेक्षया षष्ठः साधुस्तं प्रति ब्रवीति—यत् कृतं तदकृतं न भवति, सम्प्रति भक्तप्रत्याख्यानमङ्गीकुरु । ◁[5] सप्तमके चैकित्स्यं भवति । इयमत्र भावना—▷ सप्तमो ब्रवीति—अस्य मोहोदयस्य[6] निर्विकृतिका-ऽवमौदरिकादिरूपा चिकित्सा कर्तव्या ॥ ४९३३ ॥ तथा—

**पडिलाभणऽट्ठमम्मि, णवमे सड्ढी उवस्सए फासे ।**
**दसमम्मि पिता-पुत्ता, एक्कारसमम्मि आयरिए ॥ ४९३४ ॥**

अष्टमे साधौ प्रतिलाभनाया उपदेशो भवति । नवमो ब्रूते—श्राद्धिका उपाश्रये समानीयते सा भवतः शरीरं स्पृशेत्[7] । दशमे साधौ—पिता पुत्रौ युवां सज्ञातिकग्रामं गत्वा चिकित्सां कुरुतमित्युपदिशति । ◁[8] एकादशे सङ्घाटिकसाधौ आचार्याः इत्युल्लेखेनोपदेशो भवति । किमुक्तं भवति ?—▷ एकादशो ब्रवीति—यदाचार्या आदिशन्ति तद् विधेहि । अयं शुद्धः ॥ ४९३४ ॥ शेषेषु प्रायश्चित्तमाह—

**छट्ठो य सत्तमो या, अहसुद्धा तेसि मासियं लहुयं ।**
**उवरिल्ल जं भणंती, थेरस्स वि मासितं गुरुगं ॥ ४९३५ ॥**

---

१ **इदमेव व्या°** भा० ॥ २ **°द्भवोऽजनि ततस्तस्या°** डे० ॥ ३ ताटी० मो० डे० विनाऽन्यत्र—**अत्र न भवन्ति । अत एवानुद्घा°** भा० । **अत्र हस्तकर्मावसरे न भवन्ति । अत एव सूत्रे "तओ अणुग्घाइया पन्नत्ता" इत्यादिना इदमनुद्घा°** कां० । "तेण परं सव्वत्थ मासगुरुं, जम्हा सुत्तणिवादो णत्थि लहुएसुं" इति **चूर्णौ विशेषचूर्णौ च** ॥ ४ **च अनन्तरोक्त°** कां० ॥ ५ ◁ ▷ एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठः भा० कां० नास्ति ॥ ६ ताटी० मो० डे० विनाऽन्यत्र—**°स्य 'चैकित्स्यं निर्विकृतिकादिकं चिकित्साकर्म भवति** ॥ ४९३३ ॥ कां० । **°स्य चिकित्सा कर्त्तव्या** भा० ॥ ७ ताटी० मो० डे० विनाऽन्यत्र—**स्पृशति । दशमः प्राह—पिता** भा० । **स्पृशेदिति । दशमः प्राह—पिता** कां० । ८ ◁ ▷ एतच्चिह्नमध्यगतः पाठः भा० कां० नास्ति ॥

षष्ठ-सप्तमौ[1] 'यथाशुद्धौ' न दोषयुक्तमुपदेशं ददाते, यतश्च गुरूणामुपदेशमन्तरेण स्वेच्छया भणतस्ततो मासिकं लघुकं तयोः प्रायश्चित्तम् । 'उपरितनाः' अष्टम-नवम-दशमा यत् सदोष-मुपदेशं भणन्ति तेन त्रयाणामपि मासगुरुकम् । स्थविरस्यापि पितुः पुत्रेण सह सज्ञातग्रामं गच्छतो मासगुरुकम् ॥ ४९३५ ॥ अथामूनेव षष्ठादिसाधूनामुपदेशान् विवृणोति—

**संघाडगादिकहणे, जं कत तं कत इयाणि पच्चक्खा ।**
**अविसुद्धो दुट्ठवणो, ण समति किरिया से कायव्वा ॥ ४९३६ ॥**

सङ्घाटिकस्य आदिशब्दाद् अन्यस्य वा 'हस्तकर्म कृतं मया' इत्येवं कथने कृते सति स ब्रूयात्—यत् कृतं तत् कृतमेव, इदानीं भक्तं प्रत्याचक्ष्व ?, किं ते भ्रष्टप्रतिज्ञस्य जीवितेन ? इति । सप्तमः प्राह—'अविशुद्धो दुष्टव्रणः' रप्फकादिकः क्रियां विना न शाम्यति अतः क्रिया "से" तस्य कर्तव्या, एवं भवताऽप्यस्य मोहोदयव्रणस्य निर्विकृतिका-ऽवमौदरिकादिका क्रिया विधेया येनोपशमो भवति ॥ ४९३६ ॥

**पडिलाभणा उ सड्ढी, कर सीसे वंद ऊरु दोचंगे ।**
**सूलादिरुयोमद्दण[2], ओअट्टण सड्ढिमाणेमो ॥ ४९३७ ॥**

अष्टमः प्राह—"सड्ढी" श्राविका सा प्रतिलाभनां करोति, प्रतिलाभयन्त्यां चोर्वोः पात्रके स्थिते यथाभावेनाभ्युपेत्य वा चालिते ऊरुमध्येन द्वितीयाङ्गादिकमवगलति[3], ततः सा श्राद्धिका करेण स्पृशति, "सीसे वंद" त्ति शीर्षेण वा वन्दमाना पादौ स्पृशेत्, ततः स्त्रीस्पर्शेन बीज-निसर्गो भवेत् । नवमः प्राह—"सूलाइरुय" त्ति शूलम् आदिग्रहणाद् गण्डमन्यतरद्वा तदनु-रूपं रुग्जातमकस्मादुत्पाद्यते ततः श्राद्धिका आनीयते, सा तत् शूलादिकमर्पमार्जयति[4] "ओअट्टण" त्ति गाढतरमुद्वर्त्तयति एवं बीजनिसर्गो भवेत् ततः श्राद्धिकामानयामः ॥ ४९३७ ॥

**सन्नायपल्लि णेहिं [ णं ], मेहुणि खुड्डंत णिग्गमोवसमो ।**
**अविधितिगिच्छा एसा, आयरिकहणे विधिकारो ॥ ४९३८ ॥**

यस्य मोहोदयः समुत्पन्नस्तस्य पितरं प्रति दशमो भणति—'सज्ञातकपल्लिं' सज्ञातकग्रामं[5] "णं" इति एनं आत्मीयं पुत्रं नय, तत्र मैथुनिका-मातुलदुहिता तया सह "खुड्डंत" त्ति सोपहासवचनैर्भिन्नकथाभिः परस्परं हस्तसङ्घर्षेण च क्रीडतो बीजनिर्गमो भवेत्, ततश्च मोहो-पशमो भवति । एषा सर्वाऽप्यविधिचिकित्सा भणिता । यस्तु ब्रवीति—आचार्याणामेतदा-[6]लोचय, ततस्ते यां[7] चिकित्सामुपदिशन्ति सा कर्तव्या । एतदेकादशस्य साधोर्विधिकथनमुच्यते ॥ ४९३८ ॥ अत्रैव प्रकारान्तरमाह—

**सारुवि[8] गिहत्थ [ मिच्छे ], परतित्थिनपुंसगे[9] य सूयणया ।**
**चउरो य हुंति लहुगा, पच्छाकम्मम्मि ते चेव ॥ ४९३९ ॥**

---

१ °सप्तमौ साधू यथाशुद्धौ मन्तव्यौ । यथाशुद्धौ नाम-दोषयुक्तमुपदेशं न वदतः । यत° कां० ॥ २ °मद्दण मो० । एतत्पाठानुसारेणैव मो० टीका । दृश्यतां टिप्पणी ४ ॥ ३ °वलगति कां० ॥ ४ °पमर्दयति मो० ॥ ५ °ग्रामं 'तम्' इति भा० ॥ ६ °णां गत्वाऽन्ते आलो° मो० ले० ॥ ७ यां क्रियामुप° कां० ॥ ८ सारूविए गिहत्थे, पर° भा० विना ॥ ९ °सगेसु सूय° ताभा० ॥

कश्चिद् ब्रूयात्—'सारूपिकः'[1] सिद्धपुत्रः तद्रूपो यो नपुंसकस्तेन हस्तकर्म कार्यताम् । द्वितीयः प्राह—गृहस्थपुराणनपुंसकेन । तृतीयो भणति—मिथ्यादृष्टिनपुंसकेन । चतुर्थो ब्रवीति—परतीर्थिकनपुंसकेन । एतेषां चतुर्णामपि "सूयणय" त्ति हस्तकर्मकरणे 'सूचनां' प्रेरणां कुर्वाणानां चत्वारो लघवस्तपः-कालविशेषिता भवन्ति । तत्र प्रथमे द्वाभ्यामपि लघवः, द्वितीये तपसा लघवः, तृतीये कालेन लघवः, चतुर्थे द्वाभ्यामपि गुरव इति । अथ ते हस्तकर्म कृत्वा पश्चात्कर्म कुर्वन्ति, उदकेन हस्तौ धावन्तीत्यर्थः, तत्रापि 'त एव' चतुर्लघवः ॥४९३९॥

**एसेवं कमो नियमा, इत्थीसु वि होइ आणुपुव्वीए ।**
**चउरो य अणुग्घाया, पच्छाकम्मम्मिं ते लहुगा ॥ ४९४० ॥**

'एष एव' सारूपिकादिकः क्रमो नियमात् स्त्रीणामपि आनुपूर्व्या वक्तव्यो भवति । तद्यथा—प्रथमो ब्रवीति—सिद्धपुत्रिकया हस्तकर्म कार्यताम्, एवं द्वितीयः—गृहस्थपुराणिकया, तृतीयः—मिथ्यादृष्टिगृहस्थया, चतुर्थः—परतीर्थिक्या । चतुर्णामप्येवंभणतां स्त्रीस्पर्शकारापणप्रत्ययाश्चत्वारः 'अनुद्घाताः' गुरुका मासास्तथैव तपः-कालविशेषिताः प्रायश्चित्तम् । पश्चात्कर्मणि तु 'त एव' चत्वारो मासा लघुकाः ॥ ४९४० ॥ तदेवं गतं 'वसतेर्दोषेण' इति द्वारम् । 'दृष्ट्वा स्मृत्वा वा पूर्वभुक्तानि' इति द्वारद्वयं तु यथा **निशीथे** प्रथमोद्देशके प्रथमसूत्रे व्याख्यातं तथैवात्रापि मन्तव्यम् । तदेवमुक्तं हस्तकर्म । अथ मैथुनमभिधित्सुराह—

**मेहुण्णं पि य तिविहं, दिव्वं माणुस्सयं तिरिक्खं च ।**
**ठाणाइं मोत्तूणं, पडिसेवणि सोधि स चेव ॥ ४९४१ ॥**

मैथुनमपि त्रिविधम् । तद्यथा—दिव्यं मानुष्यं तैरश्चं च । अत्र च येषु स्थानेष्वेतानि दिव्यादीनि मैथुनानि सम्भवन्ति तानि मुक्त्वा स्थानव्यम् । यदि तेषु तिष्ठति तानि वा दिव्यादीनि प्रतिसेवते तदा तदेव स्थानप्रायश्चित्तं सैव च प्रतिसेवनायां शोधिर्या प्रथमोद्देशके **सागारिकसूत्रे**ऽभिहिता ( गा० २४७० तः ) ॥ ४९४१ ॥

अथ द्वितीयपदं सप्रायश्चित्तमुच्यते । तत्र परः प्रेरयति—

**मूलुत्तरसेवासुं, अवरपदम्मि णिसिज्झती सोधी ।**
**मेहुण्णे पुण तिविधे, सोधी अववायतो किण्णु ॥ ४९४२ ॥**

'मूलगुणोत्तरगुणप्रतिसेवनासु' [3] प्राणातिपात-पिण्डविशोधिप्रभृतिविषयासु [3] 'अपरपदे' उत्सर्गापेक्षया अन्यस्मिन्नपवादाख्ये स्थाने 'शोधिः' प्रायश्चित्तं तावन्निषिध्यते, न दीयत इत्यर्थः, मैथुने पुनस्त्रिविधेऽपि किमर्थमपवादतः प्रतिसेव्यमाने शोधिरभिधास्यते [4] ? ॥४९४२॥

सूरिराह—द्विविधा प्रतिसेवना—दर्पिका कल्पिका च अनयोः प्ररूपणार्थं[5] तावदिदमाह—

**राग-द्दोसाणुगया, तु दप्पिया कप्पिया तु तदभावा ।**
**आराधणा उ कप्पे, विराधणा होति दप्पेणं ॥ ४९४३ ॥**

रागद्वेषाभ्याम् अनुगता—सहिता या प्रतिसेवना सा दर्पिका, या तु कल्पिका सा 'तद-

---

१ °च समो ताभा० ॥ २ °म्मि चउलहुगा ताभा० ॥ ३ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः भा० कां० नास्ति ॥ ४ °रभिधीयते ? भा० ॥ ५ °णार्थमिदमाह भा० कां० ॥

भावात्' राग-द्वेषाभावाद् भवति । शिष्यः प्राह—दर्पेण कल्पेन वाऽऽसेविते किं भवति ? इति उच्यते—कल्पेनासेविते ज्ञानादीनामाराधना भवति, दर्पेण प्रतिसेविते तेषामेव विराधना भवति ॥ ४९४३ ॥ आह—यदि राग-द्वेषविरहिता कल्पिका भवति तर्हि मैथुने कल्पिकाया अभावः प्राप्नोति । उच्यते—प्राप्नोतु नाम, का नो हानिः ? । तथा चाह—

**कामं सव्वपदेसु वि, उस्सग्ग-ऽववादधम्मता जुत्ता ।**
**मोत्तुं मेहुणभावं, ण विणा सो राग-दोसेहिं ॥ ४९४४ ॥**

'कामम्' अनुमतमिदमस्माकम्—'सर्वेष्वपि पदेषु' मूलोत्तरगुणरूपेषु 'उत्सर्गा-ऽपवाद-धर्मता युक्ता' उत्सर्गः–प्रतिषेधः अपवादः–अनुज्ञा तद्धर्मता–तल्लक्षणता सर्वेष्वपि पदेषु युज्यते; तथापि मुक्त्वा 'मैथुनभावम्' अब्रह्मासेवनम्, तत्र उत्सर्गधर्मतैव घटते नापवादधर्मता । किमर्थम् ? इत्याह—असौ मैथुनभावो राग-द्वेषाभ्यां विना न भवति, अतो द्वितीयपदेऽपि न तत्राप्रायश्चित्तीति हृदयम् ॥ ४९४४ ॥ अयं पुनरस्ति विशेषः—

**संजमजीवितहेउं, कुसलेणालंबणेण वऽण्णेणं ।**
**भयमाणे तु अकिच्चं, हाणी वड्ढी व पच्छित्ते ॥ ४९४५ ॥**

'संयमजीवितहेतोः' 'चिरकालं संयमजीवितेन जीविष्यामि' इति बुद्ध्या 'कुशलेन वा' तीर्थाव्यवच्छित्त्यादिलक्षणेनान्येनाप्यालम्बनेन 'अकृत्यम्' अब्रह्म 'भजमानस्य' आसेवमानस्य प्रायश्चित्ते हानिर्वा वृद्धिर्वा वक्ष्यमाणनीत्या भवति ॥ ४९४५ ॥

आह—मैथुने कल्पिका सर्वथैव न भवति ? इति अत आह—

**गीयत्थो जतणाए, कडजोगी कारणम्मि णिद्दोसो ।**
**एगेसिं गीत कडो, अरत्तऽदुट्ठो तु जतणाए ॥ ४९४६ ॥**

गीतार्थः 'यतनया' अल्पतरापराधस्थानप्रतिसेवारूपया 'कृतयोगी' तपःकर्मणि कृताभ्यासः 'कारणे' ज्ञानादौ सेवते, एष प्रथमो भङ्गः, अत्र च प्रतिसेवमानः कल्पिकप्रतिसेवावानिति कृत्वा निर्दोषः । गीतार्थो यतनया कृतयोगी निष्कारणे, एष द्वितीयो भङ्गः, अत्र सदोषः । एवं चतुर्णां पदानां षोडश भङ्गाः कर्तव्याः । एकेषां पुनराचार्याणामिह पञ्च पदानि भवन्ति—गीतार्थः कृतयोगी अरक्तो अद्विष्टो यतनया सेवते, एष प्रथमो भङ्गः; गीतार्थः कृतयोगी अरक्तोऽद्विष्टोऽयतनया, एष द्वितीयो भङ्गः; एवं पञ्चभिः पदैर्द्वात्रिंशद् भङ्गा भवन्ति । अत्रापि प्रथमभङ्गे कल्पिका प्रतिसेवा मन्तव्या, न शेषेषु ॥ ४९४६ ॥

आह—यदि तत्र कल्पिका तर्हि निर्दोष एवासौ, उच्यते—

**जति सव्वसो अभावो, रागादीणं हविज्ज णिद्दोसो ।**
**जतणाजुतेसु तेसु तु, अप्पतरं होति पच्छित्तं ॥ ४९४७ ॥**

यदि 'सर्वशः' सर्वप्रकारेणैव रागादीनामभावो मैथुने भवेत् ततो भवेन्निर्दोषः, तच्च नास्ति, अतो न तत्र सर्वथा निर्दोषः, परं यतनायुतेषु 'तेषु' गीतार्थादिविशेषणविशिष्टेषु साधुष्वल्पतरं प्रायश्चित्तं भवति ॥ ४९४७ ॥ अथ यदुक्तम्—"हानिर्वृद्धिर्वा प्रायश्चित्ते भवति" ( गा० ४९४५ ) तत्र हानिं तावद् विवरीषुराह—

कुलवंसम्मि पहीणे, रज्जं अकुमारगं परे पेल्ले ।
तं कीरतु पक्खेवो, एत्थ य बुद्धीएँ पाघण्णं ॥ ४९४८ ॥

कश्चिद् नृपतिरनपत्यः स मन्त्रिणा प्रोक्तः—यूयमपुत्रिणस्ततः कुलवंशे प्रक्षीणे राज्यमकुमारकं मत्वा परे राजानः प्रेरयेयुः ततः क्रियतामपरपुरुषप्रक्षेपः, स चोपायेन तथा कर्तव्यः यथा लोके अपयशःप्रवादो न समुच्छलति कुमारश्चोत्पद्यते, 'अत्र च' उपायनिरूपणे बुद्धेः प्राधान्यम्, तयैवासौ सम्यक् परिज्ञायते नान्यथेति भावः॥ ४९४८ ॥ इदमेव सविशेषमाह—

सामत्थ णिव अपुत्ते, सचिव मुणी धम्मलक्ख वेसणता ।
अणहवियतरुणरोधो, एगेसिं पडिमदायणता ॥ ४९४९ ॥

'अपुत्रे' अपुत्रस्य नृपस्य सचिवेन सह "सामत्थणं" पर्यालोचनम्, यथा—कथं नाम कुमारः सम्भविता ? । ततो मन्त्रिणा भणितम्—यथा परक्षेत्रेऽपरेण बीजमुप्तं क्षेत्रस्वामिन आभाव्यं भवति एवं तवान्तःपुरक्षेत्रेऽन्येनापि बीजं निसृष्टं तवैव पुत्रो भवति । राज्ञा प्रतिपन्नं तद्वचनम् । भूयोऽप्यमात्यः प्राह—ये मुनयोऽयशःप्रवादाल्लज्जन्ते ते 'धर्मलक्ष्येण' धर्मकथाकारापणव्याजेन यद्वा "धम्मलक्खे"ति 'राजा सान्तःपुरः श्रावको गृहेऽर्हतां प्रतिमाः शुश्रूषते ताः साधवो वन्दितुमागच्छत' इत्येवं धर्मव्याजेन "वेसणय" त्ति प्रवेशनीयाः । एवममात्यवचनं प्रतिपद्य राज्ञा तथैव कृतम् । ततो राजगृहं प्रविष्टेषु साधुषु ये तरुणाः अनघबीजाः—अविनष्टबीजास्तेषां लक्षणादिभिर्ज्ञात्वा रोधः—नियन्त्रणा कृता, शेषास्तु क्षुल्लक-स्थविरादयो विसर्जिताः । यद्वा "तरुण रोहे" त्ति पाठः, ते तरुणाः 'अवरोधे' अन्तःपुरे तरुणस्त्रीभिः सार्धं बलाद् भोगान् भोजयितुमारेभिरे । राजपुरुषाश्च घोररूपधारिणो भणन्ति—यदि भोगान्न भोक्ष्यध्वे ततो वयं मारयिष्यामः । तत्रैकः साधुः

"वरं प्रवेष्टुं ज्वलितं हुताशनं, न चापि भग्नं चिरसञ्चितं व्रतम् ।
वरं हि मृत्युः सुविशुद्धकर्मणो, न चापि शीलस्खलितस्य जीवितम् ॥"

इत्यादि परिभाव्य मर्तुमध्यवसितः, तस्यैवमनिच्छतो राजपुरुषैः शिरश्छिन्नम् । "एगेसिं पडिमदायणय" त्ति 'एकेषाम्' आचार्याणामयमभिप्रायः, यथा—मन्देतरप्रकाशे प्रदेशे लेप्यप्रतिमाया लाक्षारसपूर्णायाः शीर्षं छित्त्वा दर्शितम्, ततः साधवो भणिताः—यथैतस्य शिरश्छिन्नम् एवं भवतामपि शिरश्छेदो विधास्यते ॥ ४९४९ ॥ इदमेव भावयति—

तरुणीण य पक्खेवो, भोगेहिँ निमंतणं च भिक्खुस्स ।
भोत्तुं अणिच्छमाणे, मरणं च तहिं ववसियस्स ॥ ४९५० ॥

तरुणीनां साधुभिः सहान्तःपुरे प्रक्षेपः कृतः, भोगैश्चैकस्य भिक्षोः प्रथमतो निमन्त्रणं कृतम्, तस्य च भोक्तुमनिच्छतो मरणं च तत्र व्यवसितस्य शिरश्छेदश्चके ॥ ४९५० ॥

दट्ठूण तं विससणं, सहसा साभावियं कइतवं वा ।

१ °पतेः स° के० ॥ २ °ष्टबीर्यास्ते° कां० ॥ ३ °स्ते लक्षणादिभिर्ज्ञात्वा रुद्धाः, शेषा° भा० ॥ ४ ताटी० मो० के० विनाऽन्यत्र—मरणमध्य° भा० । मरणमङ्गीकर्तुमध्य° कां० ॥ ५ °न्दप्रका° भा० कां० ॥ ६ °याः 'पुरुषोऽयं मार्यते' इति नृपपुरुषैः शीर्षं कां० ॥

विगुरुव्विया य ललणा, हरिसा भयसा व रोमंचो ॥ ४९५१ ॥

'तत्' तथाविधं 'विशसनं' व्यपरोपणं 'स्वाभाविकं' साधोरेव 'कैतविकं वा' प्रतिमायाः क्रियमाणं सहसा दृष्ट्वा 'विकुर्विताश्च' अलङ्कृत-विभूषिता ललना विलोक्य कस्यापि हर्षेण भयेन वा रोमाञ्चो भवेत् । ◁ सकारोऽलाक्षणिकः ▷ ॥ ४९५१ ॥ अत्रैव प्रायश्चित्तमाह—

सुमुल्लसिते भीए, पच्चक्खाणे पडिच्छ गच्छ थेर विदू ।
मूलं छेदो छम्मास चउर गुरु-लहु लहुग मासो ॥ ४९५२ ॥

यस्तावद् मरणमध्यवसितः स शुद्धः । द्वितीयः—उल्लसितः—'एतेनापि मिषेण स्त्रियं प्राप्स्यामः' इति बुद्ध्या उल्लुषितरोमकूपः सञ्जातस्तस्य मूलम् । अपरः—यदि न प्रतिसेवे ततो मम शिरश्छिद्यते; एवं भीतस्य प्रतिसेवमानस्य च्छेदः । अपरश्चिन्तयति—अहमेवं मार्यमाणः समाधिं नासादयिष्यामि, असमाधिमरणेन च दुर्गतिगामी, अतो भक्तप्रत्याख्यानं कृत्वा मरिष्ये; एवं सेवमानस्य षड्गुरवः । अपर इदमालम्बनं करोति—अहं जीवन् प्रतीच्छकानां वाचनां दास्यामि; तस्य षड्लघवः । अन्यश्चिन्तयति—गच्छं सारयिष्यामि; तस्य चतुर्गुरवः । अपर इदमालम्बते—मया विना स्थविराणां न कोऽपि कृतिकर्म करिष्यति अतस्तेषां वैयावृत्यकरणार्थं प्रतिसेवे; तस्य चतुर्लघुकम् । अपरः परिभावयति—विद्वांसः—आचार्यास्तेषां वैयावृत्यकर्ता कोऽपि न विद्यते तदर्थं प्रतिसेवे; तस्य मासलघुकम् ॥ ४९५२ ॥ इदमेव व्याख्याति—

निरुवहयजोणिथीणं, विउव्वणं हरिसमुल्लसिते मूलं ।
भय रोमंचे छेदो, परिण्ण काहं ति छग्गुरुगा ॥ ४९५३ ॥
मा सीदेज्ज पडिच्छा, गच्छो फिट्टेज्ज थेर संघेच्छं ।
गुरुणं वेयावच्चं, काहं ति य सेवतो लहुओ ॥ ४९५४ ॥

पञ्चपञ्चाशतो वर्षाणामुपरिष्टादुपहतयोनिका स्त्री भवति, तेषामारतो अनुपहतयोनिका, गर्भं गृह्णातीत्यर्थः । एवं निरुपहतयोनिकस्त्रीणां 'विकुर्वणं' मण्डनं दृष्ट्वा यस्य हर्षः समुल्लसति ततश्चाब्रह्म प्रतिसेवमानस्य तस्य मूलम् । यस्य तु भयेन रोमाञ्च उत्पद्यते तस्य च्छेदः । परिज्ञा—भक्तप्रत्याख्यानं तां करिष्यामीति यः परिणतस्तस्य षड्गुरुकाः ॥ ४९५३ ॥

'मा प्रतीच्छकाः सीदेयुः' इति बुद्ध्या यः सेवते तस्य षड्लघुकाः । यस्तु 'मां विना गच्छः स्फिटेत्' इत्यालम्बते तस्य चतुर्गुरु । 'स्थविरान् सङ्ग्रहीष्यामि' इति कृत्वा सेवमानस्य चतुर्लघु । 'गुरूणां वैयावृत्यं करिष्ये' इति हेतोः सेवमानस्य लघुमासः ॥ ४९५४ ॥

उक्ता प्रायश्चित्तस्य हानिः । अथ वृद्धिमाह—

लहुओ उ होति मासो, दुब्भिक्खऽविसज्जणे य साहूणं ।
णेहाणुरागरत्तो, खुड्डो चिय णेच्छए गंतुं ॥ ४९५५ ॥
कालेणेसणसोधिं, पयहति परितावितो दिगिंछाए ।

१ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः भा० कां० नास्ति ॥ २ चउर गुरुगा लहुग मासो इतिरूप एव पाठः सर्वास्वपि प्रतिषु वर्तते, असमीचीनश्चायमित्यस्माभिर्मूले परावर्तितः पाठः ॥ ३ एतावन्मात्रं निर्युक्तिगाथां व्या° कां० ॥ ४ तथान्यतो भा० ॥

**अलभंते चिय मरणं, असमाही तित्थवोच्छेदो ॥ ४९५६ ॥**

'इह दुर्भिक्षं भविष्यति' इति मत्वा सूरिभिरनागतमेव गच्छं गृहीत्वा निर्गन्तव्यम् । अथ स्वयं जङ्घाबलपरिक्षीणास्ततः साधवो विसर्जनीयाः । अथ न विसर्जयन्ति तत आचार्यस्या-सामाचारीनिष्पन्नो लघुको मासो भवति आज्ञादयश्च दोषाः । एते चापरे तत्र दोषा भवन्ति—स गच्छो दुर्भिक्षे भक्त-पानमलभमानः "दिगिंछाए" त्ति बुभुक्षया परितापितः सन् 'कालेन' कालक्रमेण एषणाशुद्धिमपि प्रजहाति, मरणमपि चासमाधिना भक्तमलभमानस्य भवेत्, तीर्थ-व्यवच्छेदश्च भवति, अतो विसर्जनीयः सर्वोऽपि गच्छः । तत्र च विसर्जिते ◁[1] किं भवति ? इति अत आह—"नेहाणुराग" इत्यादि पूर्वगाथायाः पश्चार्द्धम् । ▷ स्नेहानुरागरक्तः कश्चित् क्षुल्लको नेच्छति गन्तुं परमनिच्छन्नपि प्रेषितः । ततोऽसौ गुरुस्नेहानुरागपरवशो देशस्कन्धात् पलायित्वा प्रतिनिवृत्तः । सूरिभिरभिहितम्—दुष्टु त्वया कृतं यदेवं भूयः प्रत्यागतः । आचार्याश्च स्वयं केषुचिन्निश्रागृहेषु यां भिक्षां लभन्ते तस्याः संविभागं क्षुल्लकस्य प्रयच्छन्ति । ततः क्षुल्लकश्चिन्तयति—अहो ! मया गुरवोऽपि क्लेशिताः । ततः स पृथग् भिक्षां हिण्डितः । तत्रैका प्रोषितपतिका क्षुल्लकमुपसर्गयन्ती भणति—यदि मया सार्धं तिष्ठसि ततो यथेष्टं ते भक्तं पूरयिष्यामीति ॥ ४९५५ ॥ ४९५६ ॥ एवं च—

**भिक्खं पि य परिहायति, भोगेहिँ णिमंतणा य साहुस्स ।**
**गिण्हति एक्कंतरियं, लहुगा गुरुगा चउम्मासा ॥ ४९५७ ॥**
**पडिसेवंतस्स तहिं, छम्मासा छेदो होति मूलं च ।**
**अणवट्ठप्पो पारंचिओ य पुच्छा य तिविहम्मि ॥ ४९५८ ॥**

भैक्षमपि दुर्भिक्षानुभावेन परिहीयते भोगैश्च निमन्त्रणा तस्य साधोः समजनि ततः स चिन्तयति—यद्येनां प्रतिसेवितुं नेच्छामि ततो भक्ताभावादसमाधिमरणेन म्रिये, अतः साम्प्रतं तावत् प्रतिसेवे, पश्चाद् दीर्घं कालं संयमं पालयिष्यामि सूत्रार्थौ च ग्रहीष्यामि एतत्प्रत्ययं च प्रायश्चित्तं चरिष्यामि; एवं चिन्तयित्वा यतनां करोति । कथम् ? इत्याह—"गिण्हइ" इत्यादि, एकान्तरितं भक्तं गृह्णाति प्रतिसेवते च । तत्र प्रथमदिवसे प्रतिसेवमानस्य चत्वारो लघुमासाः । द्वितीये दिनेऽभक्तार्थेन स्थित्वा तृतीये दिने प्रतिसेवमानस्य चत्वारो गुरुमासाः ॥ ४९५७ ॥

एवमेकान्तरितं भक्तं गृह्णतस्तां च[2] 'तत्र' तादृशे दुर्भिक्षे प्रतिसेवमानस्य पञ्चम-[3]सप्तमयोर्दिनयो-र्यथाक्रमं षण्मासा लघवो गुरवश्च भवन्ति, ततो नवमे दिने च्छेदः, तत एकादशे मूलम्, तदनन्तरं त्रयोदशे दिवसेऽनवस्थाप्यम्, ततः पञ्चदशे दिवसे प्रतिसेवमानस्य पाराञ्चिकम् । अथ निरन्तरं प्रतिसेवते तदा द्वितीयदिवस एव मूलम् । एषा वृद्धिरभिहिता ।

"पुच्छा य तिविहम्मि" त्ति शिष्यः पृच्छति—'त्रिविधे' दिव्य-मानुष्य-तैरश्चलक्षणे मैथुने कथमभिलाष उत्पद्यते ? ॥ ४९५८ ॥ सूरिराह—

---

१ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः भा० कां० नास्ति ॥ २ ताटी० मो० ले० विनाऽन्यत्र—च प्रतिसेवमानस्य 'तत्र' पञ्च° भा० कां० ॥ ३ °सप्तमादिषु दिनेषु षण्मासा लघवो गुरवश्च भवन्ति, ततश्छेदः, ततो मूलम्, तदनन्तरमनवस्थाप्यम्, ततः पाराञ्चिकम् । अथ निर° भा० ॥

**वसहीए दोसेणं, दट्ठुं सरिउं व पुव्वभुत्ताइं ।**
**तेगिच्छ सद्दमादी, असज्जणा तीसु वी जतणा ॥ ४९५९ ॥**

'वसतेर्दोषेण' स्त्री-पशु-पण्डकसंसक्तिलक्षणेन, यद्वा स्त्रियम् आलिङ्गनादिकं वा दृष्ट्वा, गृहस्थकाले वा यानि स्त्रीभिः सार्धं भुक्तानि वा हसितानि वा ललितानि वा तानि स्मृत्वा मैथुनभाव उत्पद्यते । एवमुत्पन्ने किं कर्त्तव्यम्? इत्याह—"तेगिच्छ" इत्यादि, चिकित्सा कर्तव्या, सा च निर्विकृतिकप्रभृतिका । तामतिक्रान्तस्य शब्दादिका ◁ वा[1] यतना कर्त्तव्या । किमुक्तं भवति?—▷ यत्र स्थाने स्त्रीशब्दं रहस्यशब्दं वा शृणोति तत्र स्थविरसहितः स्थाप्यते, आदिशब्दाद् यत्रालिङ्गनादिकं पश्यति तत्रापि स्थाप्यते । "असज्जण" त्ति तस्यां शब्दश्रवणादिरूपायां चिकित्सायां सजनं—सङ्गो गृद्धिरिति यावत् सा तेन न कर्तव्या । एवं 'त्रिष्वपि' दिव्यादिषु मैथुनेषु यतना मन्तव्या ॥ ४९५९ ॥ इदमेव सविशेषमाह—

**बिइयपदे तेगिंछं, णिव्वीतियमादिगं अतिक्कंते ।**
**सनिमित्तऽनिमित्तो पुण, उदयाऽऽहारे सरीरे य ॥ ४९६० ॥**

द्वितीयपदे निर्विकृतिका-ऽवमौदरिका-निर्बलाहारोर्द्ध्वस्थाना-ऽऽचाम्ला-ऽभक्तार्थ-षष्ठा-ऽष्टमादिरूपां चिकित्सामतिक्रान्तस्य शब्दादिकाऽनन्तरोक्ता यतना भवति । एषा च सनिमित्तेऽनिमित्ते वा मैथुनाभिलाषे[2] भवति । तत्र सनिमित्तो वसतिदोषादिनिमित्तसमुत्थः, अनिमित्तः पुनः कर्मोदयेन १ आहारतः २ शरीरपरिवृद्धितश्च ३ य उत्पद्यते । सर्वमेतद् यथा **निशीथे** प्रथमोद्देशके भणितं तथैव द्रष्टव्यम् ॥ ४९६० ॥ गतं मैथुनम् । अथ रात्रिभोजनमाह—

**रातो य भोयणम्मि, चउरो मासा हवंतऽणुग्घाया ।**
**आणादिणो य दोसा, आवज्जण संकणा जाव ॥ ४९६१ ॥**

रात्रौ भोजने क्रियमाणे चत्वारो मासाः 'अनुद्घाताः' गुरवो भवन्ति आज्ञादयश्च दोषाः । ये च प्राणातिपातादिविषया आपत्ति-शङ्कादोषाः परिग्रहस्यापत्तिं शङ्कां च यावत् प्रथमोद्देशके ◁ "नो[3] कप्पइ राओ वा वियाले वा असणं वा ४" इत्यादौ **रात्रिभक्तसूत्रे** (सूत्र ४२) ▷ इहैवाभिहितास्ते सर्वेऽपि द्रष्टव्याः ॥ ४९६१ ॥ अथ द्वितीयपदमाह—

**णिरुवद्दवं च खेमं च, होहिति रण्णो य कीरतू संती ।**
**अद्धाणनिग्गतादी, देवी पूयाय अज्झियगं ॥ ४९६२ ॥**

उपद्रवो नाम—अशिवं गलरोगादिकं वा, तस्याभावो निरुपद्रवम् । 'क्षेमं' परचक्राद्युपप्लवाभावः । ततः 'निरुपद्रवं च क्षेमं च मदीये देशे भविष्यति' इति परिभाव्य राजा शान्तिं कर्तुकामस्तपस्विनो रात्रौ भोजयेत् । यद्वा राजपुत्रो वा नागरा वा 'राज्ञः शान्तिः क्रियताम्' इति कृत्वा ये रात्रौ न भुञ्जते सुतपस्विनश्च ते रात्रौ भोजनीयाः, एष तस्या विद्याया उपचार इति परिभावयन्ति, ते च साधवोऽध्वनिर्गतादयस्तत्र सम्प्राप्तास्ततो वक्ष्यमाणो विधिर्विधातव्यः । यद्वा राज्ञः कस्यापि देवी वानमन्तरपूजां कृत्वा तपस्विनां रात्रिभोजनलक्षणम् "अज्झियकं"

१ ◁ ▷ एतच्चिह्नमध्यगतः पाठः भा० कां० नास्ति ॥ २ °लाषे कर्त्तव्या । तत्र कां० ॥
३ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः भा० कां० नास्ति ॥

उपयाचितं मन्येत ॥ ४९६२ ॥ कुतः ? इति चेद् उच्यते—

**अवधीरिया व पतिणा, सवत्तिणीए व पुत्तमाताए ।**
**गेलण्णेण व पुट्ठा, वुग्गहउप्पादसमणे वा ॥ ४९६३ ॥**

'पतिना' भर्त्रा 'अवधीरिता' अपमानिता सा देवी, यद्वा या तस्याः सपत्नी सा पुत्रमाता तया न सुष्ठु बहुमान्यते, ग्लानत्वेन वा सा गाढतरं स्पृष्टा, विग्रहो वा तस्याः केनापि सार्धमुत्पन्नस्ततो विग्रहोत्पादस्य शमनार्थं वानमन्तरपूजा कर्तव्या, स च वानमन्तरो रात्रौ साधुषु भोजितेषु परितोषमुद्वहति ॥ ४९६३ ॥ ततः—

**एक्केक्कं अतिणेउं, निमंतणा भोयणेण विपुलेणं ।**
**भोत्तुं अणिच्छमाणे, मरणं च तहिं ववसितस्स ॥ ४९६४ ॥**

एकैकं साधुं बलाभियोगेन राजभवने 'अतिनीय' प्रवेश्य रात्रौ विपुलेन भोजनेन निमन्त्रणा कृता, अभिहिताश्च साधवः—यदि सम्प्रति न भोक्ष्यध्वे ततो वयं व्यपरोपयिष्यामः । एवमुक्ते तेषामेकस्य साधोस्तदानीं भोक्तुमनिच्छतो मरणं च तत्र व्यवसितस्य शिरश्छिन्नम्, द्वितीयो हर्षादुल्लसितः, तृतीयो भीत इत्यादि यथा मैथुने तथा मन्तव्यम् ॥ ४९६४ ॥

अत्र प्रायश्चित्तमाह—

**सुदुल्लसिते भीए, पच्चक्खाणे पडिच्छ गच्छ थेर विदू ।**
**मूलं छेदो छम्मास चउरो मासा गुरुग लहुओ ॥ ४९६५ ॥**

गतार्था ( गा० ४९५२ ) ॥ ४९६५ ॥ अत्र यतनामाह—

**तत्थेव य भोक्खामो, अणिच्छे भुंजामो अंधकारम्मि ।**
**कोणादी पक्खेवो, पोट्टल भाणे व जति णीता ॥ ४९६६ ॥**

रात्रौ भोज्यमानैः साधुभिरभिधातव्यम्—भाजनेषु गृहीत्वा ततः 'तत्रैव' स्वप्रतिश्रये भोक्ष्यामहे, न वर्तते गृहस्थानां पुरतो भोक्तुम्; एवमुक्त्वा ततोऽल्पसागारिकं नीत्वा परिष्ठापयन्ति । अथान्यत्र नेतुं न प्रयच्छन्ति भणन्ति च—अस्माकं पुरतो भोक्तव्यम्; ततो वक्तव्यम्—प्रदीपमपनयत, अन्धकारे भोजनं कुर्मः; ततस्तेषामपश्यतां कोणेषु आदिशब्दाद् अपरत्र वा एकान्ते कवलान् प्रक्षिपन्ति । अथवा वस्त्रेण पोट्टलकं बद्ध्वा तत्र प्रक्षिपन्ति, भाजनेषु वा प्रक्षिपन्ति यदि निजकानि अलाबूनि भवन्ति ॥ ४९६६ ॥

अथ प्रदीपं नापनयन्ति तत इदं वक्तव्यम्—

**गेलण्णेण व पुट्ठा, बाहाडऽरुची व अंगुली वा वि ।**
**भुंजंता वि य असढा, सालंबाऽमुच्छिता सुद्धा ॥ ४९६७ ॥**

यदि ते दुर्बलास्ततो भणन्ति—ग्लानत्वेन स्पृष्टा वयम्, एतच्चास्माकमपथ्यम्, यदि समुद्दिशामस्ततो म्रियामहे, तस्मान्मा ऋषिहत्यां कुरुत । अथवा भणितव्यम्—अस्माभिर्गलकं यावद् भुक्तम्, बाहाडं च—प्रभूतं भुक्तानां कुतो रुचिरुपजायते ? । यद्येवं न प्रत्ययन्ति ततो मातृस्थानेनाङ्गुलीं वदने प्रक्षिप्य वमनमुत्पादयन्ति । यदि तथापि न प्रतियन्ति ततः स्तोकं

१ प्रत्ययन्ति ताटी० मो० ले० ॥

तन्मध्यादास्वादयन्ति । अथ तथापि न विसर्जयन्ति तत एवं सालम्बनाः 'अशठाः' राग-द्वेषरहिता अमूर्च्छिताः स्तोकं भुञ्जाना अपि शुद्धाः ॥ ४९६७ ॥ उपसंहरन्नाह—

**एत्थं पुण अधिकारो, अणुघाता जेसु जेसु ठाणेसु ।**
**उच्चारियसरिसाइं, सेसाइँ विकोवणट्ठाए ॥ ४९६८ ॥**

'अत्र पुनः' प्रस्तुतसूत्रे ◁ हस्तकर्म-मैथुन-रात्रिभक्तविषयैः स्थानैः ▷ 'अधिकारः' प्रयोजनम् । कैः ? इत्याह—येषु येषु स्थानेषु 'अनुद्घातानि' गुरुकाणि प्रायश्चित्तानि भणितानि तैरेवाधिकारः । 'शेषाणि' ◁ लघुप्रायश्चित्तसहितानि स्थानानि ▷ पुनरुच्चारितार्थसदृशानि शिष्याणां विकोपनार्थमुक्तानि ॥ ४९६८ ॥

## ॥ अनुद्घातिकप्रकृतं समाप्तम् ॥

---

## पा रा ञ्चि क प्र कृ त म्

सूत्रम्—

**तओ पारंचिया पन्नत्ता, तं जहा—दुट्ठे पारंचिए, पमत्ते पारंचिए, अन्नमन्नं करेमाणे पारंचिए २ ॥**

अस्य सम्बन्धमाह—

**वुत्ता तवारिहा खलु, सोधी छेदारिहा अध इदाणिं ।**
**देसे सव्वे छेदो, सव्वे तिविहो तु मूलादी ॥ ४९६९ ॥**

तपोर्हा शोधिः खलु पूर्वसूत्रे प्रोक्ता, अथेदानीं छेदार्हाऽभिधीयते । स च च्छेदो द्विधा—देशतः सर्वतश्च । देशच्छेदः पञ्चरात्रिन्दिवादिकः षण्मासान्तः । सर्वच्छेदः 'मूलादिः' मूला-ऽनवस्थाप्य-पाराञ्चिकभेदात् त्रिविधः । अत्र सर्वच्छेदः पाराञ्चिकलक्षणोऽधिक्रियते ॥ ४९६९ ॥ आह यद्येवं तर्हि—

**छेओ न होइ कम्हा, जति एवं तत्थ कारणं सुणसु ।**
**अणुघाता आरुवणा, कसिणा कसिणेस संबंधो ॥ ४९७० ॥**

छेद एव सूत्रेऽपि कस्मान्न भवति ?, "ततो छेदारिहा पन्नत्ता, तं जहा—दुट्ठे छेदारिहे" इत्यादिसूत्रं किमर्थं न पठितम् ? इति भावः । सूरिराह—यद्येवं भवदीया बुद्धिस्ततोऽत्र कारणं शृणु—या किलादिसूत्रेऽनन्तरोक्तेऽनुद्घाताख्याऽऽरोपणा भणिता सा 'कृत्स्ना' ◁ गुरुकेत्यर्थः, ▷ इयमपि पाराञ्चिकाख्याऽऽरोपणा कृत्स्नैव, अतः कृत्स्नाया आरोपणाया अनन्तरं कृत्स्नैवारोपणाऽभिधीयते । एष सम्बन्धः ॥ ४९७० ॥

---

१ ◁ ▷ एतन्मध्यगतः पाठः भा० कां० नास्ति ॥ २ ◁ ▷ एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठः कां० एव वर्त्तते ॥ ३ 'शृणु' निशामय । तथाहि—या कां० ॥ ४ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः भा० कां० नास्ति ॥

अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य व्याख्या—त्रयः पाराञ्चिकाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा—दुष्टः पाराञ्चिकः, प्रमत्तः पाराञ्चिकः, 'अन्योन्यं' परस्परं मुख-पायुप्रयोगतः प्रतिसेवनां कुर्वाणः पाराञ्चिक इति सूत्रसमासार्थः ॥ अथ विस्तरार्थं भाष्यकृद् बिभणिषुराह—

**अंचु गति-पूयणम्मि य, पारं पुणऽणुत्तरं बुधा बिंति ।**
**सोधीय पारमंचइ, ण यावि तदपूतियं होति ॥ ४९७१ ॥**

"अञ्चु गति-पूजनयोः" इति वचनाद् अञ्चुर्धातुर्गतौ पूजने चात्र गृह्यते । तत्र गत्यर्थो यथा—पारं-तीरं गच्छति येन प्रायश्चित्तेनासेवितेन तत् पाराञ्चिकम् । अथ पारं किमुच्यते ? इत्याह—'पारं पुनः' संसारसमुद्रस्य तीरभूतम् 'अनुत्तरं' निर्वाणं 'बुधाः' तीर्थकृदादयो ब्रुवते, अनेनासेवितेन साधुर्मोक्षं गच्छतीति भावः । तद् यस्यापद्यते सोऽप्युपचारात् पाराञ्चिक उच्यते । यद्वा शोधेः 'पारं' पर्यन्तमञ्चति यत् तत् पाराञ्चिकम्, अपश्चिमं प्रायश्चित्तमित्यर्थः । पूजार्थो यथा—'न चापि' नैव 'तत्' प्रायश्चित्तपारगमनमपूजितं किन्तु पूजितमेव, ततो येन तपसा पारं प्रापितेन अञ्च्यते—श्रीश्रमणसङ्घेन पूज्यते तत् पाराञ्चिकं पाराञ्चितं वाऽभिधीयते । तद्योगात् साधुरपि पाराञ्चिकः ॥ ४९७१ ॥ अथ तमेव भेदतः प्ररूपयति—

**आसायण पडिसेवी, दुविहो पारंचितो समासेणं ।**
**एक्केक्कम्मि य भयणा, सचरित्ते चेव अचरित्ते ॥ ४९७२ ॥**

पाराञ्चिकः समासेन द्विविधः, तद्यथा—आशातनापाराञ्चिकः प्रतिसेविपाराञ्चिकश्च । पुनरेकैकस्मिन् द्विविधा भजना कर्तव्या । कथम् ? इत्याह—द्वावप्येतौ सचारित्रिणौ वा स्यातामचारित्रिणौ वा[1] ॥ ४९७२ ॥ कथं पुनरेषा भजना ? इत्याह—

**सव्वचरित्तं भस्सति, केणति पडिसेवितेण तु पदेणं ।**
**कत्थति चिट्ठति देसो, परिणामऽवराहमासज्ज ॥ ४९७३ ॥**

केनचिदपराधपदेन पाराञ्चिकापत्तियोग्येन प्रतिसेवितेन सर्वमपि चारित्रं भ्रश्यति, कुत्रापि पुनः चारित्रस्य देशोऽवतिष्ठते । कुतः ? इत्याह—'परिणामं' तीव्र-मन्दादिरूपम् 'अपराधं च' उत्कृष्ट-मध्यम-जघन्यरूपमासाद्य चारित्रं भवेद्वा न वा ॥ ४९७३ ॥ इदमेव भावयति—

**तुल्लम्मि वि अवराधे, परिणामवसेण होति णाणत्तं ।**
**कत्थति परिणामम्मि वि, तुल्ले अवराहणाणत्तं ॥ ४९७४ ॥**

तुल्येऽप्यपराधे 'परिणामवशेन' तीव्र-मन्दाद्यध्यवसायवैचित्र्यबलात् चारित्रपरिभ्रंशादौ नानात्वं भवति, कुत्रचित् पुनः परिणामे तुल्येऽपि 'अपराधनानात्वं' प्रतिसेवनावैचित्र्यं भवति ॥ ४९७४ ॥ अथाशातनापाराञ्चिकं व्याचिख्यासुराह—

**तित्थकर पवयण सुते, आयरिए गणहरे महिड्डीए ।**
**एते आसायंते, पच्छित्ते मग्गणा होइ ॥ ४९७५ ॥**

तीर्थकरं प्रवचनं श्रुतमाचार्यान् गणधरान् महर्द्धिकांश्च, एतान् य आशातयति तस्य प्रायश्चित्ते वक्ष्यमाणलक्षणा मार्गणा भवति ॥ ४९७५ ॥

---

१ °त्रिणावचारित्रिणौ वा भवेताम् ॥ ४९७२ ॥ कां० ॥

तत्र तीर्थकरं यथाऽऽशातयति तथाऽभिधीयते—

**पाहुडियं अणुमण्णति, जाणंतो किं व भुंजती भोगे ।**
**थीतित्थं पि य वुच्चति, अतिकक्खडदेसणा यावि ॥ ४९७६ ॥**

'प्राभृतिकां' सुरविरचितसमवसरण-महाप्रातिहार्यादिपूजालक्षणामर्हन् यद् अनुमन्यते तन्न सुन्दरम् । ज्ञानत्रयप्रमाणेन च भवस्वरूपं जानन् विपाकदारुणान् भोगान् किमिति भुङ्क्ते ? । मल्लिनाथादेश्च स्त्रिया अपि यत् तीर्थमुच्यते तद् अतीवासमीचीनम् । 'अतिकर्कशा' अतीवदुरनुचरा तीर्थकरैः सर्वोपायकुशलैरपि या देशना कृता साऽप्ययुक्ता ॥ ४९७६ ॥

**अण्णं व एवमादी, अवि पडिमासु वि तिलोगमहिताणं ।**
**पडिरूवमकुव्वंतो, पावति पारंचियं ठाणं ॥ ४९७७ ॥**

अन्यमप्येवमादिकं तीर्थकृतामवर्णं यो भाषते, तथा 'अपी'त्यभ्युच्चये, 'त्रिलोकमहितानां' भगवतां याः प्रतिमास्तास्वपि यद्यवर्णं भाषते, यथा—'किमेतासां पाषाणादिमयीनां माल्याऽलङ्कारादिपूजा क्रियते ?' एवं ब्रुवन्, 'प्रतिरूपं वा विनयं' वन्दन-स्तुति-स्तवादिकं तासामवज्ञाबुद्ध्या अकुर्वन् पाराञ्चिकं स्थानं प्राप्नोति ॥४९७७॥ अथ प्रवचनं—सङ्घस्तस्याशातनामाह—

**अक्कोस-तज्जणादिसु, संघमहिक्खिवति संघपडिणीतो ।**
**अण्णे वि अत्थि संघा, सियाल-णंतिक्क-ढंकाणं ॥ ४९७८ ॥**

यः सङ्घप्रत्यनीकः सः[2] ◁ "अक्कोस-तज्जणाइसु" त्ति विभक्तिव्यत्ययाद् ▷ आक्रोश-तर्जनादिभिः सङ्घमधिक्षिपति । यथा—सन्त्यन्येऽपि शृगाल-नान्तिक्क-ढङ्कप्रभृतीनां सङ्घाः, यादृशास्ते तादृशोऽयमपीति भावः, एष आक्रोश उच्यते । तर्जना तु—'हुं हुं ज्ञातं भवदीयं सङ्घत्वम्' इत्यादिका ॥ ४९७८ ॥ अथ श्रुताशातनामाह—

**काया वया य ते च्चिय, ते चेव पमायमप्पमादा य ।**
**मोक्खाहिकारियाणं, जोतिसविज्जासु किं च पुणो ॥ ४९७९ ॥**

दशवैकालिकोत्तराध्ययनादौ यत् त एव षट् कायास्तान्येव च व्रतानि तावेव प्रमादाऽप्रमादौ भूयोभूय उपवर्ण्यन्ते तद् अतीवायुक्तम् । मोक्षाधिकारिणां च साधूनां ज्योतिषविद्यासु[3] पुनः किं नाम कार्यं येन श्रुते ताः प्रतिपाद्यन्ते ? ॥ ४९७९ ॥ अथाऽऽचार्याशातनामाह—

**इड्ढि-रस-सातगुरुगा, परोवदेसुज्जया जहा मंखा ।**
**अत्तट्ठपोसणरया, पोसेंति दिया व अप्पाणं ॥ ४९८० ॥**

आचार्याः स्वभावादेव ऋद्धि-रस-सातगुरुकाः, तथा मङ्खा इव परोपदेशोद्यताः, लोकावर्जनप्रसक्ता इति भावः, 'आत्मार्थपोषणरताः' स्वोदरभरणैकचेतसः । इदमेव व्याचष्टे—द्विजा इवाऽऽत्मानममी पोषयन्ति ॥ ४९८० ॥ अथ गणधराशातनामाह—

**अब्भुज्जयं विहारं, देसिंति परेसि सयमुदासीणा ।**
**उवजीवंति य रिद्धिं, निस्संगा मो त्ति य भणंति ॥ ४९८१ ॥**

---

१ °षते, अपि च 'त्रिलो° भा० ॥ २ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः भा० कां० नास्ति ॥ ३ °द्याभिः उपलक्षणत्वाद् मन्त्र-निमित्तादिभिश्च पुनः किं कां० ॥

गणधरा गौतमादयो[1] 'अभ्युद्यतं विहारं' जिनकल्पप्रभृतिकं परेषामुपदिशन्ति स्वयं पुनरुदासीनास्तं न प्रतिपद्यन्ते, 'ऋद्धिं वा' अक्षीणमहानसिक-चारणादिकां लब्धिमुपजीवन्ति 'निस्सङ्गा वयम्' इति च भणन्ति ॥ ४९८१ ॥ अथ महर्द्धिकपदं व्याख्यानयति—

**गणधर एव महिड्ढी, महातवस्सी व वादिमादी वा ।**
**तित्थगरपढमसिस्सा, आदिग्गहणेण गहिता वा ॥ ४९८२ ॥**

इह गणधर एव सर्वलब्धिसम्पन्नतया महर्द्धिक उच्यते, यद्वा महर्द्धिको महातपस्वी वा वादि-विद्या-सिद्धप्रभृतिको वा भण्यते, तस्य यद् अवर्णवादादिकरणं सा महर्द्धिकाशातना । गणधरास्तु तीर्थकरप्रथमशिष्या उच्यन्ते, आदिग्रहणेन वा ते गृहीता मन्तव्याः ॥ ४९८२ ॥

अथैतेषामाशातनायां प्रायश्चित्तमार्गणामाह—

**पढम-बितिएसु चरिमं, सेसे एक्केक्क चउगुरू होंति ।**
**सव्वे आसादिंतो, पावति पारंचियं ठाणं ॥ ४९८३ ॥**

अत्र ◁ "तित्थयर पवयण सुयं" इति ( ४९७५ ) गाथाक्रमप्रामाण्यात् ▷[2] प्रथमः—तीर्थङ्करो द्वितीयः—सङ्घस्तयोर्देशतः सर्वतो वाऽऽशातनायां पाराञ्चिकम् । 'शेषेषु' श्रुतादिषु एकैकस्मिन् देशतः आशात्यमाने चतुर्गुरुकाः प्रायश्चित्तं भवन्ति । अथ सर्वतस्तान्याशातयति ततस्तेष्वपि पाराञ्चिकं स्थानं प्राप्नोति ॥ ४९८३ ॥

**तित्थयरपढमसिस्सं, एक्कं पाऽऽसादयंतु पारंची ।**
**अत्थस्सेव जिणिंदो, पभवो सो जेण सुत्तस्स ॥ ४९८४ ॥**

'तीर्थकरप्रथमशिष्यं' गणधरमेकमप्याशातयन् पाराञ्चिको भवति । कुतः ? इत्याह—'जिनेन्द्रः' तीर्थकरः स केवलस्यैवार्थस्य 'प्रभवः' प्रथमत उत्पत्तिहेतुः, सूत्रस्य पुनः स एव गणधरो येन कारणेन 'प्रभवः' प्रथमतः प्रणेता, ततस्तमेकमप्याशातयतः पाराञ्चिकमुच्यते ॥ ४९८४ ॥ उक्त आशातनापाराञ्चिकः । सम्प्रति प्रतिसेवनापाराञ्चिकमाह—

**पडिसेवणपारंची, तिविधो सो होइ आणुपुव्वीए ।**
**दुट्ठे य पमत्ते या, णेयव्वे अण्णमण्णे य ॥ ४९८५ ॥**

प्रतिसेवनापाराञ्चिकः 'सः' इति पूर्वोपन्यस्तः 'त्रिविधः' त्रिप्रकारः 'आनुपूर्व्या' सूत्रोक्तपरिपाट्या भवति । तद्यथा—दुष्टः पाराञ्चिकः, प्रमत्तः पाराञ्चिकः, अन्योन्यं च कुर्वाणः पाराञ्चिको ज्ञातव्यः ॥ ४९८५ ॥ तत्र दुष्टं तावदाह—

**दुविधो य होइ दुट्ठो, कसायदुट्ठो य विसयदुट्ठो य ।**
**दुविहो कसायदुट्ठो, सपक्ख परपक्ख चउभंगो ॥ ४९८६ ॥**

द्विविधश्च भवति दुष्टः—कषायदुष्टश्च विषयदुष्टश्च । तत्र कषायदुष्टो द्विविधः—स्वपक्षदुष्टः परपक्षदुष्टश्च । अत्र चतुर्भङ्गी, गाथायां पुंस्त्वं प्राकृतत्वात् । तद्यथा—स्वपक्षः स्वपक्षे दुष्टः १ स्वपक्षः परपक्षे दुष्टः २ परपक्षः स्वपक्षे दुष्टः ३ परपक्षः परपक्षे दुष्टः ४ ॥४९८६॥

---

१ °दयो जिनकल्पादिरूपमभ्युद्यतं विहारं परेषा° कां० ॥ २ ◁ ▷ एतन्मध्यगतः पाठः कां० एव वर्तते ॥

तत्र प्रथमभङ्गं विभावयिषुराह—

**सासवणाले मुहणंतए य उलुगच्छि सिहरिणी चेव ।**
**एसो सपक्खदुट्ठो, परपक्खे होति णेगविधो ॥ ४९८७ ॥**

"सासवणाले" त्ति सर्षपभर्जिका, "मुहणंतकं" मुखवस्त्रिका, उलूकः—घूकस्तस्येवाक्षिणी यस्य स उलूकाक्षः, 'शिखरिणी' मर्जिता । एते चत्वारो दृष्टान्ताः । एष स्वपक्षकषायदुष्टो मन्तव्यः । परपक्षकषायदुष्टः पुनरनेकविधो भवतीति निर्युक्तिगाथासमासार्थः ॥ ४९८७ ॥

अथैनामेव विवरीषुः सर्षपनालदृष्टान्तं तावदाह—

**सासवणाले छंदण, गुरु सव्वं भुंजे एतरे कोवो ।**
**खामणमणुवसमंते, गणिं ठवेत्तऽण्णहिं परिण्णा ॥ ४९८८ ॥**
**पुच्छंतमणक्खाए, सोच्चऽण्णतों गंतु कत्थ सें सरीरं ।**
**गुरु पुव्व कहितऽदोतण, पडियरणं दंतभंजणता ॥ ४९८९ ॥**

इह प्रथमं कथानकम्—एगेण साहुणा सासवभज्जिया सुसंभिया लद्धा, तत्थ से अतीव गेही । आयरियस्स य आलोइयं । पडिदंसिए निमंतिए य आयरिएणं सव्वा वि समुद्दिट्ठा । इतरो पदोसमावण्णो । आयरिएणं लक्खियं, 'मिच्छामि दुक्कडं' कयं तहावि न उवसमइ, भणइ य—तुज्झ दंते भंजामि । गुरुणा चिंतियं—'मा असमाहिमरणेण मारिस्सइ' त्ति गणे अन्नं गणहरं ठवेत्ता अन्नं गणं गंतूण भत्तपच्चक्खाणं कयं । समाहीए कालगया । इयरो गवेसमाणो सज्झंतिए पुच्छइ—कत्थ आयरिया ? । तेहिं न अक्खायं । सो अन्नतो सोच्चा तत्थ गंतुं पुच्छइ—कहिं आयरिया ? । ते भणंति—समाहीए कालगया । पुणो पुच्छइ—कहिं सरीरगं परिट्ठवियं ? । आयरिएहिं य पुव्वं भणियं—मा तस्स पावस्स मम सरीर-परिट्ठावणियाभूमिं कहेज्जाह, मा आगड्ढि-विगड्ढिं करेमाणो उड्डाहं काहिइ । तेहिं अकहिए अन्नतो सोउं तत्थ गंतुं उवट्ठियाओ गोलोवलं कड्ढिऊण दंते भंजंतो भणइ—एतेहिं तुमे सासवनालं खइयं । तं साहूहिं पडियरंतेहिं दिट्ठं ॥

अथाक्षरगमनिका—सर्षपनालविषयं 'छन्दनं' निमन्त्रणं गुरोः कृतम् । गुरुणा च सर्वं भुक्तम् । इतरस्य कोपः । गुरुणा क्षामणे कृतेऽपि स नोपशान्तः । ततोऽनुपशान्ते तस्मिन् 'गणिनम्' आचार्यं स्थापयित्वा अन्यस्मिन् गच्छे 'परिज्ञा' भक्तप्रत्याख्यानमङ्गीकृतम् । तस्य च शिष्याधमस्य 'गुरवः कुत्र गताः ?' इति पृच्छतोऽपि सज्झिलकसाधुभिर्नाख्यातम् । ततोऽन्यतः श्रुत्वा तत्र गत्वा 'कुत्र तेषां शरीरम् ?' इति पृच्छा कृता । गुरुभिश्च पूर्वमेव तदीयो वृत्तान्तः कथित आसीत् । "दायण" त्ति अकारप्रश्लेषात् ततस्तैराचार्यशरीरपरिष्ठापनाभूमिर्न दर्शिता । स चान्यतः श्रुत्वा गतो दन्तभञ्जनं कृतवान् । साधुभिश्च गुपिलस्थाने स्थितैः प्रतिचरणं कृतमिति ॥ ४९८८ ॥ ४९८९ ॥ अथ मुखानन्तकदृष्टान्तमाह—

**मुहणंतगस्स गहणे, एमेव य गंतु णिसि गलग्गहणं ।**
**सम्मूढेणियरेण वि, गलए गहितो मता दो वि ॥ ४९९० ॥**

---

१ 'एषः' एतद्दृष्टान्तोक्तः स्वप° कां० ॥ २ °दाइत, प° भा० मो० डे० तादी० ॥

एकेन साधुना मुखानन्तकमतीवोज्ज्वलं लब्धम्, तस्य च गुरुभिर्ग्रहणं कृतम्। तत्रापि 'एवमेव' पूर्वाख्यानकसदृशं वक्तव्यम्। नवरं तत् पुनर्मुखानन्तकं प्रत्यर्पयतोऽपि न गृहीतम्। ततो गुरुणा स्वगण एव भक्तं प्रत्याख्यातम्। निशायां च विरहं लब्ध्वा 'मुखानन्तकं गृह्णासि' इति भणता गाढतरं गले ग्रहणं कृतम्। सम्मूढेन च 'इतरेणापि' गुरुणा स गलके गृहीतः। एवं द्वावपि मृतौ ॥ ४९९० ॥ उलूकाक्षदृष्टान्तमाह—

अत्थंगए वि सिव्वसि, उलुगच्छी! उक्खणामि ते अच्छी।
पढमगमो नवरि इहं, उलुगच्छीउ त्ति ढोकेति ॥ ४९९१ ॥

एकः साधुरस्तङ्गतेऽपि सूर्ये सीव्यन् अपरेण साधुना परिहासेन भणितः—उलूकाक्ष! किमेवमस्तङ्गतेऽपि सूर्ये सीव्यसि?। स प्राह—एवं भणतस्तव द्वे अप्यक्षिणी उत्खनामि। अत्रापि सर्वोऽपि प्रथमाख्यानकगमो मन्तव्यः। नवरमिह स्वगणे प्रत्याख्यातभक्तस्य कालगतस्य रजोहरणाद् अयोमयीं कीलिकामाकृष्य 'मां उलूकाक्षं भणसि?' इति ब्रुवाणो द्वे अप्यक्षिणी उद्धृत्य तस्य ढौकयति, 'वैरं मया निर्यामितम्' इति कृत्वा ॥ ४९९१ ॥

शिखरिणीदृष्टान्तमाह—

सिहरिणिलंभाऽऽलोयण, छंदिएँ सव्वाइते अ उग्गिरणा।
भत्तपरिण्णा अण्णहि, ण गच्छती सो इहं णवरिं ॥ ४९९२ ॥

एकेन साधुना उत्कृष्टा शिखरिणी लब्धा। सा च गुरूणामालोचिता, तया च गुरवः 'छन्दिताः' निमन्त्रिताः। सा च तैः सर्वाऽप्यापीता। ततः स साधुः प्रद्वेषमुपगतो मारणार्थं दण्डकमुद्गीर्णवान्। स गुरुभिः क्षामितोऽपि यदा नोपशाम्यति तदा भक्तपरिज्ञा कृता। नवरमिह 'सः' आचार्योऽन्यस्मिन् गणे न गतः। तस्य च समाधिना कालगतस्य शरीरकं तेन पापात्मना दण्डकेन कुट्टितम् ॥ ४९९२ ॥

यत एते दोषास्ततो लोभस्तीव्रो न कर्तव्यः। तथा चाह—

तिव्वकसायपरिणतो, तिव्वयरागाणि पावइ भयाइं।
मयगस्स दंतभंजण, सममरणं ढोकणुग्गिरणा ॥ ४९९३ ॥

तीव्राः—उत्कटा ये कषायास्तेषु परिणतो जीवस्तीव्रतरकाणि भयानि प्राप्नोति। यथा—प्रथमदृष्टान्तोक्तस्याचार्यस्य तीव्रलोभपरिणतस्य दन्तभञ्जनभयम्, द्वितीयदृष्टान्तोक्तयोस्तु शिष्या-ऽऽचार्ययोस्तीव्रक्रोधपरिणतयोः समकालं मरणम्, तृतीयदृष्टान्तप्रसिद्धस्य साधोर्लोचनढौकनम्, चतुर्थदृष्टान्तोक्तस्य दण्डकोद्गिरणम्। ईदृशाः स्वपक्षकषायदुष्टा लिङ्गपाराञ्चिकाः कर्तव्याः ॥ ४९९३ ॥ गतः प्रथमो भङ्गः। अथ द्वितीयभङ्गमाह—

रायवधादिपरिणतो, अहवा वि हवेज्ज रायवहओ तु।
सो लिंगतो पारंची, जो वि य परिकड्ढती तं तु ॥ ४९९४ ॥

राज्ञो राजामात्यस्य वा अपरस्य वा प्राकृतगृहस्थस्य वधाय परिणतः, अथवा राजवधक एव स भवेत् विहितराजवध इत्यर्थः, एवमनेकविधः परपक्षदुष्टः। एष सर्वोऽपि लिङ्गपाराञ्चिकः

१ °वाणो मृतस्य द्वे भा० ॥

कर्तव्यः । 'योऽपि च' आचार्यादिकः 'तं' राजवधकं 'परिकर्षति' वर्त्तापयति सोऽपि लिङ्गपाराञ्चिको विधेयः ॥ ४९९४ ॥

अथ तृतीयभङ्ग उच्यते—परपक्षः स्वपक्षे दुष्टः स कथं भवति ? उच्यते—पूर्वं गृहवासे वसतो वादे पराजित आसीत्, स्कन्दकाचार्येण पालकवत्, वैरिको वा स तस्याऽऽसीत् । स पुनः कीदृशो भवेत् ? इत्याह—

**सण्णी व असण्णी वा, जो दुट्ठो होति तू सपक्खम्मि ।**
**तस्स निसिद्धं लिंगं, अतिसेसी वा वि दिज्जाहि ॥ ४९९५ ॥**

स च [2]संज्ञी वा असंज्ञी वा यः स्वपक्षे दुष्टो भवति तस्य लिङ्गं निषिद्धम्, प्रव्रज्या न दातव्येति भावः । अतिशयज्ञानी वा 'उपशान्तोऽयम्' इति मत्वा तस्यापि लिङ्गं दद्यात् ॥ ४९९५ ॥ अथ चतुर्थभङ्गः परपक्षः परपक्षे दुष्ट इति भाव्यते—

**रण्णो जुवरण्णो वा, वधतो अहवा वि इस्सरादीणं ।**
**सो उ सदेसि ण कप्पइ, कप्पति अण्णम्मि अण्णाओ ॥ ४९९६ ॥**

यो राज्ञो वा युवराजस्य वा वधकः अथवाऽपि ईश्वरादीनां घातकः 'स तु' स पुनः स्वदेशे दीक्षितुं न कल्पते, किन्तु कल्पतेऽन्यस्मिन् देशेऽज्ञातो दीक्षितुम् ॥ ४९९६ ॥

**इत्थ पुण अधीकारो, पढमिल्लुग-बितियभंगदुट्ठेहिं ।**
**तेसिं लिंगविवेगो, दुचरिमें वा लिंगदाणं तु ॥ ४९९७ ॥**

[3]अत्र पुनः प्रथम-द्वितीयभङ्गदुष्टैरधिकारः, 'स्वपक्षः स्वपक्षे दुष्टः, स्वपक्षः परपक्षे दुष्टः' इत्याद्यभङ्गद्वयवर्तिभिरिति भावः । एतेषां लिङ्गविवेकरूपं पाराञ्चिकं दातव्यम् । अतिशयज्ञानी वा यदि जानाति 'न पुनरीदृशं करिष्यति' इति ततः सम्यगावृत्तस्य लिङ्गविवेकं न करोति । "दुचरिमे" त्ति [4]तृतीय-चतुर्थलक्षणौ यौ द्वौ चरमभङ्गौ तयोः 'वा' विकल्पेन लिङ्गदानं कर्त्तव्यम् । किमुक्तं भवति ?—'परपक्षः स्वपक्षे दुष्टः, परपक्षः परपक्षे दुष्टः' इति भङ्गद्वये वर्त्तमाना यद्युपशान्ता इति सम्यग् ज्ञायन्ते ततो लिङ्गदानं कर्त्तव्यम्, अथ नोपशान्तास्ततो न प्रव्राज्यन्ते । प्रव्राजिता अपि तानि स्थानानि परिहार्यन्ते; एष वाशब्दसूचितोऽर्थः ॥४९९७॥

अथ 'सर्षपनालो[5]दिदृष्टान्तप्रसिद्धा दोषा मा भूवन्' इति हेतोराचार्येण[6] यथा सामाचारी स्थापनीया तथा प्रतिपादयन्नाह—

**सव्वेहि वि घेत्तव्वं, गहणे य निमंतणे य जो तु विही ।**

---

१ च 'तं' राजवधकं परिकर्षति सोऽपि भा० कां० ॥ २ 'संज्ञी वा' श्रावकः 'असंज्ञी वा' अश्रावकः यः स्व° कां० ॥ ३ 'अत्र पुनः' प्रस्तुते पाराञ्चिकसूत्रे प्रथम° कां० ॥ ४ ताटी० मो० डे० विनाऽन्यत्र—त्ति 'परपक्षः स्वपक्षे दुष्टः, परपक्षः परपक्षे दुष्टः' इति तृतीय-चतुर्थौ यौ द्वौ चरमौ भङ्गौ तयोर्यद्यु° कां० । त्ति तृतीय-चतुर्थलक्षणौ यौ द्वौ चरमभङ्गौ तयोर्यद्यु° भा० ॥ ५ ताटी० मो० डे० विनाऽन्यत्र—°लादिदृष्टान्तोक्ता दोषा कां० । °लादयो दोषा भा० ॥ ६ ताटी० मो० डे० विनाऽन्यत्र—°ण यादृशी सामाचारी स्थापनीया तादृशीं वक्तुकाम आह—सव्वेहि कां० । °ण इयं सामाचारी स्थापनीया—सव्वेहि भा० ॥

**भुंजंती जतणाए, अजतण दोसा इमे होंति ॥ ४९९८ ॥**

सर्वैरपि साधुभिराचार्यप्रायोग्यं स्वस्वमात्रकेषु ग्रहीतव्यम् । तथा ग्रहणे च निमन्त्रणे च यो वक्ष्यमाणो विधिः स सर्वोऽपि कर्त्तव्यः । एवं यतनया सूरयो भुञ्जते । अयतनया तु भुञ्जानानाम् 'इमे' वक्ष्यमाणा दोषा भवन्ति ॥ ४९९८ ॥ एनामेव निर्युक्तिगाथां भावयति—

**सव्वेहि वि गहियम्मी, थोवं थोवं तु के वि इच्छंति ।**
**सव्वेसिं ण वि भुंजति, गहितं पि बितिज्ज आदेसो ॥ ४९९९ ॥**

सर्वैरपि आचार्यप्रायोग्ये गृहीते केचिदाचार्या इदमिच्छन्ति, यथा—तत एकैकस्य हस्तात् स्तोकं स्तोकं गृहीत्वा गुरुणा भोक्तव्यम्; एष प्रथम आदेशः । अपरे ब्रुवते—एकेनैव गुरुयोग्यं ग्रहीतव्यम्, अथान्यैरपि गृहीतं ततस्तद्गृहीतमपि तेषां सर्वेषां हस्तात् स्तोकं स्तोकं न भोक्तव्यम्, किन्तु तैर्निमन्त्रितेन वक्तव्यम्—पर्याप्तम्, इत ऊर्द्ध्वं न गच्छति; एष द्वितीय आदेशः ॥ ४९९९ ॥ अमुमेवे व्याचष्टे—

**गुरुभत्तिमं जो हिययाणुकूलो, सो गिण्हती णिस्समणिस्सतो वा ।**
**तस्सेव सो गिण्हति णेयरेसिं, अलब्भमाणम्मि व थोव थोवं ॥ ५००० ॥**

यो गुरुभक्तिमान् यश्च गुरूणां 'हृदयानुकूलः' छन्दोनुवर्त्ती स गुरुप्रायोग्यं निश्रागृहेभ्योऽनिश्रागृहेभ्यो वा गृह्णाति, तस्यैव च सम्बन्धि 'सः' आचार्यो भक्त-पानं गृह्णाति, न 'इतरेषाम्' अपरसाधूनाम् । अथैकः पर्याप्तं न लभते ततोऽलभ्यमाने स्तोकं स्तोकं सर्वेषामपि गृह्णाति ॥ ५००० ॥ एष ग्रहणविधिरुक्तः । सम्प्रति निमन्त्रणे विधिमाह—

**सति लंभम्मि वि गिण्हति, इयरेसिं जाणिऊण निब्बंधं ।**
**मुंचति य सावसेसं, जाणति उवयारभणियं च ॥ ५००१ ॥**

'सति' विद्यमानेऽपि प्राचुर्येण लाभे यदि इतरे साधवो निमन्त्रयमाणा गाढं निर्बन्धं कुर्वते ततस्तं ज्ञात्वा तेषामपि गृह्णाति । तच्च तदीयं भुञ्जानः सावशेषं मुञ्चति, मा सर्वस्मिन् भुक्ते प्रद्वेषं स गच्छेत् । उपचारभणितं च जानाति, 'अयमुपचारेण, अयं पुनः सद्भावेन निमन्त्रयते' इत्येवं बहिश्चिह्नैरुपलक्षयतीत्यर्थः ॥ ५००१ ॥

**गुरुणो(णं) भुत्तुव्वरियं, बालादसतीय मंडलिं जाति ।**
**जं पुण सेसगगहितं, गिलाणमादीण तं दिंति ॥ ५००२ ॥**

गुरूणां यद् भुक्तोद्वरितं तद् बालादीनां दीयते । तेषामभावे 'मण्डलीं याति' मण्डलीप्रतिग्रहे क्षिप्यते । यत् पुनः शेषैः—गुरुभक्तिमद्व्यतिरिक्तैः साधुभिर्मात्रके गृहीतं तद् ग्लानादीनां प्रयच्छन्ति ॥ ५००२ ॥

**सेसाणं संसट्ठं, न छुब्भती मंडलीपडिग्गहए ।**
**पत्तेग गहित छुब्भति, ओभासणलंभ मोत्तूणं ॥ ५००३ ॥**

'शेषाणां' गुरुव्यतिरिक्तानां संसृष्टं मण्डलीप्रतिग्रहे न क्षिप्यते । यत्तु ग्लानादीनामर्थाय

१ स्तोकं सूरिः 'नापि' नैव भुङ्क्ते, किन्तु कां० ॥ २ °व द्वितीयमादेशं व्या° कां० ॥ ३ °नां मण्डलीस्थविराः प्रय° कां० ॥

'प्रत्येकं' पृथक् पृथग् मात्रकेषु गृहीतं तत् तेषामुद्धरितं मण्डल्यां प्रक्षिप्यते, परमवभाषितलाभं मुक्त्वा, स न[1] प्रक्षिप्यत इति भावः ॥ ५००३ ॥

**पाहुणगट्ठा व तगं, धरेतुमतिबाहडा [2]विगिंचंति ।**
**[3]इह गहण-भुंजणविही, अविधीएँ इमे भवे दोसा ॥ ५००४ ॥**

प्राघुणकार्थं वा 'तकं' ग्लानार्थमानीतं प्रायोग्यं 'धृत्वा' स्थापयित्वा यदि 'अतिबाहडाः' अतीवध्राताः प्राघुणकाश्च नायाताः तदा 'विवेचयन्ति' परित्यजन्ति । एवमिह ग्रहण-भोजन-विधिर्भवति । यद्येनं विधिं न कुर्वन्ति ततस्तस्मिन् अविधौ इमे दोषा भवेयुः ॥ ५००४ ॥

**तिव्वकसायपरिणतो, तिव्वतरागाइँ पावइ भयाइं ।**
**मयगस्स दंतभंजण, सममरणं ढोक्कणुग्गिरणा ॥ ५००५ ॥**

व्याख्यातार्था (गा० ४९९३) ॥ ५००५ ॥ उक्तः कषायदुष्टः । अथ विषयदुष्टमाह—

**संजति कप्पट्ठीए, सिज्जायरि अण्णउत्थिणीए य ।**
**एसो उ विमयदुट्ठो, सपक्ख परपक्ख चउभंगो ॥ ५००६ ॥**

इहापि स्वपक्ष-परपक्षपदाभ्यां चतुर्भङ्गी, तद्यथा—स्वपक्षः स्वप[4]क्षे दुष्टः १ स्वपक्षः परपक्षे दुष्टः २ परपक्षः स्वपक्षे दुष्टः ३ परपक्षः परपक्षे दुष्टः ४ । तत्र 'कल्पस्थिकायां' तरुण्यां संयत्यां 'संयतः' अध्युपपन्न इति प्रथमो भङ्गः । संयत एव शय्यातरभूणिकायामन्यतीर्थिक्यां वाऽध्युपपन्न इति द्वितीयः । गृहस्थः संयतीकल्पस्थिकायामभ्युपपन्न इति तृतीयः । गृहस्थो गृहस्थायामिति चतुर्थः । एष विषयदुष्टश्चतुर्विधो मन्तव्यः ॥ ५००६ ॥

[5]◁ अथैतेषु प्रायश्चित्तमाह— ▷

**पढमे भंगे चरिमं, अणुवरए वा वि बितियभंगम्मि ।**
**सेसेण ण इह पगतं, वा चरिमे लिंगदाणं तु ॥ ५००७ ॥**

प्रथमे भङ्गे 'चरमं' पाराञ्चिकम् 'अनुपरतस्य' अनिवृत्तस्य । द्वितीयेऽपि भङ्गे पाराञ्चिकम् । 'शेषेण तु' तृतीय-चरमभङ्गद्वयेन नात्र प्रकृतम्, अत्र पाराञ्चिकस्य प्रस्तुतत्वात् तस्य च परपक्षेऽघटमानत्वात् । अथवा "वा चरिमे लिंगदाणं तु" त्ति 'वा' विकल्पेन—भजनया चरम-भङ्गद्वये लिङ्गदानं कर्तव्यम्, यद्युपशान्तस्तदाऽन्यस्मिन् स्थाने लिङ्गं दातव्यम् अन्यथा तु नेति भावः ॥ ५००७ ॥ अथ प्रथमभङ्गे दोषं दर्शयन्नाह—

**लिंगेण लिंगिणीए, संपत्तिं जइ णियच्छती पावो ।**
**सव्वजिणाणऽज्जातो, संघो आसातिओ तेणं ॥ ५००८ ॥**

'लिङ्गेन' रजोहरणादिना युक्तः 'लिङ्गिन्याः' संयत्याः सम्पत्तिं यदि अधमतया कथमपि कश्चित् पापः 'नियच्छति' प्राप्नोति तर्हि तेन पापेन सर्वजिनानाम् 'आर्याः' संयत्यः सङ्घश्च भगवानाशातितो मन्तव्यः ॥ ५००८ ॥

---

१ न मण्डल्यां प्रक्षिप्यते किन्तु ग्लानादीनामेव दीयत इति कां० ॥ २ विविंचंति भा० ॥ ३ इह ग° भा० कां० विना ॥ ४ °पक्षे विषयाभिलापमङ्गीकृत्य दुष्टः कां० ॥ ५ ◁ ▷ एतदन्तर्गतमवतरणं कां० एव वर्त्तते ॥

**पावाणं पावयरो, दिट्ठिऽब्भासे वि सो ण वट्टति हु ।**
**जो जिणपुंगवमुद्दं, नमिऊण तमेव धरिसेति ॥ ५००९ ॥**

पापानां सर्वेषामपि स पापतरः, अत एव दृष्टेः—लोचनस्याभ्यासेऽपि—समीपेऽपि कर्तुं सः 'न वर्तते' न कल्पते यः 'जिनपुङ्गवमुद्रां' श्रमणीं नत्वा तामेव धर्षयति ॥ ५००९ ॥

**संसारमणवयग्गं, जाति-जरा-मरण-वेदणापउरं ।**
**पावमलपडलछन्ना, भमंति मुद्दाधरिसणेणं ॥ ५०१० ॥**

संसारम् 'अनवदग्रम्' अपर्यन्तं जाति-जरा-मरण-वेदनाप्रचुरं पापमलपटलच्छन्ना मुद्राधर्षणेन परिभ्रमन्ति ॥ ५०१० ॥ ततः—

**जत्थुप्पज्जति दोसो, कीरति पारंचितो स तम्हा तु ।**
**सो पुण सेवीमसेवी, गीतमगीतो व एमेव ॥ ५०११ ॥**

यत्र क्षेत्रे यस्य संयतीधर्षणादिको दोष उत्पद्यते उत्पत्स्यते वा स तस्मात्[1] क्षेत्रात् पाराञ्चिकः क्रियते । स पुनः सेवी वा स्यादसेवी वा, तेन तत् कार्यं कृतं वा भवेदकृतं वेति भावः; एवमेव गीतार्थो वा भवेदगीतार्थो वा, स सर्वोऽपि पाराञ्चिकः कर्तव्यः ॥ ५०११ ॥

कथम् ? इत्याह—

**उवस्सय कुले निवेसण, वाडग साहि गाम देस रज्जे वा ।**
**कुल गण संघे निज्जूहणाएँ पारंचितो होति ॥ ५०१२ ॥**

यस्य यस्मिन्नुपाश्रये दोष उत्पन्न उत्पत्स्यते वा स तत उपाश्रयात् पाराञ्चिकः क्रियते । एवं यस्मिन् गृहस्थकुले दोष उत्पन्नः, तथा निवेशनम्—एकनिर्गम-प्रवेशद्वारो द्वयोर्ग्रामयोरपान्तराले व्यादिगृहाणां सन्निवेशः, एवंविधस्वरूप एव ग्रामान्तर्गतः पाटकः, साही—शाखारूपेण श्रेणिक्रमेण स्थिता ग्रामगृहाणामेकतः परिपाटिः, ग्रामः—प्रतीतः, देशः—जनपदः, राज्यं नाम—यावत्सु देशेषु एकभूपतेराज्ञा तावद्देशप्रमाणम् । एतेषु यत्र यस्य दोष उत्पन्न उत्पत्स्यते वा स ततः पाराञ्चिकः क्रियते । तथा कुलेन यो निर्यूढः—बाह्यः कृतः स कुलपाराञ्चिकः । गणाद् बाह्यः कृतो गणपाराञ्चिकः । सङ्घाद् यस्य निर्यूहणा कृता स सङ्घपाराञ्चिकः ॥ ५०१२ ॥ किमर्थमुपाश्रयादिपाराञ्चिकः क्रियते ? इत्याह—

**उवसंतो वि समाणो, वारिज्जति तेसु तेसु ठाणेसु ।**
**हंदि हु पुणो वि दोसं, तट्ठाणासेवणा कुणति ॥ ५०१३ ॥**

'उपशान्तोऽपि' स्वलिङ्गिनीप्रतिसेवनात् प्रतिनिवृत्तोऽपि सन् 'तेषु तेषु स्थानेषु' प्रतिश्रय-कुल-निवेशनादिषु विहरन् वार्यते । कुतः ? इत्याह—'हन्दि' इति कारणोपप्रदर्शने, 'हु'रिति निश्चये, पुनरप्यसौ तस्य स्थानस्यासेवनात् तमेव दोषं करोति ॥ ५०१३ ॥

इदमेवं[2] स्पष्टतरमाह—

**जेसु विहरंति तातो, वारिज्जति तेसु तेसु ठाणेसु ।**
**पढमगभंगे एवं, सेसेसु वि ताइँ ठाणाइं ॥ ५०१४ ॥**

---

१ ततः क्षे° भा० कां० ॥ २ °व स्फुटतर° भा० कां० ॥

'येषु' ग्रामादिषु 'ताः' संयत्यो विहरन्ति तेषु तेषु स्थानेषु स विहरन् वार्यते, ततः पाराञ्चिकः क्रियत इत्यर्थः । एवं 'प्रथमभङ्गे' ◁ 'स्वपक्षः स्वपक्षे दुष्टः' इतिलक्षणे ▷ विधिरुक्तः । 'शेषेष्वपि' द्वितीयादिषु भङ्गेषु तानि स्थानानि वर्जनीयानि । किमुक्तं भवति ?—द्वितीयभङ्गे यस्यामगार्यामध्युपपन्नस्तदीये कुल-निवेशनादौ प्रविशन् वारणीयः, तृतीय-चतुर्थभङ्गयोः ◁ 'परपक्षः स्वपक्षे परपक्षे वा दुष्टः' इतिलक्षणयोः ▷ उपशान्तस्यापि तेषु स्थानेषु लिङ्गं न दातव्यम् ॥ ५०१४ ॥

**एत्थं पुण अहिगारो, पढमगभंगेण दुविह दुट्ठे वी ।**
**उच्चारियसरिसाइं, सेसाइँ विकोवणट्ठाए ॥ ५०१५ ॥**

अत्र पुनः 'द्विविधेऽपि' कषायतो विषयतश्च दुष्टे प्रथमभङ्गेनाधिकारः । 'शेषाणि पुनः' द्वितीयभङ्गादीनि पदानि उच्चारितसदृशानि विनेयमतिविकोपनार्थमभिहितानि ॥ ५०१५ ॥

गतो दुष्टः पाराञ्चिकः । सम्प्रति प्रमत्तपाराञ्चिकमाह—

**कसाए विकहा विगडे, इंदिय निद्दा पमाद पंचविधो ।**
**अहिगारो सुत्तम्मि, तहिगं च इमे उदाहरणा ॥ ५०१६ ॥**

'कषायाः' क्रोधादयः, 'विकथा' स्त्रीकथादिका, 'विकटं' मद्यम्, 'इन्द्रियाणि' श्रोत्रादीनि, 'निद्रा' वक्ष्यमाणा, एष पञ्चविधः प्रमादो भवति । अयं च **निशीथपीठिकायां** यथा सविस्तरं सप्रायश्चित्तोऽपि भावितस्तथैवात्रापि मन्तव्यः । नवरमिह स्वपनं सुत्तं-निद्रा इत्यर्थः, तयाऽधिकारः । सा च पञ्चविधा—निद्रा १ निद्रानिद्रा २ प्रचला ३ प्रचलाप्रचला ४ स्त्यानर्द्धिश्चेति ५ । तत्र—

सुहपडिबोहो निद्दा, दुहपडिबोहो य निद्दनिद्दा य ।
पयला होइ ठियस्सा, पयलापयला उ चंकमंतो ॥

स्त्यानर्द्धिस्तु—स्त्याना-प्रबलदर्शनावरणीयकर्मोदयात् कठिनीभूता ऋद्धिः-चैतन्यशक्तिर्यस्यामवस्थायां सा स्त्यानर्द्धिः, यथा घृते उदके वा स्त्याने न किञ्चिदुपलभ्यते एवं चैतन्यऋद्ध्यामपि स्त्यानायां न किञ्चिदुपलभ्यत इति भावः । अत्र पाराञ्चिकस्य प्रस्तुतत्वात् स्त्यानर्द्धिनिद्रयाऽधिकारः । तस्यां चामून्युदाहरणानि ॥ ५०१६ ॥

**पोग्गलं मोयग फरुसग, दंते वडसालभंजणे सुत्ते ।**
**एतेहिं पुणो तस्सा, विविंचणा होति जतणाए ॥ ५०१७ ॥**

'पुद्गलं' पिशितम्, 'मोदकः' लड्डुकः, 'फरुसकः' कुम्भकारः, 'दन्ताः' प्रतीताः, वटशालाभञ्जनम् । एतानि पञ्चोदाहरणानि 'सुत्ते' स्त्यानर्द्धिनिद्रायां भवन्ति । 'एतैः' एतद्दृष्टान्तोक्तैश्चिह्नैः स्त्यानर्द्धिं परिज्ञाय 'तस्य' स्त्यानर्द्धिमतः साधोर्यतनया 'विवेचनं' परित्यागः कर्तव्यो भवति ॥ ५०१७ ॥ तत्र **पुद्गलदृष्टान्तमाह**—

---

१-२ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः भा० कां० नास्ति ॥ ३ **'प्रथमभङ्गेन' पाराञ्चिकप्रायश्चित्तविषयभूतेनाधि°** कां० ॥ ४ **'मतो ॥ स्त्याद्यनिद्राचतुष्टयलक्षणम् । पञ्चमी भाव्यते—स्त्यानर्द्धिः-स्त्याना-** कां० ॥ ५ **°ल लड्डुग फरु°** ताभा० ॥

**पिसियासि पुव्व महिसं, विगत्तियं दिस्स तत्थ निसि गंतुं ।**
**अण्णं हंतुं खायति, उवस्सयं सेसगं णेति ॥ ५०१८ ॥**

एगम्मि गामे एगो कोडुंबी पक्काणि य तलियाणि य तिम्मणेसु अ अणेगसो मंसप्पगारे भक्खेइ । सो अ तहारूवाणं थेराणं अंतिए धम्मं सोउं पव्वइओ गामाइसु विहरइ । तेण य एगत्थ गामे महिसो विगिंचमाणो दिट्ठो । तस्स मंसे अभिलासो जातो । सो तेण अभिलासेण अवोच्छिन्नेणेव भिक्खं हिंडित्ता [1]◁ अवोच्छिन्नेणेव भुत्तो, एवं ▷ अव्वोच्छिन्नेण वियारभूमिं गतो । चरिमा सुत्तपोरिसी कया, आवस्सयं काउं पातोसिया पोरिसी विहिता । तदभिलासी चेव सुत्तो, सुत्तस्सेव थीणद्धी जाया । सो उट्ठिओ, अणाभोगणिव्वत्तिएणं करणेणं गतो महिसमंडलं, अन्नं महिसं हंतुं भक्खित्ता सेसं आगंतुं उवस्सयस्स उवरिं ठवितं । पच्चूसे गुरूणं आलोएइ—एरिसो सुविणो दिट्ठो । साहूहिं दिसावलोकं करेंतेहिं दिट्ठं कुणिमं, जाणियं जहा—एस थीणद्धी । ताहे लिंगपारंचियं पच्छित्तं से दिन्नं ॥

अथ गाथाक्षरार्थः—पिशिताशी कश्चित् 'पूर्वं' गृहवासे आसीत् । स च महिषं विकर्त्तितं दृष्ट्वा सञ्जाततद्भक्षणाभिलाषः 'तत्र' महिषमण्डले 'निशि' रात्रौ गत्वा अन्यं महिषं हत्वा खादति । 'शेषम्' उद्धरितमुपाश्रये नयति ॥ ५०१८ ॥ **लड्डुकदृष्टान्तमाह—**

**मोयगभत्तमलद्धुं, भंतु कवाडे घरस्स निसि खाति ।**
**भाणं च भरेऊणं, आगतो आवासए विगडे ॥ ५०१९ ॥**

एकः साधुर्भिक्षां हिण्डमानो मोदकभक्तं पश्यति । तच्च सुचिरमवलोकितमवभाषितं च, परं न लब्धम् । ततस्तदलब्ध्वा तदध्यवसायपरिणत एव प्रसुप्तः, रात्रौ तत्र गत्वा गृहस्य कपाटौ भंक्त्वा मोदकान् भक्षयति, शेषैर्मोदकैर्भाजनं भृत्वा समागतः । प्राभातिके आवश्यके विकटयति—ईदृशः स्वप्नो मया दृष्ट इति । ततः प्रभाते मोदकभृतं भाजनं दृष्ट्वा ज्ञातम्, यथा—स्त्यानर्द्धिरिति । तस्यापि लिङ्गपाराञ्चिकं दत्तम् । शेषं **पुद्गलाख्यानकवद्** वक्तव्यम् ॥ ५०१९ ॥ अथ **फरुसकदृष्टान्तमाह—**

**अवरो फरुसग मुंडो, मट्टियपिंडे व छिंदिउं सीसे ।**
**एगंते अवयज्झइ, पासुत्ताणं विगडणा य ॥ ५०२० ॥**

'अपरः' कश्चित् 'फरुसकः' कुम्भकारः क्वापि गच्छे मुण्डो जातः, प्रव्रजित इत्यर्थः । तस्य रात्रौ प्रसुप्तस्य स्त्यानर्द्धिरुदीर्णा । स च पूर्वं मृत्तिकाच्छेदाभ्यासी ततो मृत्तिकापिण्डानिव समीपप्रसुप्तानां साधूनां शिरांसि च्छेत्तुमारब्धः । तानि च शिरांसि कडेवराणि चैकान्ते अपोज्झति । शेषाः साधवोऽपसृताः । स च भूयोऽपि प्रसुप्तः । ततः प्रभाते 'ईदृशः स्वप्नो मया दृष्टः' इति विकटना कृता । प्रभाते च साधूनां शिरांसि कडेवराणि च पृथग्भूतानि दृष्ट्वा ज्ञातम्, यथा—स्त्यानर्द्धिरिति । लिङ्गपाराञ्चिकं दत्तम् ॥ ५०२० ॥ अथ **दन्तदृष्टान्तमाह—**

**अवरो वि घाडिओ मत्तहत्थिणा पुरकवाडे भंतूणं ।**
**तस्सुक्खणित्तु दंते, वसही बाहिं विगडणा य ॥ ५०२१ ॥**

---

१ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः भा० एव वर्तते ॥

अपरः कोऽपि साधुर्गृहस्थभावे 'मत्तहस्तिना' शुण्डामुत्क्षिप्य धावता धाटितः, पलायमानो महता कष्टेन छुट्टितः । एष चूर्ण्यभिप्रायः । निशीथचूर्णिकृता तु—"एगो साहू गोयरनिग्गतो हत्थिणा पक्खित्तो" इति लिखितम् । ◁ एवमुभयथाऽपि तं हस्तिकृतं पराभवं स्मृत्वा ▷ स साधुः तस्योपरि प्रद्वेषमापन्नः प्रसुप्तः । उदीर्णस्त्यानर्द्धिश्चोत्थाय पुरकपाटौ भंक्त्वा हस्तिशालां गत्वा तस्य हस्तिनो व्यापादनं कृत्वा दन्तानुत्खन्य वसतेर्बहिः स्थापयित्वा भूयोऽपि प्रसुप्तः । प्रभाते च 'विकटना' स्वप्नमालोचयति । साधुभिश्च दिगवलोकनं कुर्वाणैर्गजदन्तौ वीक्षितौ । ततः 'स्त्यानर्द्धिमान् असौ' इति ज्ञात्वा लिङ्गपाराञ्चिकः कृतः ॥ ५०२१ ॥

वटशालाभञ्जनदृष्टान्तमाह—

**उब्भामग वडसालेण घट्टितो केइ पुव्व वणहत्थी ।**
**वडसालभंजणाऽऽणण, उस्सग्गाऽऽलोयणा गोसे ॥ ५०२२ ॥**

एकः साधुः 'उद्भ्रामकः' भिक्षाचर्यां गतः । तत्र ग्रामद्वयस्यापान्तराले वटवृक्षो महान् विद्यते । स च साधुर्गाढतरमुष्णाभिहतो भरितभाजनस्तृषित-बुभुक्षित ईर्योपयुक्तो वेगेनाऽऽगच्छन् ◁ "वँडसालेण" त्ति लिङ्गव्यत्ययाद् ▷ वटपादपस्य शालया शिरसि घट्टितः सुष्ठुतरं परितापितः । ततो वटस्योपरि प्रद्वेषमुपगतः तदध्यवसायपरिणतश्च प्रसुप्तः । उदीर्णस्त्यानर्द्धिश्चोत्थाय तत्र गत्वा वटपादपं भंक्त्वा उन्मूल्य तदीयां शालामानीयोपाश्रयोपरि स्थापितवान् । 'उत्सर्गे च' आवश्यककायोत्सर्गत्रिके कृते 'गोसे च' प्रभाते तथैव गुरूणामालोचयति । ततो दिगवलोके कृते तथैव ज्ञातम्, लिङ्गपाराञ्चिकः कृतश्च ।

केचिदाचार्या ब्रुवते—स पूर्वभवे वनहस्ती बभूव, ततो मनुजभवमागतस्य प्रव्रजितस्योदीर्णस्त्यानर्द्धेः पूर्वभवाभ्यासाद् वटशालाभञ्जनमभवत् । शेषं प्राग्वत् ॥ ५०२२ ॥

कथं पुनरसौ परित्यजनीयः ? इत्याह—

**केसवअद्धबलं पण्णवेंति मुय लिंग णत्थि तुह चरणं ।**
**णेच्छस्स हरइ संघो, ण वि एको मा पदोसं तु ॥ ५०२३ ॥**

केशवः—वासुदेवस्तस्य बलादर्धबलं स्त्यानर्द्धिमतो भवतीति तीर्थकृदादयः प्रज्ञापयन्ति । एतच्च प्रथमसंहननिनमङ्गीकृत्योक्तम्, इदानीं पुनः सामान्यलोकबलाद् द्विगुणं त्रिगुणं चतुर्गुणं वा बलं भवतीति मन्तव्यम् । यत एवमतः स प्रज्ञापनीयः—सौम्य ! मुञ्च लिङ्गम्, नास्ति तव 'चरणं' चारित्रम् । यद्येवं गुरुणा सानुनयं भणितो मुञ्चति ततः शोभनम् । अथ न मुञ्चति ततः सङ्घः समुदितो लिङ्गं तस्य मोक्तुमनिच्छतः सकाशाद् 'हरति' उद्दालयति, न पुनरेकः । कुतः ? इत्याह—मा तस्यैकस्योपरि प्रद्वेषं गच्छेत्, प्रद्विष्टश्च व्यापादनमपि कुर्यात् ॥ ५०२३ ॥ लिङ्गापहारनियमार्थमिदमाह—

**अवि केवलमुप्पाडे, न य लिंगं देति अणतिसेसी से ।**

---

१ "एगो गिहत्थत्ते हत्थिणा परिधाडितो । सो तं हत्थिस्स वेरं संभरति । पासुत्तेसु रत्तिं गंतुं पुरकवाडे भंजिउं हत्थिं मारेत्ता दंते उक्खणित्ता पडिस्सयस्स बाहिं ठवेति ।" इति चूर्णिपाठः ॥

२-३ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः भा० कां० नास्ति ॥

**देसवत दंसणं वा, गिण्ह अणिच्छे पलायंति ॥ ५०२४ ॥**

'अपिः' सम्भावने, स चैतत् सम्भावयति—यद्यपि तेनैव भवग्रहणेन केवलमुत्पादयति तथापि "से" 'तस्य' स्त्यानर्द्धिमतो लिङ्गमनतिशयी न ददाति । यः पुनरतिशयज्ञानी स जानाति—न भूय एतस्य स्त्यानर्द्धिनिद्रोदयो भविष्यति; ततो लिङ्गं ददाति, इतरथा न ददाति । लिङ्गापहारे पुनः क्रियमाणेऽयमुपदेशो दीयते—'देशव्रतानि' स्थूलप्राणातिपातविरमणादीनि गृहाण, तानि चेत् प्रतिपत्तुं न समर्थः ततः 'दर्शनं' सम्यक्त्वं गृहाण । अथैवमप्यनुनीयमानो लिङ्गं मोक्तुं नेच्छति तदा रात्रौ तं सुप्तं मुक्त्वा 'पलायन्ते' देशान्तरं गच्छन्ति ॥ ५०२४ ॥ गतः प्रमत्तपाराञ्चिकः । अथान्योन्यं कुर्वाणं तमेवाह—

**करणं तु अण्णमण्णे, समणाण न कप्पते सुविहिताणं ।**
**जे पुण करेंति णाता, तेसिं तु विविंचणा भणिया ॥ ५०२५ ॥**

तुशब्दस्य व्यवहितसम्बन्धतया 'अन्योन्यं' परस्परं पुनर्यत् 'करणं' मुख-पायुप्रयोगेण सेवनं तत् श्रमणानां सुविहितानां कर्तुं न कल्पते । ये पुनः कुर्वन्ति ते यदि ज्ञातास्तदा तेषां 'विवेचना' परिष्ठापना भणिता ॥ ५०२५ ॥ इदमेव व्याचष्टे—

**आसग-पोसगसेवी, केई पुरिसा दुवेयगा होंति ।**
**तेसिं लिंगविवेगो, बितियपदं रायपव्वइते ॥ ५०२६ ॥**

आस्यं—मुखं आस्यमेवास्यकम्, पोसकः—पायुः, आस्यक-पोसकाभ्यां सेवितुं शीलमेषामित्यासक-पोसकसेविनः; केचित् 'पुरुषाः' साधवः 'द्विवेदकाः' स्त्री-पुरुषवेदयुक्ता भवन्ति, नपुंसकवेदिन इत्यर्थः; तेषां लिङ्गविवेकः कर्तव्यः, ⊲ लिङ्गपाराञ्चिकं दातव्यमित्यर्थः । ⊳[1] द्वितीयपदमत्र भवति—यो राजप्रव्रजितस्तस्यास्यक-पोसकसेविनोऽपि लिङ्गं नापह्रियते, परं यतनया स परित्यज्यते ॥ ५०२६ ॥ गतोऽन्योन्यं कुर्वाणः पाराञ्चिकः । सम्प्रति यो दुष्टादिर्यतः पाराञ्चिकः क्रियते तदेतद् दर्शयति—

**बिइओ उवस्सयाई, कीरति पारंचितो न लिंगातो ।**
**अणुवरमं पुण कीरति, सेसा नियमा तु लिंगाओ ॥ ५०२७ ॥**

'द्वितीयः' विषयदुष्ट उपाश्रयादेः पाराञ्चिकः क्रियते, क्षेत्रत इत्यर्थः, 'न लिङ्गाद्' लिङ्गपाराञ्चिको न विधीयते । अथ ततो दोषान्नोपरमते तदाऽनुपरमन् लिङ्गतोऽपि पाराञ्चिकः क्रियते । 'शेषाः' कषायदुष्ट-प्रमत्ता-ऽन्योन्यसेवाकारिणो नियमाद् लिङ्गपाराञ्चिकाः क्रियन्ते ॥ ५०२७ ॥

किमेत एव पाराञ्चिकाः ? उताऽन्योऽप्यस्ति ? अस्तीति ब्रूमः । कीदृशः सः ? इति चेद् उच्यते—

**इंदिय-पमाददोसा, जो पुण अवराहमुत्तमं पत्तो ।**
**सब्भावसमाउट्टो, जति य गुणा से इमे होंति ॥ ५०२८ ॥**

इन्द्रियदोषात् प्रमाददोषाद्वा पाराञ्चिकापत्तियोग्याद्[2] यः पुनः साधुः 'उत्तमम्' उत्कृष्टमपराधपदं प्राप्तः स यदि 'सद्भावसमावृत्तः' 'निश्चयेन भूयोऽहमेवं न करिष्यामि' इति व्यवसित-

१ ⊲ ⊳ एतदन्तर्गतः पाठः कां० एव वर्तते ॥ २ °य-प्रमाददोषाद् यः पु° भा० कां० ॥

स्तदा स तपःपाराञ्चिकः क्रियते, यदि च "से" तस्येमे गुणा भवन्ति ॥ ५०२८ ॥

के पुनस्ते ? इत्याह—

**संघयण-विरिय-आगम-सुत्त-ऽत्थ-विहीए जो समग्गो तु ।**
**तवसी निग्गहजुत्तो, पवयणसारे अभिगतत्थो ॥ ५०२९ ॥**

संहननं—वज्रऋषभनाराचम्, वीर्यं—धृत्या वज्रकुड्यसमानता, आगमः—जघन्येन नवमपूर्वान्तर्गतमाचाराख्यं तृतीयं वस्तु उत्कर्षतो दशमपूर्वमसम्पूर्णम्, तच्च सूत्रतोऽर्थतश्च यदि परिजितं भवति, एतैः संहननादिभिर्विधिना च—तदुचितसमाचारेण यः 'समग्रः' सम्पूर्णः । 'तपस्वी नाम' सिंहनिक्रीडितादितपःकर्मभावितः । 'निग्रहयुक्तः' इन्द्रिय-कषायाणां निग्रहसमर्थः । 'प्रवचनसारेऽभिगतार्थः' परिणामितप्रवचनरहस्यार्थ इति ॥ ५०२९ ॥ किञ्च—

**तिलतुसतिभागमित्तो, वि जस्स असुभो ण विज्जती भावो ।**
**निज्जूहणाइ अरिहो, सेसे निज्जूहणा नत्थि ॥ ५०३० ॥**

यस्य गच्छान्निर्यूढस्य तिलतुषत्रिभागमात्रोऽपि 'निर्यूढोऽहम्' इत्यशुभो भावो न विद्यते स निर्यूहणायाः 'अर्हः' योग्यः । 'शेषस्य' एतद्गुणविकलस्य निर्यूहणा नास्ति, न कर्तव्येत्यर्थः ॥ ५०३० ॥ इदमेव व्याचष्टे—

**एयगुणसंपजुत्तो, पावति पारंचियारिहं ठाणं ।**
**एयगुणविप्पमुक्के, तारिसगम्मी भवे मूलं ॥ ५०३१ ॥**

एतैः—संहननादिभिर्गुणैः सम्प्रयुक्तः पाराञ्चिकार्हं स्थानं प्राप्नोति । यः पुनरेतद्गुणविप्रमुक्तः 'तादृशे' पाराञ्चिकापत्तिप्राप्तेऽपि मूलमेव प्रायश्चित्तं भवति ॥ ५०३१ ॥

अथ पाराञ्चिकमेव कालतो निरूपयति—

**आसायणा जहण्णो, छम्मासुक्कोस बारस तु मासे ।**
**वासं बारस वासे, पडिसेवओ कारणे भतिओ ॥ ५०३२ ॥**

आशातनापाराञ्चिको जघन्येन षण्मासान् उत्कर्षतश्च द्वादश मासान् भवति, एतावन्तं कालं गच्छान्निर्यूढस्तिष्ठतीत्यर्थः । प्रतिसेवनापाराञ्चिको जघन्येन संवत्सरम् उत्कर्षतो द्वादश वर्षाणि निर्यूढ आस्ते । "पडिसेवओ कारणे भइओ" त्ति यः प्रतिषेवकपाराञ्चिकः सः 'कारणे' कुलगणादिकार्ये 'भक्तः' विकल्पितः, यथोक्तकालादर्वागपि गच्छं प्रविशतीति भावः ॥ ५०३२ ॥

अथ तस्यैव गणनिर्गमनविधिमाह—

**इत्तिरियं णिक्खेवं, काउं अण्णं गणं गमित्ताणं ।**
**दव्वादि सुभे विगडण, निरुवस्सग्गट्ठ उस्सग्गो ॥ ५०३३ ॥**

इह यः पाराञ्चिकं प्रतिपद्यते स नियमादाचार्य एव भवति, तेन च स्वगणे पाराञ्चिकं न प्रतिपत्तव्यम्, अन्यस्मिन् गणे गन्तव्यम् । तत इत्वरं गणनिक्षेपमात्मतुल्ये शिष्ये कृत्वा ततोऽन्यं गणं गत्वा 'द्रव्यादिषु' द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावेषु 'शुभेषु' प्रशस्तेषु 'विकटनाम्' आलो-

१ °कः तथाविधापराधसेवनया पाराञ्चिकप्रायश्चित्तप्राप्तः सः 'कारणे' कुल-गण-सङ्घादिकार्ये कां० ॥

चनां परगणाचार्यस्य प्रयच्छति। उभावपि च निरुपसर्गप्रत्ययं कायोत्सर्गं प्रकुरुतः ॥५०३३॥

अथ किं कारणं स्वगणे न प्रतिपद्यते ? उच्यते—

**अप्पच्चय णिब्भयया, आणाभंगो अजंतणा सगणे।**
**परगणे न होंति एए, आणाथिरता भयं चेव ॥ ५०३४ ॥**

स्वगच्छ एव पाराञ्चिकप्रतिपत्तौ अगीतार्थानामप्रत्ययो भवति—नूनमकृत्यमनेन प्रतिसेवितं येन पाराञ्चिकः कृतः। ततस्तेषां निर्भयता भवति, न गुरूणां बिभ्यतीत्यर्थः। अबिभ्यतश्चाऽऽज्ञाभङ्गं कुर्वीरन्। अयन्त्रणा च स्वगणे भवति, शिष्यानुरोधादिना स्वयमेव भक्त-पानानयनादौ नियन्त्रणा वक्ष्यमाणा न भवतीत्यर्थः। परगणे चैते दोषा न भवन्ति। अपि च—तत्र गच्छता भगवतामाज्ञानुपालने 'स्थिरता' स्थैर्यं कृतं भवति, भयं चात्मनः सञ्जायते, ततः परगणं गत्वा तत्र पाराञ्चिकं पतिपद्य निरपेक्षः सक्रोशयोजनात् क्षेत्राद् बहिर्व्रजति ॥५०३४॥

तस्य चेयं सामाचारी—

**जिणकप्पियपडिरूवी, बाहिं खेत्तस्स सो ठितो संतो।**
**विहरति बारस वासे, एगागी झाणसंजुत्तो ॥ ५०३५ ॥**

'जिनकल्पिकप्रतिरूपी' 'अलेपकृतं भैक्षं ग्रहीतव्यम्, तृतीयस्यां पौरुष्यां पर्यटनीयम्' इत्यादिका यादृशी जिनकल्पिकस्य चर्या तां कुर्वन् क्षेत्राद् बहिः स्थितः सन् 'सः' पाराञ्चिकः एकाकी 'ध्यानसंयुक्तः' श्रुतपरावर्तनैकचित्तो द्वादश वर्षाणि विहरति ॥ ५०३५ ॥

यस्य चाऽऽचार्यस्य सकाशे प्रतिपद्यते तेन यत् कर्तव्यं तदाह—

**ओलोयणं गवेसण, आयरितो कुणति सव्वकालं पि।**
**उप्पण्णे कारणम्मि, सव्वपयत्तेण कायव्वं ॥ ५०३६ ॥**

आचार्यः पाराञ्चिकस्य 'सर्वकालमपि' यावन्तं कालं प्रायश्चित्तं वहति तावन्तं सकलमपि कालं यावत् प्रतिदिवसमवलोकनं करोति, तत्समीपं गत्वा तद्दर्शनं करोतीत्यर्थः। तदनन्तरं 'गवेषणं' 'गतोऽल्पक्लमतया भवतां दिवसो रात्रिर्वा ?' इति पृच्छां करोति। उत्पन्ने पुनः 'कारणे' ग्लानत्वलक्षणे सर्वप्रयत्नेन भक्त-पानाहरणादिकं स्वयमाचार्येण तस्य कर्तव्यम् ॥ ५०३६ ॥

**जो उ उवेहं कुज्जा, आयरिओ केणई पमाएणं।**
**आरोवणा उ तस्सा, कायव्वा पुव्वनिद्दिट्ठा ॥ ५०३७ ॥**

यः पुनराचार्यः 'केनापि प्रमादेन' जनव्याक्षेपादिना 'उपेक्षां कुरुते' तत्समीपं गत्वा तच्छरीरस्योदन्तं न वहति तस्याऽऽरोपणा 'पूर्वनिर्दिष्टा' ग्लानद्वाराभिहिता कर्तव्या, चत्वारो गुरुकास्तस्य प्रायश्चित्तमारोपयितव्यमिति भावः ॥ ५०३७ ॥

यदुक्तम् "उत्पन्ने कारणे सर्वप्रयत्नेन कर्तव्यम्" ( गा० ५०३६ ) तद् भावयति—

**आहरति भत्त-पाणं, उव्वत्तणमाइयं पि से कुणति।**
**सयमेव गणाहिवई, अह अगिलाणो सयं कुणति ॥ ५०३८ ॥**

अथ स पाराञ्चिको ग्लानोऽभवत् ततस्तस्य 'गणाधिपतिः' आचार्यः स्वयमेव भक्तं पानं च 'आहरति' आनयति, उद्वर्तनम् आदिशब्दात् परावर्तनोर्द्धकरणोपवेशनादिकं तस्य स्वयं

करोति । अथ जातः 'अग्लानः' नीरोगस्तत आचार्यं न किमपि कारयति किन्तु सर्वं स्वयमेव कुरुते ॥ ५०३८ ॥ अधुना यदुक्तम् "ओलोयणं गवेसण" ( गा० ५०३६ ) त्ति तद्व्याख्यानार्थमाह—

**उभयं पि दाऊण सपाडिपुच्छं, वोढुं सरीरस्स य वट्टमाणिं ।**
**आसासइत्ताण तवोकिलंतं, तमेव खेत्तं समुवेंति थेरा ॥ ५०३९ ॥**

'स्थविराः' आचार्याः शिष्याणां प्रतीच्छकानां च 'उभयमपि' सूत्रमर्थं च, किंविशिष्टम् ? इत्याह—'सप्रतिपृच्छं' पृच्छा—प्रश्नस्तस्याः प्रतिवचनं प्रतिपृच्छा तया सहितं सप्रतिपृच्छम्, सूत्रविषयेऽर्थविषये च यद् येन पृष्टं तत्प्रतिवचनं दत्त्वा तत्सकाशमुपगम्य तदीयशरीरस्य "वट्टमाणिं" ति वर्त्तमाने काले भवा वार्त्तमानी—वार्त्तेत्यर्थस्तां वहन्ति, अल्पक्लाम्यतां पृच्छन्तीति भावः । सोऽपि चाऽऽचार्यमागतं 'मस्तकेन वन्दे' इति फेटावन्दनकेन वन्दते । शरीरस्य चोदन्तमूद्वा[1] यदि तपसा क्लाम्यति तत आश्वासयन्ति[2] । आश्वास्य च 'तदेव क्षेत्रं' यत्र गच्छोऽवतिष्ठते तत् समुपगच्छन्ति स्थविराः ॥ ५०३९ ॥[3]

अथ द्वावपि सूत्रार्थौ दत्त्वा तत्र गन्तुं न शक्नोति ततः को विधिः ? इत्याह—

**असहू सुत्तं दातुं, दो वि अदाउं व गच्छति पए वि ।**
**संघाडओ से भत्तं, पाणं चाऽऽणेति मग्गेणं ॥ ५०४० ॥**

इहैकस्यापि कदाचिदेकवचनं कदाचिच्च बहुवचनं सर्वस्यापि वस्तुन एका-ऽनेकरूपताख्यापनार्थमित्यदुष्टम् । असहिष्णुराचार्यः सूत्रं दत्त्वा गच्छति । अथ तथापि न शक्नोति ततः 'द्वावपि' सूत्रा-ऽर्थावदत्त्वा 'प्रगे' प्रभात एव गच्छति । तस्य च तत्र गतस्य एकः सङ्घाटको भक्तं पानकं च 'मार्गेण' पृष्ठत आनयति ॥ ५०४० ॥

कदाचिन्न गच्छेदपि तत्रैतानि कारणानि—

**गेलण्णेण व पुट्ठो, अभिणवमुक्को ततो व रोगातो ।**
**कालम्मि दुब्बले वा, कज्जे अण्णे व वाघातो ॥ ५०४१ ॥**

स आचार्यो ग्लानत्वेन वा स्पृष्टो भवेद् अथवा 'तस्माद्' ग्लानत्वकारणाद् रोगाद् 'अभिनवमुक्तः' तत्कालमुक्तः स्यात् ततो न गच्छेत् । यदि वा काले 'दुर्बले' न विद्यते बलं गमनाय यस्मिन् गाढातपसम्भवादिना स दुर्बलः—ज्येष्ठा-ऽऽषाढादिकः कालः, दुरशब्दोऽभाववाची, तस्मिन् न गच्छेत्, शरीरक्लेशसम्भवात् । "कज्जे अण्णे व वाघातो" इत्यत्र सप्तमी तृतीयार्थे प्राकृतत्वात्, ततोऽयमर्थः—अन्येन वा कार्येण केनापि व्याघातो भवेत् ॥ ५०४१ ॥

किं पुनस्तत् कार्यम् ? इत्याह—

**वायपरायण कुवितो, चेइय-तद्दव्व-संजतीगहणे ।**
**पुव्वुत्ताण चउण्ह वि, कज्जाण हवेज्ज अन्नयरं ॥ ५०४२ ॥**

वादे कस्यापि राजवल्लभवादिनः पराजयेन नृपतिः कुपितः स्यात् । अथवा चैत्य—जिना-

---

१ °स्य 'वर्त्तमानम्' उदन्तं वह° भा० कां० ॥ २ °न्तं पृष्ट्वा यदि ताडी० भा० विना ॥
३ अत्रान्तरे कां० पुस्तके ग्रन्थाग्रम्—१००० इति वर्त्तते ॥

यतनं किमपि तेनावष्टब्धं स्यात् ततस्तन्मोचने क्रुद्धो भवेत् । अथवा तद्रव्यस्य—चैत्यद्रव्यस्य संयत्या वा ग्रहणं राज्ञा कृतं तन्मोचने वा कुपितः । ततः 'पूर्वोक्तानाम्' इहैव प्रथमोद्देशके प्रतिपादितानां ( गा० ) निर्विषयत्वाज्ञापन-भक्तपाननिषेधोपकरणहरण-जीवितचारित्र-भेदलक्षणानां चतुर्णां कार्याणामन्यतरत् कार्यमुत्पन्नं भवेत् ततो न गच्छेत् ॥ ५०४२ ॥

अगमने चोपाध्यायः प्रेषणीयोऽन्यो वा, तथा चाह—

**पेसेइ उवज्झायं, अन्नं गीतं व जो तहिं जोग्गो ।**
**पुट्ठो व अपुट्ठो वा, स चावि दीवेति तं कज्जं ॥ ५०४३ ॥**

पूर्वोक्तकारणवशतः स्वयमाचार्यस्य गमनाभावे उपाध्यायं तदभावेऽन्यो वा यो गीतार्थस्तत्र योग्यस्तं प्रेषयति । स चापि तत्र गतः सन् तेन पाराञ्चितेन 'किमित्यद्य क्षमाश्रमणा नायाताः ?' इति पृष्टो वाऽपृष्टो वा तत् 'कार्यं' कारणं दीपयेत्, यथा—अमुकेन कारणेन नायाता इति ॥ ५०४३ ॥

**जाणंता माहप्पं, सयमेव भणंति एत्थ तं जोग्गो ।**
**अत्थि मम एत्थ विसओ, अजाणए सो व ते बेति ॥ ५०४४ ॥**

इह यदि ग्लानीभवनादिना कारणेन क्षमाश्रमणानागमनं पृष्टेनापृष्टेन वा दीपितं तदा न किमप्यन्यत् तेन पाराञ्चितेन वक्तव्यं किन्तु गुर्वादेश एवोभाभ्यां यथोदितः सम्पादनीयः । अथ राजप्रद्वेषतो निर्विषयत्वाज्ञापनादिना व्याघातो दीपितस्तत्र यदि 'ते' उपाध्याया अन्ये वा गीतार्थास्तस्य शक्तिं स्वयमेव बुध्यन्ते ततो जानन्तः स्वयमेव तस्य माहात्म्यं तं ब्रुवते, यथा—अस्मिन् प्रयोजने त्वं योग्य इति क्रियतामुद्यमः । अथ न जानते तस्य शक्तिं ततः स एव तानजानानान् ब्रूते, यथा—अस्ति ममात्र विषय इति ॥ ५०४४ ॥

एतच्च स्वयमुपाध्यायादिभिर्वा भणितो वक्ति—

**अच्छउ महाणुभागो[3], जहासुहं गुणसयागरो संघो ।**
**गुरुगं पि इमं कज्जं, मं पप्प भविस्सए लहुयं ॥ ५०४५ ॥**

तिष्ठतु यथासुखं महान् अनुभागः—अधिकृतप्रयोजनानुकूला अचिन्त्या शक्तिर्यस्य सः, तथा गुणशतानाम्—अनेकेषां गुणानाम् आकरः—निधानं गुणशताकरः सङ्घः । यत इदं गुरुकमपि कार्यं मां प्राप्य लघुकं भविष्यति, समर्थोऽहमस्य प्रयोजनस्य लीलयाऽपि साधने इति भावः ॥ ५०४५ ॥ एवमुक्ते सोऽनुज्ञातः सन् यत् करोति तदाह—

**अभिहाण-हेउकुसलो, बहूसु नीराजितो विउसभासु ।**
**गंतूण रायभवणे, भणाति तं रायदारट्ठं ॥ ५०४६ ॥**

'अभिधान-हेतुकुशलः' शब्दमार्गे तर्कमार्गे चाऽतीव क्षुण्ण इत्यर्थः, अत एव बहुषु विद्वत्सभासु 'नीराजितः' निर्वेटितः, इत्थम्भूतः स पाराञ्चिको राजभवने गत्वा तं 'राजद्वारस्थं' प्रतीहारं भणति ॥ ५०४६ ॥ किं भणति ? इत्याह—

**पडिहाररूवी ! भण रायरूविं, तमिच्छए संजयरूवि दट्ठुं ।**

---

१ 'पनादीनां चतुर्णां भा० कां० ॥ २ °कार्येण ना° कां० ॥ ३ 'भावो, ज° ताभा० ॥

**निवेदयित्ता य स पत्थिवस्स, जहिं निवो तत्थ तयं पवेसे ॥ ५०४७ ॥**

हे प्रतीहाररूपिन् ! मध्ये गत्वा 'राजरूपिणं' राजानुकारिणं भण, यथा—त्वां संयतरूपी द्रष्टुमिच्छति । एवमुक्तः सन् 'सः' प्रतीहारस्तथैव पार्थिवस्य निवेदयति । निवेद्य च राजानुमत्या यत्र नृपोऽवतिष्ठते तत्र 'तकं' साधुं प्रवेशयति ॥ ५०४७ ॥

**तं पूयइत्ताण सुहासणत्थं, पुच्छिंसु रायाऽऽगयकोउहल्लो ।**
**पण्हे उराले असुए कयाई, स चावि आइक्खइ पत्थिवस्स ॥ ५०४८ ॥**

'तं' साधुं प्रविष्टं सन्तं राजा पूजयित्वा 'शुभासनस्थं' शुभे आसने निषण्णमागतकुतूहलोऽप्राक्षीत् । कान् ? इत्याह—प्रश्नान् 'उदारान्' गम्भीरार्थान् कदाचिदप्यश्रुतान् "प्रतिहाररूपिन्" ! इत्येवमादिकान् । 'स चापि' साधुरेवं पृष्टः पार्थिवस्याचष्टे ॥ ५०४८ ॥

किमाचष्टे ? इत्याह—

**जारिसग आयरक्खा, सक्कादीणं न तारिसो एसो ।**
**तुह राय ! दारपालो, तं पि य चक्कीण पडिरूवी ॥ ५०४९ ॥**

यादृशकाः खलु शक्रादीनाम्, आदिशब्दात् चमरादिपरिग्रहः, आत्मरक्षा न तादृश एष तव राजन् ! द्वारपालस्तत उक्तम् "हे प्रतीहाररूपिन् !" । तथा त्वमपि यादृशश्चक्रवर्ती तादृशो न भवसि, रत्नाद्यभावात्, अत्रान्तरे चक्रवर्तिसमृद्धिराख्यातव्या, किञ्च प्रताप-शौर्य-न्यायानुपालनादिना तत्प्रतिरूपोऽसि तत उक्तम् "राजरूपिणं ब्रूहि", चक्रवर्तिप्रतिरूपमित्यर्थः ॥ ५०४९ ॥

एवमुक्ते राजा प्राह—त्वं कथं श्रमणानां प्रतिरूपी ? तत आह—

**समणाणं पडिरूवी, जं पुच्छसि राय ! तं कहमहं ति ।**
**निरतीयारा समणा, न तहाऽहं तेण पडिरूवी ॥ ५०५० ॥**

यत् त्वं राजन् ! पृच्छसि 'अथ कथं त्वं श्रमणानां प्रतिरूपी ?' तदहं कथयामि—यथा श्रमणा भगवन्तो निरतिचारा न तथाऽहं तेन श्रमणानां प्रतिरूपी, न तु साक्षात् श्रमण इति ॥ ५०५० ॥ प्रतिरूपित्वमेव भावयति—

**निज्जूढो मि नरीसर !, खेत्ते वि जईण अच्छिउं न लभे ।**
**अतियारस्स विसोधिं, पकरेमि पमायमूलस्स ॥ ५०५१ ॥**

हे नरेश्वर ! प्रमादमूलस्यातिचारस्य सम्प्रति विशोधिं प्रकरोमि, तां च कुर्वन् 'निर्यूढोऽस्मि' निष्कासितोऽस्मि, तत आस्तामन्यत्, क्षेत्रेऽपि यतीनामहमास्थातुं न लभे, ततः श्रमणप्रतिरूप्यहमिति ॥ ५०५१ ॥ राजा प्राह—कस्त्वया कृतोऽतिचारः ? का वा तस्य विशोधिः ? एवं पृष्टे यत् कर्तव्यं तदाह—

**कहणाऽऽउट्टण आगमणपुच्छणं दीवणा य कज्जस्स ।**
**वीसज्जियं ति य मए, हासुस्सलितो भणति राया ॥ ५०५२ ॥**

कथनं राज्ञा पृष्टस्य प्रसङ्गतोऽन्यस्यापि यथा प्रवचनभावना भवति । ततः 'आवर्तनम्' आकम्पनम्, राज्ञो भक्तीभवनमिति भावः । तदनन्तरमागमनकारणस्य प्रश्नः—( ग्रन्थाग्रम्—१००० । सर्वग्रन्थाग्रम्—३४८२५ ) केन प्रयोजनेन यूयमत्राऽऽगताः स्थ ? । अत्रान्तरे

येन [1]कार्येणागतस्तस्य 'दीपना' प्रकाशना । ततो राजा "हासुस्सलिओ" त्ति हासेन युक्त उत्सृतः-हृष्टो हासोत्सृतः, हसितमुखः प्रहृष्टश्च सन्नित्यर्थः, भणति । यथा—मया 'विसर्जितं' मुत्कलितं निर्विषयाज्ञापनादिकं कार्यमिति ॥ ५०५२ ॥ एवं च किं सञ्जातम् ? इत्याह—

संघो न लभइ कज्जं, लद्धं कज्जं महाणुभाएणं [2] ।
तुब्भं ति विसज्जेमि, सो वि य संघो त्ति पूएति ॥ ५०५३ ॥

निर्विषयत्वाज्ञापनमुत्कलनादिलक्षणं कार्यं सङ्घो न लभते किन्तु तेन पाराञ्चिकेन 'महानुभागेन' [3]◁ सातिशयाचिन्त्यप्रभावेन ▷ लब्धम् । न च स एवं कार्यलाभेन गर्वमुद्वहति, यत आह—"तुब्भं ति" इत्यादि, राजा प्राह—युष्माकं भणितेनाहं पूर्वग्राहं त्यक्त्वा तत् कार्यं विसर्जयामि नान्यथा । 'सोऽपि च' पाराञ्चिको ब्रूते—कोऽहम् ? कियन्मात्रो वा ? गरीयान् सङ्घो भट्टारकः, तत्प्रभावादेवाहं किञ्चिज्जानामि, तस्मात् सङ्घमाहूय क्षमयित्वा यूयमेवं ब्रूत—मुत्कलितं मया युष्मा[4]कमिति । ततो राजाऽपि सङ्घं पूजयति ॥ ५०५३ ॥

अब्भत्थितो व रण्णा, सयं व संघो विसज्जति तु तुट्ठो ।
आदी मज्झऽवसाणे, स यावि दोसो धुओ होइ ॥ ५०५४ ॥

राजा सङ्घं ब्रूयात्—मया युष्माकं विसर्जितं कार्यम्, परं मदीयमपि कार्यमिदानीं कुरुत—मुञ्चतास्य पाराञ्चिकस्य प्रायश्चित्तम् । एवं राज्ञाऽभ्यर्थितो यदि वा स्वयमपि तुष्टः सङ्घः 'विसर्जयति' मुत्कलयति । किमुक्तं भवति ?—यद् व्यूढं तद् व्यूढमेव, शेषं तु पुनर्देशतः सर्वतो वा प्रसादेन मुञ्चति । तस्य च पाराञ्चिकतपसस्तदानीमादिर्मध्यमवसानं वा भवेत्, त्रिष्वपि सङ्घस्यादेशात् 'स चापि' पाराञ्चिकापत्तिहेतुर्दोषः 'धुतः' कम्पितः, प्रसादेन स्फेटितो भवतीत्यर्थः । तत्र देशो देशदेशो वा प्रायश्चित्तस्य तेन वोढव्यः । अथ राजा तस्यापि मोचने निर्बन्धं करोति तदा तदपि मुच्यते । देशो नाम-षड्भागः, देशदेशः-दशभागः ॥ ५०५४ ॥

तत्र देशे यावन्तो मासा भवन्ति तदेतत् प्रतिपादयति—

एक्को य दोन्नि दोन्नि य, मासा चउवीस होंति छब्भागे ।
देसं दोण्ह वि एयं, वहेज्ज मुंचेज्ज वा सव्वं ॥ ५०५५ ॥

इहाशातनापाराञ्चिको जघन्यतः षण्मासान् उत्कर्षतो वर्षं भवति इत्युक्तम्, तत्र षण्मासानां षष्ठे भागे एको मासो लभ्यते वर्षस्य तु षड्भागे द्वौ मासौ भवतः । प्रतिसेवनापाराञ्चिको जघन्यतो वर्षम् उत्कर्षतो द्वादश वर्षाणि भवतीत्युक्तम्, तत्रापि वर्षस्य षड्भागे द्वौ मासौ द्वादशवर्षाणां षष्ठे भागे चतुर्विंशतिर्मासा भवन्ति । एवंविधं देशं 'द्वयोरपि' आशातना-प्रतिसेवनापाराञ्चिकयोः सम्बन्धिनं सङ्घस्यादेशाद् वहेत्, यद्वा सर्वमपि सङ्घो मुञ्चेत्, न किमपि कारयेदित्यर्थः ॥ ५०५५ ॥ अथ देशदेशमाह—

अट्ठारस छत्तीसा, दिवसा छत्तीसमेव वरिसं च ।
बावत्तरिं च दिवसा, दसभाग वहेज्ज बितिओ तु ॥ ५०५६ ॥

---

१ कारणेनाग° कां० ॥ २ °भावेणं ताभा० ॥ ३ ◁ ▷ एतन्मध्यगतः पाठः भा० कां० नास्ति ॥ ४ °ष्माकं तत् कार्यमिति कां० ॥

आशातनापाराञ्चिके षण्मासानां दशमे भागेऽष्टादश दिवसा वर्षस्य तु दशमे भागे षट्-त्रिंशद्दिवसा भवन्ति । प्रतिसेवनापाराञ्चिके संवत्सरस्य दशमे भागे षट्त्रिंशद्दिवसा द्वादशवर्षाणां दशमे भागे वर्षमेकं द्वासप्ततिश्च दिवसा भवन्ति । एतावन्तं कालं यद् वहेद् एषः 'द्वितीयः' देशदेश उच्यते ॥ ५०५६ ॥ उपसंहरन्नाह—

**पारंचीणं दोण्ह वि, जहण्णमुक्कोसयस्स कालस्स ।**
**छब्भागं दसभागं, वहेज्ज सव्वं व झोसिज्जा ॥ ५०५७ ॥**

'द्वयोरपि' आशातना-प्रतिसेवनापाराञ्चिकयोर्जघन्य उत्कृष्टश्च यः कालस्तस्य सम्बन्धिनं षड्भागं दशभागं वाऽनन्तरोक्तं वहेत् । यद्वा 'सर्वमपि' अवशिष्यमाणं सङ्घः क्षपयेत्, प्रसादेन मुञ्चेदिति भावः ॥ ५०५७ ॥

॥ **पाराञ्चिकप्रकृतं समाप्तम्** ॥

---

## अ न व स्था प्य प्र कृ त म्

सूत्रम्—

**ततो अणवट्ठप्पा पण्णत्ता, तं जहा—साहम्मियाणं तेण्णं करेमाणे, अन्नधम्मियाणं तेण्णं करेमाणे, हत्थादालं दलेमाणे ३ ॥**

अस्य सम्बन्धमाह—

**पच्छित्तमणंतरियं, हेट्ठा पारंचियस्स अणवट्ठो ।**
**आयरियस्स विसोधी, भणिता इमगा उवज्झाते ॥ ५०५८ ॥**

पूर्वसूत्रे पाराञ्चिकप्रायश्चित्तमुक्तम्, तस्य 'अधस्ताद्' अनन्तरितमनवस्थाप्यप्रायश्चित्तं भवति, अतः साम्प्रतं तदभिधीयते । यद्वा पूर्वसूत्रे आचार्यस्य शोधिर्भणिता, इयं पुनरुपाध्यायविषया सैवाभिधीयते ॥ ५०५८ ॥

अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य व्याख्या—त्रयः 'अनवस्थाप्याः' तत्क्षणादेव व्रतेष्वनवस्थापनीयाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा—साधर्मिकाः—साधवस्तेषां सत्कस्योत्कृष्टोपधेः शिष्यादेर्वा 'स्तैन्यं' चौर्यं कुर्वाणः । अन्यधार्मिकाः—शाक्यादयो गृहस्था वा तेषां सत्कस्योपध्यादेः स्तैन्यं कुर्वन् । तथा हस्तेनाताडनं हस्तातालः, सूत्रे च तकारस्य दकारश्रुतिरार्षत्वात्, तं "दलेमाणे" ददत्, यष्टि-मुष्टि-लकुटादिभिरात्मनः परस्य वा प्रहरन्निति भावः । अथवा "हत्थालंबं" ति पाठः, हस्तालम्ब इव 'हस्तालम्बः' अशिवादिप्रशमनार्थमभिचारुकमन्त्रादिप्रयोगस्तं "दलमाणे" कुर्वन् । यद्वा "अत्थादाणं दलमाणे" त्ति पाठः, तत्र 'अर्थादानम्' अर्थोपादानकारणमष्टाङ्गनिमित्तं 'ददत्' प्रयुञ्जानः । एष सूत्रसङ्क्षेपार्थः ॥ अथ विस्तरार्थं बिभणिषुराह—

**आसायण पडिसेवी, अणवट्ठप्पो वि होति दुविहो तु ।**
**एक्केक्को वि य दुविहो, सचरित्तो चेव अचरित्तो ॥ ५०५९ ॥**

आशातनानवस्थाप्यः प्रतिसेव्यनवस्थाप्यश्चेत्यनवस्थाप्योऽपि द्विविधो भवति, न केवलं पाराञ्चिक इति अपिशब्दार्थः। पुनरेकैकोऽपि द्विविधः—सचारित्रोऽचारित्रश्चेति। एतौ द्वावपि भेदौ पाराञ्चिकवद् वक्तव्यौ ॥ ५०५९ ॥ अथाशातनानवस्थाप्यमाह—

**तित्थयर पवयण सुते, आयरिए गणहरे महिड्ढीए।**
**एते आसादेंते, पच्छित्ते मग्गणा होइ ॥ ५०६० ॥**

तीर्थकरः प्रवचनं श्रुतं आचार्यो गणधरो महर्द्धिकश्चेति। एतानाशातयतः प्रायश्चित्ते मार्गणा भवति। अमीषां चाशातना पाराञ्चिकवद् भावनीया ( गा० ४९७६–८२ ) ॥ ५०६० ॥

प्रायश्चित्तमार्गणा पुनरियम्—

**पढम-बितिएसु णवमं, सेसे एक्केक चउगुरू होंति।**
**सव्वे आसादेंतो, अणवट्ठप्पो उ सो होइ ॥ ५०६१ ॥**

'प्रथम-द्वितीययोः' तीर्थङ्कर-सङ्घाशातनयोरुपाध्यायस्य 'नवमम्' अनवस्थाप्यं भवति। 'शेषेषु' श्रुतादिषु प्रत्येकमेकैकस्मिन् आशात्यमाने चतुर्गुरवो भवन्ति। अथ 'सर्वाणि' चत्वार्यपि श्रुतादीनि आशातयति ततोऽसौ अनवस्थाप्यो भवति ॥ ५०६१ ॥

उक्त आशातनानवस्थाप्यः। अथ प्रतिसेवनानवस्थाप्यमाह—

**पडिसेवणअणवट्ठो, तिविधो सो होइ आणुपुव्वीए।**
**साहम्मि अण्णधम्मिय, हत्थादालं व दलमाणे ॥ ५०६२ ॥**

यः प्रतिसेवनानवस्थाप्यः सूत्रे साक्षादुक्तः स आनुपूर्व्या त्रिविधो भवति—सार्धर्मिकस्तैन्यकारी अन्यधार्मिकस्तैन्यकारी हस्तातालं च ददत् ॥ ५०६२ ॥

तत्र साधर्मिकस्तैन्यं तावदाह—

**साहम्मि तेण्ण उवधी, वावारण झामणा य पट्ठवणा।**
**सेहे आहारविधी, जा जहिं आरोवणा भणिता ॥ ५०६३ ॥**

साधर्मिकाणाम् 'उपधेः' वस्त्र-पात्रादिलक्षणस्य स्तैन्यं करोति। "वावारण" त्ति गुरुभिरुपधेरुत्पादनाय 'व्यापारणा' प्रेषणा कृता ततस्तमुत्पाद्य गुरूणामनिवेद्यापान्तराले स्वयमेवाधितिष्ठति। "झामणा य" त्ति उपकरणं सद्भावेनासद्भावेन वा 'ध्यामितं' दग्धं भवेत् तद्व्याजेन श्रावकमभ्यर्थ्य वस्त्रादिकं गृहीत्वा स्वयमेव भुङ्क्ते। "पट्ठवण" त्ति केनाप्याचार्येण कस्यापि संयतस्य हस्ते अपराचार्यस्य ढौकनाय प्रतिग्रहः प्रेषितस्तमसावन्तरा स्वयमेव स्वीकरोति। "सेहे" त्ति शैक्षविषयं स्तैन्यं करोति। "आहारविहि" त्ति दानश्राद्धादिषु स्थापनाकुलेषु गुरुभिरननुज्ञातः 'आहारविधिम्' अशनादिकमाहारप्रकारं गृह्णाति। एतेषु स्थानेषु साधर्मिकस्तैन्यं भवति। अत्र च या यत्र स्थाने 'आरोपणा' प्रायश्चित्तापरपर्याया भणिता सा तत्र वक्तव्या। एष निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः ॥ ५०६३ ॥ साम्प्रतमेनामेव विवरीषुराह—

**उवहिस्स आसिआवण, सेहमसेधे य दिट्ठऽदिट्ठे य।**
**सेहे मूलं भणितं, अणवट्ठप्पो य पारंची ॥ ५०६४ ॥**

---

१ °त्थालंबं व मो० ॥ २ °समासार्थः कां० ॥

इहोपधेः आसिआवणं स्तैन्यमित्येकोऽर्थः, तच्च शैक्षो वा कुर्यादशैक्षो वा, उभावपि दृष्टं वा स्तैन्यं कुर्यातामदृष्टं वा । तत्र शैक्षे मूलं यावत् प्रायश्चित्तं भणितम्, उपाध्यायस्याऽनवस्थाप्यपर्यन्तम्, आचार्यस्य पाराञ्चिकान्तम् ॥ ५०६४ ॥ एतदेव भावयति—

**सेहो त्ति अगीयत्थो, जो वा गीतो अणिड्ढिसंपन्नो ।**
**उवही पुण वत्थादी, सपरिग्गह एतरो तिविहो ॥ ५०६५ ॥**

शैक्ष इति पदेनागीतार्थो भण्यते, यो वा गीतार्थोऽपि 'अनृद्धिसम्पन्नः' आचार्यपदादिसमृद्धिमप्राप्तः सोऽपि शैक्ष इहोच्यते । उपधिः पुनर्वस्त्रादिकः, आदिशब्दात् पात्रपरिग्रहः । ◁ स च 'सपरिग्रहः' ▷ परिगृहीतः स्याद् 'इतरो वा' अपरिगृहीतः । पुनरेकैकस्त्रिविधः—जघन्यो मध्यम उत्कृष्टश्च ॥ ५०६५ ॥

अथ "सेहे मूलं" ( गा० ५०६४ ) इत्यादि पश्चार्द्धं व्याख्याति—

**अंतो बहिं निवेसण, वाडग गामुज्जाण सीमऽतिक्कंते ।**
**मास चउ छच्च लहु गुरु, छेदो मूलं तह दुगं च ॥ ५०६६ ॥**

'अन्तः' प्रतिश्रयाभ्यन्तरे साधर्मिकाणामुपधिमदृष्टं शैक्षः स्तेनयति मासलघु, वसतेर्बहिरदृष्टमेव स्तेनयति मासगुरु । निवेशनस्यान्तर्मासगुरु, बहिश्चतुर्लघु । वाटकस्यान्तश्चतुर्लघु, बहिश्चतुर्गुरु । ◁ ग्रामस्यान्तश्चतुर्गुरु, बहिः षड्लघु । ▷ उद्यानस्यान्तः षड्लघु, बहिः षड्गुरु । सीमाया अन्तः षड्गुरु, अतिक्रान्तायां तु तस्यां बहिश्छेदः । "मूलं तह दुगं च" त्ति मूलं तथा 'द्विकं च' अनवस्थाप्य-पाराञ्चिकयुगम् ॥ ५०६६ ॥ एतदेव भावयति—

**एवं ता अदिट्ठे, दिट्ठे पढमं पदं परिहवेत्ता ।**
**ते चेव असेहे वी, अदिट्ठ दिट्ठे पुणो एक्कं ॥ ५०६७ ॥**

एवं तावददृष्टे स्तैन्ये क्रियमाणे शैक्षस्य प्रायश्चित्तमुक्तम् । दृष्टे तु 'प्रथमं' मासलघुलक्षणं पद 'परिहाप्य' परिहृत्य मासगुरुकादारब्धं मूलं यावद् वक्तव्यम् । अशैक्षः—उपाध्यायस्तस्याप्यदृष्टे 'तान्येव' मासगुरुकादीनि मूलान्तानि प्रायश्चित्तस्थानानि भवन्ति, दृष्टे पुनः 'एकं'

---

१ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः कां० एव वर्त्तते ॥

२ **वाडगमुज्जाण** इति पाठः सर्वास्वपि प्रतिषूपलभ्यते, किन्तु भा०टीका-**चूर्णि-विशेषचूर्ण्य**नुसारेण प्रायश्चित्तक्रमानुसारेण च **वाडग गामुज्जाण** इत्येव पाठः सम्यग् । दृश्यतां टीप्पणी ३ ॥

३ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः भा० एव वर्त्तते ।

"अंतो वसहीए उवहितेण्णं करेति सेहो अदिट्ठं मासलहुं, बाहिं वसहीए मासगुरुं । निवेसणस्स अंतो •, बाहिं ङ्क । वाडगस्संतो ङ्क, बाहिं ङ्का । गामस्संतो ङ्का, बाहिं र्फ । उज्जाणस्संतो र्फ, बाहिं र्फा । सीमाए अंतो र्फा, बाहिं छेदो । एवं ताव अदिट्ठे ।" इति **चूर्णौ** ।

"अंतो वसहीए उवहितेण्णं करेइ सेहो अदिट्ठं मासलहुं, बाहिं वसहीए मासगुरुं । निवेसणस्संतो मासगुरुं, बाहिं ⁘ । वाडगस्स अंतो ⁘, बाहिं ⁘ । गामस्स अंतो ⁘, बाहिं ⁘ । उज्जाणस्स अंतो ⁘, बाहिं ⁘ । सीमाए अंतो ⁘, बाहिं छेदो । एवं ताव अदिट्ठे ।" इति **विशेषचूर्णौ** ॥

४ **मूलं यावत् प्रायश्चित्तानि भव°** कां० ॥

मासगुरुकल्याणं पदं ह्रसति, चतुर्लघुकादारब्धमनवस्थाप्ये निष्ठां यातीत्यर्थः । आचार्यस्याप्यदृष्टेऽनवस्थाप्यान्तमेव, दृष्टे तु चतुर्गुरुकादारब्धं पाराञ्चिके तिष्ठति ॥ ५०६७ ॥

गतं साधर्मिकोपधिस्तैन्यद्वारम् । अथ व्यापारणाद्वारमाह—

**वावारिय आणेहा, बाहिं घेत्तूण उवहि गिण्हंति ।**
**लहुगो अदिंति लहुगा, अणवट्टप्पो व आदेसा ॥ ५०६८ ॥**

'व्यापारिता नाम' गुरुभिः प्रेषिताः, यथा—"आणेह" त्ति उपधिमुत्पाद्याऽऽनयत । ते चैवमुक्ता अनेकविधमुपधिं गृहिभ्यः 'गृहीत्वा' उत्पाद्य 'बहिरेव' आचार्यसमीपमप्राप्ता उपधिं गृह्णन्ति, 'इदं तव इदं मम' इति विभज्य स्वयमेव स्वीकुर्वन्तीत्यर्थः; एवं गृह्णतां मासलघु । आगता आचार्यस्य न ददति चतुर्लघवः, प्रस्तुतसूत्रादेशाद्वा ◁[1] स स्वच्छन्दवस्त्रग्राहकः साधुवर्गो ▷ ऽनवस्थाप्यो भवति ॥ ५०६८ ॥ गतं व्यापारणाद्वारम् । अथ ध्यामनाद्वारम्—सा च ध्यामना द्विविधा—सती असती च । तत्रासतीं तावदाह—

**दट्ठु निमंतण लुद्धोऽणापुच्छा तत्थ गंतु णं भणति ।**
**झामिय उवधी अह तेहि पेसितो गहित णातो य ॥ ५०६९ ॥**

आचार्याः केनापि दानश्राद्धादिना विरूपरूपैर्वस्त्रैर्निमन्त्रिताः[2], तैश्च तानि प्रतिषिद्धानि । एकश्च साधुस्तां निमन्त्रणां श्रुत्वा तानि च सुन्दराणि वस्त्राणि दृष्ट्वा 'लुब्धः' लोभं गतः । तत आचार्यमनापृच्छ्य "णं" इति तं श्रावकं तत्र गत्वा भणति—अस्माकमुपधिः 'ध्यामितः' दग्धः ततोऽहं तैराचार्यैर्युष्माकं सकाशे वस्त्रार्थं प्रेषितः; एवमुक्ते दत्तस्तेनोपधिः । स च गृहीत्वा गतः, अन्ये च साधव आगताः । श्राद्धेन भणितम्—युष्माकमुपधिर्दग्ध इति कृत्वा यो भवद्भिः साधुः प्रेषितस्तस्य नूतनोपधिर्दत्तो वर्तते, यदि न पर्याप्तं ततो भूयोऽपि ददामीति । साधवो ब्रुवते—नास्माकमुपधिर्दग्धो न वा वयं कमपि प्रेषयामः । एवं स लोभाभिभूतः साधुस्तेन श्रावकेण ज्ञातः, यथा—गुरूणां पृच्छामन्तरेणायं गृहीतवान् ॥ ५०६९ ॥

ततश्च किं भवति ? इत्याह—

**लहुगा अणुग्गहम्मि, गुरुगा अप्पत्तियम्मि कायव्वा ।**
**मूलं च तेणसद्दे, वोच्छेद पसज्जणा सेसे ॥ ५०७० ॥**

एवं तेन साधुना स्तैन्येन वस्त्रेषु गृहीतेषु यद्यप्यसौ श्राद्धोऽनुग्रहं मन्यते—'यथाऽपि तथाऽपि गृह्णताममी साधवः' इति तथापि चतुर्लघवः । अथाप्रीतिकं करोति ततश्चतुर्गुरवः प्रायश्चित्तं कर्तव्याः । अथासौ 'स्तेनोऽयं स्तेनोऽयम्' इति शब्दं जनमध्ये विस्तारयति तदा मूलम् । यच्च शेषद्रव्याणां शेषसाधूनां वा व्यवच्छेदं "पसज्जण" त्ति प्रसङ्गतः करोति तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् ॥ ५०७० ॥ अथ सतीं ध्यामनां दर्शयति—

**सुव्वत्त झामिओवधि, पेसण गहिते य अंतरा लुद्धो ।**
**लहुगो अदेंते गुरुगा, अणवट्टप्पो व आदेसा ॥ ५०७१ ॥**

---

१ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः भा० कां० नास्ति ॥ २ विविधरूपै° कां० । "आमरितो केणति दाणसड्ढातिणा विरूवरूवेहिं वत्थेहिं निमंतितो" इति चूर्णौ विशेषचूर्णौ च ॥

अथ 'लुब्धकं' सत्येनैव ध्यामित उपधिः ततो गुरुभिस्तस्यैव प्रेषणं कृतम्, प्रेषितश्च सन् येनाचार्या निमन्त्रितास्तस्मादन्यस्माद्वा श्रावकाद् वस्त्रादिकमुपधिं गृहीत्वा अन्तरा 'लुब्धः'[1] लोभाभिभूतो यदि गृह्णाति तदा लघुको मासः । आनीतोऽपि यदि गुरूणां न प्रयच्छति तदा चतुर्गुरवः, सूत्रादेशाद्वाऽनवस्थाप्यो भवति ॥ ५०७१ ॥

गतं ध्यामनाद्वारम् । अथ प्रस्थापनाद्वारमाह—

**उक्कोस सनिजोगो, पडिग्गहो अंतरा गहण लुद्धो ।**
**लहुगा अदेंते गुरुगा, अणवट्ठप्पो व आदेसा ॥ ५०७२ ॥**

केनाप्याचार्येण कस्यापि संयतस्य हस्ते अपराचार्यस्य ढौकनहेतोः प्रतिग्रहः प्रेषितः, स च 'उत्कृष्टः' उत्कृष्टोपधिरूपो यद्वा वृत्त-समचतुरस्र-वर्णाढ्यतादिगुणोपेतः, तथा सह नियोगेन—पात्रकबन्धादिना यः स सनियोगः । एवंविधस्य प्रतिग्रहस्य 'अन्तरा' अपान्तराले एवासौ लुब्धः 'ग्रहणं' स्वीकरणं करोति तत्र चतुर्लघु । तत्र गतस्तेषां ◁ सूरीणां तं प्रतिग्रहं ▷ न प्रयच्छति चतुर्गुरवः, सूत्रादेशेन वाऽनवस्थाप्यो ◁ ऽसौ द्रष्टव्यः ▷ ॥ ५०७२ ॥

गतं प्रस्थापनाद्वारम्, अथ शैक्षद्वारमाह—

**पव्वावणिज्ज बाहिं, ठवेत्तु भिक्खस्स अतिगते संते ।**
**सेहस्स आसिआवण, अभिधारेंते व पावयणी ॥ ५०७३ ॥**

कोऽपि साधुः 'प्रव्राजनीयं' सशिखाकं शैक्षं गृहीत्वा प्रस्थितः, तं च भिक्षाकाले कापि ग्रामे बहिः स्थापयित्वा भिक्षार्थम् अतिगतः—प्रविष्टः, प्रविष्टे च सति तस्मिन् अपरः साधुस्तं शैक्षं दृष्ट्वा विप्रतार्य च तस्य "आसियावणं" अपहरणं करोति । साधुविरहितो वा एकाकी कमपि साधुमभिधारयन्—मनसि कुर्वन् शैक्षो व्रजेत् तमपरः साधुर्विप्रतार्य प्रव्राजयेत् । एतौ द्वावपि यदा प्रावचनिकौ जातौ तदा द्वावपि शैक्षौ स्वयमेवाऽऽत्मनो दिक्परिच्छेदं कुरुत इति सङ्ग्रहगाथासमासार्थः ॥ ५०७३ ॥ अथैनामेव विवृणोति—

**सण्णातिगतो अद्धाणितो व वंदणग पुच्छ सेहो मि ।**
**सो कत्थ मज्झ कज्जे, छात-पिवासस्स वा अडति ॥ ५०७४ ॥**
**मज्झमिणमण्ण-पाणं, उवजीवऽणुकंपणाय सुद्धो उ ।**
**पुट्ठमपुट्ठे कहणा, एमेव य इहरहा दोसो ॥ ५०७५ ॥**

संज्ञाभूमिगत आदिशब्दाद् भक्तादिपरिष्ठापनिकार्थं निर्गतः कोऽपि साधुः शैक्षं दृष्टवान्; अथवा 'आध्वनिकः' पथिकोऽसौ साधुस्ततः पथि गच्छन् शैक्षं दृष्टवान् । तेन च वन्दनके कृते सति साधुः पृच्छति—कोऽसि त्वम्? कुत आगतः? क वा प्रस्थितः?। शैक्षः प्राह—अमुकेन साधुना सार्द्धं प्रस्थितः प्रव्रजितुकामः शैक्षोऽस्म्यहम् । साधुः पृच्छति—स साधुः सम्प्रति क गतः?। शैक्षो भणति—स मम कार्ये बुभुक्षितस्य पिपासितस्य वा भक्त-पानार्थं पर्यटति ॥ ५०७४ ॥

१ भा० विनाऽन्यत्र—°पधिं कृत्वा अन्त° ताटी० मो० ले० । °पधिं मार्गयित्वा अन्त° कां० ॥
२-३ एतदन्तर्गतः पाठः भा० कां० नास्ति ॥

ततः स साधुर्मदीयमिदमन्न-पानम् 'उपजीव' भुंक्ष्वेति ब्रुवाणो यदि 'साधर्मिकोऽयम्' इत्यनुकम्पया ददाति तदा शुद्धः । शैक्षेण पृष्टोऽपृष्टो वा यदि 'एवमेव' अनुकम्पया धर्मकथां करोति तदा शुद्धः । 'इतरथा' अपहरणार्थं भक्त-पानं ददतो धर्मं वा कथयतो 'दोषः' चतुर्गुरुकं प्रायश्चित्तम् ॥ ५०७५ ॥ अपहरणप्रयोगानेव दर्शयति—

**भत्ते पण्णवण निगूहणा य वावार झंपणा चेव ।**
**पत्थवण-सयंहरणे, सेहे अव्वत्त वत्ते य ॥ ५०७६ ॥**

अपहरणार्थं भक्त-पानं ददाति धर्मं वा तस्य पुरतः प्रज्ञापयति । ततः स शैक्ष आवृतः सन् भणति—भवत एव सकाशेऽहं प्रव्रजामि किन्तु न शक्नोमि येनाऽऽनीतस्तत्पुरतः स्थातुम्, ततो मां गुपिले प्रदेशे निगूहत; ततोऽसौ तं व्यापारयति—अमुकत्र निलीय तिष्ठेति । ततस्तं तत्र निलीनं साधुः पलालादिना झम्पयति, स्थगयतीत्यर्थः । अथवाऽन्यैः सार्धमन्यं ग्रामं प्रस्थापयति, एकाकिनं वा प्रेषयति—अमुकत्र ग्रामादौ व्रज, अहमप्यमुष्मिन् दिवसे तत्राऽऽगमिष्यामि । अथवा स्वयमेव गृहीत्वा तमपहरति । एतानि षट् पदानि भवन्ति, तद्यथा—भक्तप्रदानं १ धर्मकथा २ निगूहनावचनं ३ व्यापारणं ४ झम्पनं ५ प्रस्थापन-स्वयंहरणं ६ चेति । एतेषु षट्सु पदेषु शैक्षे व्यक्तेऽव्यक्ते च प्रायश्चित्तमिदं भवति ॥ ५०७६ ॥[२]

**गुरुओ चउलहु चउगुरु, छल्लहु छग्गुरुगमेव छेदो य ।**
**भिक्खु-गणा-ऽऽयरियाणं, मूलं अणवट्ठ पारंची ॥ ५०७७ ॥**

भिक्षुर्यद्यव्यक्तशैक्षस्यापहरणार्थं भक्तं ददाति तदा मासगुरु, धर्मप्रज्ञापनायां चतुर्लघु, निगूहनवचने चतुर्गुरु, व्यापारणे षड्लघु, झम्पने षड्गुरु, प्रस्थापने स्वयंहरणे वा च्छेदः । एवमव्यक्ते शैक्षे भणितम् । अव्यक्तो नाम—यस्याद्यापि श्मश्रु न सञ्जातम् । यस्तु व्यक्तः—सञ्जातश्मश्रुस्तत्र चतुर्लघुकादारब्धं मूलं यावद् भिक्षोः प्रायश्चित्तम् । गणिनः—उपाध्यायस्य चतुर्लघुकादारब्धमनवस्थाप्ये तिष्ठति । आचार्यस्य चतुर्गुरुकादारब्धं पाराञ्चिके पर्यवस्यति ॥ ५०७७ ॥

एवं ससहाये शैक्षे भणितम्, यः पुनरसहायोऽभिधारयन् व्रजति तत्र विधिमाह—

**अभिधारंत वयंतो, पुट्ठो वच्चामऽहं अमुगमूलं ।**
**पण्णवण भत्तदाणे, तहेव सेसा पदा णत्थि ॥ ५०७८ ॥**

कोऽपि शैक्ष एकाकी कमप्याचार्यमभिधारयन् प्रव्रज्याभिमुखो व्रजति । तेन क्वचिद् ग्रामे पथि वा साधुं दृष्ट्वा वन्दनकं कृतम् । साधुना पृष्टः—क्व गच्छसि ? । स प्राह—अमुकस्याऽऽचार्यस्य पादमूले प्रव्रजनार्थं व्रजामि । एवमुक्ते यदि भिक्षुरव्यक्तशैक्षस्य भक्तदानं करोति मासगुरु, धर्मप्रज्ञापनायां चतुर्लघु; व्यक्तशैक्षस्य भक्तदाने चतुर्लघु, धर्मकथायां चतुर्गुरु । उपाध्याया-ऽऽचार्ययोर्यथाक्रमं षड्लघु[३] षड्गुरुकं च भवति, अधस्तनमेकैकं पदं ह्रसतीति भावः । 'शेषाणि तु' निगूहन-व्यापारण-झम्पनादीनि पदानि न सन्ति, असहायत्वात्, तदभावात् प्रायश्चित्तमपि[४] नास्तीति ॥ ५०७८ ॥ एते चापरे दोषाः—

१ °तस्तेन सह स्था° कां० ॥ २ एतदनन्तरम् तद्यथा— इत्यवतरणं कां० ॥ ३ °घु-षड्गुर्वोः पर्यवस्यति, अध° कां० ॥ ४ °मपि तद्विषयं ना° कां० ॥

**आणादऽणंतसंसारियत्त बोहीय दुल्लभत्तं च ।**
**साहम्मियतेण्णम्मि, पमत्तछलणाऽधिकरणं च ॥ ५०७९ ॥**

शैक्षमपहरत आज्ञाभङ्गादयो दोषा भवन्ति । अनन्तसंसारिकत्वं च भगवतामाज्ञाभङ्गाद् भवति । बोधेश्च दुर्लभत्वं जायते । साधर्मिकस्तैन्यं च कुर्वाणः प्रमत्तो लभ्यते । प्रमत्तस्य च प्रान्तदेवतया छलना भवति । यस्य च सम्बन्धी सोऽपह्रियते तेन समम् 'अधिकरणं' कलह उपजायते ॥ ५०७९ ॥ एवं तावत् पुरुषविषया दोषा उक्ताः । अथ स्त्रीविषयांस्तानेवातिदिशति—

**एमेव य इत्थीए, अभिधारेंतीएँ तह वयंतीए ।**
**वत्तऽव्वत्ताएँ गमो, जहेव पुरिसस्स नायव्वो ॥ ५०८० ॥**

एवमेव स्त्रिया अपि शैक्षिकायाः अभिधारयन्त्यास्तथा "वयंतीए" त्ति ससहायायाः प्रव्रजितुं व्रजन्त्या व्यक्ताया अव्यक्तायाश्च गमः स एव ज्ञातव्यो यथा पुरुषस्योक्तः ॥ ५०८० ॥

अथ प्रावचनिकपदं व्याचष्टे—

**एवं तु सो अवधितो, जाधे जातो सयं तु पावयणी ।**
**निक्कारणे य गहितो, वच्चति ताहे पुरिल्लाणं ॥ ५०८१ ॥**

'एवम्' अन्तरोक्तैः प्रकारैः 'सः' शैक्षोऽपहृतः सन् यदा स्वयमेव प्रावचनिको जातः, अन्यो वा निष्कारणे यः केनापि गृहीतः स आत्मनो दिवपरिच्छेदं कृत्वा भूयोऽपि बोधिलाभावाप्तये पूर्वेषामेवाचार्याणामन्तिके व्रजति ॥ ५०८१ ॥

**अन्नस्स व असतीए, गुरुम्मि अब्भुज्जएगतरजुत्ते ।**
**धारेति तमेव गणं, जो य हडो कारणज्जाते ॥ ५०८२ ॥**

येन स शैक्षो निष्कारणेऽपहृतस्तस्य गच्छेऽपरः कोऽप्याचार्यपदयोग्यो न विद्यते ततोऽन्यस्याभावे यद्वा स गुरुः—आचार्योऽभ्युद्यतस्यैकतरेण युक्तः, अभ्युद्यतमरणम् अभ्युद्यतविहारं वा प्रतिपन्न इत्यर्थः, ततो यदि कोऽपि शिष्यस्तेषां निष्पन्नो नास्ति तदा तमेव गणमसौ धारयति यावत् कोऽपि तत्र निष्पन्न इति । यश्च कारणजाते केनाप्याचार्येण हृतः सोऽपि तमेव गणं धारयति ॥ ५०८२ ॥ किं पुनस्तत् कारणम् ? इत्याह—

**नाऊण य वोच्छेदं, पुव्वगते कालियाणुजोगे च ।**
**अज्जाकारणजाते, कप्पति सेहावहारो तु ॥ ५०८३ ॥**

कोऽप्याचार्यो बहुश्रुतस्तस्य पूर्वगते किञ्चिद् वस्तु प्राभृतं वा कालिकानुयोगेऽपि श्रुतस्कन्धोऽध्ययनं वा विद्यते तच्चान्यस्य नास्ति ततो यद्यन्यस्य न सङ्क्राम्यते तदा व्यवच्छिद्यते । एवं पूर्वगते कालिकानुयोगे च व्यवच्छेदं ज्ञात्वा तं च सम्प्रस्थितं शैक्षं ग्रहण-धारणासमर्थं विज्ञाय भक्तदान-धर्मकथादिभिर्विपरिणाम्य झम्पनादीन्यपि कुर्वाणः शुद्धः । यद्वा तस्याऽऽचार्यस्य नास्ति कोऽप्यार्याणां परिवर्तकस्ततस्तासामपि कारणजाते शैक्षमपहरेत् । एवं कल्पते शैक्षापहारः कर्तुम् ॥ ५०८३ ॥ तस्य च कारणेऽपहृतस्य को विधिः ? इत्याह—

१ °याः कमप्याचार्यम् 'अभिधारयन्त्याः' असहायायास्तथा कां० ॥ २ °णां समीपे व्रज° कां० ॥

**कारणजाय अवहितो, गणं धरेंतो तु अवहरंतस्स ।**
**आहेणो निप्फण्णो, पच्छा से अप्पणो इच्छा ॥ ५०८४ ॥**

यः कारणजातेऽपहृतः स तदीयं गणं धारयन् अपहरत एवाभाव्यो भवति । अथ येन कारणेनापहृतस्तत् कारणं न पूरयति तदा पूर्वेषामेवाभवति नापहरतः । स च कारणापहृतस्तस्मिन् गणे तावदास्ते यावदेकोऽपि गीतार्थो निष्पन्नः, पश्चात् तस्याऽऽत्मीया इच्छा, तत्र वा तिष्ठति पूर्वेषां वा सकाशे गच्छति । यस्तु निष्कारणेऽपहृतः स एकस्मिन् निर्माते नियमात् पूर्वेषामन्तिके गच्छति, न तस्याऽऽत्मीयेच्छेति भावः ॥ ५०८४ ॥

गतं शैक्षद्वारम् । अथाऽऽहारविधिमाह—

**ठवणाघरम्मि लहुगो, मादी गुरुगो अणुग्गहे लहुगा ।**
**अप्पत्तियम्मि गुरुगा, वोच्छेद पसज्जणा सेसे ॥ ५०८५ ॥**

दानश्राद्धादिकुलं स्थापनागृहं भण्यते, तस्मिन् य आचार्यैः असन्दिष्टः अननुज्ञातो वा प्रविशति तस्य मासलघु । अथवा 'प्राघूर्णक-ग्लानार्थमहमिहाऽऽयातः' इति तेषां श्राद्धानां पुरतो मायां करोति ततो मायिनो मासगुरुकम् । एवमुक्ते यदि ते श्राद्धाः 'अनुग्रहोऽयम्' इति मन्यन्ते तदा चतुर्लघु । अथाप्रीतिकं कुर्वन्ति ततश्चतुर्गुरवः, यच्च तद्द्रव्यव्यवच्छेदादिशेषदोषाणां 'प्रसजना' प्रसङ्गस्तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् ॥ ५०८५ ॥ इदमेव व्याचष्टे—

**अज्ज अहं संदिट्ठो, पुट्ठोऽपुट्ठो व साहती एवं ।**
**पाहुणग-गिलाणट्ठा, तं च पलोट्टेति तो वितियं ॥ ५०८६ ॥**

कश्चिदाचार्यैरसन्दिष्टः स्थापनाकुलेषु प्रविश्य पृष्टोऽपृष्टो वा इदं भणति—अद्याहं गुरुभिः 'सन्दिष्टः' प्रेषित इति, ततो मासलघु । यदि च पूर्वं सन्दिष्टः सङ्घाटकः प्रविष्ट आसीत् श्राद्धैश्च तस्यासन्दिष्टस्याग्रे इदं भणितं भवेत्—सन्दिष्टसङ्घाटकस्य दत्तमिति; ततो ब्रूयात्—प्राघूर्णकार्थं ग्लानार्थं वा साम्प्रतमहमागत इति, एवं 'तं' श्राद्धजनं मायया यदि प्रलोटयति ततो 'द्वितीयं' मासगुरु ॥ ५०८६ ॥ ते च श्राद्धा विपरिणमेयुः, विपरिणताश्चाऽऽचार्यादीनां प्रायोग्यं न दद्युः ततः शुद्धं शुद्धेनाप्येतत् प्रायश्चित्तम्—

**आयरि-गिलाण गुरुगा, लहुगा य हवंति खमग-पाहुणए ।**
**गुरुगो य बाल-वुड्ढे, सेसे सव्वेसु मासलहुं ॥ ५०८७ ॥**

आचार्यस्य ग्लानस्य च प्रायोग्यमददानेषु श्राद्धेषु चतुर्गुरवः । क्षपकस्य प्राघुणकस्य च योग्यमददानेषु चतुर्लघवः । बाल-वृद्धानां योग्येऽलभ्यमाने गुरुमासः । 'शेषाणाम्' एतद्व्यतिरिक्तानां सर्वेषामपि प्रायोग्येऽलभ्यमाने मासलघु ॥ ५०८७ ॥

गतं साधर्मिकस्तैन्यम् । अथाऽन्यधार्मिकस्तैन्यमाह—

**परधम्मिया वि दुविहा, लिंगपविट्ठा तहा गिहत्था य ।**
**तेसिं तिण्णं तिविहं, आहारे उवधि सच्चित्ते ॥ ५०८८ ॥**

---

१ °च्छक्रमपरं प्राय° कां० ॥ २ इदं "साहति" त्ति भण° कां० ॥ ३ तदीयमायाविपरिणतत्वाद् आचा° कां० ॥

परधार्मिका अन्यधार्मिका इत्येकोऽर्थः । ते च द्विविधाः—लिङ्गप्रविष्टा गृहस्थाश्च । 'लिङ्गप्रविष्टाः' शाक्यादयः, 'गृहस्थाः' प्रतीताः । 'तेषाम्' उभयेषामपि स्तैन्यं त्रिविधम्—आहारविषयमुपधिविषयं सचित्तविषयं चेति ॥ ५०८८ ॥ तत्राऽऽहारविषयं तावदाह—

**भिक्खूण संखडीए, विकरणरूवेण भुंजती लुद्धो ।**
**आभोगण उद्धंसण, पवयणहीला दुरप्प त्ती ॥ ५०८९ ॥**

भिक्षवः—बौद्धास्तेषां सङ्खड्यां कश्चिद् लुब्धो "विकरणरूवेण" लिङ्गविवेकेन भुङ्क्ते, तदीयं लिङ्गं कृत्वेति भावः । एवं भुञ्जानं यदि कोऽपि 'आभोगयति' उपलक्षयति तदा चतुर्लघवः । एवमुपलक्ष्य यद्यसौ 'उद्धर्षणं' निर्भर्त्सनं करोति ततश्चतुर्गुरुकाः । प्रवचनहीलां वा ते कुर्युः, यथा—दुरात्मानोऽमी भोजननिमित्तमेव प्रव्रजिता इति ॥ ५०८९ ॥ अपि च—

**गिहवासे वि वरागा, धुवं खु एते अदिट्ठकल्लाणा ।**
**गलतो णवरि ण वलितो, एएसिं सत्थुणा चेव ॥ ५०९० ॥**

गृहवासेऽप्येते वराकाः 'ध्रुवं' निश्चितमेव अदृष्टकल्याणाः, एतेषां च 'शास्त्रा' तीर्थकृता दुश्चरतरामाहारशुद्ध्यादिचर्यामुपदिशता गलक एव नवरं न वलितः, शेषं तु सर्वमपि कृतमिति भावः ॥ ५०९० ॥ गतमाहारविषयं स्तैन्यम् । अथोपधिविषयमाह—

**उवस्सएँ उवहि ठवेतुं, गतम्मि भिच्छुम्मि गिण्हती लहुगा ।**
**गेण्हण कड्डण ववहार पच्छकडुड्डाह णिव्विसए ॥ ५०९१ ॥**

'उपाश्रये' मठे 'उपधिम्' उपकरणं स्थापयित्वा कश्चिद् भिक्षुकः—बौद्धो भिक्षां गतः, तस्मिन् गते यदि तदीयमुपधिं गृह्णाति तदा चतुर्लघवः । स भिक्षुकः समायातः स्वकीयमुपकरणं स्तेनितं मत्वा तस्य संयतस्य ग्रहणं करोति चतुर्गुरवः । राजकुलाभिमुखमाकर्षति षड्गुरवः । व्यवहारं कारयितुमारब्धे च्छेदः । पश्चात्कृते मूलम् । उड्डहनेऽनवस्थाप्यम् । निर्विषयाज्ञापने पाराञ्चिकम् ॥ ५०९१ ॥ अथ सचित्तविषयं स्तैन्यमाह—

**सच्चित्ते खुड्डादी, चउरो गुरुगा य दोस आणादी ।**
**गेण्हण कड्डण ववहार पच्छकडुड्डाह निव्विसए ॥ ५०९२ ॥**

सचित्तस्तैन्ये चिन्त्यमाने भिक्षुकादेः सम्बन्धिनं क्षुल्लकम् आदिशब्दाद् अक्षुल्लकं वा यद्यपहरति तदा चत्वारो गुरुकाः आज्ञादयश्च दोषाः । ग्रहणा-ऽऽकर्षण-व्यवहार-पश्चात्कृतोड्डाह-निर्विषयाज्ञापनादयश्च दोषाः प्राग्वद् मन्तव्याः ॥ ५०९२ ॥ अथैतेष्वेव प्रायश्चित्तमाह—

**गेण्हणें गुरुगा छम्मास कड्डणे छेओं होइ ववहारे ।**
**पच्छाकडम्मि मूलं, उड्डहण विरंगणे नवमं ॥ ५०९३ ॥**
**उद्दावण निव्विसए, एगमणेगे पदोस पारंची ।**
**अणवट्ठप्पो दोसु य, दोसु उ पारंचितो होइ ॥ ५०९४ ॥**

गाथाद्वयं गतार्थम् ( गा० ९०४-५ अथवा २५००-१ ) ॥ ५०९३ ॥ ५०९४ ॥

**खुड्डं व खुड्डियं वा, णेति अवत्तं अपुच्छियं तेणे ।**

---

१ "विकरणं लिंगविवेगो" इति चूर्णौ विशेषचूर्णौ च ॥ २ °द्वयं व्याख्यातार्थम् कां० ॥

**वत्तम्मि णत्थि पुच्छा, खेत्तं थामं च णाऊणं ॥ ५०९५ ॥**

क्षुल्लको वा क्षुल्लिका वा योऽप्यपि अव्यक्तः स यस्य शाक्यादेः सम्बन्धी तमपृष्ट्वा यदि तं क्षुल्लकं क्षुल्लिकां वा नयति ततः 'स्तेनः' अन्यधार्मिकस्तैन्यकारी स मन्तव्यः, चतुर्गुरुकं च तस्य प्रायश्चित्तम् । यस्तु व्यक्तस्तत्र नास्ति पृच्छा, तामन्तरेणापि स प्रव्राजनीयः । किं सर्वथैव ? उत न ? इत्याशङ्क्याऽऽह—क्षेत्रं स्थाम च ज्ञात्वा । किमुक्तं भवति ?—यदि विवक्षितं क्षेत्रं शाक्यादिभावितं राजवल्लभतादिकं वा तेषां तत्र बलं तदा पृच्छामन्तरेण व्यक्तोऽपि प्रव्राजयितुं न कल्पते, अन्यथा तु कल्पत इति ॥ ५०९५ ॥

एवं तावल्लिङ्गप्रविष्टानां स्तैन्यमुक्तम् । अथ गृहस्थानां तदेवाह—

**एमेव होति तेण्णं, तिविहं गारत्थियाण जं वुत्तं ।**
**गहणादिगा य दोसा, सविसेसतरा भवे तेसु ॥ ५०९६ ॥**

एवमेवागारस्थानामपि 'त्रिविधम्' आहारादिभेदात् त्रिप्रकारं स्तैन्यं भवति यदनन्तरमेव परतीर्थिकानामुक्तम् । 'तेषु च' गृहस्थेषु आहारादिकं स्तेनयतां ग्रहणादयो दोषाः सविशेषतरा भवेयुः । ते हि राजकुले करादिकं प्रयच्छन्ति, ततस्तद्बलेन समधिकतरान् ग्रहणा-ऽऽकर्षणा-दीन् कारयेयुः ॥ ५०९६ ॥ कथं पुनरमीषामाहारादिकं स्तेनयति ? इति उच्यते—

**आहारे पिट्ठाती, तंतू खुड्डादि जं भणित पुव्वं ।**
**पिट्ठुंडिय कब्बट्ठी, संछुभण पडिग्गहे कुसला ॥ ५०९७ ॥**

आहारे—पिष्टादिकं बहिर्विरलितं दृष्ट्वा क्षुल्लिकाः स्तेनयति । उपधौ—"तंतु" त्ति सूत्राष्टिकाम् उपलक्षणत्वाद् वस्त्रादिकं वाऽपहरति । सचित्ते—क्षुल्लकः—बालकस्तम् आदिशब्दाद् अक्षुल्लकं वा स्तेनयति । एवं यदेव पूर्वं परतीर्थिकानां भणितं तदेवात्रापि मन्तव्यम् । कथं पुनः पिष्टं स्तेनयति ? इत्याह—"पिट्ठुंडि" इत्यादि, काश्चित् क्षुल्लिका भिक्षामटन्त्यः किञ्चिद् गृहं प्रविष्टाः, तत्र च बहिः पिष्टं विसारितमास्ते, तच्च दृष्ट्वा तासां मध्यादेका कल्पस्थिका पिष्टपिण्डिकां गृहीत्वा पतद्ग्रहे प्रक्षिप्तवती, सा चाविरतिकया दृष्टा ततो भणितम्—एनां पिष्टपिण्डिकामत्रैव स्थापयत; ततस्तया क्षुल्लिकया कुशलत्वेनान्यस्याः सङ्घाटिकाया अन्तरे प्रक्षिप्ता । एवं सूत्राष्टिकामपि दक्षत्वेनापहरेत् ॥ ५०९७ ॥ अथ सचित्तविषयं विधिमाह—

**णीएहिँ उ अविदिन्नं, अप्पत्तवयं पुमं न दिक्खिंति ।**
**अपरिग्गहो उ कप्पति, विजढो जो सेसदोसेहिं ॥ ५०९८ ॥**

'निजकैः' माता-पितृप्रभृतिभिः स्वजनैः 'अवितीर्णम्' अदत्तम् 'अप्राप्तवयसम्' अव्यक्तं पुमांसं न दीक्षयन्ति । यदि पुनरपरिगृहीतोऽव्यक्तः सः 'शेषदोषैः' बाल-जड्ड-व्याधितादिभिर्विप्रमुक्तः प्रव्राजयितुं कल्पते ॥ ५०९८ ॥ ⊲ स्त्रीविषयं विधिमाह—⊳

**अपरिग्गहा उ नारी, ण भवति तो सा ण कप्पति अदिण्णा ।**
**सा वि य हु काय कप्पति, जह पउमा खुड्डमाता वा ॥ ५०९९ ॥**

---

१ °हारे—कस्याप्यगारिणो गृहाङ्गणे पिष्टा' कां० ॥ २ °कं पुरुषं 'न दीक्षयन्ति' न प्रव्राजयन्ति । यदि कां० ॥ ३ ⊲ ⊳ एतच्चिह्नान्तर्गतमवतरणं भा० एव वर्त्तते ॥

'नारी' स्त्री सा प्रायेणापरिग्रहा न भवति, पितृ-पतिप्रभृतीनामन्यतरेण परिगृहीता भवतीति भावः । ◁ उक्तं च—

पिता रक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौवने ।
पुत्राश्च स्थाविरे भावे, न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ ▷

ततो नासावदत्ता सती कल्पते प्रव्राजयितुम् । साऽपि च काचिददत्ताऽपि कल्पते, यथा पद्मावतीदेवी करकण्डुमाता प्रव्राजिता, यथा वा क्षुल्लककुमारमाता योगसङ्ग्रहाभिहिता ( आव० हारि० टीका निर्युक्तिगा० १२८८–९० पत्र ७०१ ) यशोभद्रा नाम्नी प्रव्राजिता ॥ ५०९९ ॥ अथ द्वितीयपदमाह—

**बिइयपदं आहारे, अद्धाणे हंसमादिगो उवही ।**
**उवउज्जिऊण पुव्विं, होहिंति जुगप्पहाण त्ति ॥ ५१०० ॥**

द्वितीयपदमाहारादिषु त्रिष्वपि अभिधीयते—तत्राऽऽहारेऽध्वानं प्रवेष्टुकामास्ततो वा उत्तीर्णा उपलक्षणत्वाद् अशिवादौ वा वर्तमाना असंस्तरणे अदत्तमपि भक्त-पानं गृह्णीयुः । आगाढे कारणे उपधिमपि हंसादेः सम्बन्धिना प्रयोगेणोत्पादयेत् । सचित्तविषयेऽपि—'भविष्यन्त्यमी युगप्रधानाः' इत्यादिकं पुष्टालम्बनं 'पूर्वं' प्रथममेव 'उपयुज्य' परिभाव्य गृहस्थक्षुल्लकान् अन्यतीर्थिकक्षुल्लकान् वा हरेत् ॥ ५१०० ॥ इदमेव भावयति—

**असिवं ओम विहं वा, पविसिउकामा ततो व उत्तिण्णा ।**
**थलि लिंगि अन्नतित्थिग, जातितु अदिण्णे गिण्हंति ॥ ५१०१ ॥**

अशिवगृहीते विषये स्वयं वा साधवोऽशिवगृहीता भक्त-पानलाभाभावान्न संस्तरेयुः, अवमं— दुर्भिक्षं तत्र वा भक्त-पानं न लभेरन्, 'विहम्' अध्वानं वा प्रवेष्टुकामास्ततो वा उत्तीर्णा न संस्तरेयुः, ततः स्वलिङ्गिनां या स्थलिका–देवद्रोणी तस्यां याचन्ते, यदि ते न प्रयच्छन्ति तदा बलादपि गृह्णन्ति । अथ बलवन्तस्ते दारुणप्रकृतयो वा ततोऽन्यतीर्थिकानामपि स्थलीषु याच्यते, यदि न प्रयच्छन्ति ततः स्वयमेव प्रकटं प्रच्छन्नं वा गृह्णीयुः । एवं गृहस्थेष्वपि याचितमलभमानाः स्वयमपि गृह्णन्ति । असंस्तरणे उपधिरप्येवमेव स्तैन्यप्रयोगेण ग्रहीतव्यः ॥ ५१०१ ॥

**नाऊण य वोच्छेदं, पुव्वगते कालियाणुतोगे य ।**
**गिहि अण्णतित्थियं वा, हरिज्ज एतेहिँ हेतूहिँ ॥ ५१०२ ॥**

पूर्वगते कालिकानुयोगे वा व्यवच्छेदं ज्ञात्वा यो गृहस्थक्षुल्लकोऽन्यतीर्थिकक्षुल्लको वा ग्रहण-धारणामेधावी स याचितो यदा न लभ्यते तदा स्वयमपि गृह्णीयात् । 'एतैः' एवमादिभिः 'हेतुभिः' कारणैर्गृहस्थमन्यतीर्थिकं वा हरेत् ॥ ५१०२ ॥

गतमन्यधार्मिकस्तैन्यम् । अथ "हत्थादालं दलेमाणे" इत्यादि पाठत्रयं विवरीषुराह—

**हत्थाताले हत्थालंबे, अत्थादाणे य होति बोधव्वे ।**
**एतेसिं णाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥ ५१०३ ॥**

१ ◁ ▷ एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठः कां० एव वर्तते ॥

हस्तताडो हस्तालम्बोऽर्थादानं चेति त्रिधा पाठोऽत्र बोद्धव्यः । एतेषां त्रयाणामपि नानात्वं वक्ष्यामि यथाऽऽनुपूर्व्याऽहम् ॥ ५१०३ ॥ तत्र हस्तातालं तावद् विवृणोति—

**उग्गिण्णम्मि य गुरुगो, दंडो पडियम्मि होइ भयणा उ ।**
**एवं खु लोइयाणं, लोउत्तरियाण वोच्छामि ॥ ५१०४ ॥**

इह हस्तेन उपलक्षणत्वात् खड्गादिभिश्च यद् आताडनं स हस्तातालः । स च द्विधा—लौकिको लोकोत्तरिकश्च । तत्र लौकिके हस्तातालें पुरुषवधाय खड्गादावुद्गीर्णे 'गुरुकः' रूपकाणामशीतिसहस्रलक्षणो दण्डो भवति । पतिते तु प्रहारे यदि कथमपि न मृतस्तदा 'भजना' देशे देशेऽपरापरदण्डलक्षणा भवति । अथ मृतस्तदा तदेवाशीतिसहस्रं दण्डः । एवं 'खुः' अवधारणे, लौकिकानां दण्डो भवति । लोकोत्तरिकाणां तु दण्डमतः परं वक्ष्यामि ॥५१०४॥

**हत्थेण व पादेण व, अणवट्ठप्पो उ होति उग्गिण्णे ।**
**पडियम्मि होति भयणा, उद्दवणे होति चरिमपदं ॥ ५१०५ ॥**

हस्तेन वा पादेन वा उपलक्षणत्वाद् यष्टि-मुष्ट्यादिना वा यः साधुः स्वपक्षस्य परपक्षस्य वा प्रहारमुद्गिरति सोऽनवस्थाप्यो भवति । पतिते तु प्रहारे भजना, यदि न मृतस्ततोऽनवस्थाप्य एव, अथापद्राणः—मृतः तदा 'चरमपदं' पाराञ्चिकं भवति ॥ ५१०५ ॥ अत्रेदं द्वितीयपदम्—

**आयरिय विणयगाहण, कारणजाते व बोधिकादीसु ।**
**करणं वा पडिमाए, तत्थ तु भेदो पसमणं च ॥ ५१०६ ॥**

आचार्यः क्षुल्लकस्य विनयग्राहणं कुर्वन् हस्तातालमपि दद्यात् । 'कारणजाते वा' गुरु-गच्छप्रभृतीनामात्यन्तिके विनाशे प्राप्ते बोधिकस्तेनादिष्वपि हस्तातालं प्रयुञ्जीत । पश्चार्द्धेन हस्तालम्बमाह—"करणं वा" इत्यादि, अशिव-पुररोधादौ तत्प्रशमनार्थं 'प्रतिमां' पुत्तलकं करोति, तत अभिचारुकमन्त्रं परिजपन् 'तत्रैव' प्रतिमायां भेदं करोति, ततस्तस्योपद्रवस्य प्रशमनं भवति ॥ ५१०६ ॥ एषा निर्युक्तिगाथा अत एनां विवृणोति—

**विणयस्स उ गाहणया, कण्णामोड-खड्डुगा-चवेडाहिं ।**
**सावेक्ख हत्थतालं, दलाति मम्माणि फेडिंतो ॥ ५१०७ ॥**

इह विनयशब्दः शिक्षायामपि वर्तते, यत उक्तम्—"विनयः शिक्षा-प्रणत्योः" (हैम० अने० त्रिस्वर० श्लो० ११०५) इति । ततोऽयमर्थः—'विनयस्य' ग्रहणशिक्षाया आसेवनाशिक्षाया वा ग्राहणायां क्रियमाणायां कर्णामोटकेन खड्डुकाभिः चपेटाभिर्वा 'सापेक्षः' जीवितापेक्षां कुर्वन् अत एव 'मर्माणि स्फेटयन्' येषु प्रदेशेष्वाहतः सन् म्रियते तानि परिहरन् आचार्यः क्षुल्लकस्य हस्तातालं ददाति ॥ ५१०७ ॥ अत्र परः प्राह—ननु परस्य परितापे क्रियमाणेऽसातवेदनीयकर्मबन्धो भवति तत् कथमसावनुज्ञायते ? उच्यते—

**कामं परपरितावो, असायहेतू जिणेहिँ पण्णत्तो ।**
**आत-परहितकरो पुण, इच्छिज्जइ दुस्सले स खलु ॥ ५१०८ ॥**

---

१ 'कर्णामोटकेन' प्रतीतेन 'खड्डुकया' टोलकेन 'चपेटया' प्रसिद्धया 'सापेक्षः' कां० ॥
२ °स्य सम्यक् शिक्षामप्रतिपद्यमानस्य हस्ता° कां० ॥

'कामम्' अनुमतमिदमस्माकम्—परपरितापो जिनैरसातहेतुः प्रज्ञप्तः, परं 'सः' परपरितापः 'दुःशले' कलिकलुषया दुर्ग्राहे दुर्विनीते शिष्ये 'खलु' निश्चितमिष्यत एव । कुतः ? इत्याह—"आय-परहियकरो" त्ति हेतौ प्रथमा भाष्यगाथानश्च निर्देशः, ततोऽयमर्थः—आत्मनः परस्य च हितकरत्वात् । तत्राऽऽत्मनः शिष्यं शिक्षां ग्राहयतः कर्मनिर्जरालाभः, परस्य तु सम्यग्गृहीतशिक्षस्य यथावत् चरण-करणानुपालनादयो भूयांसो गुणाः । पुनःशब्दो विशेषणे, स चैतद् विशिनष्टि—यो दुष्टाध्यवसायतया परपरितापः क्रियते स एवासातहेतुः प्रज्ञप्तः, यस्तु शुद्धाध्यवसायेनाऽऽत्म-परहितकरः क्रियते स नैवासातहेतुरिति ॥ ५१०८ ॥

अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन द्रढयति—

**सिप्पंणेउणियट्ठा, घाते वि सहंति लोइया गुरुणो ।**
**ण य मधुरणिच्छया ते, ण होंति एसेविहं उवमा ॥ ५१०९ ॥**

◁ "सिप्पं" ति मकारोऽलाक्षणिकः, ▷ शिल्पानि—रथकारकर्मप्रभृतीनि नैपुण्यानि च—लिपि-गणितादिकलाकौशलानि तदर्थं लौकिकाः शिक्षकाः 'गुरोः' आचार्यस्य घातानपि सहन्ते, न च 'ते' घातास्तदानीं दारुणा अपि 'मधुरनिश्चयाः' सुन्दरपरिणामा न भवन्ति, किन्तु शिल्पादिपरिज्ञाने वृत्तिलाभ-जनपूजनीयतादिना परिणामस्तेषां सुन्दरो भवतीति भावः । एवैवोपमा 'इह' प्रस्तुतार्थे मन्तव्या, यथा तेषां ते घाता हितास्तथा प्रस्तुतस्यापि दुर्विनीतस्य शिष्यस्येति भावः । अत्रायं बृहद्भाष्योक्तः सोपनयोऽपरो दृष्टान्तः—

अहवा वि रोगियस्सा, ओसह चाडूहिँ पिज्जए पुव्विं ।
पच्छा तालेतुमवी, देहहियट्ठाएँ दिज्जइ से ॥
इय भवरोगत्तस्स वि, अणुकूलेणं तु सारणा पुव्विं ।
पच्छा पडिकूलेण वि, परलोगहियट्ठ कायव्वा ॥

"ओसह" त्ति विभक्तिलोपादौषधमिति मन्तव्यम् ॥　　॥ ५१०९ ॥

अत एव साधुरेवंविधो भवेत्—

**संविग्गो मद्दविओ, अमुई अणुयत्तओ विसेसन्नू ।**
**उज्जुत्तमपरितंतो, इच्छियमत्थं लहइ साहू ॥ ५११० ॥**

'संविग्नः' मोक्षाभिलाषी, 'मार्दविकः' स्तब्धताविकलः, 'अमोचि' गुरूणाममोचनशीलः, 'अनुवर्तकः' तेषामेव च्छन्दोऽनुवर्ती, 'विशेषज्ञः' वस्त्ववस्तुविभागवेदी, उद्युक्तः स्वाध्यायादौ, अपरितान्तो वैयावृत्यादौ, एवंविधः साधुरीप्सितमर्थमिह परत्र च लभते ॥ ५११० ॥

अथ "कारणजाते व बोहिगाईसु" ( गा० ५१०६ ) त्ति पदं व्याचष्टे—

**बोहिकतेणभयादिसु, गणस्स गणिणो व अच्चए पत्ते ।**
**इच्छंति हत्थतालं, कालातिचरं व सज्जं वा ॥ ५१११ ॥**

---

१ °तवेदनीयकर्मबन्धनिबन्धनं प्रज्ञ° कां० ॥ २ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः कां० एव वर्तते ॥ ३ °णामवश्यन्तयाऽमोचकः 'अनु° कां० ॥ ४ °यादौ सोत्साहः, 'अपरितान्तः' वैयावृत्यादौ अनिर्वेदवान्, एवं° कां० ॥

बोधिकस्तेनभये आदिशब्दात् श्वापदादिभयेषु वा यदि 'गणस्य' गच्छस्य 'गणिनो वा' आचार्यस्य 'अत्ययः' आत्यन्तिको विनाशः प्राप्तस्तदा 'कालातिचरं वा' कालातिक्रमेण 'सद्यो वा' तत्कालमेव हस्तातालमिच्छन्ति, गीतार्था इति गम्यते ॥ ५१११ ॥

अथ हस्तालम्बं व्याख्यानयति—

**असिवे पुरोवरोधे, एमादीवइससेसु अभिभूता ।**
**संजायपच्चया खलु, अण्णेसु य एवमादीसु ॥ ५११२ ॥**
**मरणभएणऽभिभूते, ते णातुं देवतं वुवासंते ।**
**पडिमं काउं मज्झे, विंधति मंते परिजवेंतो ॥ ५११३ ॥**

अशिवेन लोको भूयान् म्रियते, परबलेन वा पुरं समन्तादुपरुद्धम्, तत्र बहिःकटकयोधैः आभ्यन्तराणां कटकमर्दः क्रियते, अन्नक्षयाद्वा क्षुधा म्रियते, आदिशब्दाद् गलगण्डादिभिर्वा रोगैर्दिने दिने प्रभूतो जनो मरणमश्नुते, एवमादिभिः 'वैशसैः' दुःखैरभिभूतास्ते पौरजनाः 'सञ्जातप्रत्ययाः' 'योऽत्र पुरे आचार्यो बहुश्रुतो गुणवांस्तपस्वी स शक्तो वैशसमिदं निरोद्धुम्, नान्यः कश्चिद्' इति समिति–सम्यग् जातः प्रत्ययो येषां ते तथा, न केवलमत्रैव किन्तु अन्येष्वप्येवमादिषु सञ्जातप्रत्ययास्ते सम्भूय तमाचार्यं 'त्रायस्व' इति शरणमुपगताः प्राञ्जलिपुटाः पादपतितास्तिष्ठन्ति ॥ ५११२ ॥

ततः स आचार्यस्तान् पौरजनान् मरणभयेनाभिभूतान् देवतामिवाऽऽत्मानं पर्युपासीनान् ज्ञात्वा तदनुकम्पापरीतचित्तः प्रतिमां कृत्वा तत अभिचारुकमन्त्रान् परिजपन् तां प्रतिमां मध्यभागे विध्यति, ततो नष्टा सा कुलदेवता, प्रशमितः सर्वोऽप्युपद्रवः । एवंविधहस्तालम्बदायी यदाऽभ्युत्तिष्ठते तदा तत्कालमेव नोपस्थाप्यते किन्तु कियन्तमपि कालं गच्छ एव वसन् व्यामर्दनं कार्यते ॥ ५११३ ॥ अथाऽर्थादानमाह—

**अणुकंपणा णिमित्ते, जायण पडिसेहणा सउणिमेव ।**
**दायण पुच्छा य तहा, सारण उब्भावण विणासे ॥ ५११४ ॥**

कस्याप्याचार्यस्य भागिनेयो व्रतं परित्यज्य मुत्कलापयति, तत आचार्यस्य 'अनुकम्पा' 'कथमयं द्रव्यमन्तरेण गृहवासमध्यासिष्यते ?' इत्येवंलक्षणा बभूव । स च 'निमित्ते अतीव कुशलः' इति कृत्वा तेनैवावर्जितयोर्द्वयोर्वणिजोरन्तिके तं भागिनेयं रूपकयाचनाय प्रेषितवान् । स च तत्रैकेन वणिजा 'किं मम शकुनिका रूपकान् हदते ?' एवमुक्त्वा प्रतिषिद्धः, द्वितीयेन तु रूपकनवलकानां दर्शना कृता । द्वितीये च वर्षे द्वाभ्यामपि वणिग्भ्यां पृच्छा कृता । तत आचार्येण 'सारणा' क्रयाणकग्रहणविषया शिक्षा दत्ता । ततो येन रूपका न दत्तास्तस्य सर्वस्वविनाशः समजनि, येन तु दत्तास्तस्य 'उद्भावनं' महर्द्धिकतासम्पादनं कृतवान् । एष निर्युक्तिगाथाक्षरार्थः । भावार्थस्तु कथानकादवसेयः । तच्चेदम्—

उज्जेणीए एगो ओसन्नायरिओ नेमित्तिओ । तस्स य दुन्नि मित्ता वाणियगा, ते तं आपुच्छिउं आपुच्छिउं ववहरंति—किं भंडं गिण्हामो मुयामो वा ? । एवं ते इस्सरीभूया । तस्स य आयरियस्स भागिणेज्जो भोगाभिलासी आगम्म तं आयरियं केवइए मग्गति ताहे आयरियेणं

खुड्डुएण समं तेसिं दोण्हं पि मित्ताणं सगासं पेसवितो—रूवगसहस्सं देहिं । तेण गंतुं आयरियवयणेणं मग्गितो—देहि । भणइ—किं मम सउणी रूवगा हगंति ? नत्थि मम एत्तिया, वीसमेत्ते देमि । तेण नेच्छियं, आयरियस्स य निवेदियं । ताहे आयरिएण बितियमित्तस्स सगासं पेसवितो, मग्गितो य आयरियवयणेणं । तेण चंगोडए काउं बहू णवलया दंसिया—एत्तो जावतिएहिं मे रूवएहिं इच्छा तावतिए गिण्हह । तेहिं आगंतुं आयरियस्स उवणीतो नउलगो; ताहे भाइणिज्जस्स दिन्नो । बितियवरिसे ते वणियगा दो वि आयरियं पुच्छंति—एसमंवरिसे केरिसं भंडं गेण्हामो ? । आयरिएहिं सउणिवाइत्तो भणितो—जत्तितो ते घरसारो तेण कप्पास-घय-गुले घेत्तुं अंतोघरे संगोवेह । बितिओ अप्पसारियं भणितो—तुमं सुबहुं तण-कट्ठ-वंसे धण्णं च घेत्तुं बाहिं नगरस्स निरग्गेयट्ठाणे संगोवाहि । तदा य अणवुट्ठी जाया, अह अग्गी उट्ठितो, सव्वं नगरं दड्ढं । सउणीइत्तस्स सव्वं कप्पासाति दड्ढं, बितियस्स न दड्ढं, ताहे तेण तं तण-कट्ठं धण्णं च सुमहग्घं विक्कियं, अणेगाणं सयसहस्साणं आभागी जातो । तओ सउणियाइत्तो आयरियं भणति—किह मे निमित्तं विसंवतियं ? । आयरिएणं भणियं—किं मम निमित्तं सउणीया हगइ[1] ? । तओ पायपडिएणं खामिओ । [ पुणो उब्भाविओ ] ॥५११४॥

अमुमेवार्थं गाथात्रयेण भाष्यकार आह—

उज्जेणी ओसण्णं, दो वणिया पुच्छियं ववहरंति ।
भोगाभिलास भच्चय, मुंचंति न रूवए सउणी ॥ ५११५ ॥
चंगोड णउलदायण, बितितेणं जत्तिए तहिं एक्को ।
अण्णम्मि हायणम्मि य, गिण्हामो किं ति पुच्छंति ॥ ५११६ ॥
तण-कट्ठ-नेह-धण्णे, गिण्हह कप्पास-दूस-गुलमादी ।
अंतो बहिं च ठवणा, अग्गी सउणी न य निमित्तं ॥ ५११७ ॥

तिस्रोऽपि व्याख्यातार्थाः । नवरं भच्चको भागिनेय उच्यते । "जत्तिए तहिं एक्को" त्ति 'यावन्तो युष्मभ्यं रोचन्ते तावतो नवलकान् गृह्णीत' एवं द्वितीयेन वणिजा भणितम् 'तत्र' तेषां मध्ये एको नवलको गृहीतः । अन्यस्मिन् 'हायने' वर्षे इत्यर्थः । 'दूष्यं' वस्त्रमुच्यते । "सउणी न य निमित्तं" ति 'न च' नैव मम शकुनिका निमित्तं हदते ॥ ५११५ ॥ ॥ ५११६ ॥ ५११७ ॥

एयारिसो उ पुरिसो, अणवट्ठप्पो उ सो सदेसम्मि ।
णेतूण अण्णदेसं, चिट्ठउवट्ठावणा तस्स ॥ ५११८ ॥

'एतादृशः' अर्थादानकारी यः पुरुषोऽभ्युत्तिष्ठते स स्वदेशे 'अनवस्थाप्यः' न महाव्रतेषु स्थाप्यते किन्तु तमन्यदेशं नीत्वा तस्य च तत्र तिष्ठत उपस्थापना कर्तव्या ॥ ५११८ ॥

कुतः ? इति चेद् उच्यते—

पुव्वब्भासा भासेज्ज किंचि गोरव सिणेह भयतो वा ।
न सहइ परीसहं पि य, णाणे कंडुं व कच्छुल्लो ॥ ५११९ ॥

---

१ °इ ? । तेण 'कुविओ' त्ति भाउं सो आयरिओ पाय° कां० ॥

तं नैमित्तिकं तत्रस्थितं लोकः पूर्वाभ्यासाद् निमित्तं पृच्छेत्, सोऽपि ऋद्धिगौरवतः स्नेहाद्वा भयाद्वा 'किञ्चिद्' लाभा-ऽलाभादिकं तत्रस्थितो भाषेत। अपि च—स ज्ञानविषयं परीषहं तत्र न सहते, सोढुं न शक्नोतीत्यर्थः। यथा कच्छुः—पामा तद्वान् पुरुषः 'कण्डूं' खर्जितं विना स्थातुं न शक्नोति एवमेषोऽपि तत्र निमित्तकथनमन्तरेण न स्थातुं शक्त इति भावः॥ ५११९॥

अथ पूर्वोक्तमप्यर्थं विशेषज्ञापनार्थं भूयोऽप्याह—

**तइयस्स दोन्नि मोत्तुं, दव्वे भावे य सेस भयणा उ।**
**पडिसिद्ध लिंगकरणं, कारणे अण्णत्थ तत्थेव॥ ५१२०॥**

इह "साधम्मियतेणियं करेमाणे" इत्यादिसूत्रक्रमप्रामाण्येन हत्थायालस्तृतीय उच्यते, स त्रिधा—हस्तातालो हस्तालम्बोऽर्थादानं चेति। तत्राऽऽद्ये द्वे पदे मुक्त्वा यत् शेषम्—अर्थादानाख्यं तृतीयं पदं तत्र द्रव्यतो भावतश्च लिङ्गप्रदाने भजना भवति। कथम्? इत्याह—"पडिसिद्ध" इत्यादि, उत्तरत्र "कारणे" इत्यभिधास्यमानत्वाद् इह निष्कारणमिति गम्यते, ततो निष्कारणे प्रतिषिद्धमर्थादानकारिणो 'लिङ्गकरणं' द्रव्यलिङ्गस्य भावलिङ्गस्य वा तत्र क्षेत्रे प्रदानम्। 'कारणे तु' भक्तप्रत्याख्यानप्रतिपत्तिलक्षणेऽन्यत्र वा तत्र वाऽनुज्ञातमेव॥ ५१२०॥

एषा **पुरातना गाथा**, अत एनां विवरीषुराह—

**हत्थातालो ततिओ, तस्स उ दो आइमे पदे मोत्तुं।**
**अत्थायाणे लिंगं, न दिंति तत्थेव विसयम्मि॥ ५१२१॥**

हस्तातालः सूत्रक्रमप्रामाण्येन तृतीयः, तस्य द्वे आदिमे हस्तताल-हस्तालम्बलक्षणे पदे मुक्त्वा यद् अर्थादानाख्यं पदं तत्र वर्तमानस्य तत्रैव 'विषये' देशे लिङ्गं न ददति॥ ५१२१॥

स च अर्थादानकारी गृहिलिङ्गी वा स्यादवसन्नलिङ्गी वा। तत्र—

**गिहिलिंगस्स उ दोण्णि वि, ओसन्ने न दिंति भावलिंगं तु।**
**दिज्जंति दो वि लिंगा, उवट्ठिए उत्तिमट्ठस्स॥ ५१२२॥**

यो गृहिलिङ्गी प्रव्रज्यार्थमभ्युत्तिष्ठते तस्य 'द्वे अपि' द्रव्य-भावलिङ्गे तस्मिन् देशे न दीयेते। यः पुनरवसन्नस्तस्य द्रव्यलिङ्गं विद्यत एव परं भावलिङ्गं तस्य तत्रैव न ददति। यदा पुनरसावुत्तमार्थप्रतिपत्त्यर्थमुपतिष्ठते तदा तस्मिन्नपि देशे द्वयोरपि गृहस्था-ऽवसन्नयोर्द्वे अपि लिङ्गे दीयेते॥ ५१२२॥ अथवेदं कारणम्—

**ओमा-ऽसिवमाईहि व, तप्पिस्सति तेणं तस्स तत्थेव।**
**न य असहाओ मुच्चइ, पुट्ठो य भणिज्ज वीसरियं॥ ५१२३॥**

अवमा-ऽशिव-राजद्विष्टादिषु वा समुपस्थितेषु गच्छस्य 'प्रतितर्पिष्यति' उपग्रहं करिष्यति तेन कारणेन तत्रैव क्षेत्रे तस्य लिङ्गं प्रयच्छन्ति। तत्र चेयं यतना—"न य असहाओ" इत्यादि, स तत्रारोपितमहाव्रतः सन् 'असहायः' एकाकी न मुच्यते, लोकेन च निमित्तं पृष्टो

१ भावः। अतोऽन्यदेशान्तरे नीत्वा स महाव्रतेषु स्थापनीय इति प्रक्रमः॥ ५११९॥ अथानन्तरोक्तमप्यर्थं कां०॥ २ एतदनन्तरं ग्रन्थाग्रम्—१५०० कां०॥ ३ °ण दिंति तत्थे° ताडी० भा० कां० ताभा०॥

भणति—विस्मृतं मम साम्प्रतं तद् निमित्तमिति ॥ ५१२३ ॥

अथ साधर्मिकादिस्तैन्येषु प्रायश्चित्तमुपदर्शयति—

**साहम्मिय-ऽन्नधम्मियतेण्णेसु उ तत्थ होतिमा भयणा ।**
**लहुगो लहुगा गुरुगा, अणवट्ठप्पो व आएसा ॥ ५१२४ ॥**

साधर्मिकस्तैन्या-ऽन्यधार्मिकस्तैन्ययोस्तत्र तावदियं 'भजना' प्रायश्चित्तरचना भवति—आहारं स्तेनयतो लघुमासः, उपधिं स्तेनयतश्चतुर्लघु, सचित्तं स्तेनयतश्चतुर्गुरवः । आदेशेन वाऽनवस्थाप्यम् ॥ ५१२४ ॥

**अहवा अणुवज्झाओ, एएसु पएसु पावती तिविहं ।**
**तेसुं चेव पएसुं, गणि-आयरियाण नवमं तु ॥ ५१२५ ॥**

अथवा 'अनुपाध्यायः' य उपाध्यायो न भवति किन्तु सामान्यभिक्षुः सः 'एतेषु पदेषु' आहारोपधि-सचित्तस्तैन्यरूपेषु यथाक्रमं 'त्रिविधं' लघुमास-चतुर्लघु-चतुर्गुरुलक्षणं प्रायश्चित्तं प्राप्नोति । 'एतेष्वेव च' आहारादिषु पदेषु गणिनः—उपाध्यायस्याऽऽचार्यस्य च 'नवमम्' अनवस्थाप्यं भवति ॥ ५१२५ ॥ अत्र परः प्राह—ननु सूत्रे सामान्येनानवस्थाप्य एव भणितः न पुनर्लघुमासादिकं त्रिविधं प्रायश्चित्तम् तत् कथमिदमर्थेनाभिधीयते ? उच्यते—आर्हतानामेकान्तवादः क्वापि न भवति । तथा चाह—

**तुल्लम्मि वि अवराहे, तुल्लमतुल्लं व दिज्जए दोण्हं ।**
**पारंचिके वि नवमं, गणिस्स गुरुणो उ तं चेव ॥ ५१२६ ॥**

तुल्यः—सदृशोऽपराधः द्वाभ्यामपि—आचार्योपाध्यायाभ्यां सेवितस्तत्र द्वयोरपि तुल्यमतुल्यं वा प्रायश्चित्तं दीयते । तत्र तुल्यदानं प्रतीतमेव, अतुल्यदानं पुनरिदम्—'पाराञ्चिकेऽपि' पाराञ्चिकापत्तियोग्येऽप्यपराधपदे सेविते 'गणिनः' उपाध्यायस्य 'नवमम्' अनवस्थाप्यमेव दीयते न पाराञ्चिकम्, 'गुरोः' आचार्यस्य पुनः 'तदेव' पाराञ्चिकं दीयते । ततो यद्यपि सूत्रे सामान्येनाऽनवस्थाप्यमुक्तं तथापि तत् पुरुषविशेषापेक्षं प्रतिपत्तव्यम्, यद्वाऽभीक्ष्णसेवानिष्पन्नम् ॥ ५१२६ ॥ तथा चाह—

**अहवा अभिक्खसेवी, अणुवरमं पावई गणी नवमं ।**
**पावंति मूलमेव उ, अभिक्खपडिसेविणो सेसा ॥ ५१२७ ॥**

अथवा साधर्मिकस्तैन्यादेः 'अभीक्ष्णसेवी' पुनः पुनः प्रतिसेवां यः करोति स ततः स्थानाद् 'अनुपरमन्' अनिवर्तमानः 'गणी' उपाध्यायो नवमं प्राप्नोति । 'शेषास्तु' ये उपाध्यायत्वमाचार्यत्वं वा न प्राप्तास्तेऽभीक्ष्णप्रतिसेविनोऽपि मूलमेव प्राप्नुवन्ति नानवस्थाप्यम् ॥ ५१२७ ॥

**अत्थादाणो ततिओ, अणवट्ठो खेत्तओ समक्खाओ ।**
**गच्छे चेव वसंता, णिज्जूहिज्जंति सेसा उ ॥ ५१२८ ॥**

---

१ 'तत्र' तयोः—अनन्तरोक्तयोः साधर्मिकस्तैन्या-ऽन्यधार्मिकस्तैन्ययोस्तावदियं कां० ॥ २ °प्यम्, तथा भगवद्वचनप्रामाण्यात् ॥ ५१२७ ॥ अथ पूर्वोक्तमर्थमुपसंहरन् विशेषं चाभिधातुकाम इदमाह—अत्था° कां० ॥

अष्टाङ्गनिमित्तप्रयोगेण अर्थं—द्रव्यमादत्ते इति अर्थादानः, ततोऽर्थादानाख्यो यस्तृतीयोऽनवस्थाप्यः स क्षेत्रतः समाख्यातः, तत्र क्षेत्रे नोपस्थाप्यत इत्यर्थः । 'शेषास्तु' हस्तातालकारिप्रभृतयो गच्छ एव वसन्तो निर्यूह्यन्ते, आलापनादिभिः पदैः बहिः क्रियन्ते इत्यर्थः ॥ ५१२८ ॥

अथ कीदृशगुणयुक्तस्यानवस्थाप्यं दीयते ? इत्याह—

संघयण-विरिय-आगम-सुत्तत्थविहीय जो समग्गो तु ।
तवसी निग्गहजुत्तो, पवयणसारे अभिगयत्थो ॥ ५१२९ ॥
तिलतुसतिभागमेत्तो, वि जस्स असुभो न विज्जती भावो ।
निज्जूहणाएँ अरिहो, सेसे निज्जूहणा नत्थि ॥ ५१३० ॥
एयगुणसंपउत्तो, अणवट्ठप्पो य होति नायव्वो ।
एयगुणविप्पमुके, तारिसयम्मी भवे मूलं ॥ ५१३१ ॥
आसायणा जहण्णे, छम्मासुक्कोस बारस उ मासा ।
वासं बारस वासे, पडिसेवओ कारणे भइओ ॥ ५१३२ ॥
इत्तिरियं निक्खेवं, काउं चउक्कं गणं गमित्ताणं ।
दव्वाइ सुहे वियडण, निरुवसग्गट्ठ उस्सग्गो ॥ ५१३३ ॥
अप्पच्चय निब्भयया, आणाभंगो अजंतणा सगणे ।
परगणे न होंति एए, आणाथिरया भयं चेव ॥ ५१३४ ॥

गाथाषट्कं यथा पाराञ्चिके व्याख्यातं ( गा० ५०२९–३४ ) तथैव मन्तव्यम् । नवरं "दव्वाइ सुभे वियडण" त्ति द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावेषु 'शुभेषु' प्रशस्तेषु; द्रव्यतो वटवृक्षादौ क्षीरवृक्षे, क्षेत्रत इक्षुक्षेत्रादौ, कालतः पूर्वाह्णे, भावतः प्रशस्तेषु चन्द्र-तारादिबलेषु; गुरूणां 'विकटनाम्' आलोचनां ददाति । तत आचार्या भणन्ति—"एयस्स साहुस्स अणवट्ठप्पतवस्स निरुवसग्गनिमित्तं ठामि काउसग्गं ति अन्नत्थूससिएणं इत्यादि वोसिरामि" इति यावत् चतुर्विंशतिस्तवमुक्त्वाऽऽचार्या भणन्ति—एष तपः प्रतिपद्यते ततो न भवद्भिः सार्धमालापादिकं विधास्यति, यूयमप्येतेन सार्धमालापादिकं परिहरध्वमिति ॥ ५१२९ ॥ ५१३० ॥ ५१३१ ॥ ॥ ५१३२ ॥ ५१३३ ॥ ५१३४ ॥ एवं तपः प्रतिपद्य यदसौ विदधाति तद् उपदर्शयति—

सेहाई वंदंतो, पग्गहियमहातवो जिणो चेव ।
विहरइ बारस वासे, अणवट्ठप्पो गणे चेव ॥ ५१३५ ॥

शैक्षादीनपि वन्दमानः 'जिन इव' जिनकल्पिक इव च प्रगृहीतमहातपाः, 'पारणके निर्लेपं भक्त-पानं ग्रहीतव्यम्' इत्याद्यनेकाभिग्रहयुक्तं चतुर्थ-षष्ठादिकं विपुलं परिहारतपः कुर्वन्निति भावः । एवंविधोऽनवस्थाप्यः 'गण एव' गच्छान्तर्गत एवोत्कर्षतो द्वादश वर्षाणि विहरति ॥ ५१३५ ॥ इदमेव भावयति—

अणवट्ठं वहमाणो, वंदइ सो सेहमादिणो सव्वे ।
संवासो से कप्पइ, सेसा उ पया न कप्पंति ॥ ५१३६ ॥

---

१ पदैः वक्ष्यमाणनीत्या बहिः कां० ॥

परगणेऽनवस्थाप्यं वहमानः 'सः' उपाध्यायादिः शैक्षादीनपि सर्वान् साधून् वन्दते । तस्य च गच्छेन सार्धमेकत्रोपाश्रये एकस्मिन् पार्श्वे शेषसाधुजनापरिभोग्ये प्रदेशे संवासः कर्तुं कल्पते । शेषाणि तु पदानि न कल्पन्ते ॥ ५१३६ ॥ कानि पुनस्तानि ? इत्याह—

**आलावण पडिपुच्छण, परियट्टुट्ठाण वंदणग मत्ते ।**
**पडिलेहण संघाडग, भत्तदाण संभुंजणा चेव ॥ ५१३७ ॥**

आलपनं स साधुभिः सह न करोति तेऽपि[1] तं नाऽऽलपन्ति । सूत्रार्थयोः शरीरोदन्तस्य वा प्रतिप्रच्छनं स तेषां न करोति तेऽपि तस्य न कुर्वन्ति । एवं 'परिवर्तनम्' एकतो गुणनम् 'उत्थानम्' अभ्युत्थानं ते अपि न कुर्वन्ति । वन्दनकं तु सर्वेषामपि स करोति तस्य पुनः साधवो न कुर्वन्ति । "मत्ते" त्ति खेलमात्रादिप्रत्यर्पणं तस्य न क्रियते सोऽपि तेषां न करोति । उपकरणं परस्परं न प्रत्युपेक्षन्ते । सङ्घाटकेन परस्परं न भवन्ति । भक्तदानमन्योऽन्यं न कुर्वन्ति । एकत्र मण्डल्यां न सम्भुञ्जते । यच्चाऽन्यत् किञ्चित् करणीयं तत् तेन सार्धं न कुर्वन्ति ॥ ५१३७ ॥

"**संघो न लभइ कज्जं०**" इत्यादिगाथाः ( ५०५३-५७ ) पाराञ्चिकवद् द्रष्टव्याः ॥

## ॥ अनवस्थाप्यप्रकृतं समाप्तम् ॥

---

## प्र व्रा ज ना दि प्र कृ त म्

सूत्रम्—

**तओ नो कप्पंति पव्वावित्तए, तं जहा—पंडए वाईए कीवे ४ ॥**

अस्य सम्बन्धमाह—

**न ठविज्जई वएसुं, सज्जं एएण होति अणवट्ठो ।**
**दुविहम्मि वि न ठविज्जइ, लिंगे अयमन्न जोगो उ ॥ ५१३८ ॥**

येन तद्दोषोपरतोऽपि 'सद्यः' तत्क्षणादेवानाचरिततपोविशेषो भावलिङ्गरूपेषु महाव्रतेषु न स्थाप्यते एतेन कारणेनानवस्थाप्य इत्युच्यते, स चानन्तरसूत्रे भणितः । अयं पुनः 'अन्यः' पण्डकादिर्द्विविधेऽपि द्रव्य-भावलिङ्गे यो न स्थाप्यते स प्रतिपाद्यते । एष 'योगः' सम्बन्धः ॥५१३८॥

अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य व्याख्या—त्रयो नो कल्पन्ते प्रव्राजयितुम् । तद्यथा — 'पण्डकः' नपुंसकः । 'वातिको नाम' यदा स्वनिमित्ततोऽन्यथा वा मेहनं काषायितं भवति तदा न शक्नोति वेदं धारयितुं यावन्न प्रतिसेवा कृता । 'क्लीबः' असमर्थः, स च दृष्टिक्लीबादिलक्षणः । एष सूत्रार्थः ॥ अथ भाष्यविस्तरः—

---

१ °पि तथैव तेन सह नालपन्ति । तथा सूत्रा° कां० ॥

**वीसं तु अपव्वज्जा, निज्जुत्तीए उ वण्णिया पुव्विं ।**
**इह पुण तिहिँ अधिकारो, पंडे कीवे य वाईया ॥ ५१३९ ॥**

'विंशतिः' बाल-वृद्धादिभेदाद् विंशतिसङ्ख्याः अप्रव्राज्याः[1] 'पूर्वं' नामनिष्पन्ने निक्षेपे 'निर्युक्तौ'[2] पञ्चकल्पे सप्रपञ्चं वर्णिताः । इह पुनस्त्रिभिरेवाधिकारः—पण्डकेन क्लीबेन वातिकेन चेति, गुरुतरदोषदुष्टा अमी इति कृत्वा[3] ॥ ५१३९ ॥

अथ प्रव्राजनाविधिमेव तावदाह—

**गीयत्थे पव्वावण, गीयत्थे अपुच्छिऊण चउगुरुगा ।**
**तम्हा गीयत्थस्स उ, कप्पइ पव्वावणा पुच्छा ॥ ५१४० ॥**

गीतार्थेनैव प्रव्राजना कर्तव्या नागीतार्थेन । यद्यगीतार्थः प्रव्राजयति तदा चतुर्गुरुकम् । गीतार्थोऽपि यदि 'अपृष्ट्वा' पृच्छामन्तरेण प्रव्राजयति तदा तस्यापि चतुर्गुरुकाः । तस्माद् गीतार्थस्य पृच्छाशुद्धं कृत्वा प्रव्राजना कर्तुं कल्पते । पृच्छाविधिश्चायम्—कोऽसि त्वम् ? को वा ते निर्वेदो येन प्रव्रजसि ? ॥ ५१४० ॥ एवं पृष्टे सति[4]—

**सयमेव कोति साहति, मित्तेहिँ व पुच्छिओ उवाएणं ।**
**अहवा वि लक्खणेहिं, इमेहिँ नाउं परिहरेज्जा ॥ ५१४१ ॥**

स्वयमेव 'कोऽपि' पण्डकः कथयति, यथा—सदृशे मनुष्यत्वे ममेदृशः त्रैराशिकवेदः समुदीर्ण इति । यद्वा मित्रैस्तस्य निर्वेदकारणमभिधीयेत । प्रव्राजकेन वा स एवोपायपूर्वं पृष्टः कथयेत् । अथवा 'लक्षणैः' महिलास्वभावादिभिः 'एभिः' वक्ष्यमाणैर्ज्ञात्वा तं परिहरेत् ॥ ५१४१ ॥ तत्र पृच्छां तावद् भावयति—

**नज्जंतमणज्जंते, निव्वेयमसड्ढे पढमयो पुच्छे ।**
**अन्नाओ पुण भन्नइ, पंडाइ न कप्पई अम्हं ॥ ५१४२ ॥**

यः प्रव्रजितुमुपस्थितः स ज्ञायमानो वा स्यादज्ञायमानो वा । ज्ञायमानो नाम—अमुकोऽमुकपुत्रोऽयम्, तद्विपरीतोऽज्ञायमानः । ◁[5] तत्र यो ज्ञायमानः ▷ स यदि श्राद्धः—श्रावको न भवति ततः प्रथमतस्तं निर्वेदं पृच्छेत् । यः पुनरज्ञातः स समासेन भण्यते—न कल्पतेऽस्माकं पण्डकादि प्रव्राजयितुम् ॥ ५१४२ ॥ स च यदि पण्डकस्तत एवं चिन्तयति—

**नाओ मि त्ति पणासइ, निव्वेयं पुच्छिया व से मित्ता ।**
**साहंति एस पंडो, सयं व पंडो त्ति निव्वेयं ॥ ५१४३ ॥**

ज्ञातोऽस्म्यहममीभिरिति मत्वा प्रणश्यति । अथवा यानि "से" तस्य मित्राणि तानि पृच्छ्यन्ते—एष तरुण ईश्वरो नीरोगश्च विद्यते ततः केन निर्वेदेन प्रव्रजति ? । एवं पृष्टानि तानि ब्रुवते—एष पण्डक इति । स्वयं वा सः 'पण्डकोऽस्म्यहम्' इति निर्वेदं कथयति ॥ ५१४३ ॥ अथ पूर्वोल्लिङ्गितानि पण्डकलक्षणानि निरूपयति—

---

१ °ज्याः' प्रव्राजयितुमयोग्याः । 'पूर्वं' कां० ॥ २ "णिज्जुत्ती पंचकप्पो" इति चूर्णौ विशेषचूर्णौ च ॥ ३ °त्वा । गाथायां सप्तमी तृतीयार्थे ॥ ५१३९ ॥ कां० ॥ ४ सति किम् ? इत्याह—सय° कां० ॥ ५ ◁ ▷ एतन्मध्यगतः पाठः भा० एव वर्तते ॥

**महिलासहावो सर-वन्नभेओ, मेण्ढं महंतं मउता य वाया।**
**ससद्दगं मुत्तमफेणगं च, एयाणि छ प्पंडगलक्खणाणि ॥ ५१४४ ॥**

पण्डको वक्ष्यमाणनीत्या महिलास्वभावो भवति। स्वर-वर्णभेदश्च तस्य भवति। स्वरभेदो नाम--पुरुषस्य स्त्रियाश्च स्वराद् विलक्षणस्तस्य स्वरो भवति। वर्णग्रहणेन गन्ध-रस-स्पर्शा अपि गृह्यन्ते, ततो वर्णभेदो नाम--वर्णादयः तस्य स्त्री-पुरुषविलक्षणा अन्यादृशा भवन्ति। 'मेढ्रम्' अङ्गादानं तच्च 'महत्' प्रलम्बं भवति। वाक् च 'मृदुका' कोमला भवति। मूत्रं सशब्दम-फेनकं च भवति। एतानि षट् पण्डकलक्षणानि मन्तव्यानि ॥ ५१४४ ॥

'महिलास्वभावः' इति पदं व्याचष्टे--

**गती भवे पच्चवलोइयं च, मिदुत्तया सीयलगत्तया य।**
**धुवं भवे दोक्खरनामधेज्जो, सकारपच्चंतरिओ ढकारो ॥ ५१४५ ॥**

गतिः स्त्रीवद् मन्दा सविभ्रमा च भवति। पार्श्वतः पृष्ठतश्च प्रत्यवलोकितं कुर्वन् गच्छति। शरीरस्य च त्वग् मृद्वी भवति। 'शीतलगात्रता च' अङ्गोपाङ्गानां शीतलः स्पर्शो भवति। एतानि स्त्रिया इव लक्षणानि दृष्ट्वा मन्तव्यम्--'ध्रुवं' निश्चितमयं द्व्यक्षरनामधेयो भवेत्। तच्चाक्षरद्वयं सकारप्रत्यन्तरितो ढकार इति प्रतिपत्तव्यम्, प्राकृतशैल्या 'संढः' संस्कृते तु 'षण्ढः' इति भावः ॥ ५१४५ ॥ किञ्च--

**गइ भास वत्थ हत्थे, कडि पट्ठि भुमा य केसऽलंकारे।**
**पच्छन्न मज्जणाणि य, पच्छन्नयरं च णीहारो ॥ ५१४६ ॥**

"गइ" त्ति यथा स्त्री तथा शनैः सविकारं गच्छति। स्त्रीवद् भाषां भाषते। तथा वस्त्रं यथा स्त्री तथा परिधत्ते, शिरो वा वस्त्रेण स्थगयति। "हत्थे" त्ति हस्तौ कूर्पराधो विन्यस्य कपोलयोर्वा निवेश्य जल्पति। अभीक्ष्णं च कटीभङ्गं करोति, पृष्ठं वा वस्त्रेण सुस्थगितं करोति। भाषमाणश्च सविभ्रमं भ्रूयुगलमुत्क्षिपति, भ्रू-रोमाणि वा स्त्रीसदृशानि। स्त्रीवत् केशानामोटयति। महिलानामलङ्कारान् पिनह्यति। प्रच्छन्ने च प्रदेशे 'मज्जनानि' स्नानादीनि करोति। प्रच्छन्न-तरं च 'नीहारः' उच्चार-प्रश्रवणात्मकस्तेन क्रियते ॥ ५१४६ ॥

**पुरिसेसु भीरु महिलासु संकरो पमयकम्मकरणो य।**
**तिविहम्मि वि वेदम्मि, तियभंगो होइ कायव्वो ॥ ५१४७ ॥**

'पुरुषेषु' पुरुषमध्ये 'भीरुः' सभयः शङ्कमान आस्ते। महिलासु 'सङ्करः' सम्मिलनशीलो निःशङ्को निर्भयस्तिष्ठति। प्रमदाः--स्त्रियः तासां यत् कर्म--कण्डन-दलन-पचन-परिवेषणोदका-हरण-प्रमार्जनादिकं तत् स्वयमेव करोतीति प्रमदाकर्मकरणः, कृत् "बहुलम्" ( सिद्ध० ५-१-२ ) इति वचनात् कर्तरि अनट्प्रत्ययः। एवमादिकं बाह्यलक्षणं पण्डकस्य मन्तव्यम्। आभ्यन्तरं तु लक्षणं तस्य तृतीयवेदोदयः। स च नपुंसकवेदस्त्रिविधेऽपि वेदे भवति, यत आह-- त्रिविधेऽपि वेदे प्रत्येकं त्रिकभङ्गः कर्तव्यो भवति। कथम्? इति चेद् उच्यते--पुरुषः पुरुषवेदं वेदयति, पुरुषः स्त्रीवेदं वेदयति, पुरुषो नपुंसकवेदं वेदयति, एवं स्त्री-नपुंसक-

१ मेढं महंतं मउई य ताभा० ॥

योरपि वेदत्रयोदयो मन्तव्यः ॥ ५१४७ ॥ आह यद्येवं ततो यदुच्यते 'स्त्री-पुरुष-नपुंसकवेदा यथाक्रमं फुम्फका-दवाग्नि-महानगरदाहसमानाः' तदेतद् व्याहन्यते ? अत्रोच्यते—

**उस्सग्गलक्खणं खलु, फुंफग तह वणदवे णगरदाहे ।**
**अववादतो उ भइओ, एकेको दोसु ठाणेसु ॥ ५१४८ ॥**

इह विवक्षितस्य वस्तुनः कारणनिरपेक्षं सामान्यस्वरूपमुत्सर्ग उच्यते, ततस्त्रयाणामपि वेदानामिदमुत्सर्गलक्षणमेव मन्तव्यम् । यथा—स्त्रीवेदः फुम्फकाग्निसमानः, पुरुषवेदो वनदवाग्निसमानः, नपुंसकवेदो महानगरदाहसमान इति । अपवादतस्तु त्रिविधोऽपि वेदः 'भक्तः' विकल्पितः । कथम् ? इत्याह—एकैको वेदः स्वस्थानं मुक्त्वा इतरयोरपि द्वयोः स्थानयोर्वर्तते । यथा—स्त्री स्त्रीवेदसमाना वा पुरुषवेदसमाना वा नपुंसकवेदसमाना वा भवेत्, एवं पुरुष-नपुंसकयोरपि वक्तव्यम् ॥ ५१४८ ॥ अथ प्रकारान्तरेण पण्डकलक्षणमाह—

**दुविहो उ पंडओ खलु, दूसी-उवघायपंडओ चेव ।**
**उवघाए वि य दुविहो, वेए य तहेव उवकरणे ॥ ५१४९ ॥**

द्विविधः खलु पण्डकः, तद्यथा—दूषितपण्डक उपघातपण्डकश्च । दूषितपण्डको द्विविधः—आसिक्त उपसिक्तश्च । [1]◁ एतच्च भेदद्वयमर्थाद् व्याख्यातम् । ▷ उपघातपण्डकोऽपि द्विविधः—वेदोपघाते उपकरणोपघाते च ॥ ५१४९ ॥ तत्र दूषितपण्डकं तावद् व्याख्यानयति—

**दूसियवेओ दूसिय, दोसु व वेएसु सज्जए दूसी ।**
**दूसेति सेसए वा, दोहि व सेविज्जए दूसी ॥ ५१५० ॥**

दूषितो वेदो यस्य स दूषितवेदः, एष दूषित उच्यते । 'द्वयोर्वा' नपुंसक-पुरुषवेदयोः अथवा नपुंसक-स्त्रीवेदयोर्यः 'सजति' प्रसङ्गं करोति स प्राकृतशैल्या दूसी भण्यते । यौ वा 'शेषौ' स्त्री-पुरुषवेदौ 'दूषयति' निन्दति स दूषी । 'द्वाभ्यां वा' आस्यक-पोसकाभ्यां यः सेव्यते सेवते वा स दूषी ॥ ५१५० ॥ अस्यैव भेदानाह—

**आसित्तो ऊसित्तो, दुविहो दूसी उ होइ नायव्वो ।**
**आसित्तो सावच्चो, अणवच्चो होइ ऊसित्तो ॥ ५१५१ ॥**

स दूषी द्विविधो ज्ञातव्यो भवति—आसिक्त उपसिक्तश्च । आसिक्तो नाम 'सापत्यः' यस्यापत्यमुत्पद्यते, सबीज इति भावः । यस्तु 'निरपत्यः' अपत्योत्पादनसामर्थ्यविकलः, निर्बीज इत्यर्थः, स उपसिक्त उच्यते ॥ ५१५१ ॥

व्याख्यातो दूषिपण्डकः, अथोपघातपण्डकमाह—

**पुव्विं दुच्चिण्णाणं, कम्माणं असुभफलविवागेणं ।**
**तो उवहम्मइ वेओ, जीवाणं पावकम्माणं ॥ ५१५२ ॥**

पूर्वं 'दुश्चीर्णानां'[2] दुराचारसमाचरणेनार्जितानां कर्मणामशुभफलः 'विपाकः' उदयो यदा भवति ततो जीवानां पापकर्मणां वेद उपहन्यते ॥ ५१५२ ॥ तत्र चायं दृष्टान्तः—

**जह हेमो उ कुमारो, इंदमहे भूणियानिमित्तेणं ।**

---

१ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः कां० एव वर्तते ॥ २ °र्णां' परस्त्रीगमनादिदुश्चा' कां० ॥

**मुच्छिय गिद्धो य मओ, वेओ वि य उवहओ तस्स ॥ ५१५३ ॥**

यथा **हेमो** नाम कुमार **इन्द्रमहे** समागता या भूणिकाः-बालिकास्तासां निमित्तेन 'मूर्च्छितो गृद्धः' अत्यन्तमासक्तः सन् 'मृतः' पञ्चत्वमुपगतः, वेदोऽपि च तस्योपहतः सञ्जात इत्यक्षरार्थः । भावार्थः कथानकादवसेयः । तच्चेदम्—

**हेमपुरे** नगरे **हेमकूडो** राया । **हेमसंभवा** भारिया । तस्स पुत्तो वरतवियहेमसन्निभो **हेमो** नाम कुमारो । सो य पत्तजोव्वणो अन्नया **इंदमहे इंदट्ठाणं** गओ, पेच्छइ य तत्थ नगरकुलबालियाणं रूववईणं पंचसए बलि-पुप्फ-धूवकडुच्छयहत्थे । ताओ दट्ठुं सेवगपुरिसे भणइ—किमेयाओ आगयाओ ? किं वा अभिलसंति ? । तेहिं लवियं—**इंदं** मग्गंति वरं सोभग्गं च अभिलसंति । भणिया य तेण सेवगपुरिसा—अहमेएसिं **इंदेण** वरो दत्तो, नेह एयाओ अंतेउरम्मि । तेहिं ताओ घेत्तुं सव्वाओ अंतेउरे छूढाओ । ताहे नागरजणो रायाणं उवट्ठियो—मोएह त्ति । तओ रन्ना भणियं—किं मज्झ पुत्तो न रोयति तुहं जामाउओ ? । तओ नागरा तुण्हिक्का ठिया । 'एयं रन्नो सम्मतं' ति अविण्णप्प गया नागरा । कुमारेण ता सव्वा परिणीया । सो य तासु अतीव पसत्तो । पसत्तस्स य तस्स सव्वबीयनीगालो जाओ । तओ तस्स वेओवघाओ जाओ मओ य । अन्ने भणंति—ताहिं चेव 'अप्पडिसेवगो' त्ति रूसियाहिं अट्टाएहिं मारिओ ॥

एष वेदोपघातपण्डक उच्यते ॥ ५१५३ ॥ अथोपकरणोपघातपण्डकमाह—

**उवहय उवकरणम्मि, सेज्जायरभूणियानिमित्तेणं ।**
**तो कविलगस्स वेओ, ततिओ जाओ दुरहियासो ॥ ५१५४ ॥**

शय्यातरभ्रूणिकानिमित्तेन पूर्वम् 'उपकरणे' अङ्गादानाख्ये 'उपहते' छिन्ने सति ततः क्रमेण **कपिलस्य** दुरधिसहस्तृतीयो वेदो जात इत्यक्षरार्थः । भावार्थस्तु कथानकेनोच्यते—

**सुट्ठिया** आयरिया । तेसिं सीसो **कविलो** नाम खुड्डगो । सो सिज्जायरस्स **भूणियाए** सह खेड्डं करेति । तस्स तत्थेव अज्झोववाओ जाओ । अन्नया सा सिज्जातरभूणिया एगागिणी नातिदूरे गावीणं दोहणवाडगं गया । सा तओ दुद्ध-दहिं घेत्तूणाऽऽगच्छति । **कविलो** य तं चेव वाडगं भिक्खायरियं गच्छति । तेणंतरा [1]असारिए अणिच्छमाणी बला भारिया उप्पाइया । तीए कव्वट्ठियाए अदूरे पिया छित्ते किंसिं करेइ । तीए तस्स कहियं । तेण सा दिट्ठा जोणिब्भेए रुहिरोक्खित्ता महीए लोलितिया य । सो य कोहाडहत्थगओ रुट्ठो । **कविलो** य तेण कालेण भिक्खं अडितुं पडिनियत्तो, तेण य दिट्ठो । मूलाओ से सागारियं सह जलधरेहिं निकंतियं । सो य आयरियसमीवं न गओ, उन्निक्खंतो । तस्स य उवगरणोवघाएण ततिओ वेदो उदिण्णो । सो जुन्नकोट्टिणीए संगहिओ । तत्थ से इत्थीवेओ वि उदिन्नो ॥

एष उपहतोपकरण उच्यते । अयं च पुं-नपुंसकवेदोदयाद् आस्य-पोसकप्रतिसेवी भवति, वेदोदयं च निरोद्धुं न शक्नोति ॥ ५१५४ ॥ तथा चात्र दृष्टान्तः—

**जह पढमपाउसम्मि, गोणो धाओ तु हरियगतणस्स ।**

---

१ असारिए त्ति असागारिके, निर्जने इत्यर्थः ॥

**अणुसज्जति कोट्टिंबिं, वावण्णं दुब्भिगंधीयं ॥ ५१५५ ॥**

**एवं तु केइ पुरिसा, भोत्तूण वि भोयणं पतिविसिट्टं ।**

**ताव ण होंति उ तुट्ठा, जाव न पडिसेविओ भावो ॥ ५१५६ ॥**

यथा प्रथमे प्रावृषि 'गौः' बलीवर्दो हरिततृणस्य घ्रातो दुरभिगन्धां व्यापन्नां च 'कोट्टिम्बिनीं' गामनुसजति, एवं 'केचिद्' उत्कटवेदाः पुरुषा भोजनं 'प्रतिविशिष्टं' स्निग्ध-मधुरं भुक्त्वाऽपि तावत् तुष्टा न भवन्ति यावदास्य-पोसकलक्षणो भावो न प्रतिसेवितो भवति ॥ ५१५५ ॥ ॥ ५१५६ ॥ एवंविधः कदाचिदनाभोगेन प्रव्राजितो भवेत् ततः केन हेतुना पश्चाद् ज्ञायते ? इत्याह—

**गहणं तु संजयस्सा, आयरियाणं व खिप्पमालोए ।**

**बहिया व णिग्गयाणं, चरित्तसंभेयणी विकहा ॥ ५१५७ ॥**

स पण्डकः प्रव्रजितः सन् प्रतिसेवनाभिप्रायेण संयतस्य ग्रहणं कुर्यात् । स च संयतः क्षिप्रमाचार्याणामालोचयेत् । यदि नालोचयति ततश्चतुर्गुरु । अथवा प्रतिश्रयान्तर्विरहमलभमानः 'बहिः' विचारभूमौ गतानां चारित्रसम्भेदिनीं विकथां कुर्यात् ॥ ५१५७ ॥

इदमेव भावयति—

**छंदिय गहियं[२] गुरूणं, जो न कहे जो व सिट्ठुवेहेज्जा ।**

**परपक्ख सपक्खे वा, जं काहिति सो तमावज्जे ॥ ५१५८ ॥**

'छन्दितो नाम' तेन पण्डकेन 'मां प्रतिसेवस्व, अहं वा त्वां प्रतिसेवे' इत्येवं यो निमन्त्रितो यश्च साधुस्तेन गृहीतः, एतौ द्वावपि यदि गुरूणां न कथयतः 'शिष्टे वा' कथिते यदि गुरव उपेक्षां कुर्वन्ति तदा सर्वेषामपि चतुर्गुरु । यच्च परपक्षे स्वपक्षे वा प्रतिसेवनां कुर्वन् स पण्डक उड्डाहादिकं करिष्यति तत् ते 'आपद्यन्ते' प्राप्नुवन्ति ॥ ५१५८ ॥

"चरित्तसंभेयणी विकह" ( गा० ५१५७ ) त्ति पदं व्याचष्टे—

**इत्थिकहाउ कहित्ता, तासि अवन्नं पुणो पगासेति ।**

**समलं सावि अगंधिं, खेतो य ण एयरे ताइं ॥ ५१५९ ॥**

स पण्डकः स्त्रीकथाः कथयति, यथा ताः परिभुज्यन्ते यद् वा सुखं तत्र भवति । एवं कथयित्वा पुनस्तासामवर्णं प्रकाशयति, यथा—समलं स्रावि 'अगन्धि च' दुर्गन्धं तदीयं लिङ्गम्, तासु च परिभुज्यमानासु पुरुषस्य खेदो जायते, "एतरे" त्ति अस्माकं पुनरास्यके 'तानि' दूषणानि न भवन्ति ॥ ५१५९ ॥ स च पण्डक एवंविधैः कुचेष्टितैर्लक्षयितव्यः—

**सागारियं निरिक्खति, तं च मलेऊण जिंघई हत्थं ।**

**पुच्छति [३]सेविमसेवी, अतिव सुहं अहं चिय दुहा वि ॥ ५१६० ॥**

सागारिकमात्मनः परस्य वा सत्कमभीक्ष्णं निरीक्षते । 'तच्च' सागारिकं हस्तेन मलयित्वा तं हस्तं जिघ्रति । भुक्तभोगिनं च साधुं रहसि पृच्छति—नपुंसकस्य यूयं गृहवासे सेविनो

१ प्रव्राजि° भा० कां० ॥ २ °हितो गुरुणं ताभा० ॥ ३ सेवि अतिसुहं, अहं चिय दुहा वि सेवेमि ताभा० ॥

वा न वा ?, तस्मिन् सेव्यमाने अतीव सुखमुत्पद्यते । ततस्तस्य साधोराशयं ज्ञात्वा भणति—अहमेव नपुंसकः 'द्विधाऽपि' आस्यक-पोसकाभ्यां प्रतिसेवनीयः । एवं तं पण्डकं ज्ञात्वा गुरूणामालोचनीयमिति प्रक्रमः ॥ ५१६० ॥

सो समणसुविहितेसुं, पवियारं कत्थई अलभमाणो ।
तो सेविउमारद्धो, गिहिणो तह अन्नतित्थी य ॥ ५१६१ ॥

'सः' पण्डकः 'श्रमणसुविहितेषु' स्वाध्याय-ध्याननिरतेषु साधुषु मैथुनप्रविचारं कुत्राप्यलभमानस्ततो गृहिणस्तथाऽन्यतीर्थिनश्च प्रतिसेवितुमारब्धः ॥५१६१॥ तत्रैते दोषा भवेयुः—

अयसो य अकित्तीया, तम्मूलागं तहिं पवयणस्स ।
तेसिं पि होइ संका, सव्वे एयारिसा मन्ने ॥ ५१६२ ॥

"तहिं" ति 'तत्र' विवक्षिते ग्रामादौ 'तन्मूलं' तद्धेतुकं प्रवचनस्यायशश्चाकीर्तिश्च भवति । तत्रायशो नाम—छायाघातः, अकीर्तिः—अवर्णवादभाषणम् । ये च भट्ट-चट्ट-नर्तकप्रभृतयस्तं प्रतिसेवन्ते तेषामपि शङ्का भवति—सर्वेऽप्यमी श्रमणा 'ईदृशा एव' त्रैराशिका भविष्यन्ति । 'मन्ये' इति निपातो वितर्कार्थः ॥ ५१६२ ॥ अयशःपदमकीर्तिपदं च व्याचष्टे—

एरिससेवी सव्वे, वि एरिसा एरिसो व पासंडो ।
सो एसो न वि अन्नो, असंखडं बोडमाईहिं ॥ ५१६३ ॥

प्रभूतजनमीलके लोक एवं ब्रूयात्—ईदृशं—नपुंसकं सेवितुं शीलं येषां ते ईदृशसेविनः, सर्वेऽप्येते 'ईदृशाः' त्रैराशिकाः, 'ईदृशो वा' दम्भबहुल एष पाखण्डः । एवमयशःकीर्तिशब्दः सर्वत्रापि प्रचरति । साधून् वा भिक्षा-विचारादिनिर्गतान् दृष्ट्वा युवानः केलिप्रिया ब्रुवते—अरे अरे भट्टिन् ! गोमिन् ! स एष श्रीमन्दिरकारकः । अन्यः प्राह—नाप्येष स इति । अथवा ते ब्रवीरन्—समागच्छत समागच्छत श्रमणाः ! यूयमपि तादृशं तादृशं कुरुत । एवमुक्तः कश्चिदसहिष्णुस्तैर्घोटादिभिः सहासङ्खडं कुर्यात् । घोटाः—चट्टाः, आदिशब्दाद् आरामिक-मिण्ठ-मोपालादिपरिग्रहः ॥ ५१६३ ॥ उक्तः पण्डकः, अथ क्लीबमाह—

कीवस्स गोण्ण नामं, कम्मुदय निरोहें जायती ततिओ ।
तम्मि वि सो चेव गमो, पच्छित्तुस्सग्ग अववादे ॥ ५१६४ ॥

क्लीबस्य 'गौणं' गुणनिष्पन्नं नाम, क्लिब्यते इति क्लीबः । किमुक्तं भवति ?—मैथुनाभिप्राये यस्याभ्यादानं विकारं भजति बीजबिन्दूंश्च परिगलति स क्लीबः । अयं च महामोहकर्मोदयेन भवति । यदा च परिगलतस्तस्य निरोधं करोति तदा निरुद्धवस्ति कालान्तरेण तृतीयवेदो जायते । स च चतुर्धा—दृष्टिक्लीबः शब्दक्लीब आदिग्धक्लीबो निमन्त्रणाक्लीबश्चेति । तत्र यस्यानुरागतो विवस्त्रावस्थं विपक्षं पश्यतो मेहनं गलति स दृष्टिक्लीबः । यस्य तु सुरतादिशब्दं शृण्वतः स द्वितीयः । यस्तु विपक्षेणोपगूढो निमन्त्रितो वा व्रतं रक्षितुं न शक्नोति स यथाक्रममादिग्धक्लीबो निमन्त्रणाक्लीबश्चेति । चतुर्विधोऽप्ययममतिसेवमानो निरोधेन नपुंसकतया परिणमति । 'तस्मिन्नपि' क्लीबे 'स एव' प्रायश्चित्तोत्सर्गा-ऽपवादेषु गमो भवति यः पण्डक-

१ °भिः सार्धमस° कां० ॥

स्योक्तः ॥ ५१६४ ॥ गतः क्लीबः, अथ वातिकं व्याचष्टे—

**उदएण वादियस्सा, सविकारं[1] जा ण तस्स संपत्ती ।**
**तच्चनि-असंवुडीए, दिट्ठंतो होइ अलभंते ॥ ५१६५ ॥**

यदा सनिमित्तेनानिमित्तेन वा मोहोदयेन सागारिकं 'सविकारं' काषायितं भवति तदा न शक्नोति वेदं धारयितुं यावन्न 'तस्य' प्रतिसेवमानस्य सम्प्राप्तिर्भवति, एष वातिक उच्यते । अत्र च तच्चनिकेनासंवृताया अगार्याः प्रतिसेवकेन दृष्टान्तो भवति—

एगो तच्चनिओ जलयरनावारूढो । तत्थ तस्स पुरओ अहाभावेण अगारी असंवुडा निविट्ठा । तस्स य तच्चनियस्स तं दट्ठुं सागारियं थद्धं । तेण वेयउक्कडयाए असहमाणेण जणपुरओ पडिगाहिया अगारी । तं च पुरिसा हंतुमारद्धा तहावि तेण न मुक्का । जाहे से बीयनिसग्गो जाओ ताहे मुक्का ॥

अयमपि 'अलभमानः' अप्राप्नुवन् निरुद्धवेदो नपुंसकतया परिणमति ॥ ५१६५ ॥

उक्तो वातिकः । "एकग्रहणेन तज्जातीयानां सर्वेषामपि ग्रहणम्" इति कृत्वा अपरानपि नपुंसकभेदान् निरूपयति—

**पंडए वाइए कीवे, कुंभी ईसालुए ति य ।**
**सउणी तक्कम्मसेवी य, पक्खियापक्खिए ति य ॥ ५१६६ ॥**
**सोगंधिए य आसित्ते, वद्धिए चिप्पिए ति य ।**
**मंतोसहिओवहते, इसिसत्ते देवसत्ते य ॥ ५१६७ ॥**

पण्डक-वातिक-क्लीबा अनन्तरमेव व्याख्याताः । कुम्भी द्विधा—जातिकुम्भी वेदकुम्भी च । यस्य सागारिकं वृषणद्वयं वा वातदोषेण शूनं महाप्रमाणं भवति स जातिकुम्भी । अयं च प्रव्राजनायां भजनीयः—यदि तस्यातिमहाप्रमाणं सागारिकादिकं तदा न प्रव्राज्यते, अथेषच्छूनं ततः प्रव्राज्यते । वेदकुम्भी नाम—यस्योत्कटमोहतया प्रतिसेवनामलभमानस्य मेहनं वृषणद्वयं वा शूयते स एकान्तेन निषिद्धः, न प्रव्राजनीय इति । 'ईर्ष्यालुर्नाम' यस्य प्रतिसेव्यमानं दृष्ट्वा ईर्ष्या—मैथुनाभिलाष उत्पद्यते सोऽपि निरुद्धवेदः कालान्तरेण त्रैराशिको भवति । 'शकुनी' वेदोत्कटतया गृहचटक इवाऽभीक्ष्णं प्रतिसेवनां करोति । 'तत्कर्मसेवी नाम' यदा प्रतिसेविते बीजनिसर्गो भवति तदा श्वान इव तदेव जिह्वया लेढि, एवं विलीनभावमासेवमानः सुखमिति मन्यते । पाक्षिकापाक्षिकस्तु स उच्यते यस्यैकस्मिन् शुक्ले कृष्णे वा पक्षेऽतीव मोहोदयो भवति, द्वितीयपक्षे तु स स्वल्पो भवति ॥ ५१६६ ॥

'सौगन्धिको नाम' सागारिकस्य गन्धं शुभं मन्यते, स च सागारिकं जिघ्रति मलयित्वा वा हस्तं जिघ्रति । "आसित्तो नाम" स्त्रीशरीरासक्तः, स मोहोत्कटतया योनौ मेहनमनुप्रविश्य नित्यमास्ते । एते सर्वेऽपि निरुद्धवस्तयः कालान्तरेण नपुंसकतया परिणमन्ति । ◁[2] एते च पण्डकादयो दशापि प्रव्राजयितुमयोग्याः । तथा ▷ 'वर्द्धितो नाम' यस्य बालस्यैव च्छेदं[3] दत्त्वा

१ °कारं तस्स जाव संप° ताभा० ॥ २ ◁ ▷ एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठः कां० एव वर्त्तते ॥ ३ °दं कृत्वा डे० ॥

द्वौ भ्रातरावपनीतौ । 'चिप्पितस्तु' यस्य जातमात्रस्यैवाङ्गुष्ठ-प्रदेशिनी-मध्यमाभिर्मलयित्वा वृषणद्वयं गालितम् । अपरस्तु मन्त्रेणोपहतो भवति । अन्यः पुनरौषध्या उपहतः । कश्चिद् ऋषिणा शप्तो भवति—मम तपःप्रभावात् पुरुषभावस्ते मा भूयात् । एवमपरो देवेन रुष्टेन शप्तः । एते वर्द्धितादयः षडपि यद्यप्रतिसेवकास्तदा प्रव्राजयितव्याः ॥ ५१६७ ॥

अथैतेषां प्रव्राजने प्रायश्चित्तमाह—

**दससु वि मूलाऽऽयरिए, वयमाणस्स वि हवंति चउगुरुगा ।**
**सेसाणं छण्हं [1]पी, आयरिएँ वदंति चउगुरुगा ॥ ५१६८ ॥**

पण्डकादीन् आसिक्तान्तान् दशापि नपुंसकान् यः प्रव्राजयति तस्याऽऽचार्यस्य दशस्वपि प्रत्येकं मूलम् । तेष्वेव दशसु यो वदति 'प्रव्राजयत' [2]तस्याऽपि चतुर्गुरुका भवन्ति । 'शेषाणां' वर्द्धितादीनां षण्णामपि प्रतिसेवकानां प्रव्राजने आचार्यस्य चतुर्गुरुकम् । यो वदति 'प्रव्राजयत' तस्यापि चतुर्गुरुकम् ॥ ५१६८ ॥ अथ शिष्यः प्रश्नयति—

**थी-पुरिसा जह उदयं, धरेंति झाणोववास-णियमेहिं ।**
**एवमपुमं पि उदयं, धरिज्ज जति को तहिं दोसो ॥ ५१६९ ॥**

यथा स्त्री-पुरुषा ध्यानोपवास-नियमैरुपयुक्ता वेदोदयं धारयन्ति, एवम् 'अपुमान्' नपुंसकोऽपि यदि वेदोदयं धारयेत् ततः 'तत्र' प्रव्राजिते को दोषः स्यात्? ॥ ५१६९ ॥

**अहवा ततिए दोसो, जायइ इयरेसु किं न सो भवति ।**
**एवं खु नत्थि दिक्खा, सवेययाणं न वा तित्थं ॥ ५१७० ॥**

अथवा युष्माकमभिप्रायो भवेत—'तृतीये' नपुंसके वेदोदये चारित्रभङ्गलक्षणो दोषो [3] भवेत्, तत उच्यते—'इतरयोः' स्त्री-पुरुषयोरपि वेदोदये स दोषः किं न भवति? । अपि च—क्षीणमोहादीन् मुक्त्वा शेषाः सर्वेऽपि संसारस्था जीवाः सवेदकाः, तेषां च दोषदर्शनादेव भवदुक्तनीत्या नास्ति दीक्षा, तदभावाच्च 'न तीर्थं' न तीर्थस्य सन्ततिर्भवति ॥ ५१७० ॥

सूरिराह—

**थी-पुरिसा पत्तेयं, वसंति दोसरहितेसु ठाणेसु ।**
**संवास फास दिट्ठी, इयरे वत्थंबदिट्ठंतो ॥ ५१७१ ॥**

स्त्री प्रव्राजिता स्त्रीणां मध्ये निवसति, पुरुषः प्रव्राजितः पुरुषमध्ये वसति, एवं तौ प्रत्येकं दोषरहितेषु स्थानेषु वसतः । इतरस्तु—पण्डको यदि स्त्रीणां मध्ये वसति तदा संवासे स्पर्शतो दृष्टितश्च दोषा भवन्ति, एवं पुरुषेष्वपि संवसतस्तस्य दोषा भवन्ति । वत्सा-ऽऽम्रदृष्टान्तश्चात्र भवति—

यथा वत्सो मातरं दृष्ट्वा स्तन्यमभिलषति, माताऽपि पुत्रं दृष्ट्वा प्रस्नौति; आम्रं वा खाद्यमानमखाद्यमानं वा दृष्ट्वा यथा मुखं क्लिद्यति; एवं तस्य[4] संवासादिना वेदोदयेनाभिलाष उत्पद्यते ॥ भुक्ता-ऽभुक्तभोगिनः साधवो वा[5] तमभिलषेयुः । यत एवमतः पण्डको न दीक्षणीयः

---

१ पि य, आ° ताभा० ॥ २ तस्यैवं वदतोऽपि कां० ॥ ३ °षो जायते 'इत° कां० ॥ ४ °स्य पुरुष-स्त्रीसंवासादिसमुत्थेन वेदो° कां० ॥ ५ साधु-साध्वीजना वा त° कां० ॥

॥ ५१७१ ॥ द्वितीयपदे एतैः कारणैः प्रव्राजयेद[1]पि—

अलिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व आगाढे ।
गेलन्न उत्तिमट्ठे, नाणे तह दंसण चरित्ते ॥ ५१७२ ॥

स प्रव्राजितः सन् अशिवमुपशमयिष्यति, अशिवगृहीतानां वा[2] प्रतितर्पणं करिष्यति । एवमवमौदर्ये राजद्विष्टे बोधिकादिभये वा आगाढे ग्लानत्वे उत्तमार्थे वा ज्ञाने दर्शने चारित्रे वा साहायकं करिष्यति । एतैः कारणैः पण्डकं प्रव्राजयेत् ॥ ५१७२ ॥

अथैनामेव[3] गाथां व्याख्याति—

रायदुट्ठ-भएसुं, ताणट्ठ निवस्स चेव गमणट्ठा ।
विज्जो व सयं तस्स व, तप्पिस्सति वा गिलाणस्स ॥ ५१७३ ॥
गुरुणो व अप्पणो वा, नाणादी गिण्हमाण तप्पिहिति ।
चरणे देसाव[4]क्कमि, तप्पे ओमा-ऽसिवेहिं वा ॥ ५१७४ ॥

राजद्विष्टे बोधिकादिभये च त्राणार्थं नृपस्य वा अभिगमनार्थम् । किमुक्तं भवति ?— राजद्विष्टे समापतिते देशान्तरं गच्छतां तन्निस्तारणक्षमं भक्त-पानाद्युपष्टम्भं करिष्यति, राजवल्लभो वा स पण्डकस्ततो राजानमनुकूलयिष्यति, बोधिकादिभये वा स बलवान् गच्छस्य परित्राणं विधास्यति । ग्लानत्वद्वारे—स पण्डकः स्वयमेव वैद्यो भवेत् ततो ग्लानस्य चिकित्सां करिष्यति, यद्वा सः 'तस्य' वैद्यस्य ग्लानस्य वा[5] वेतन-भेषजादिना 'प्रतितर्पिष्यति' उपकरिष्यति । वाशब्दाद् उत्तमार्थप्रतिपन्नस्य वा ममासहायस्य साहाय्यं करिष्यति, स्वयमेव वाऽसावुत्तमार्थं प्रतिपत्स्यते ॥ ५१७३ ॥

तथा गुरोरात्मनो वा ज्ञानम्[6] आदिशब्दाद् दर्शनप्रभावकानि शास्त्राणि गृह्णतोऽसौ भक्त-पानादिभिर्वस्त्रादिभिश्चोपकरिष्यति । चरणे—यत्र चारित्रं पालयितुं न शक्यते ततो देशादपक्रमणं कुर्वतां मार्गग्रामादिषु स्वजनादिबलाद् भक्त-पानादिभिस्तस्करादिरक्षणतश्चोपकरिष्यति । अवमा-ऽशिवयोर्वा प्रतितर्पिष्यति । अत्र चानानुपूर्व्या अपि वस्तुत्वख्यापनार्थं अवमा-ऽशिवद्वारयोः पर्यन्ते व्याख्यानम् ॥ ५१७४ ॥

एएहिँ कारणेहिं, आगाढेहिं तु जो उ पव्वावे ।
पंडाईसोलसगं, कए उ कज्जे विगिंचणया ॥ ५१७५ ॥

एतैः कारणैरागाढैः समुपस्थितैर्यः पण्डकादिषोडशकस्यान्यतरं नपुंसकं प्रव्राजयति तेनाऽऽचार्येण 'कृते' समापिते कार्ये तस्य नपुंसकस्य 'विवेचनं' परिष्ठापनं कर्तव्यम् ॥ ५१७५ ॥

तत्र प्रव्राजनायां तावद् विधिमाह—

दुविहो जाणमजाणी, अजाणगं पन्नवेंति उ इमेहिं ।
जणपच्चयट्ठयाए, नज्जंतमणज्जमाणे वि ॥ ५१७६ ॥

---

१ °दपि । कैः ? इत्याह—असिवे कां० ॥ २ वा वैयावृत्यं करि° कां० ॥ ३ °व निर्युक्तिगाथां कां० ॥ ४ °वक्कमे, त° ताभा० ॥ ५ वा यथाक्रमं वेतन-भेषजोत्पादनाद्युपष्टम्भं करि° कां० ॥ ६ °म्—आचारादि आदि° कां० ॥

द्विविधो नपुंसकः—ज्ञायकोऽज्ञायकश्च । तत्र यो जानाति 'साधूनां त्रैराशिकः प्रव्राजयितुं न कल्पते' स ज्ञायकः, तद्विपरीतोऽज्ञायकः । तत्र ज्ञायकमुपस्थितं प्रज्ञापयन्ति—भवान् दीक्षाया अयोग्यः, ततोऽव्यक्तवेषधारी श्रावकधर्मं प्रतिपद्यस्व, अन्यथा ज्ञानादीनां विराधना ते भविष्यति । अज्ञायकमप्येवमेव प्रज्ञापयन्ति । अथैनां प्रज्ञापनां नेच्छति प्रव्रज्यामेवाभिलषति आत्मनश्च किञ्चिदशिवादिकं कारणमुपस्थितं ततस्तमज्ञायकं जनप्रत्ययार्थम् 'अमीभिः' कटीपट्टकादिभिः प्रज्ञापयन्ति । स चाज्ञायकस्तत्र जनेन ज्ञायमानोऽज्ञायमानो वा स्यादुभयत्राप्ययं विधिः कर्तव्यः ॥ ५१७६ ॥

**कडिपट्टए य छिहली, कत्तरिया भंड लोय पाढे य ।**
**धम्मकह सन्नि राउल, ववहार विगिंचणा विहिणा ॥ ५१७७ ॥**

कटीपट्टकं स परिधापयितव्यः । 'छिहली' शिखा तस्य शिरसि धारणीया । अथ नेच्छति ततः कर्त्तर्या 'भाण्डेन वा' क्षुरेण मुण्डनं विधेयम्, लोचो वा विधातव्यः । "पाढे" त्ति परतीर्थिकमतादीनि स पाठनीयः । कृते कार्ये धर्मकथा कर्तव्या येन लिङ्गं परित्यज्य गच्छति । अथैवं लिङ्गं न मुञ्चति ततः 'संज्ञिभिः' श्रावकैः प्रज्ञापनीयः । अथ राजकुलं गत्वा कथयति ततो व्यवहारोऽपि कर्तव्यः । एवं तस्य 'विगिञ्चना' परिष्ठापना 'विधिना' वक्ष्यमाणनीत्या विधेया । एष द्वारगाथासमासार्थः ॥ ५१७७ ॥ साम्प्रतमेनामेव विवृणोति—

**कडिपट्टओ अभिनवे, कीरइ छिहली य अम्हऽवेवाऽऽसी ।**
**कत्तरिया भंडं वा, अणिच्छे एक्केक्कपरिहाणी ॥ ५१७८ ॥**

कटीपट्टकोऽभिनवप्रव्रजितस्य तस्य क्रियते न पुनरग्रावपूरकः, शिरसि च 'छिहली नाम' शिखा ध्रियते । यदि ब्रूयात्—किं ममाग्रावपूरकं सर्वमुण्डनं वा न कुरुत ?; ततो वृषभा भणन्ति—अस्माकमपि प्रथममेवमेव कृतमासीत् । तच्च मुण्डनं कर्तर्या कर्तव्यम्, अथ नेच्छति ततः 'भाण्डेन' क्षुरेण, क्षुरमप्यनिच्छतो लोचः कर्तव्यः । एवमेकैकपरिहाणिर्मन्तव्या । शिखा तु सर्वत्रापि धारणीया ॥ ५१७८ ॥

**छिहलिं तु अणिच्छंते, भिक्खुगमादीमतं पऽणिच्छंते ।**
**परउत्थियवत्तव्वं, उक्कमदाणं ससमए वि ॥ ५१७९ ॥**

अथ शिखामपि नेच्छति ततः सर्वमुण्डनमपि विधीयते । पाठस्तु–द्विविधा शिक्षा—ग्रहणे आसेवने च । आसेवनाशिक्षायां क्रियाकलापमसौ न ग्राह्यते । ग्रहणशिक्षायाम्—भिक्षुकाः–सौगतास्तेषाम् आदिशब्दात् कपिलादीनां च परतीर्थिकानां मतमध्याप्यते; अथ तदपि नेच्छति ततः शृङ्गारकाव्यं पाठ्यते, तदप्यनिच्छन्तं द्वादशाङ्गे यानि परतीर्थिकवक्तव्यतानिबद्धानि सूत्राणि तानि पाठयन्ति, तान्यप्यनिच्छतः स्वसमयस्यालापका उत्क्रमेण विलुलिता दीयन्ते ॥ ५१७९ ॥ आसेवनाशिक्षायां विधिमाह—

**वीयार-गोयरे थेरसंजुओ रत्ति दूरें तरुणाणं ।**
**गाहेह ममं पि ततो, थेरा गाहेंति जत्तेणं ॥ ५१८० ॥**

---

१ °ट्टक-परिधानादिभिः कां० ॥ २ विगिंच° ताभा० ॥ ३ °धाप्यः । 'छि° डे० ॥

विचारभूमिं गच्छन् गोचरं वा पर्यटन् स्थविरसाधुसंयुक्तो हिण्डाप्यते । रात्रौ तरुणानां दूरे क्रियते[1] । तं च साधवो न पाठयन्ति ततो यदि ब्रूयात्—मामपि पाठं ग्राहयत, ततः स्थविराः साधवो यत्नेन ग्राहयन्ति ॥ ५१८० ॥ किं तत् ? इत्याह—

वेरग्गकहा विसयाण णिंदणा उट्ठ-निसियणे गुत्ता ।
चुक्क-खलिएसु बहुसो, सरोसमिव चोदए तरुणा ॥ ५१८१ ॥

यानि सूत्राणि वैराग्यकथायां विषयनिन्दायां च निबद्धानि तानि ग्राह्यते, अथवा वैराग्यकथा विषयनिन्दा च तस्य पुरतः कथनीया । उत्तिष्ठन्तो निषीदन्तश्च साधवः 'गुप्ताः' सुसंवृता भवन्ति यथाऽङ्गादानं स न पश्यति । तस्य यदि सामाचार्यां चुक्क-स्खलितानि भवन्ति; चुक्कं नाम—विस्मृतं किञ्चित् कार्यम्, स्खलितं—तदेव विनष्टम्; ततो ये तरुणास्ते सरोषमिव तं परुषवचोभिर्बहुशो नोदयन्ति येन तरुणेषु नानुबन्धं गच्छति ॥ ५१८१ ॥

अथ धर्मकथापदं व्याचष्टे—

धम्मकहा पाढिज्जति, कयकज्जा वा से धम्ममक्खंति ।
मा हण परं पि लोगं, अणुव्वता दिक्ख नो तुज्झं ॥ ५१८२ ॥

धर्मकथाः[2] वा स पाठ्यते । 'कृतकार्या वा' येन कार्येण दीक्षितस्तं समापितवन्तः[3] "से" तस्य धर्ममाख्यान्ति, यथा—महाभाग ! रजोहरणादि लिङ्गं धारयन् परभवे बोधेरुपघातकरणाय त्वं वर्तसे, ततो मा परमपि लोकं 'हन' विनाशय, मुञ्च रजोहरणादि लिङ्गम्, तवाणुव्रतानि धारयितुं बुध्यन्ते न दीक्षा ॥ ५१८२ ॥

एवं प्रज्ञापितो यदि मुञ्चति तदा लष्टम्, अथ न मुञ्चति ततः—

सन्नि खरकम्मिओ वा, भेसेति कतो इधंग कंचिको ।
निवसिट्ठे वा दिक्खितो, एतेहिँ अणातें पडिसेहो ॥ ५१८३ ॥

यः[4] खरकर्मिकः संज्ञी स पूर्वं प्रज्ञाप्यते—अस्माभिः कारणे त्रैराशिकः प्रव्राजितः, स इदानीं लिङ्गं नेच्छति परित्यक्तुं ततो यूयं प्रज्ञापयत । एवमुक्तोऽसावागत्य गुरून् वन्दित्वा सर्वानपि साधून् निरीक्षते, ततस्तं पण्डकं पूर्वकथितचिह्नैरुपलक्ष्य भूमितलास्फालन-शिरःकम्पन-खरदृष्टिनिरीक्षण-परुषवचनैर्भेषयति—कुत एषः 'इह' युष्माकं मध्ये 'कञ्चिरकः' नपुंसकः ? इति; तं च ब्रवीति—अपसर साम्प्रतमितः, अन्यथा व्यपरोपयिष्यामि भवन्तम् । एवमुक्तोऽपि यदि लिङ्गं न मुञ्चति, खरकर्मिकस्य वा श्रावकस्याभावे यदि नृपस्य कथयति—अहमेतैर्दीक्षितः साम्प्रतं पुनः परित्यजन्ति; ततो व्यवहारेण जेतव्यः । कथम् ? इत्याह—यदसौ जनेनाज्ञातो दीक्षितस्ततः प्रतिषेधः क्रियते, 'नास्माभिर्दीक्षितः' इति अपलप्यत इत्यर्थः ॥ ५१८३ ॥ अथासौ ब्रूयात्—

अज्झाविओ मि एतेहिँ चेव पडिसेधो किं वऽधीयं ते ।

---

१ °यते । ते च साधवस्तं न पा° कां० ॥ २ 'धर्मकथाः' धर्मप्रधाना आख्यायिका उत्तराध्ययनाद्यन्तर्गताः स पाठ्य° कां० ॥ ३ °माख्य "से" डे० तादी० ॥ ४ यदि 'खरकर्मिकः' आरक्षकः 'संज्ञी' श्रावकस्ततः स पूर्वं कां० ॥

**छलियातिकहं कड्ढति, कत्थ जती कत्थ छलियाइं ॥ ५१८४ ॥**

अहमेतैरेवाध्यापितस्ततोऽपि प्रतिषेधः कार्यः, न किमप्यस्माभिरध्यापित इत्यर्थः । अथवा वक्तव्यम्—किं त्वयाऽधीतम् ? । ततोऽसौ छलितकाव्यादिकथामाकर्षेत् तत्र वक्तव्यम्—कुत्र यतयः ? कुत्र च छलितादिकाव्यकथा ?, साधवो वैराग्यमार्गस्थिताः शृङ्गारकथां न पठन्ति न वा पाठयन्ति ॥ ५१८४ ॥ वयमीदृशं सर्वज्ञभाषितं सूत्रं पठामः—

**पुव्वावरसंजुत्तं, वेरग्गकरं सतंतमविरुद्धं ।**
**पोराणमद्धमागहभासानियतं हवति सुत्तं ॥ ५१८५ ॥**

यत्र पूर्वसूत्रनिबन्धः पाश्चात्यसूत्रेण न व्याहन्यते तत् पूर्वापरसंयुक्तम् । 'वैराग्यकरं' विषयसुखवैमुख्यजनकम् । स्वतन्त्रेण—स्वसिद्धान्तेन सहाविरुद्धं स्वतन्त्राविरुद्धम्, 'सर्वथा सर्वकालं सर्वत्र नास्त्यात्मा' इत्यादिस्वसिद्धान्तविरोधरहितमित्यर्थः । 'पोराणं नाम' पुराणैः—तीर्थकर-गणधरलक्षणैः पूर्वपुरुषैः प्रणीतम् । अर्धमागधभाषानियतमिति प्रकटार्थम् । एवंविधमस्मदीयं सूत्रं भवति ॥ ५१८५ ॥ किञ्च—

**जे सुत्तगुणा भणिया, तव्विवरीयाइँ गाहए पुव्विं ।**
**नित्थिन्नकारणाणं, स चेव विगिंचणे जयणा ॥ ५१८६ ॥**

ये सूत्रस्य गुणाः "निद्दोसं सारवंतं च, हेउजुत्तमलंकियं ।" इत्यादयः **पीठिकायां** ( गा० २८२ ) भणिताः 'तद्विपरीतानि' तद्गुणविकलानि सूत्राणि पूर्वमेव तं ग्राहयेत् । ततः 'निस्तीर्णकारणानां' समाप्तविवक्षितप्रयोजनानां सैव 'विवेचने' परिष्ठापने यतना भवति ॥ ५१८६ ॥ एवं व्यवहारेण परिष्ठापनविधिरुक्तः । यस्तु व्यवहारेण न शक्यते परित्यक्तुं तस्यायं विधिः—

**कावालिए सरक्खे, तच्चण्णिय वसभ लिंगरूवेणं ।**
**वडुंबगपव्वइए, कायव्व विहीएँ वोसिरणं ॥ ५१८७ ॥**

गीतार्था अविकारिणो वृषभा उच्यन्ते, ते कापालिक-सरजस्क-तच्चन्निकवेषग्रहणेन तं परिष्ठापयन्ति । यः वडुम्बकः—बहुस्वजनः प्रव्राजितस्तस्यैवंविधेन विधिना व्युत्सर्जनं कर्तव्यम् ॥ ५१८७ ॥ एतदेव भावयति—

**निववल्लह बहुपक्खम्मि वा वि तरुणवसहा इमं बिंति ।**
**भिन्नकहा ओभट्ठा, न घडइ इह वच्च परतित्थि ॥ ५१८८ ॥**

यो नृपस्य वल्लभो बहुपाक्षिको वा—प्रभूतस्वजन-मित्रवर्गस्तयोरयं परिष्ठापने विधिः—यदा नपुंसको रहसि तरुणभिक्षुमवभाषते भिन्नकथां वा करोति तदा ते तरुणवृषभा इदं ब्रुवते—'इह' यतीनां मध्ये ईदृशं न घटते, यदि त्वमीदृशं कर्तुकामोऽसि तत उन्निष्क्रमणं कुरु परतीर्थिकेषु वा व्रज ॥ ५१८८ ॥ ततो यदि ब्रूयात्—

**तुमए समगं आमं, ति निग्गओ भिक्खमाइलक्खेणं ।**
**नासति भिक्खुगमादिसु, छोढूण ततो वि हि पलाति ॥ ५१८९ ॥**

---

१ °णा पुण, तेणं चिय णं विगिंचंति ताभा० ॥ २ °कसम्बन्धिनः 'लिङ्गरूपेण' वेषग्रहणेन कां० ॥ ३ °णवसहा इमं बिं° ताभा० ॥ ४ वि विपला° ताभा० ॥

'त्वया सममहं परतीर्थिकेषु गमिष्यामि' एवमुक्तः स तरुणवृषभ आममिति भणित्वा निर्गच्छति । निर्गतश्च भिक्षुकादिवेषेण गत्वा तेषु भिक्षुकादिषु प्रक्षिप्य नश्यति । यः पुनस्तत्र नीतोऽपि तं साधुं न मुञ्चति तं रात्रौ सुप्तं मत्वा 'तत एव' भिक्षुकादिस्थानात् पलायते, भिक्षादिलक्ष्येण वा निर्गतो नश्यति ॥ ५१८९ ॥

सूत्रम्—

**एवं मुंडावित्तए सिक्खावित्तए उवट्ठावित्तए संभुंजि-त्तए संवासित्तए ५-६-७-८-९ ॥**

यथैते पण्डकादयस्त्रयः प्रव्राजयितुं न कल्पन्ते एवमेत एव कथञ्चित् छलितेन प्रव्राजिता अपि सन्तः 'मुण्डापयितुं' शिरोलोचेन लुञ्चितुं न कल्पन्ते । एवं 'शिक्षापयितुं' प्रत्युपेक्षणादिसामाचारीं ग्राहयितुम् 'उपस्थापयितुं' महाव्रतेषु व्यवस्थापयितुं 'सम्भोक्तुम्' एकमण्डलीसमुद्देशादिना व्यवहारयितुं 'संवासयितुम्' आत्मसमीपे आसयितुमिति सूत्रार्थः ॥ अथ भाष्यम्—

**पव्वाविओ सिय त्ति उ, सेसं पणगं अणायरणजोग्गो ।**
**अहवा समायरंते, पुरिमपदऽणिवारिता दोसा ॥ ५१९० ॥**

स पण्डकः 'स्यात्' कदाचिदनाभोगादिना प्रव्राजितो भवेत्, इतिशब्दः स्वरूपपरामर्शार्थः । एवं प्रव्राजितोऽपि यदि पश्चाद् ज्ञातस्तदा "सेसं पणगं" ति विभक्तिव्यत्ययात् 'शेषपञ्चकस्य' मुण्डापनादिलक्षणस्यानाचरणयोग्यः, न तद् आचरणीयमिति भावः । अथ लोभाद्यभिभूततया तदपि समाचरति ततः पूर्वस्मिन्—प्रव्राजनाख्ये पदे ये प्रवचनापयशःप्रवादादयो दोषा उक्तास्ते अनिवारिताः, तदवस्था एव मन्तव्या इति भावः ॥ ५१९० ॥

**मुंडाविओ सिय त्ती, सेसचउक्कं अणायरणजोग्गो ।**
**अहवा समायरंते, पुरिमपदऽनिवारिया दोसा ॥ ५१९१ ॥**

अनाभोगादिना मुण्डापितोऽपि स्यात् ततः 'शेषचतुष्कस्य' शिक्षापनादिलक्षणस्याचरणे अयोग्यः । अथ समाचरति ततः पूर्वपददोषा अनिवारिताः ॥ ५१९१ ॥

एवं तिस्रो गाथा वक्तव्याः, यथा—

**सिक्खाविओ सिय त्ती, सेसतिगस्सा अणायरणजोग्गो ।**
**अहवा समायरंते, पुरिमपदऽनिवारिया दोसा ॥ ५१९२ ॥**
**उवट्ठाविओ सिय त्ती, सेसदुगस्सा अणायरणजोग्गो ।**
**अहवा समायरंते, पुरिमपदऽनिवारिया दोसा ॥ ५१९३ ॥**
**संभुंजिओ सिय त्ती, संवासेउं अणायरणजोग्गो ।**
**अहवा संवासिंते, पुरिमपदऽनिवारिया दोसा ॥ ५१९४ ॥**

एवं षड्विधसचित्तद्रव्यकल्पसूत्राणि क्रमेण भवन्ति ॥ ५१९२ ॥ ५१९३ ॥ ५१९४ ॥ तथा चात्रामी दृष्टान्ताः—

---

१ °ण पव्वेव भ° कां० ॥

मूलातो कंदादी, उच्छुविकारा य जह रसादीया ।
मिप्पिंड-गोरसाण य, होंति विकारा जह कमेणं ॥ ५१९५ ॥
जह वा णिसेगमादी, गब्भे जातस्स णाममादीया ।
होंति कमा लोगम्मि, तह छव्विह कप्पसुत्ता उ ॥ ५१९६ ॥

यथा मूलात् कन्द-स्कन्ध-शाखादयो भेदाः क्रमेण भवन्ति, इक्षुविकाराश्च रस-कक्कबादयो यथा क्रमेण जायन्ते, मृत्पिण्डस्य वा यथा स्थाश-कोश-कुशूलादयो गोरसस्य च दधि-नवनीतादयो विकारा यथा क्रमेण भवन्ति, यथा वा गर्भे प्रविष्टस्य जीवस्य निषेकः—ओजः-शुक्रपुद्गलाहरणलक्षणस्तदादयः आदिशब्दात् कलला-ऽर्बुद-पेशीप्रभृतयः पर्याया भवन्ति, जातस्य वा तस्यैव 'नामादयः' नामकरण-चूडाकरणप्रभृतयः क्रमाद् यथा लोके भवन्ति, तथा षड्विधकल्पसूत्राणि यथाक्रममाविप्रव्राजनादिषट्कविषयाणि[1] क्रमेण भवन्ति ॥ ५१९५ ॥ ५१९६ ॥

॥ प्रव्राजनादिप्रकृतं समाप्तम् ॥

---

वा च ना प्र कृ त म्

सूत्रम्—

तओ[2] नो कप्पंति वाइत्तए, तं जहा—अविणीए, विगईपडिबद्धे, अविओसवियपाहुडे १० ॥
तओ कप्पंति वाइत्तए, तं जहा—विणीए, नोविगईपडिबद्धे, विओसवियपाहुडे ११ ॥

अस्य[3] सम्बन्धमाह—

पंडादी पडिकुट्ठा, छव्विह कप्पम्मि मा विदित्तेवं ।
अविणीयमादितितयं, पवादए एस संबंधो ॥ ५१९७ ॥

पण्डकादयस्त्रय एव षड्विधे सचित्तद्रव्यकल्पे[5] प्रतिकुष्टाः नापरे केचित्, एवं विदित्वा 'मा अविनीतादित्रितयं प्रवाचयेद्' इति कृत्वा प्रस्तुतसूत्रमारभ्यते । एष सम्बन्धः ॥ ५१९७ ॥

◁ प्रकारान्तरेण[4] सम्बन्धमाह—▷

सिक्खावणं च मोत्तुं, अविणियमादीण सेसगा ठाणा ।
णेगंता पडिसिद्धा, अयमपरो होइ कप्पो उ ॥ ५१९८ ॥

ये पूर्वसूत्रे षट् प्रव्राजनादयो द्रव्यकल्पाः प्रतिपादिताः तेषां मध्यादेकां ग्रहणशिक्षापणां

---

१ °जना-मुण्डापना-शिक्षापनोपस्थापना-सम्भोजन-संवासनलक्षणपर्यायषट्क° कां० ॥ २ चूर्णिकार-विशेषचूर्णिकारौ त्वेनं सूत्रम् "अविणीयसुत्तस्स एस संबंधो" इत्येवं अविनीतसूत्रत्वेन निर्दिशन्ति ॥ ३ °स्य सूत्रस्य स° कां० ॥ ४ ◁ ▷ एतच्चिह्नमध्यवर्त्यवतरणं कां० एव वर्तते ॥ ५ °यः सचित्तद्रव्य° कां० ॥

मुक्त्वा शेषाणि स्थानानि अविनीतादीनां त्रयाणां नैकान्तेन प्रतिषिद्धानि । ग्रहणशिक्षाप्रतिषेधार्थं तु प्रस्तुतं सूत्रमारभ्यते । अयमपरः सम्बन्धस्य 'कल्पः' प्रकारो भवति ॥ ५१९८ ॥

अनेनायातस्यास्य व्याख्या—त्रयो नो कल्पन्ते 'वाचयितुं' सूत्रं पाठयितुमर्थं वा श्रावयितुम् । तद्यथा—'अविनीतः' सूत्रा-ऽर्थदातुर्वन्दनादिविनयरहितः । 'विकृतिप्रतिबद्धः' घृतादिरसविशेषगृद्धः, अनुपधानकारीति भावः । अव्यवशमितम्—अनुपशान्तं प्राभृतमिव प्राभृतं—नरकपालकौशलिकं तीव्रक्रोधलक्षणं यस्यासौ अव्यवशमितप्राभृतः ॥ एतद्विपरीतास्तु त्रयोऽपि कल्पन्ते वाचयितुम् । तद्यथा—विनीतो नोविकृतिप्रतिबद्धो व्यवशमितप्राभृतश्चेति सूत्रार्थः ॥

अथ निर्युक्तिविस्तरः—

**विगइ अविणीएँ लहुगा, पाहुड गुरुगा य दोस आणादी ।**
**सो य इयरे य चत्ता, बितियं अद्धाणमादीसु ॥ ५१९९ ॥**

विकृतिप्रतिबद्धमविनीतं च वाचयतश्चतुर्लघुकाः । अव्यवशमितप्राभृतं वाचयतश्चतुर्गुरुकाः । आज्ञादयश्च दोषाः । स च 'इतरे च' साधवः परित्यक्ता भवन्ति । तत्र स तावद् विनयमकुर्वन् ज्ञानाचारं विराधयतीति कृत्वा परित्यक्तः, इतरे च तमविनीतं दृष्ट्वा विनयं न कुर्वन्तीति परित्यक्ताः । द्वितीयपदमत्र भवति—अध्वादिषु वर्तमानानां योऽविनीतादिरप्युपग्रहं करोति स वाचनीयः । एषा **निर्युक्तिगाथा** ॥५१९९॥ एतामेव भाष्यकृद् विवृणोति—

**अविणीयमादियाणं, तिण्ह वि भयणा उ अट्ठिया होति ।**
**पढमगभंगे सुत्तं, पढमं बितियं तु चरिमम्मि ॥ ५२०० ॥**

अविनीतादीनां त्रयाणामपि पदानां अष्टिका भजना भवति, अष्टभङ्गीत्यर्थः । यथा—अविनीतो विकृतिप्रतिबद्धोऽव्यवशमितप्राभृतः १ अविनीतो विकृतिप्रतिबद्धो व्यवशमितप्राभृतः २ इत्यादि यावदष्टमो भङ्गो विनीतो विकृत्यप्रतिबद्धो व्यवशमितप्राभृतश्चेति । अत्र च प्रथमे भङ्गे प्रथमसूत्रं निपतति, 'चरमे' अष्टमे भङ्गे द्वितीयं सूत्रमिति ॥ ५२०० ॥

अथ त्रयाणामपि वाचने यथाक्रमं दोषानाह—

**इहरा वि ताव थब्भति, अविणीतो लंभितो किमु सुएण ।**
**मा णट्ठो णासिहिती, खए व खारावसेओ तु ॥ ५२०१ ॥**

'इतरथाऽपि' श्रुतप्रदानमन्तरेणापि तावदविनीतः 'स्तभ्यते' स्तब्धो भवति किं पुनः श्रुतेन लम्भितः सन् ?, महिमानमिति शेषः । अतः स्वयं नष्टोऽसौ अन्यानपि मा नाशयिष्यति, क्षते वा क्षारावसेको मा भूदिति कृत्वा नासौ वाचनीयः ॥ ५२०१ ॥ अपि च—

**गोजूहस्स पडागा, सयं पयातस्स वड्डयति वेगं ।**
**दोसोदए य समणं, ण होइ न निदाणतुल्लं वा ॥ ५२०२ ॥**

इह गोपालको गवामग्रतो भूत्वा यदा पताकां दर्शयति तदा ताः शीघ्रतरं गच्छन्तीति श्रुतिः; ततो गोयूथस्य स्वयं प्रयातस्य यथा पताका वेगं वर्धयति तथा दुर्विनीतस्यापि श्रुतप्र-

१ °स्य सोऽव्य° भा० कां० ॥ २ 'स च' अविनीतादिर्वाच्यमानः 'इतरे कां० ॥ ३ °व तब्भ° कां० ॥

दानमधिकतरं दुर्विनयं वर्धयति । तथा दोषाणां—रोगाणामुदये 'च' समुच्चये 'शमनम्' औषधं न दीयते, यतश्च निदानादुत्थितो व्याधिः तत्तुल्यं—तत्सदृशमपि वस्तु रोगवृद्धिभयान्न दीयते; यद्वा दोषोदये दीयमानं शमनं न ननिदानतुल्यं भवति, किन्तु भवत्येव, ततो न दातव्यम्; एवमस्यापि दुर्विनयदोषभरे वर्तमानस्य श्रुतौषधमहितमिति कृत्वा न देयम् ॥ ५२०२ ॥

**विणयाहीया विज्जा, देंति फलं इह परे य लोगम्मि ।**
**न फलंति विणयहीणा, सस्साणि व तोयहीणाइं ॥ ५२०३ ॥**

विनयेनाधीता विद्या इह परत्र च लोके फलं ददति, जनपूजनीयता-यशःप्रवादलाभादिकमैहिकं निःश्रेयसादिकं चाऽऽमुष्मिकं फलं ढौकयन्तीति हृदयम् । विनयहीनास्तु ता अधीता न फलन्ति, सस्यानीव तोयहीनानि—यथा जलमन्तरेण धान्यानि न फलन्ति[1] ॥ ५२०३ ॥

अथ विकृतिप्रतिबद्धमाह—

**रसलोलुताइ कोई, विगतिं ण मुयति दढो वि देहेणं ।**
**अब्भंगेण व सगडं, न चलइ कोई विणा तीए ॥ ५२०४ ॥**

रसलोलुपतया कश्चिद् देहेन दृढोऽपि विकृतिं न मुञ्चति स वाचयितुमयोग्यः । कश्चित् पुनरभ्यङ्गेन विना यथा शकटं न चलति तथा 'तया' विकृत्या विना निर्वोढुं न शक्नोति तस्य गुरूणामनुज्ञया विधिना गृह्णतो वाचना दातव्येति ॥ ५२०४ ॥ किञ्च—

**उस्सग्गं एगस्स वि, ओगाहिमगस्स कारणा कुणति ।**
**गिण्हति व पडिग्गहए, विगतिं वर मे विसज्जिंता ॥ ५२०५ ॥**

योगं वहमानः कश्चिदेकस्याप्यवगाहिमस्य कारणाद् ◁ विकृत्यनुज्ञापनाविषयं ▷[2] कायोत्सर्गं करोति । प्रतिग्रहे वा विकृतिं गृह्णाति, वरममुनाऽप्युपायेन मे विकृतिं विसर्जयितारः ॥ ५२०५ ॥ एवं मायां कुर्वनः किं भवति ? इत्याह—

**अतवो न होति जोगो, ण य फलए इच्छियं फलं विज्जा ।**
**अवि फलति विउलमगुणं, साहणहीणा जहा विज्जा ॥ ५२०६ ॥**

'अतपाः' तपसा विहीनः 'योगः' श्रुतस्योद्देशनादिव्यापारो न भवति । न च तपसा विना गृह्यमाणा 'विद्या' श्रुतज्ञानरूपा 'ईप्सितं' मनोऽभिप्रेतं फलं फलति, 'अपि' इति अभ्युच्चये, प्रत्युत विपुलम् 'अगुणम्' अनर्थं फलति । यथा साधनहीना विद्या, यस्याः प्रज्ञप्तिप्रभृतिकाया विद्याया उपवासादिको यः साधनोपचारः सा तमन्तरेण गृह्यमाणेति भावः ॥ ५२०६ ॥

अथाव्यवशमितप्राभृतं व्याचष्टे—

**अप्पे वि पारमाणिं, अवराधे वयति खामियं तं च ।**
**बहुसो उदीरयंतो, अविओसियपाहुडो स खलु ॥ ५२०७ ॥**

'अल्पेऽपि' परुषभाषणादावपराधे "पारमाणिं" परमं क्रोधसमुद्घातं यो व्रजति, 'तच्च' अपराधजातं क्षामितमपि यो बहुश उदीरयति स खल्वव्यवशमितप्राभृत उच्यते ॥ ५२०७ ॥

---

१ °न्ति, एवं विद्या अपि विनयमन्तरेण निष्फला मन्तव्येति ॥ ५२०३ ॥ कां० ॥
२ ◁ ▷ एतन्मध्यगतः पाठः कां० एव वर्त्तते ॥

अस्य वाचने दोषानाह—

**दुविधो उ परिचाओ, इह चोदण कलह देवयच्छलणा ।**
**परलोगम्मि य अफलं, खित्तम्मि व ऊसरे बीजं ॥ ५२०८ ॥**

दुर्विनीतादेरपात्रस्य वाचनादाने 'द्विविधः परित्यागः' इह-परलोकभेदाद् भवति । तत्रेह-लोकपरित्यागो नाम—स यदि स्मारणादिना प्रेर्यते तदा कलहं करोति, अपात्रवाचनेन च प्रमत्तं प्रान्तदेवता छलयेत् । परलोके तु परित्यागः—तस्य श्रुतप्रदानं 'अफलं' सुगति-बोधिलाभादिकं पारत्रिकं फलं न प्रापयति, ऊषर इव क्षेत्रे बीजमुप्तं यथा निष्फलं भवति ॥ ५२०८ ॥

"सो य इयरे य चत्ता" ( गा० ५१९९ ) इति पदं व्याख्याति—

**वाइज्जंति अपत्ता, हणुदाणि वयं पि एरिसा होमो ।**
**इय एस परिचातो, इह-परलोगेऽणवत्था य ॥ ५२०९ ॥**

स तावद् ज्ञानाचारविराधकतया संसारं परिभ्रमतीति परित्यक्तः । इतरेऽपि साधवस्तान् वाच्यमानान् दृष्ट्वा चिन्तयन्ति—अहो ! अपात्राण्यपि यदि वाच्यन्ते "हणुदाणि" त्ति ततः साम्प्रतं वयमपीदृशा भवामः; "इय" एवं तेषामपि दुर्विनयादौ प्रवर्तमानानामिह-परलोकयोः परित्यागः कृतो भवति । अनवस्था चैवं भवति, न कोऽपि विनयादिकं करोतीत्यर्थः ॥ ५२०९ ॥

अथ 'द्वितीयपदमध्वादिषु भवति' ( गा० ५१९९ ) इति यदुक्तं तद् व्याचष्टे—

**अद्धाण-ओमादि उवग्गहम्मि, वाए अपत्तं पि तु वट्टमाणं ।**
**वुच्छिज्जमाणम्मि व संथरे वी, अण्णासतीए वि तु तं पि वाए ॥ ५२१० ॥**

अध्वनि वा अवमौदर्ये वा आदिशब्दाद् राजद्विष्टादिषु वा भक्त-पानादिना गच्छस्योपग्रहे वर्तमानम् 'अपात्रमपि' दुर्विनीतादिकं लब्धिसम्पन्नं वाचयेत् । अथवा किमप्यपूर्वं श्रुतं तस्याऽऽचार्यस्य समस्ति, पात्रभूतश्च शिष्यो न प्राप्यते, तच्चान्यत्रासङ्क्राम्यमाणं व्यवच्छिद्यते, ततः संस्तरणेऽपि अपात्रं वाचयेत् । यद्वा नास्ति तस्यान्यः कोऽपि शिष्यस्ततोऽन्यस्याभावे 'मा सूत्रार्थौ विस्मरताम्' इति कृत्वा 'तमपि' अपात्रभूतं वाचयेत् ॥ ५२१० ॥

॥ वाचनाप्रकृतं समाप्तम् ॥

## सं ज्ञा प्य प्र कृ त म्

सूत्रम्—

**तओ दुस्सन्नप्पा पन्नत्ता, तं जहा—दुट्ठे मूढे वुग्गाहिए १२ ॥**

अस्य सम्बन्धमाह—

**सम्मत्ते वि अजोग्गा, किमु दिक्खण-वायणासु दुट्ठादी ।**
**दुस्सन्नप्पारंभो, मा मोह परिस्समो होज्जा ॥ ५२११ ॥**

१ 'तत इदानीं वय' कां० ॥ २ 'माणे वि य संथ' ताभा० ॥

दुष्टादयस्त्रयः सम्यक्त्वग्रहणेऽप्ययोग्याः किं पुनर्दीक्षण-वाचनयोः ?, अतस्तेषां प्रज्ञापने 'सोघः' निष्फलः प्रज्ञापकस्य परिश्रमो मा भूदिति दुःसंज्ञाप्यसूत्रमारभ्यते ॥ ५२११ ॥

अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य व्याख्या—त्रयः दुःखेन—कृच्छ्रेण संज्ञाप्यन्ते—प्रतिबोध्यन्त इति दुःसंज्ञाप्याः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा—'दुष्टः' तत्त्वं प्रज्ञापकं वा प्रति द्वेषवान्, स चाप्रज्ञापनीयः, द्वेषेणोपदेशाप्रतिपत्तेः । एवं 'मूढः' गुण-दोषानभिज्ञः । 'व्युद्ग्राहितो नाम' कुप्रज्ञापकदृढीकृतविपरीतावबोधः । एष सूत्रार्थः ॥ अथ भाष्यविस्तरः—

**दुस्सण्णप्पो तिविहो, दुट्ठाती दुट्ठो वण्णितो पुव्विं ।**
**मूढस्स य निक्खेवो, अट्ठविहो होइ कायव्वो ॥ ५२१२ ॥**

दुःसंज्ञाप्यो दुष्टादिभेदात् त्रिविधः । तत्र दुष्टः 'पूर्वं' पाराञ्चिकसूत्रे यथा वर्णितः तथाऽत्रापि मन्तव्यः । मूढस्य पुनरष्टविधो निक्षेपो वक्ष्यमाणनीत्या कर्तव्यो भवति ॥ ५२१२ ॥[2]

तत्र पदत्रयनिष्पन्नामष्टभङ्गीं[3] तावदाह—

**दुट्ठे मूढे वुग्गाहिए य भयणा उ अट्ठिया होइ ।**
**पढमगभंगे सुत्तं, पढमं बिइयं तु चरिमम्मि ॥ ५२१३ ॥**

दुष्टो मूढो व्युद्ग्राहित इति त्रिभिः पदैरष्टिका भजना भवति, अष्टौ भङ्गा इत्यर्थः । अत्र च प्रथमे भङ्गे प्रथमं सूत्रं निपतति, 'चरमे' अष्टमे भङ्गे 'अदुष्टोऽमूढोऽव्युद्ग्राहितः' इत्येवंलक्षणे 'द्वितीयं' वक्ष्यमाणं सूत्रमिति ॥ ५२१३ ॥ अथ मूढस्याष्टधा निक्षेपमाह—

**दव्व दिसि खेत्त काले, गणणा सारिक्ख अभिभवे वेदे ।**
**वुग्गाहणमन्नाणे, कसाय मत्ते य मूढपदा ॥ ५२१४ ॥**

द्रव्यमूढो दिग्मूढः क्षेत्रमूढः कालमूढो गणनामूढः सादृश्यमूढोऽभिभवमूढो वेदमूढश्चेत्यष्टधा मूढः । तथा "वुग्गाहण" त्ति व्युद्ग्राहणामूढो व्युद्ग्राहित इति चैकोऽर्थः, स च वक्ष्यमाणद्वीपजातवणिक्सुतादिवत् । "अन्नाणि" त्ति नञः कुत्सार्थत्वाद् 'अज्ञानं' मिथ्याज्ञानम्, तच्च भारत-रामायणादिकुशास्त्रश्रुतिसमुत्थम्, तेन यो मूढः सोऽपि व्युद्ग्राहितो भण्यते । 'कषायमूढः' तीव्रकषायवान्, स च कषायदुष्टे सर्षपनालादिदृष्टान्तसिद्धेऽन्तर्भवति । 'मत्तो नाम' यक्षावेशेन मोहोदयेन वा उन्मत्तीभूतः, स च अभिभवमूढ-वेदमूढावावतरतीति । एतानि मूढपदानि भवन्तीति द्वारगाथासङ्क्षेपार्थः ॥ ५२१४ ॥ साम्प्रतमेनामेव विवृणोति—

**धूमादी बाहिरतो, अंतो धत्तूरगादिणा दव्वे ।**
**जो दव्वं व ण जाणति, घडिगावोद्दो[4] व्व दिट्ठं पि ॥ ५२१५ ॥**

इह यो बाह्येनाभ्यन्तरेण वा द्रव्येण मोहमुपगतः स द्रव्यमूढ उच्यते । तत्र बाह्यतो धूमादिनाऽऽकुलितो यो मुह्यति, 'अन्तः' अभ्यन्तरे च धत्तूरकेण मदनकोद्रवौदनेन वा भुक्तेन यो मुह्यति । अथवा यः पूर्वदृष्टं द्रव्यं कालान्तरे दृष्टमपि न जानीते स द्रव्यमूढः । घटिकावोद्रवत्—

---

१ °यः प्रस्तुतसूत्रोपात्ताः सम्य° कां० ॥ २ एतदनन्तरं कां० पुस्तके ग्रन्थाग्रम्—२००० इति वर्तते ॥ ३ °ङ्गीमाह मो० ॥ ४ °द्दो व दिट्ठंतो ताभा० ॥

एगस्स वाणियस्स पवसियस्स भज्जा पंडरंगेण समं संपलग्गा । पंडरंगेण भण्णति—अणिव्वुयए हियए केरिसी रती ?, विविक्तविस्रम्भरसो हि कामः, तो नस्सामो । 'मा य अयसो होहिति' त्ति अणाहमडयं छोढुं पलीवित्ता नट्ठाणि गंगातडं गयाइं । सो वणितो अन्नया आगओ घरं दड्ढं पासित्ता ताणि य अट्ठियाणि रोविउमाढत्तो । भज्जासिणेहाणुरागेणं 'एयाणि अट्ठीणि से गंगं नेमि' त्ति ताणि अणाहमडयऽट्ठियाणि घडियाए छोढुं गंगं गतो । तीए भज्जाए य दिट्ठो, न य संजाणति । ताए पुच्छिओ—को तुमं ? । तेण अक्खायं–पवसियस्स घरं दड्ढं, भज्जा य मे दड्ढा, ततो मए भज्जाणुरागेणं 'ताणि अट्ठियाणि गंगं नेमि' त्ति आगतो, 'गंगाए छूढेहिं सुगतिं जाहिति' एवं पि ता से सेयं करेमि । तीसे अणुकंपा जाया । तीए भणियं—अहं सा तव भज्जा । न पत्तियति । एयाणि अट्ठियाणि किं अलिकयाणि ? । बहुविहं भन्नमाणो जाहे न पत्तियति ताहे तीए जं पुव्विं कीलियं जंपियं भुत्तं एवमादि सव्वं साभिन्नाणं संवादियं ताहे पत्तिज्जिओ । एस दव्वमूढो ॥ ॥ ५२१५ ॥

अथ दिग्मूढ-क्षेत्रमूढ-कालमूढानाह—

**दिसिमूढो पुव्वाऽवर, मण्णति खेत्ते तु खेत्तवच्चासं ।**
**दिव-रातिविवच्चासो, काले पिंडारदिट्ठंतो ॥ ५२१६ ॥**

दिग्मूढो नाम—विपरीतां दिशं मन्यते, यथा—पूर्वामपरामिति । क्षेत्रमूढः—क्षेत्रं न जानाति, क्षेत्रस्य वा विपर्यासं करोति, विपरीतमवबुध्यते इत्यर्थः, रात्रौ वा परसंस्तारकमात्मीयं मन्यते, एष क्षेत्रमूढः । कालमूढो दिवसं रात्रिं मन्यते । अत्र **पिण्डारदृष्टान्तः**—

एगो पिंडारगो उब्भामिगासुतो अब्भवद्दले माहिसदधि-दुद्धं निसढं पाउं दिवसतो सुत्तो । तओ उट्ठिओ निद्दाचमढितो जोण्हं मण्णमाणो दिवा चेव महिसीओ घरेसु छोढूण उब्भामिगाघरं पट्ठितो । 'किमेयं ?' ति जणकलकलो जातो तओ विलक्खीभूओ त्ति । एवं दिय-राइविवच्चासं कुणंतो कालमूढो भण्णइ ॥ ॥ ५२१६ ॥

गणनामूढं सादृश्यमूढं चाह—

**ऊणाधिय मन्नंतो, उट्टारूढो व गणणतो मूढो ।**
**सारिक्ख थाणु पुरिसो, कुडुंबिसंगामदिट्ठंतो ॥ ५२१७ ॥**

यो गणयन् ऊनमधिकं वा मन्यते स **उष्ट्रारूढ** इव गणनामूढो भण्यते ।

जहा—एगो उट्टपालो उट्टीओ एगवीसं रक्खइ । अन्नया उट्टीए आरूढो गणितो जत्थ आरूढो तं न गणेइ, सेसा वीसं गणेइ । पुणो वि गणेइ वीसं । 'नत्थि मे एगो उट्टो' त्ति अण्णे पुच्छइ । तेहिं भणितो—जत्थारूढो सि एस ते इगवीसइमो ॥

सादृश्यमूढो यथा स्थाणुं पुरुषं मन्यते । अत्र च **कुटुम्बिनौ**—महत्तर-सेनापती तयोः **सङ्ग्रामेण दृष्टान्तः**—

एगो गामो चोरसेणावइणा चोरेहिं समं आगंतूण रत्तीए हतो । तत्थ य गामे जो महत्तरो

१ °णियस्स भज्जा पंडरंगेण समं संपलग्गा । अन्नया सो वाणियो पउत्थो । पंडरंगेणं भण्णति—अणिव्वुयएहिं केरिसी कां० ॥

सो तत्थ चोरसेणावइस्स सरिसो । तओ संगामे उवट्ठिए चोरसेणावई मारितो, गामिल्लएहिं 'महयरो' त्ति मण्णमाणेहिं दड्ढो । चोरेहि य गाममहयरो 'सेणावइ' त्ति काउं पल्लिं नीओ । सो भणति—नाहं सेणाहिवो । चोरा भणंति—एस रणपिसाइओ त्ति पलवइ । अण्णया सो नासिउं सगामं गतो । ते भणंति—को सि तुमं ? पेतो पिसाओ वा तेण रूवेण आगओ ? । तओ साभिन्नाणे कहिए पच्छा संगहिओ । उभओ वि सयणा सादिस्समूढा ॥५२१७॥

अथाभिभवमूढमाह—

> अभिभूतो सम्मुज्झति, सत्थ-ऽग्गी-वादि-सावयादीहिं ।
> अब्भुदय अणंगरती, वेदम्मि तु रायदिट्ठंतो ॥ ५२१८ ॥

सङ्ग्रामादौ खड्गादिना शस्त्रेण, प्रदीपनके वा अग्निना, वातकाले वा वायुना, अरण्ये वा श्वापद-स्तेनादिभिश्चाभिभूतो यः सम्मुह्यति सोऽभिभवमूढः । वेदमूढस्तु स उच्यते यः 'अभ्युदयेन' अतीववेदोदयेन 'अनङ्गरतिम्' अनङ्गक्रीडां करोति । राजदृष्टान्तश्चात्र भवति—

जहा आणंदपुरं नगरं । जितारी राया । वीसत्था भारिया । तस्स पुत्तो अणंगो नाम बालत्ते अच्छिरोगेण गहितो निच्चं रुयंतो अच्छति । अन्नया जणणीते णमिणियाए अहाभावेण ण्णु-ऊरुअंतरे छोढुं उवगूहितो । दो वि तेसिं गुज्झा परोप्परं समप्फिडिता, तहेव तुण्हिक्को ठितो । लद्धोवाया च्चेवं पुणो पुणो तहेव करेति । सो वि झायति रुयंतो । पवड्ढमाणो तत्थेव गिद्धो । मातुए वि अणुप्पियं । पिता से मतो । सो रज्जे ठितो तहावि तं मायरं परिभुंजति । सचिवादीहिं वुच्चमाणो वि णो ठितो ॥ ॥ ५२१८ ॥

पूर्वोक्तं वक्ष्यमाणं चार्थं सङ्ग्रहीतुमिमां गाथामाह—

> राया य खंतियाए, वणि महिलाए कुला कुडुंबिम्मि ।
> दीवे य पंचसेले, अंधलग सुवण्णकारे य ॥ ५२१९ ॥

'राजा' अनन्तरोक्तः खन्तिकायामनुरक्तो वेदमूढः । 'वणिग्' घटिकावोद्रकयः स्वमहिलायां रक्तः स्वमहेलामनुपलक्षयन् द्रव्यमूढः । 'कुटुम्बिनः' सेनापतेर्महत्तरस्य च कुलानि सादृश्यमूढे उदाहरणम् ॥

"दीवे" त्ति द्वीपजातः पुरुषः । "पंचसेले" त्ति पञ्चशैलवास्तव्याभिरप्सरोभिर्व्युद्ग्राहितः सुवर्णकारः । "अंधलग" त्ति धूर्तव्युद्ग्राहिता अन्धाः । "सुवन्नगारे" त्ति सुवर्णकारव्युद्ग्राहितः पुरुषः । एते चत्वारोऽपि वक्ष्यमाणलक्षणा व्युद्ग्राहणामूढा मन्तव्याः । एष सङ्ग्रहगाथासमासार्थः ॥ ५२१९ ॥ साम्प्रतमेनामेव विवृणोति—

> बालस्स अच्छिरोगे, सागारिय देवि संफुसे तुसिणी ।
> उभय वियत्तऽभिसेगे, ण ठाति वुत्तो वि मंतीहिं ॥ ५२२० ॥
> छोढूणऽणाहमडयं, झामितु घरं पतिम्मि उ पउत्थे ।
> धुत्त हरणुज्झ पति अट्ठि गंग कहिते य सद्दहणा ॥ ५२२१ ॥
> सेणावतिस्स सरिसो, वणितो गामिल्लतो णिओ पल्लिं ।

१ °लत्त अ° ताभा० ॥ २ छोढुं अणा° ताभा० ॥

**णाहं ति रणपिसाई, घरे वि दड्ढो त्ति णेच्छंति ॥ ५२२२ ॥**

इदं गाथात्रयं गतार्थम् । नवरम्—"उभय वियत्तऽभिसेगे" त्ति 'उभयोरपि' देवी-कुमारयोः प्रीतिकरं तद् विषयसेवनम् । राज्याभिषेकेऽपि सञ्जाते तामसौ न मुञ्चति ॥ ५२२० ॥

द्वितीयगाथायाम्—"धुत्त हरणुज्झ" त्ति धूर्तेन तस्या वणिग्भार्याया अपहरणम् । तस्या अपि पतिमुज्झित्वा गङ्गातटे गमनम् ॥ ५२२१ ॥

तृतीयगाथायाम्—"नाहं ति" इत्यादि, महत्तरेण 'नाहं सेनापतिः' इत्युक्ते चौराश्चिन्तयन्ति—एष रणपिशाचकी तेनैवं वक्ति । गृहेऽपि गतं तं महत्तरं ते ग्रामेयकाः 'दग्धः' इति कृत्वा नेच्छन्ति सङ्ग्रहीतुम् ॥ ५२२२ ॥

व्याख्यातो मूढः । सम्प्रति व्युद्ग्राहितं व्याचिख्यासुर्द्वीपजातदृष्टान्तमाह—

**पोतविवत्ती आवण्णसत्त फलएण गाहिया दीवं ।**
**सुतजम्म वड्डि भोगा, वुग्गाहण णाववणियाऽऽया ॥ ५२२३ ॥**

एगो वणितो । तस्स भज्जा अईव इट्ठा । सो वाणिज्जेण गंतुकामो तं आपुच्छति । तीए भणियं—अहं पि आगच्छामि । तेण सा नीता । सा गुव्विणी । समुद्दमज्झे विणट्ठं जाणवत्तं । सा फलगं विलग्गा अंतरदीवे पत्ता । तत्थेव पसूता दारगं । सो वणिओ समुद्दे मओ । सा महिला तम्मि चेव दारए संपलग्गा । ताए सो वुग्गाहितो—जइ माणुसं पिच्छिज्जासि तो नासेज्जासि, ते माणुसरूवेण रक्खसा । अन्नया दुव्वायहयपोएण वाणिया आगया । ते दट्ठुं सो नासेइ । तेहिं नायं वुग्गाहिओ केणावि । कह वि अल्लीणो पुच्छिओ सव्वं कहेइ । तेहिं बहुसो पन्नविओ—एयं महापावं, परिच्चयाहि । तहा वि नो परिच्चयति ॥

अथाक्षरार्थः—'पोतः' प्रवहणं तस्य विपत्तिः । आपन्नसत्त्वा च सा फलकेन द्वीपं ग्राहिता । सुतस्य जन्म वृद्धिश्चाभवत्, भोगांश्च तेन सह भोक्तुमारब्धा । व्युद्ग्राहणकं च कृतम् । नौवणिजश्च चिरादायाताः । एवंविधा व्युद्ग्राहिताः प्रज्ञापनाया अयोग्याः ॥ ५२२३ ॥

तथा चाह—

**पुव्विं वुग्गाहिया, केई, णरा पंडियमाणिणो ।**
**णिच्छंति कारणं किंची, दीवजाते जहा नरे ॥ ५२२४ ॥**

पूर्वं व्युद्ग्राहिताः केचिद् नराः पण्डितमानिनो नेच्छन्ति कारणं किञ्चित् श्रोतुमिति शेषः, द्वीपजातो यथा नरः ॥ ५२२४ ॥ अथ पञ्चशैलदृष्टान्तमाह—

**चंपा अणंगसेणो, पंचऽच्छर थेर णयण दुम वलए ।**
**विहपास णयण सावग, इंगिणिमरणे य उववातो ॥ ५२२५ ॥**

चम्पायामनङ्गसेनः सुवर्णकारः, कुमारनन्दीति तस्य नामान्तरम् । तस्य च पञ्चशैलद्वीपवास्तव्याभ्यामप्सरोभ्यां व्युद्ग्राहितस्य स्थविरेण तत्र नयनम् । 'द्रुमश्च' वटवृक्षोऽपान्तराले

१ इदं गाथात्रयं चूर्णिद्वयेऽप्यगृहीतत्वादन्यकर्तृकमिव लक्ष्यते । गतार्थं चैतत् । नवरम् भा० ॥ २ °वतम् । भो° मो० ॥ ३ °ताः, तैः प्रज्ञापितोऽपि न परित्यक्तवान् । एवं° कां० ॥ ४ °शैल° के० ॥

दृष्टः तत्राऽऽरोहणम् । स्थविरस्य 'वलये' आवर्त्ते गत्वा मरणम् । 'विहपास' त्ति 'विहगाः' भारण्डनामानः पक्षिणस्तेषां दर्शनम् । तैः पञ्चशैलद्वीपे नयनम् । हास-प्रहासाभ्यां भूय इहानीतस्य श्रावकेण च बहुतरं प्रज्ञाप्यमानस्य तस्येङ्गिनीमरणप्रतिपत्तिः । ततः पञ्चशैलद्वीपे उपपात इत्यक्षरार्थः । कथानकं तु ( ग्रन्थाग्रम्—२००० । सर्वग्रन्थाग्रम्—३५८२५ ) सुप्रतीतं बहुविस्तरं चेति कृत्वा न लिख्यते ॥ ५२२५ ॥ अन्धदृष्टान्तमाह—

**अंधलगभत्त पत्थिव, किमिच्छ सेज्जऽण्ण धुत्त वंचणता ।**
**अंधलभत्तो देसो, पव्वयसंघाडणा हरणा ॥ ५२२६ ॥**

अन्धभक्तः कश्चित् पार्थिवः । स किमीप्सितं शय्या-ऽन्नादिदानं ददाति । धूर्तेन च तेषां वञ्चना । कथम् ? इत्याह—'अन्धलभक्तोऽमुको देशः समस्ति तत्र युष्मान् नयामः' इत्युक्त्वा पर्वते सङ्घाटना कृता, परस्परं लगयित्वा तत्र[3] भ्रामिता इत्यर्थः । ततः 'हरणं' तदीयं द्रव्यं हृत्वा गत इत्यक्षरार्थः । भावार्थः पुनरयम्—

अंधपुरं नगरं । तत्थ अणंधो राया । सो य अंधभत्तो । तेण सभं काउं अंधलयाणं अग्गाहारो दिन्नो । तत्थ खाण-पाणाइए सुपरिग्गहिया सुस्सूसिज्जंता अच्छंति । तेसिं सुबहुं दवं अत्थि । अन्नया य एगेण धुत्तेण दिट्ठा । तओ 'एए मुसामि' त्ति मिच्छोवयारेणं ते अतीव उवचरति । अन्नया तेण अंधलया भणिया—अम्हे अंधलगदासा, जत्थ अम्हे वसामो सो सवो वि देसो अंधलगभत्तो, राया य तत्थ अंधलाणं अम्मापियरं, तुब्भे एत्थ दुहिया, जइ इच्छह तो तत्थ णेमो । तेहिं इच्छियं । तओ रातो नीणेत्ता नाइदूरेण भणिया—इहऽत्थि चोरा, जइ मे किंचि अंतद्धणं अत्थि तो अप्पेह । तेहिं वीसंभेण अप्पियं । तओ तेण ते पुरिल्लं मग्गिल्लस्स लाइत्ता अन्नोन्नलग्गा महंतं सिलं छिन्नटंकं डोंगरसमं भामिया भणिया य—पत्थरे गेण्हह, जो मे अल्लियइ तं पहणेज्जाह, जइ मे कोइ भणेज्जा—'मुसिया केण वि अंधा डोंगरं भामिया' जाणह ते चोरे, तओ पहणिज्जाह । एवं भणित्ता पलाणो । ते य गोवालमाईहिं दिट्ठा, भणंति य—मुद्धा वरागा डोंगरं भामिया धुत्तेणं । तओ 'एते ते चोर' त्ति काउं पत्थरे खिवंति ढोयं च न देंति ॥ ५२२६ ॥ सुवर्णकारदृष्टान्तमाह—

**लोभेण मोरगाणं, भच्चग ! छेज्जेज्ज मा हु ते कन्ना ।**
**छादेमि णं तंबेणं, जति पत्तियसे ण लोगस्स ॥ ५२२७ ॥**

कश्चिद् बोद्रः सुवर्णकारेण भणितः, यथा—'भच्चक !' भागिनेय ! "मोरगाणं" ति कुण्डलानां लोभेन मा 'ते' तव कर्णौ छिद्येताम्, अतो यदि लोकस्य न प्रत्ययसे ◁ ततः "ण"मिति एतत् कुण्डलयुगलं ▷ ताम्रेण छादयाम्यहमित्यक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्—

एगस्स बोइस्स जच्चसुवण्णघडियाणि कुंडलाणि कण्णेसु सुवण्णकारेण दिट्ठाणि । तओ तेण भण्णइ—भागिणेज्ज ! अहं तव एते एवं करेमि जहा एगाणियस्स पंथे वच्चमाणस्स न कोइ हरइ, अन्नहा ते सुवण्णलोभेण चोरेहिं कण्णा छेज्जेस्संति । तेण भणियं—एवं होउ

१-२ °श्लरील° डे० ॥ ३ °त्र ते सर्वेऽप्यन्धाः भ्रामि° कां० ॥ ४ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः कां० एव वर्तते ॥

त्ति। कलाएण ते कुंडले घेत्तुं अन्ने सुवन्नरीरियामया काउं दिण्णा, भणिओ अ—जणो भणिहिइ—कलाएण मुट्ठो वराओ, न य ते पत्तिज्जियव्वं । 'एवं' पडिवज्जित्ता निग्गओ । लोगो जो जो पासइ सो सो भणइ—सुंदरा रीरिया । सो भणइ—सोवन्निया एए, तुब्भे विसेसं न याणह ॥ ५२२७ ॥ किञ्च—

जो इत्थं भूतत्थो, तमहं जाणे कलायमामो य ।
वुग्गाहितो न जाणति, हितएहिँ हितं पि भण्णंतो ॥ ५२२८ ॥

योऽत्र कोऽपि 'भूतार्थः' परमार्थः तमहं जाने कलादमामकश्च जानाति । एवमसौ तेन सुवर्णकारेण व्युद्ग्राहितो हितैः पुरुषैः हितमपि भण्यमानो न जानाति । ईदृशा व्युद्ग्राहणामूढा मन्तव्याः । अज्ञानमूढादयस्तु सुगमत्वाद् भाष्यकृता न व्याख्याताः, अत एवास्माभिर्द्वारगाथायामेव व्याख्याता इति ॥ ५२२८ ॥

अथैषां मध्ये के मूढाः ? के वा व्युद्ग्राहिताः ? इति दर्शयन्नाह—

रायकुमारो वणितो, एते मूढा कुला य ते दो वि ।
वुग्गाहिया य दीवे, सेलंघल-भच्चए चेव ॥ ५२२९ ॥

यो राजकुमारो मातृप्रतिसेवकः, यश्च वणिग् घटिकावोद्राख्यः, ये च 'ते' सेनापति-महत्तरसत्के द्वे अपि कुले, एते मूढा मन्तव्याः । यस्तु द्वीपजातः, यश्च पञ्चशैलसुवर्णकारः, ये चान्याः, यश्च 'भच्चकः' सुवर्णकारभागिनेयः, उपलक्षणत्वाद् ये च भारतादिकुशास्त्रश्रुतिभाविता अज्ञानमूढाः, एते व्युद्ग्राहिता मन्तव्याः ॥ ५२२९ ॥

अथैषां मध्ये के प्रव्राजयितुं योग्याः ? के वा न ? इत्याह—

मोत्तूण वेदमूढं, अप्पडिसिद्धा उ सेसका मूढा ।
वुग्गाहिता य दुट्ठा, पडिसिद्धा कारणं मोत्तुं ॥ ५२३० ॥

वेदमूढं मुक्त्वा ये 'शेषाः' द्रव्य-क्षेत्रमूढादयस्तेऽप्रतिषिद्धाः, प्रव्राजयितुं कल्पन्त इत्यर्थः । ये तु व्युद्ग्राहिताः 'दुष्टाश्च' कषायदुष्टादयस्ते कारणं मुक्त्वा प्रतिषिद्धाः, कारणे तु कल्पन्त इति भावः ॥ ५२३० ॥ किमर्थमेते प्रतिषिद्धाः ? इत्याह—

जं तेहिँ अभिग्गहियं, आमरणंताए तं न मुंचंति ।
सम्मत्तं पि ण लग्गति, तेसिं कत्तो चरित्तगुणा ॥ ५२३१ ॥

यत् 'तैः' व्युद्ग्राहितादिभिः किमपि शाक्यादिदर्शनम् अन्यद्वा भारतादिकं मिथ्याश्रुतम् 'अभिगृहीतम्' आभिमुख्येनोपादेयतया स्वीकृतं तद् आमरणान्तं[3] न मुञ्चन्ति । अत एवैतेषां सम्यक्त्वमपि न लगति, कुतश्चारित्रगुणाः ? इति ॥ ५२३१ ॥

कथं पुनरमीषां सम्यक्त्वमपि न लगति ? इत्याह—

सोय-सुय-घोररणमुह-दारमरण-पेयकिच्चमइएसु ।
सग्गेसु देवपूयण-चिरजीवण-दाणदिट्ठेसु ॥ ५२३२ ॥

---

१ °भ-काल-गणना-सादृश्यमूढा° कां० ॥ २ लभति ताभा० ॥ ३ 'आमरणान्ततया' मरणलक्षणमन्तं यावद् न मु° कां० ॥

इच्चेवमाइलोइयकुस्सुइवुग्गाहणाकुहियकन्ना ।
फुडमवि दाइज्जंतं, गिण्हंति न कारणं केई ॥ ५२३३ ॥

इह भारतादौ शौच-सुत-घोररणमुख-दारभरण-प्रेतकृत्यमयेषु देवपूजन-चिरजीवन-दान-दष्टेषु च स्वर्गेषु ये भाविता भवन्ति, यथा—शौचविधानात् पुत्रोत्पादनाद् घोरसमरशिरःप्रवेशाद् धर्मपत्नीपोषणात् पिण्डप्रदानादिप्रेत्यकर्मविधानाद् वैश्वानरादिदेवपूजनात् चन्द्रसहस्रादिरूपचिरकालजीवनाद् धेनु धरिण्यादिदानात् स्वर्गा अवाप्यन्ते ॥ ५२३२ ॥

इत्येवमादिलौकिककुश्रुतिव्युद्ग्राहणाकुथितकर्णाः सन्तस्तस्याः कुश्रुतेरघटनायां स्फुटमपि दर्श्यमानं 'कारणम्' उपपत्तिं 'केचिद्' गुरुकर्माणो न प्रतिपद्यन्ते अतस्ते दुःसंज्ञाप्या मन्तव्याः ॥ ५२३३ ॥

सूत्रम्—

**तओ सुसण्णप्पा पन्नत्ता, तं जहा—अदुट्ठे अमूढे अवुग्गाहिए १३ ॥**

त्रयः 'सुसंज्ञाप्याः' सुखप्रज्ञापनीयाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा—अदुष्टोऽमूढोऽव्युद्ग्राहितश्चेति ॥

आह—पूर्वसूत्रेणैवार्थापत्त्या इदमवसीयते—यदेतद्विपरीता अदुष्टादयः सुसंज्ञाप्याः ततः किमर्थमिदमारब्धम् ? उच्यते—

कामं विपक्खसिद्धी, अत्थावत्तीइ होनऽवुत्ता वि ।
तह वि विवक्खो वुच्चति, कालियसुयधम्मता एसा ॥ ५२३४ ॥

'कामम्' अनुमतमिदम्—विपक्षस्य–प्रतिपक्षार्थस्य सिद्धिरनुक्ताऽप्यर्थापत्त्या भवति तथापि विपक्षः साक्षादुच्यते । कुतः ? इत्याह—कालिकश्रुतस्य 'धर्मता' स्वभावः शैली एषा—यदर्थापत्तिलब्धोऽप्यर्थः साक्षादभिधीयते ॥ ५२३४ ॥ तथा च तल्लक्षणान्येव दर्शयति—

ववहार णऽत्थवत्ती, अणप्पिएण य चउत्थभासाए ।
मूढणय अगमिनेण य, कालेण य कालियं नेयं ॥ ५२३५ ॥

"ववहारे"ति नैगम-सङ्ग्रह-व्यवहाराख्यास्त्रयो व्यवहारनय उच्यते, ऋजुसूत्राद्यास्तु चत्वारो निश्चयनयः । तत्र 'व्यवहारेण' व्यवहारनयमतेन कालिकश्रुते प्रायः सूत्रार्थनिबन्धो भवति, "अहिगारो तीहि ओसन्नं" ति[1] ( आव० निर्यु० गा० ७६० ) वचनात् । "नऽत्थवत्ती"ति अर्थापत्तिः कालिकश्रुते न व्यवह्रियते किन्तु तया लब्धोऽप्यर्थः प्रपञ्चितज्ञविनेयजनानुग्रहाय साक्षादेवाभिधीयते, यथा उत्तराध्ययनेषु प्रथमाध्ययने "आणानिद्देसकरे" ( गा० २ ) इत्यादिना विनीतस्वरूपमभिधायार्थापत्तिलब्धमप्यविनीतस्वरूपम् "आणाअनिद्देसकरे" ( गा० ३ ) इत्यादिना भूयः साक्षादभिहितमिति । "अणप्पिएण य" त्ति 'अनर्पितं–विषयविभागस्यानर्पणं तेन कालिकश्रुतं रचितम्, विशेषाभिधानरहितमित्यर्थः, यथा—"जे भिक्खू हत्थकम्मं करेइ से आवज्जइ मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं" ( निशीथ उ० १ सू० १ );

---

१ ति मूलावश्यकवच° कां० ॥

अत्र च यस्मिन्नवसरे यथा हस्तकर्म सेवमानस्य मासगुरुकं भवति स विशेषः सूत्रे साक्षान्नोक्तः परमर्थादवगन्तव्यः, एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम्। "चउत्थभासाए" त्ति इह सत्या-मृषा-मिश्रा-ऽसत्यामृषाभेदात् चतस्रो भाषाः। तत्र परेण सह विप्रतिपत्तौ सत्यां वस्तुनः साधकत्वेन बाधकत्वेन वा प्रमाणान्तरैरबाधिता या भाषा भाष्यते सा सत्या, सैव प्रमाणैर्बाधिता मृषा, सैव बाध्यमाना-ऽबाध्यमानरूपा मिश्रा। या तु वस्तुसाधकत्वाद्यविवक्षया व्यवहारपतिता स्वरूपमात्राभिधित्सया प्रोच्यते सा पूर्वोक्तभाषात्रयविलक्षणा असत्यामृषा नाम चतुर्थभाषा भण्यते, सा चामन्त्रण्या-ऽऽज्ञापनीप्रभृतिस्वरूपा, तया कालिकश्रुतं निबद्धम्; यथा—"गोयमा !" इत्यामन्त्रणी, "सव्वे जीवा न हंतव्वा" इत्याज्ञापनी इत्यादि। दृष्टिवादस्तु नैगमादिनयमतप्रतिबद्धनिपुणयुक्तिभिर्वस्तुतत्त्वव्यवस्थापकतया सत्यभाषानिबद्ध इति भावः। तथा मूढाः—विभागेनाव्यवस्थापिता नया यस्मिन् तद् मूढनयम्, भावप्रधानश्चायं निर्देशः, ततो मूढनयत्वेन कालिकं विज्ञेयम्। तथा गमाः—भङ्गगणितादयः सदृशपाठा वा तैर्युक्तं गमिकम्, तद्विपरीतमगमिकम्, तेनागमिकत्वेन कालिकश्रुतं ज्ञेयम्, "गमियं दिट्ठिवाओ, अगमियं कालियं" ( नन्दी पत्र २०२-१ ) इति वचनात्। कालेन हेतुभूतेन निर्वृत्तं कालिकम्, काले—प्रथम-चरमपौरुषीलक्षणे पठ्यत इति व्युत्पत्तेः। एतैर्लक्षणैः कालिकश्रुतं ज्ञेयम् ॥ ५२३५ ॥

॥ संज्ञाप्यप्रकृतं समाप्तम् ॥

---

## ग्ला न प्र कृ त म्

सूत्रम्—

**निग्गंथिं च णं गिलायमाणिं पिता वा भाया वा पुत्तो वा पलिस्सएज्जा, तं च निग्गंथी साइज्जेज्जा, मेहुणपडिसेवणपत्ता आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं १४ ॥**

**निग्गंथं च णं गिलायमाणं माया वा भगिणी वा धूता वा पलिस्सएज्जा, तं च निग्गंथे साइज्जेज्जा, मेहुणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं १५ ॥**

अथास्य सूत्रद्वयस्य कः सम्बन्धः ? इत्याह—

उवहयभावं दव्वं, सच्चित्तं इति णिवारियं सुत्ते ।
भावाऽसुभसंवरणं, गिलाणसुत्ते वि जोगोऽयं ॥ ५२३६ ॥

---

१ इति नन्द्यध्ययनवच° कां० ॥

दुष्टतादिभिर्दोषैः उपहतः—दूषितः भावः—परिणामो यस्य तदुपहतभावम्, एवंविधं सचित्तं द्रव्यं प्रव्राजनादौ "इय" एवमनन्तरसूत्रे निवारितम्। इहापि ग्लानसूत्रेऽशुभभावस्य परिष्वजनानुमोदनलक्षणस्य 'संवरणं' निवारणं विधीयते। अयं 'योगः' सम्बन्धः ॥ ५२३६ ॥

अनेनायातस्यास्य व्याख्या—'निर्ग्रन्थीं' प्रागुक्तशब्दार्थाम्, चशब्दो वाक्यान्तरोपन्यासे, "णं" इति वाक्यालङ्कारे, "गिलायमाणिं" ति 'ग्लायन्तीं' "ग्लै हर्षक्षये" शरीरक्षयेण हर्षक्षयमनुभवन्तीं पिता वा भ्राता वा पुत्रो वा निर्ग्रन्थः सन् 'परिष्वजेत्' प्रपतन्तीं धारयन् निवेशयन् उत्थापयन् वा शरीरे स्पृशेत्, 'तं च' पुरुषस्पर्शं सा निर्ग्रन्थी मैथुनप्रतिसेवनप्राप्ता 'स्वादयेत्' अनुमोदयेत् तत आपद्यते चातुर्मासिकं परिहारस्थानमनुद्घातिकम् ॥

एवं निर्ग्रन्थसूत्रमपि व्याख्येयम्। नवरम्—माता वा भगिनी वा दुहिता वा परिष्वजेत्, एष सूत्रार्थः ॥ अथ निर्युक्तिविस्तरः—तत्र परः प्राह—ननु 'पुरुषोत्तमो धर्मः' इति कृत्वा प्रथमं निर्ग्रन्थस्य सूत्रमभिधातव्यं ततो निर्ग्रन्थ्याः, अतः किमर्थं व्यत्यासः? इत्याह—

**कामं पुरिसादीया, धम्मा सुत्ते विवज्जतो तह वि ।**
**दुब्बल-चलस्सभावा, जेणित्थी तो कता पढमं ॥ ५२३७ ॥**

'कामम्' अनुमतमिदम्—यत् 'पुरुषादयः' पुरुषमुख्या धर्मा भवन्ति, तथापि सूत्रे विपर्ययः कृतः। कुतः? इत्याह—दुर्बला—धृतिबलविकला चलस्वभावा च स्त्री येन कारणेन भवति ततः प्रथममसौ कृता इत्यदोषः ॥ ५२३७ ॥

**वइणि त्ति णवरि णेम्मं, अण्णा वि ण कप्पती सुविहियाणं ।**
**अवि पसुजाती आलिंगिउं पि किमु ता पलिस्सइउं ॥ ५२३८ ॥**

इह सूत्रे यद् 'व्रतिनी' निर्ग्रन्थी भणिता तद् नवरं 'नेमं' चिह्नम् उपलक्षणं द्रष्टव्यम्, तेनान्याऽपि स्त्री सुविहितानां न कल्पते परिष्वक्तुम्। इदमेव व्याचष्टे—'पशुजातिरपि' छागिकाप्रभृतिपशुजातीयस्त्रीरपि आलिङ्गितुं न कल्पते, किमु तावत् परिष्वक्तुम्? ॥ ५२३८ ॥

यत् तु सूत्रे परिष्वजनमभिहितं तत् कारणिकम् अत एवाह—

**निग्गंथो निग्गंथिं, इत्थि गिहत्थं च संजयं चेव ।**
**पलिसयमाणे गुरुगा, दो लहुगा आणमादीणि ॥ ५२३९ ॥**

निर्ग्रन्थो निर्ग्रन्थीं परिष्वजति चतुर्गुरुकाः तपसा कालेन च गुरवः। 'स्त्रियम्' अविरतिकां परिष्वजति त एव तपसा गुरवः। गृहस्थं परिष्वजति चतुर्लघुकाः कालेन गुरवः। संयतं परिष्वजति त एव 'द्वाभ्यामपि लघवः' तपसा कालेन च। सर्वत्र चाज्ञादीनि दूषणानि भवन्ति ॥ ५२३९ ॥ इदमेव व्याचष्टे—

**निग्गंथी थी गुरुगा, गिहि पासंडि-समणे य चउलहुगा ।**
**दोहि गुरू तवगुरुगा, कालगुरू दोहि वी लहुगा ॥ ५२४० ॥**

निर्ग्रन्थस्य निर्ग्रन्थीं परिष्वजतः चतुर्गुरवो द्वाभ्यामपि गुरुकाः। स्त्रियं परिष्वजतस्त एव तपोगुरवः। गृहस्थं परिष्वजतः चतुर्लघवः कालगुरवः। पाषण्डिपुरुषं 'श्रमणं वा' साधुं

---

१ °कम्, चतुर्गुरुकमित्यर्थः ॥ एवं कां० ॥ २ दोहि वि गुरु तव° ताभा० ॥

परिष्वजतश्चतुर्लघव एव 'द्वाभ्यामपि' तपः-कालाभ्यां लघवः ॥ ५२४० ॥

मिच्छत्ते उड्डाहो, विराहणा फास भावसंबंधो ।
आतंको दोण्ह भवे, गिहिकरणे पच्छकम्मं च ॥ ५२४१ ॥

निर्ग्रन्थं निर्ग्रन्थीं परिष्वजन्तं दृष्ट्वा यथाभद्रकादयो मिथ्यात्वं गच्छेयुः, एते यथा वादिन-स्तथा कारिणो न भवन्ति । उड्डाहो वा भवेत्, एते संयतीभिरपि समममब्रह्मचारिणः । एवं शङ्कायां चतुर्गुरु, निःशङ्किते मूलम् । एवं प्रवचनस्य विराधना भवेत् । तेन वा स्पर्शेन द्वयोरपि मोहोदये सञ्जाते भावसम्बन्धोऽपि स्यात्, ततश्च प्रतिगमनादयो दोषाः । आतङ्को वा द्वयोरन्यतरस्य भवेत् स परिष्वजने सङ्क्रामेत् । गृहस्थस्य च परिष्वजनकरणे पश्चात्कर्मदोषो भवेत् ॥ ५२४१ ॥ इदमेव पश्चार्द्धं व्याचष्टे—

कोढ खए कच्छु जरे, अवरोप्पर संकमंते चउभंगो ।
इत्थीणाति सुहीण य, अचियत्तं गिण्हणादीया ॥ ५२४२ ॥

कुष्ठ-क्षत-कच्छू-ज्वरप्रभृतिके रोगे परस्परं सङ्क्रामति चतुर्भङ्गी भवति—संयतस्य सम्बन्धी कुष्ठादिः संयत्याः सङ्क्रामति १ संयत्याः सम्बन्धी वा संयतस्य सङ्क्रामति २ द्वयोरप्यन्योन्यं सङ्क्रामति ३ द्वयोरपि न सङ्क्रामति ४ । अत्राद्यभङ्गत्रये रोगसङ्क्रमणकृताः परितापनादयो दोषाः । तथा "इत्थी" इत्यादि, तस्याः स्त्रियः सम्बन्धिनो ये ज्ञातयो ये च सुहृदस्तेषामप्रीतिकं भवति—◁ किमियं श्रमणोऽस्मत्सम्बन्धिनीमित्थमालिङ्गति ? इति । ▷ ततश्च ग्रहणा-ऽऽकर्षणादयो दोषाः ॥ ५२४२ ॥

गिहिएसु पच्छकम्मं, भंगो ते चेव रोगमादीया ।
संजय असंखडादी, भुत्ता-ऽभुत्ते य गमणादी ॥ ५२४३ ॥

गृहिषु परिष्वज्यमानेषु पश्चात्कर्म भवति, 'संयतेन स्पृष्टोऽहम्' इति कृत्वा गृहस्थः स्नानं कुर्यादिति भावः । अविरतिकायाः परिष्वङ्गे भावसम्बन्धोऽपि जायेत, ततश्च 'भङ्गः' ब्रह्मचर्य-विराधना भवेत्, रोगसङ्क्रमणादयश्च त एव दोषाः । संयतं तु परिष्वजतस्तेन सहासङ्खडादयो दोषाः । भुक्तभोगिनश्च स्मृतिकरणेनाभुक्तभोगिनः कौतुकेन प्रतिगमनादयो दोषाः । एवं तावन्निष्कारणेऽग्लानायाश्चोक्तम् ॥ ५२४३ ॥

एमेव गिलाणाए, सुत्तऽफलं कारणे तु जयणाए ।
कारणे एग गिलाणा, गिहिकुल पंथे व पत्ता वा ॥ ५२४४ ॥

एवमेव ग्लानाया अपि संयत्याः परिष्वजने क्रियमाणे दोषजालं मन्तव्यम् । परः प्राह—नन्वेवं सूत्रमफलं प्राप्नोति, तत्र हि परिष्वजनमनुज्ञातं स्वादनं पुनः प्रतिषिद्धम् । सूरिराह—कारणे यतनया क्रियमाणे परिष्वजने सूत्रमवतरति । कथं पुनस्तस्य सम्भवः ? इत्याह—कारणे काचिदार्यिका "एग" त्ति एकाकिनी संवृत्ता, सा च पश्चाद् ग्लानीभूता, "गिहिकुल" त्ति गृहस्थकुलानिश्रया सा स्थिता, अथवा "गिहिकुल" त्ति सा तस्यैककुलसमुद्भूता भगिन्यादि-

१ °ता अनागाढा-ऽऽगाढपरि° कां० ॥ २ ◁ ▷ एतन्मध्यगत पाठः कां० एव वर्तते ॥ ३ °कुल-निश्र° कां० । "गिहिकुल त्ति सा गिहत्थकुलं पिस्साए ठिया" इति चूर्णौ विशेषचूर्णौ च ॥

सम्बन्धेन निजका गृहस्थतां परित्यज्य तदन्तिके प्रव्रजिता, सा चानीयमाना पथि वा वर्तमाना विवक्षितग्रामं वा प्राप्ता ग्लाना जाता ॥ ५२४४ ॥ तत्रेयं यतना—

**माता भगिणी धूता, तधेव सण्णातिगा य सड्डी य ।**
**गारत्थि कुलिंगी वा, असोय सोए य जयणाए ॥ ५२४५ ॥**

तस्याः संयत्या या माता भगिनी दुहिता वा तया तस्या उत्थापनादिकं कार्यते । एतासामभावे या तस्याः 'संज्ञातका' भागिनेयी-पौत्रीप्रभृतिका तया कार्यते । तस्या अभावे श्राद्धिकया । तदभावे गृहस्थया यथाभद्रिकया कुलिङ्गिन्या वा कार्यते । तास्वपि प्रथममशौचवादिनीभिः, ततः शौचवादिनीभिरपि यतनया कारयितव्यम् ॥ ५२४५ ॥

**एयासिं असतीए, अगार सण्णाय णालबद्धो य ।**
**समणो वऽनालबद्धो, तस्सऽसति गिही अवयतुल्लो ॥ ५२४६ ॥**

एतासां स्त्रीणामभावे योऽगारः 'संज्ञातकः' तस्याः स्वजनः, स च मातुल-पुत्रादिरपि स्याद् अतस्तत्प्रतिषेधार्थमाह—'नालबद्धः' वल्लीबद्धः, पितृ-भ्रातृ-पुत्रप्रभृतिक इत्यर्थः, स उत्थापनादिकं तस्याः कार्यते । तदभावे श्रमणोऽपि यस्तस्या नालबद्धो असमानवयाः । तस्यासति अनालबद्धोऽपि यो गृही वयसा अतुल्यः स कार्यते ॥ ५२४६ ॥

**दोन्नि वि अनालबद्धा उ, जुज्जंती एत्थ कारणे ।**
**किढी कण्णा विमज्झा वा, एमेव पुरिसेसु वि ॥ ५२४७ ॥**

नालबद्धाभावे 'द्वावपि' स्त्री-पुरुषावनालबद्धावपि 'कारणे' आगाढे उत्थापनादिकं कारयितुं युज्यन्ते । तत्रापि प्रथमं "किढि" त्ति स्थविरा स्त्री कार्यते । तदभावे कन्यका । तदप्राप्तौ मध्यमा । एवं पुरुषेष्वपि वक्तव्यम् ॥ ५२४७ ॥ अमुमेवार्थं पुरातनगाथया[1] व्याख्यानयति—

**असईय माउवग्गे, पिता व भाता व से करेज्जाहि ।**
**दोण्ह वि तेसिं करणं, जति पंथं तेण जतणाए ॥ ५२४८ ॥**

मातृवर्गो नाम—स्त्रीजनः तस्याभावे[2] यः तस्याः संयत्याः सम्बन्धी पिता वा भ्राता वा स उत्थापनादिकं करोति । "दोण्ह वि" इत्यादि, द्वयोरपि तयोः करणम्, किमुक्तं भवति ?—पथि वर्तमानायाः प्राप्ताया वा अथवा निजकाया वा अनिजकाया वा अनन्तरोक्तविधिना तस्या उत्थापनादिकं कर्तव्यम् । यदा च पथि ग्लाना संवृत्ता तदा स्वयमेव 'यतनया' गोपालकञ्चुकतिरोधानरूपया तस्याः परिकर्म करोति ॥ ५२४८ ॥

अथवा "दोण्ह वि" त्ति विभक्तिव्यत्ययाद् द्वाभ्यामपि द्रष्टव्यम् । तत्रायमर्थः—

**थी पुरिस णालऽणाले, सपक्ख परपक्ख सोयऽसोये य ।**
**आगाढम्मि उ कज्जे, करेति सव्वेहि जतणाए ॥ ५२४९ ॥**

आगाढे[3] कार्ये स्त्रिया वा पुरुषेण वा नालबद्धेन वा अनालबद्धेन वा स्वपक्षेण वा परपक्षेण

---

१ "एतदेवार्थं इमीए पुरातनाए गाहाए वक्खाणेइ—'असईय माउवग्गे' गाहा ॥" इति विशेषचूर्णौ ॥ २ तस्मिन् 'असति' अविद्यमाने यः कां० ॥ ३ कार्ये आत्यन्तिके ग्लान्ये कां० ॥

वा शौचवादिना वाऽशौचवादिना वा सर्वैरपि यतनया कारयति ॥ ५२४९ ॥

**पंथम्मि अपंथम्मि व, अण्णस्सऽसती सती वऽकुणमाणो ।**
**अंतरियकंचुकादी, स च्चिय जतणा तु पुव्वुत्ता ॥ ५२५० ॥**

पथि अपथि वा वर्तमानाया अन्यस्याभावे यद्वा विद्यतेऽन्यः परं स भणितोऽपि न करोति ततः स्वयमेव कुर्वन् गोपालकञ्चुकादिभिरन्तरितः करोति । अत्र च सैव पूर्वोक्ता यतना मन्तव्या या तृतीयोद्देशके प्रथमसूत्रे ग्लानसंयत्याः प्रतिचरणे प्रतिपादिता ( गा० ३७६८ तः ) ॥ ५२५० ॥ एवं तावदेकाकिनः साधोर्विधिरुक्तः । अथ गच्छे तमेवाह—

**गच्छम्मि पिता पुत्ता, भाता वा अज्जगो व णत्तू वा ।**
**एतेसिं असतीए, तिविहा वि करेंति जयणाए ॥ ५२५१ ॥**

गच्छे वसतां यदि तस्याः पिता पुत्रो भ्राता वा 'आर्यको वा' पितामहादिः 'नप्ता वा' पौत्रोऽस्ति ततः संयतीनामपरस्य वा स्त्रीजनस्याभावे तैः कर्त्तव्यम् । 'एतेषां' पितृप्रभृतीनामभावे 'त्रिविधा अपि' स्थविर-मध्यम-तरुणाः साधवः 'यतनया' गोपालकञ्चुकतिरोहिताः कुर्वन्ति ॥ ५२५१ ॥ इदं गच्छे प्राप्ताया अभिहितम्, अथ पथि वर्तमानाया उच्यते—

**दोण्णि वि वयंति पंथं, एक्कतरा दोण्णि वा न वच्चंती ।**
**तत्थ वि स एव जतणा, जा वुत्ता णायगादीया ॥ ५२५२ ॥**

'द्वे अपि' निजका-ऽनिजके संयत्यौ पन्थानं व्रजतः, एकतरा वा व्रजति, द्वे अपि न व्रजतः, एवमेते त्रयः प्रकाराः । अत्र तृतीयः प्रकारः शून्यः, स्थानस्थितानां वा अशक्नुवतां गच्छमप्राप्तानां वा भवति । त्रिष्वपि चामीषु ◁ यतना सैव मन्तव्या ▷ या पूर्वं ज्ञातकादिक्रमेण गच्छे प्राप्तायाः प्रोक्ता ॥ ५२५२ ॥

**एवं पि कीरमाणे, सातिज्जणे चउगुरू ततो पुच्छा ।**
**तम्मि अवत्थाय भवे, तहिगं च भवे उदाहरणं ॥ ५२५३ ॥**

'एवमपि' यतनया क्रियमाणे परिकर्मणि यदि सा निर्ग्रन्थी पुरुषस्पर्शं स्वादयति तदा चतुर्गुरवो द्वाभ्यामपि तपः-कालाभ्यां गुरवः । "ततो पुच्छ" त्ति ततः शिष्यः पृच्छति—यस्यां ग्लानावस्थायामुत्थातुमपि न शक्यते तस्यामपि मैथुनाभिलाषो भवतीति कथं श्रद्धेयम् ? ।

---

१ °या तस्याः प्रतिकर्म करोति, कारयतीत्यर्थः ॥ ५२४९ ॥ अत्रैव विशेषविधिमतिदिशन्नाह—पंथम्मि कां० ॥ २ 'पथि' मार्गे 'अपथि वा' ग्रामे वर्त्तमानायाः संयत्याः 'अन्यस्य' प्रतिचरकस्य 'असति' अभावे, अभावो नाम—नास्त्यसौ यद्वा कां० ॥ ३ °व तस्याः प्रतिचरणं कुर्व° कां० ॥ ४ पथि वर्त्तमानायाः संयत्यास्त्रयः प्रकाराः—तत्र 'द्वे अपि' निजका-ऽनिजके संयत्यौ साधुना समं पन्थानं व्रजत इति प्रथमः, एकतरा वा व्रजतीति द्वितीयः, द्वे अपि न व्रजत इति तृतीयः, एवमेते त्रयः प्रकाराः । अत्र तृतीयः प्रकारः शून्यः, पथि वर्त्तमानायास्तस्य असम्भवात्; स्थान° कां० ॥ ५ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः कां० एव वर्तते ॥ ६ च इमं उदा° ताभा० ॥ ७ 'ततः' पूर्वोक्तार्थप्रतिपादनानन्तरं शिष्यः कां० ॥

सूरिराह—'तत्र' इति तादृगवस्थायामपि मोहोदये इदमुदाहरणं भवेत् ॥ ५२५३ ॥

**कुलवंसम्मि पहीणे, ससं-भसएहिं च होइ आहरणं ।**
**सुकुमालियपव्वज्जा, सपच्चवाता य फासेणं ॥ ५२५४ ॥**

**शशक-भसकाभ्यामाहरणं** भवति । कथम्? इत्याह—कुलवंशे सर्वस्मिन् अशिवेन प्रक्षीणे सति **सुकुमारिकायाः** प्रव्रज्या ताभ्यां दत्ता । सा चातीव सुकुमारा रूपवती च । ततस्तेन स्पर्शदोषेण उपलक्षणतया रूपदोषेण च सप्रत्यपाया जाता ॥ ५२५४ ॥

एनामेव **निर्युक्तिगाथां** व्याख्याति—

**जियसत्तुनरवरिंदस्स अंगया सस-भसा य सुकुमाली ।**
**धम्मे जिणपण्णत्ते, कुमारगा चेव पव्वइता ॥ ५२५५ ॥**
**तरुणाइन्ने निच्चं, उवस्सए सेसिगाण रक्खट्ठा ।**
**गणिणि गुरु-भाउकहणं, पिहुवसए हिंडए एक्को ॥ ५२५६ ॥**
**इक्खागा दसभागं, सव्वे वि य वण्हिणो उ छब्भागं ।**
**अम्हं पुण आयरिया, अद्धं अद्धेण विभयंति ॥ ५२५७ ॥**
**हत-महित-विप्परद्धे, वण्हिकुमारेहिँ तुरुमिणीनगरे ।**
**किं काहिति हिंडंतो, पच्छा ससतो व भसतो वा ॥ ५२५८ ॥**
**भायऽणुकंप परिण्णा, ससोहियं एगों भंडगं बितितो ।**
**आसत्थ वणिय गहणं, भाउग सारिक्ख दिक्खा य ॥ ५२५९ ॥**

इहेव **अड्ढभरहे वणवासीए** नगरीए **वासुदेवजेट्ठभाउणो जराकुमारस्स** पउप्पए **जियसत्तू** राया । तस्स दुवे पुत्ता **ससओ भसओ** य, धूया य **सुकुमालिया** नामेणं । अन्नया ते भाउणो दो वि पव्वइया, गीयत्था जाया, सन्नायगदंसणत्थं आगया । नवरं सव्वो वि कुलवंसो पहीणो **सुकुमालियं** एक्कं मोत्तुं । सा तेहिं पव्वाविया, **तुरमिणिं** नगरिं गया, महयरियाए दिन्ना । सा अतीव रूववई जओ जओ भिक्खा-वियारादिसु वच्चइ तओ तओ तरुण-जुवाणा पिट्ठतो वच्चंति । वसहीए पविट्ठाए वि तरुणा उवस्सयं पविसित्ता चिट्ठंति । संजईओ न तरंति पडिलेहणाइ किंचि काउं ताहे ताए महयरियाए गुरूणं कहियं—**सुकुमालियाए** तणएणं मम अन्नातो वि विणस्सिहिंति । ताहे गुरुणा **ससग-भसगा** भणिता—सारक्खह एतं भगिणिं । ते तं घेत्तुं वीसुं उवस्सए ठिया । तेसिं एगो भिक्खं हिंडइ, एगो तं पयत्तेण रक्खइ । दो वि भायरो साहस्समल्ला जे तरुणा अहिवडंति ते हत-महिते काउं धाडेंति । ते य

१ °स-भिस° कां० । एवमग्रेऽपि सर्वत्र मूले टीकायां च 'भसक' स्थाने 'भिसक' इति पाठान्तरं ज्ञेयम् । **चूर्णौ विशेषचूर्णौ** च 'भिसग' इति दृश्यते ॥ २ °थां भाष्यकारो व्या° कां० ॥ ३ °हणं, विसुव° ताभा० ॥ ४ °णो त्थ छ° ताभा० ॥ ५ °हया ए° ताभा० विना ॥ ६ तत्र तावत् प्रथमं कथानकमुच्यते—इहेव कां० ॥ ७ "मयहरियाए **सस-भसता** भण्णंति—**सुकुमालियाए** तणएणं मम अण्णाओ वि विणस्सिहिंति तो फेडेता तुब्भे अण्णत्थ सारवेव । तेहिं वीसुं उवस्सयं गहाय वीसुं ठविता" इति **चूर्णौ विशेषचूर्णौ** च ॥

विराहिया भिक्खं न देंति। तओ सो एगो भिक्खं हिंडंतो तिण्हं पज्जत्तं न लहइ। बिइओ पच्छा देसकाले फिडिए हिंडंतो न संथरइ ताहे सा भणइ—तुब्भे दुक्खिया मा होह, अहं भत्तं पच्चक्खामि। पच्चक्खाए मारणंतियसमुग्घाएणं समोहया। तेहिं नायं—कालगय त्ति। ताहे एगेणं उवगरणं गहियं, बिइएणं सा गहिया। गच्छंताणं ताए ईसि त्ति पुरिसफासो वेइओ साइज्जियं च। तओ ते तं परिठविचा गया गुरुसगासं। इयरी रत्तीए सीयलवाएणं समासत्था सचेयणा जाया। गोसे एगेणं सत्थवाहपुत्तेणं दिट्ठा। ताए सो भणिओ—जइ ते मए कज्जं तो सारवेहिं। सा तेण सारविया महिला से जाया। ते भायरो अन्नया भिक्खं हिंडंते दट्ठुं पाएसु पडिया परुन्ना। सा तेहिं सारिक्खेण पच्चभिन्नाया पुणो पव्वाविया। एवं जइ ताव तीए समुग्घायगयाए साइज्जियं, किमंग पुण इयरी गिलाणी न साइज्जिज्जा? ॥

अथाक्षरार्थः—**जितशत्रुनरवरेन्द्रस्य** 'अङ्गजौ' पुत्रौ **शशक-भसकौ सुकुमारिका** च दुहिता। ततो जिनप्रणीते धर्मे कुमारकावेव तौ प्रव्रजितौ। क्रमेण च ताभ्यां भगिन्यपि प्रव्राजिता॥

ततस्तस्या रूपदोषेण तरुणैराकीर्णे नित्यमुपाश्रये शेषसाध्वीनां रक्षणार्थं गणिन्या गुरवे निवेदितम्। गुरुभिश्च भ्रात्रोः कथितम्। ततः पृथगुपाश्रये तां गृहीत्वा स्थितौ। तयोर्मध्यादेको भिक्षार्थं हिण्डते, एकस्तां रक्षति॥

किमर्थं पुनस्तस्या रक्षणमेवं तौ कृतवन्तौ? इत्याह—"इक्खागा" इत्यादि। 'इक्ष्वाकवः' इक्ष्वाकुवंशनृपतयः प्रजाः सम्यक् पालयन्तोऽपालयन्तश्च यथाक्रमं तदीयपुण्य-पापयोर्दशभागं लभन्ते। सर्वेऽपि च **'वृष्णयः' हरिवंश**नृपतय एवमेव षड्भागं लभन्ते। अस्माकं पुनः प्रवचने आचार्याः साधु-साध्वीजनं संयमा-ऽऽत्म-प्रवचनविषयप्रत्यपायेभ्यः सम्यक् पालयन्तो अपालयन्तो वा यथाक्रमं पुण्यं पापं चार्द्धमर्द्धेन विभजन्ति, अत एव तौ तां रक्षितवन्ताविति भावः॥

ततश्च—"वण्हिकुमारेहि" त्ति **वृष्णयः-यादवा**स्तेषां कुमारौ वृष्णिकुमारौ, **शशक-भसका**वित्यर्थः, ताभ्यां **तुरुमिणी**नगर्यां उपसर्गकारी तरुणजनो भूयान् हत-मथित-विप्रारब्धः कृतः। तत्र हतश्चपेटादिना, मथितः—मानम्लानिं प्रापितः, विप्रारब्धः—विविधं—खर-परुष-वचनैः प्रकर्षेण निवारितः। तत एवं प्रभूतलोके विराधिते सति किं करिष्यति पश्चाद् भिक्षां हिण्डमानः **शशको भसको** वा भक्त-पानलाभाभावात्?, न किमपीति भावः॥

ततः **सुकुमारिका**या भ्रात्रोरनुकम्पया 'परिज्ञा' भक्तप्रत्याख्यानम्। ततो मरणसमुद्घातेन 'समवहतां' कालगतेयमिति ज्ञात्वा एकः 'भाण्डम्' उपकरणं द्वितीयस्तां गृहीतवान्। ततः शीतलवातेन आश्वस्तायाः तस्या वणिजा ग्रहणम्, कालान्तरेण च भ्रातृभ्यां सादृश्येण प्रत्यभिज्ञाय दीक्षा प्रदत्तेति॥ ५२५५॥ ५२५६॥ ५२५७॥ ५२५८॥ ५२५९॥

व्याख्यातं निर्ग्रन्थीसूत्रं। अथ निर्ग्रन्थसूत्रं व्याचष्टे—

**एसेव गमो नियमा, निग्गंथीणं पि होति नायव्वो।**
**तासिं कुल पव्वज्जा, भत्तपरिण्णा य भातुम्मि॥ ५२६०॥**

एष एवं गमो निर्ग्रन्थस्य परिष्वजनं कुर्वतीनां निर्ग्रन्थीनां ज्ञातव्यो भवति। नवरम्—

---

१ °ष निर्ग्रन्थीसूत्रोक्तो गमो नियमाद् निर्ग्रन्थ° कां०॥

'तासां' निर्ग्रन्थीनां सम्बन्धी "कुल" त्ति एककुलोद्भवो भ्राता रूपवान् प्रव्रजितस्तस्यापि क्रमेण भक्तपरिज्ञा सञ्जाता ॥ ५२६० ॥ इदमेव व्याचष्टे—

विउलकुले पव्वइते, कप्पट्ठग किढियकालकरणं च ।
जोव्वण तरुणी पेल्लण, भगिणी सारक्खणा वीसुं ॥ ५२६१ ॥
सो चेव य पडियरणे, गमतो जुवतिजण वारण परिण्णा ।
कालगतो त्ति समोहतो, उज्झण गणिया पुरिसवेसी ॥ ५२६२ ॥

क्वापि विपुलकुले समुद्भूतं भगिनीद्वयं प्रव्रजितम् । ततः कुलवंशस्तथैव सर्वोऽपि प्रक्षीणः । नवरमेकः कल्पस्थको जीवति । ततः संज्ञातकदर्शनायागतेन तेनार्यिकाद्वयेन किढिका—स्थविरा मातेत्यर्थः तत्प्रभृतिकुटुम्बस्य कालकरणं श्रुतम् । स च कल्पस्थकः प्रव्राज्य गुरूणां दत्तः । यौवनं च प्राप्तोऽसावतीव रूपवान् समजनि, ततस्तरुणीभिः प्रेर्यते । ततो गुरूणामाज्ञया ते भगिन्यौ विष्वगुपाश्रये नीत्वा संरक्षितवत्यौ ॥ ५२६१ ॥

कथम् ? इत्याह—स एव 'प्रतिचरणे' रक्षणे गमो भवति यः सुकुमारिकाया उक्तः । एवं युवतिजनवारणे क्रियमाणे तस्य भगिनीदुःखं तथाविधं दृष्ट्वा भक्तपरिज्ञा । ततः 'समवहतः' कालगत इति विज्ञाय 'उज्झनं' परिष्ठापनम् । तस्य च स्त्रीस्पर्शेन समाश्वासितस्य पुनश्चैतन्ये सञ्जाते[1] पुरुषद्वेषिण्या गणिकया ग्रहणम् । ततस्तस्याः पतिः सञ्जातः । कियत्यपि काले गते समागताभ्यां भगिनीभ्यां प्रत्यभिज्ञाय भूयः प्रव्राजित इति ॥ ५२६२ ॥

॥ ग्लानप्रकृतं समाप्तम् ॥

---

## का ल क्षे त्रा ति क्रा न्त प्र कृ त म्

सूत्रम्—

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पढमाए पोरिसीए पडिग्गाहित्ता पच्छिमं पोरिसिं उवाइणावित्तए । से य आहच्च उवाइणाविए सिया तं नो अप्पणा भुंजिज्जा, नो अन्नेसिं अणुप्पएज्जा, एगंते बहुफासुए[3] थंडिले पडिलेहित्ता पमज्जित्ता परिट्ठवेयव्वे सिया । तं अप्पणा भुंजमाणे अन्नेसिं वा दलमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं १६ ॥

---

१ °रक्षणं तस्य कुलच° कां० ॥ २ °ते रूपवान् इति कृत्वा पुरु° कां० ॥ ३ °ए पएसे पडि° कां० । एतदनुसारेणैव कां० टीका, दृश्यतां पत्रं १४०० टिप्पणी ३ ॥

**नो कप्पइ निग्गंथाण वा २ असणं वा ४ परं अद्ध-जोयणमेराए उवायणावित्तए। से य आहच्च उवाइ-णाविए सिया तं नो अप्पणा भुंजिज्जा जाव आव-ज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं १७ ॥**

अस्य सूत्रद्वयस्य सम्बन्धमाह—

**भावस्स उ अतियारो, मा होज्ज इती तु पत्थुते सुत्ते ।**
**कालस्स य खेत्तस्स य, दुवे उ सुत्ता अणतियारे ॥ ५२६३ ॥**

'भावस्य' ब्रह्मव्रतपरिणामस्य 'अतिचारः' अतिक्रमो मा भूदिति अनन्तरप्रस्तुते सूत्रे प्रतिपादिते। अथ कालस्य च क्षेत्रस्य चातिचारः—अतिक्रमो मा भूदिति द्वे सूत्रे प्रारभ्येते ॥५२६३॥

अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य व्याख्या—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा अशनं वा पानं वा खादिमं वा स्वादिमं वा प्रथमायां पौरुष्यां प्रतिगृह्य पश्चिमां पौरुषीं "उवाइणावित्तए" त्ति 'उपानाययितुं' सम्प्रापयितुमिति। तच्च "आहच्च" कदाचिद् उपानायितं स्यात् ततः 'तद्' अशनादिकं नाऽऽत्मना भुञ्जीत न वा अन्येषां साधूनामनुप्रदद्यात्। किं पुनस्तर्हि विधेयम्? इत्याह—एकान्ते बहुप्रासुके स्थण्डिले प्रत्युपेक्ष्य चक्षुषा प्रमृज्य रजोहरणेन परिष्ठापयितव्यं स्यात्। तद् आत्मना भुञ्जानोऽन्येषां वा ददान आपद्यते चातुर्मासिकं परिहारस्थानमुद्घातिकम् ॥

एवं क्षेत्रातिक्रान्तसूत्रमपि वक्तव्यम्। नवरम्—अर्द्धयोजनलक्षणाया मर्यादाया अतिक्रामयितुमशनादिकं न कल्पते। स्यात् तदुपानायितं भवेत् ततो यः स्वयं तद् भुङ्क्तेऽन्येषां वा ददाति तस्य चतुर्लघुकमिति सूत्रद्वयार्थः ॥ अथ निर्युक्तिविस्तरः—

**बितियाउ पढम पुव्विं, उवातिणे चउगुरुं च आणादी ।**
**दोसा संचय संसत्त दीह साणे य गोणे य ॥ ५२६४ ॥**
**अगणि गिलाणुच्चारे, अब्भुट्ठाणे य पाहुण णिरोधे ।**
**सज्झाय विणय काइय, पयलंत पलोट्टणे पाणा ॥ ५२६५ ॥**

आस्तां तावत् पश्चिमा चतुर्थी पौरुषी किन्तु द्वितीयायाः पौरुष्याः प्रथमाऽपि पूर्वा भण्यते प्रथमायाश्च द्वितीया पाश्चात्या, एवं तृतीयाया द्वितीया पूर्वा द्वितीयायास्तृतीया पाश्चात्या, चतुर्थ्यास्तृतीया पूर्वा तृतीयस्याश्चतुर्थी पश्चिमा। ततः प्रथमायाः पौरुष्या द्वितीयायामशनादिकमतिक्रामयतश्चतुर्गुरुकम्, आज्ञादयश्च दोषाः। तथा सञ्चयो भवति। चिरं चावतिष्ठमानं तदशनादिकं प्राणिभिः संसक्तं भवति। दीर्घजातयो वा श्वा वा समागच्छेत् ततः स

१ °ज्जा, नो अन्नेसिं अणुप्पएज्जा, एगंते बहुफासुए पएसे पडिलेहित्ता पमज्जित्ता परिट्ठवेयव्वे सिया। तं अप्पणा भुंजमाणे अन्नेसिं वा दलेमाणे आवज्जइ कां० ॥ २ °रमेव द्वे सूत्रे 'प्रस्तुते' प्रति° कां० ॥ ३ °शुके प्रदेशे प्रत्यु° कां० ॥ ४ °म्, चतुर्लघुकमित्यर्थः। एवं कां० ॥

द्रवभाजनव्यग्रहस्त उत्थातुमशक्नुवन् ताभ्यां खाद्येत । 'गौः' बलीवर्दस्तेन वा हन्येत । अत्राऽऽत्मविराधनानिष्पन्नं चतुर्गुरु । तद्भयेन च इतस्ततः स्पन्दमानो भाजनं भिन्द्यात् तत्र चतुर्लघु । तेन च विना या परिहाणिस्तन्निष्पन्नम् । अथैतेषां भयान्निक्षिपति ततश्चतुर्लघु ॥ ५२६४ ॥

"अगणि" त्ति अग्नावुत्थिते भाजनभारव्यापृतत्वेनानिर्गच्छन् दह्येत, तत्प्रतिबन्धेन वा उपधेर्दाहो भवेत् तत्रोपधिनिष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । ग्लानस्य वैयावृत्यमुद्वर्तनादिकं भारव्यापृतो न करोति, अक्रियमाणे परितापनादिकं स प्राप्नुयात् तन्निष्पन्नं चतुर्लघुकादि पाराञ्चिकान्तम्, अथ निक्षिप्य करोति ततो मासलघु । तेन परिगृहीतेनोच्चारं व्युत्स्रष्टुं न शक्नोति ततो धारयतो ग्लानत्वारोपणा, अथ गृहीतेन व्युत्सृजति तत उड्डाहः । गुरूणां प्राघुणकस्य चाऽभ्युत्थानं न करोति चतुर्लघु, अथ करोति ततो भाजनभेदादयो दोषाः । भृतभाजनधारणे गात्रनिरोधेनासमाधिर्भवेत् । तथा स्वाध्यायं न प्रस्थापयति । आचार्यादीनां पादप्रक्षालनादिकं विनयं न करोति । कायिकीं न व्युत्सृजति, गृहीतेन वा व्युत्सृजति । प्रचलायमानस्य वा भाजनं प्रलुठेत्, तस्य च प्रलोठने पानकादिना प्लाव्यमानाः प्राणिनो विपद्यन्ते ॥ ५२६५ ॥

अथामूनेव सञ्चयादिदोषान् व्याचष्टे—

**निस्संचया उ समणा, संचयि तु गिहीव होंति धारेंता ।**
**संसत्ते अणुवभोगो, दुक्खं च विगिंचिउं होति ॥ ५२६६ ॥**

निस्सञ्चयाः श्रमणा उच्यन्ते, ततो यदि तेऽपि गृहीत्वा धारयन्ति तदा गृहिण इव सञ्चयिनो भवन्ति । चिरं चावतिष्ठमानं तद् भक्त-पानं संसज्येत । संसक्तं च साधूनामुपभोक्तुं न कल्पते, 'विवेक्तुं च' परिष्ठापयितुं तद् दुःखं भवति, यतस्तत्र परिष्ठाप्यमाने यैः प्राणिभिः संसक्तं ते विनाशमश्नुवते ॥ ५२६६ ॥

**एमेव सेसएसु वि, एगतर विराहणा उभयतो वि ।**
**असमाधि विणयहाणी, तप्पच्चयनिज्जराए य ॥ ५२६७ ॥**

एवमेव 'शेषेष्वपि' दीर्घादिषु द्वारेषु भावना कर्तव्या, सा च प्रागेव कृता । तथा 'एकतरस्य' साधोर्भाजनस्य वा विराधना दीर्घजातीयादिषु भवति । उभयम्—आत्मा संयमश्चेति द्वयं तस्य विराधना उभयविराधना । "असमाहि" त्ति अग्निना दह्यमानस्यासमाधिमरणं भारेणाक्रान्तस्य वा असमाधिः—दुःखेनावस्थानं भवेत् । गुरुप्रभृतीनां च विनयहानिं कुर्वतस्तत्प्रत्ययनिर्जराया अपि हानिर्भवति ॥ ५२६७ ॥

**पच्छित्तपरूवणता, एतेसि ठवेंतए य जे दोसा ।**
**गहितकरणे य दोसा, दोसा य परिट्ठवेंतस्स ॥ ५२६८ ॥**
**तम्हा उ जहिं गहितं, तहिँ भुंजणें वज्जिया भवे दोसा ।**
**एवं सोधि ण विजाति, गहणे वि य पावती बितियं ॥ ५२६९ ॥**

'एतेषां' सञ्चयादीनां सर्वेषामपि प्रायश्चित्तप्ररूपणा कर्तव्या, सा च प्रागेव लेशतः कृता ।

---

१ °द्यन्ते । एतेषु सर्वेष्वपि यथायोगं तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् ॥ कां० ॥ २ वा "उभयतो वि" त्ति उभयस्य वा विराधना दीर्घजातीयादिषु भवति । अथवा उभयम् कां० ॥

'स्थापयतः' निक्षिपतश्च ये दोषाः, ये च गृहीतेन कार्याणि कुर्वतो भाजनभेदप्रभृतयो दोषाः, ये च परिष्ठापयतो दोषास्तेऽपि वक्तव्या इति ॥ ५२६८ ॥

यत एतावन्तो दोषाः तस्माद् यस्यामेव पौरुष्यां गृहीतं तस्यामेव भोक्तव्यम् । एवं कुर्वता 'दोषाः' पूर्वोक्ता वर्जिता भवन्ति । परः प्राह—नन्वेवं शोधिर्न विद्यते यतः "पाइणे वि" त्ति यावद् भिक्षां गृह्णाति तावदेव द्वितीयां पौरुषीं प्राप्नोति ॥ ५२६९ ॥ सूरिराह—

**एवं ता जिणकप्पे, गच्छम्मि चउत्थियाएँ जे दोसा ।**
**इतरासि किण्ण होंती, दव्वे सेसम्मि जतणाए ॥ ५२७० ॥**

एवं तावज्जिनकल्पिकानामुक्तं यदुत 'यस्यामेव गृहीतं तस्यामेव भोक्तव्यम्' । गच्छवासिनस्तु प्रथमायां गृहीत्वा यदि चतुर्थीमतिक्रामयन्ति तदा ये सञ्चयादयो दोषा उक्तास्तान् प्राप्नुवन्ति । भूयोऽपि परः प्रेरयति—'इतरयोः' द्वितीय-तृतीययोः पौरुष्योरशनादि द्रव्यं धारयतां किमेते दोषा न भवन्ति ? । गुरुराह—भवन्ति, परं द्रव्ये भुक्तशेषे कारणे यतनया धार्यमाणे दोषा न भवन्ति ॥ ५२७० ॥ कथं पुनस्तदुद्धरितं भवति ? इत्याह—

**पडिलाभणा बहुविहा, पढमाएँ कदाचि णासिमविणासी ।**
**तत्थ विणासिं भुंजेऽजिण्णे परिण्णे य इतरं पि ॥ ५२७१ ॥**

अभिगतश्राद्धेन दानश्राद्धेन वा कचित् प्रकरणे प्रथमपौरुष्यां बहुविधा प्रतिलाभना कृता, बहुभिर्भक्ष्य-भोज्यद्रव्यैरित्यर्थः । तच्च द्रव्यं द्विधा—विनाशि अविनाशि च । क्षीरादिकं विनाशि, अवगाहिमादिकमविनाशि । तत्र यद् विनाशि द्रव्यं तद् नमस्कार-पौरुषीप्रत्याख्यानवन्तो भुञ्जते । शेषसाधूनां यद्यजीर्णं यदि वा तैः परिज्ञातं—तस्या विकृतेः प्रत्याख्यानं कृतम् अभक्तार्थो वा प्रत्याख्यातः आत्मार्थिका वा ते ततः 'इतरदपि' अविनाशि द्रव्यमपि भुञ्जते ॥ ५२७१ ॥ अमुमेवार्थं व्याचष्टे—

**जइ पोरिसित्तया तं, गमेंति तो सेसगाण ण विसज्जे ।**
**अगमेंताऽजिण्णे वा, धरंति तं मत्तगादीसु ॥ ५२७२ ॥**

यदि पौरुषीप्रत्याख्यानवन्तस्तद् द्रव्यं सर्वमपि 'गमयन्ति' निर्वाहयितुं शक्नुवन्ति ततः 'शेषाणां' पूर्वार्द्धप्रत्याख्यानिनां 'न विसर्जयेयुः' न दद्युः । अथ ते सर्वमपि न गमयन्ति ततः पूर्वार्द्धप्रत्याख्यानिनामपि दीयते । अथ तेषामप्यजीर्णं ततो मात्रकादिषु 'तद्' अशनादिकं धारयन्ति ॥ ५२७२ ॥ अथवाऽमुना कारणेन धारयेत्—

**तं काउ कोइ न तरइ, गिलाणमादीण दाउमच्चुण्हे ।**
**नाउं व बहुं वियरइ, जहासमाहिं चरिमवज्जं ॥ ५२७३ ॥**

'तद्' अशनादिकं 'कृत्वा' मुक्त्वा कश्चिद् ग्लानादीनां प्रायोग्यमानीय दातुम् 'अत्युष्णे' अतीवातपे घटिते न शक्नोति, एतेन कारणेन धारयेत् । यद्वा 'बहु' प्रभूतं भैक्षं लब्धं ततः 'मा परिष्ठापयितव्यं भवेद्' इति ज्ञात्वा गुरवोऽशनादेर्धरणं वितरन्ति, अनुजानन्तीत्यर्थः ।

१ कदापि णा° ताभा० ॥ २ °ति ते म° मो० छे० ॥ ३ °न्तः, उपलक्षणमिदम्, तेन नमस्कारसहितप्रत्याख्यानवन्तो वा तद् द्रव्यं कां० ॥ ४ °ति कृत्वा कां० ॥

◁ गाथायामेकवचनं प्राकृतत्वात् । अथवा ▷ "जहासमाहिं" ति प्रथमपौरुष्यां लब्धं परमया-प्यजीर्णे ततो यावज्जीर्यते तावद्धारयेदपि । एवं यथा यथा समाधिर्भवति तथा तथा भुञ्जीत परं चरमावर्जम्, चतुर्थीं पौरुषीं नातिक्रामयेदिति भावः ॥ ५२७३ ॥

तत्र च धार्यमाणे इयं यतना—

संसज्जिमेसु छुब्भइ, गुलाइ लेवाडे इयरे लोणाई ।
जं च गमिस्संति पुणो, एसेव य भुत्तसेसे वि ॥ ५२७४ ॥

'संसजिमेषु' संसक्तियोग्येषु 'लेपकृतेषु' गोरसादिद्रव्येषु गुडादिकं प्रक्षिप्यते येन न संसज्यन्ते । इतरन्नाम—अलेपकृतं तद् यदि संसक्तियोग्यं तदा तत्र लवणादिकं प्रक्षिपेद् न गुडम् । यच्च प्रथमपौरुष्यां द्वितीयपौरुष्यां वा भुक्त्वा पुनः गमयिष्यन्ति, कियतीमपि वेलां प्रतीक्ष्य भूयो भोक्ष्यन्त इत्यर्थः, तत्रापि भुक्तशेषे धार्यमाणे 'एष एव' गुडादिप्रक्षेपणरूपो विधिर्भवति ॥ ५२७४ ॥

चोएइ धरिज्जंते, जइ दोसा गिण्हमाणि किन्न भवे ।
उस्सग्ग वीसमंते, उब्भामादी उदिक्खंते ॥ ५२७५ ॥

'नोदयति' प्रेरयति परः—यद्येवं भक्त-पाने धार्यमाणे दोषास्ततो भक्तादौ गृह्यमाणे किमेते श्वान-गवादयो दोषा न भवन्ति ? भवन्त्येव । तथा कायोत्सर्गं कुर्वतोऽपि त एव बाहुपरि-तापनादयश्च दोषाः, एवं विश्राम्यतोऽपि त एव दोषाः, उद्भ्रामकभिक्षाचर्यां ये गतास्तदादीनपि "उदिक्खंते" त्ति प्रतीक्षमाणस्य त एव दोषाः ॥ ५२७५ ॥ पर एव प्राह—

एवं अवातदंसी, थूले वि कहं ण पासह अवाये ।
हंदि हु णिरंतरोऽयं, भरितो लोगो अवायाणं ॥ ५२७६ ॥

यद्येवं यूयमपि 'अपायदर्शिनः' सूक्ष्मानप्यपायान् प्रेक्षध्वे ततः स्थूलानपि भिक्षाचर्यादि-विषयानपायान् कथं न पश्यथ ?, 'हन्दीति' उपदर्शने, 'हु' निश्चितम्, पश्यन्तु भगवन्तो यद् एवं निरन्तरोऽप्ययं लोकोऽपायानां भृतः ॥ ५२७६ ॥ कथम् ? इति चेद् उच्यते—

भिक्खादि-वियारगते, दोसा पडिणीय-साणमादीया ।
उप्पज्जंते जम्हा, ण हु लब्भा हिंडिउं तम्हा ॥ ५२७७ ॥

भिक्षा-विचारादौ गतानां साधूनां प्रत्यनीक-श्वान-गवादयो बहवो दोषा यस्मादुत्पद्यन्ते तस्माद् 'नहि' नैव साधुना हिण्डितुं लभ्यम् ॥ ५२७७ ॥

अहवा आहारादी, ण चेव णियय हवंति घेत्तव्वा ।
णेवाऽऽहारेयव्वं, तो दोसा वज्जिया होंति ॥ ५२७८ ॥

अथवाऽऽहारादयः 'नियतं' सर्वदा न ग्रहीतव्या भवन्ति किन्तु चतुर्थ-षष्ठादिकं कृत्वा सर्वथैवाशक्तेनाहारो ग्राह्यः । यद्वा नैव कदाचिदप्याहारयितव्यम् । एवं 'दोषाः' अपायाः सर्वेऽपि वर्जिता भवन्ति ॥ ५२७८ ॥ एवं परेणोक्ते सूरिराह—

---

१ ◁ ▷ एतन्मध्यगतः पाठः कां० एव वर्तते ॥ २ °म्, तदपि युष्माकं न बुध्यत इत्यर्थः ॥ कां० ॥ ३ °ष्ठा-ऽष्टमादिकं कां० ॥

**भण्णति सज्झमसज्झं, कज्जं सज्झं तु साहए मतिमं ।**
**अविसज्झं साधेंतो, किलिस्सति ण तं च साधेति ॥ ५२७९ ॥**

भण्यतेऽत्र प्रतिवचनम्—कार्यं द्विविधम्—साध्यमसाध्यं च । तत्र मतिमान् साध्यमेव कार्यं साधयति नासाध्यम् । तुशब्द एवकारार्थः । यस्तु युष्मादृशोऽविसाध्यं साधयति स केवलं क्लिश्यति न च तत् कार्यं साधयति, यथा मृत्पिण्डेन पटादिसाधनाय प्रवर्तमानः पुरुष इति, असाध्यं चात्र भिक्षाचर्यादावपर्यटनम् ॥ ५२७९ ॥ कुतः ? इति चेद् उच्यते—

**जति एयविप्पहूणा, तव-णियमगुणा भवे निरवसेसा ।**
**आहारमादियाणं, को नाम कहं पि कुव्वेज्जा ॥ ५२८० ॥**

यदि एतैः—आहारादिभिर्विविधं प्रकर्षेण हीनाः—रहितास्तपो-नियमगुणा निरवशेषा भवेयुः तत आहारादीनां को नाम कथमपि कुर्यात् ? अत आहारग्रहणार्थं भिक्षायामटनीयमिति प्रक्रमः । एतेन "अहवा आहारादी" (गा० ५२७८) इत्याद्यपि प्रत्युक्तं द्रष्टव्यम् ॥ ५२८० ॥

इदमेव सविशेषमाह—

**मोक्खपसाहणहेतू, णाणाती तप्पसाहणो देहो ।**
**देहट्ठा आहारो, तेण तु कालो अणुण्णातो ॥ ५२८१ ॥**

इह मोक्षप्रसाधनहेतवः 'ज्ञानादीनि' ज्ञान-दर्शन-चारित्राणि, तेषां च प्रसाधनो देहो भवति, अतो देहार्थमाहार इष्यते । स च काले गृह्यमाणो धार्यमाणो वा चारित्रस्यानुपघातको भवति, तेन कारणेन कालोऽनुज्ञातः ॥ ५२८१ ॥ कथम् ? इत्याह—

**काले उ अणुण्णाए, जति वि हु लग्गेज्ज तेहिँ दोसेहिँ ।**
**सुद्धो वुवादिणंतो, लग्गति उ विवज्जऍ परेणं ॥ ५२८२ ॥**

आद्यप्रहरत्रयलक्षणो द्वितीयादिपौरुषीत्रयात्मको वा कालो भक्त-पानादेर्धारणेऽनुज्ञातः । एवंविधेऽनुज्ञाते काले यद्यपि 'तैः' पूर्वोक्तैर्दोषैः 'लगेत' स्पृश्येत तथापि शुद्धः । अनुज्ञातकालात् परेण 'उपानाययन्' अतिक्रामयन् 'विपर्यये' अविद्यमानेष्वपि दोषेषु 'लगति' सप्रायश्चित्तो मन्तव्यः ॥ ५२८२ ॥

**पढमाएँ गिण्हितूणं, पच्छिमपोरिसि उवादिणति जो उ ।**
**ते चेव तत्थ दोसा, बितियाए जे भणिय पुव्विं ॥ ५२८३ ॥**

प्रथमायां पौरुष्यां गृहीत्वा[3] पश्चिमां पौरुषीं योऽतिक्रामयति तत्र त एव दोषा ये पूर्वं प्रथमायां गृहीत्वा द्वितीयायामतिक्रामयतो जिनकल्पिकस्य भणिताः ॥ ५२८३ ॥

अमूनि चातिक्रामणकारणानि—

**सज्झाय-लेव-सिव्वण-भायणपरिकम्म-सङ्कुरादीहिँ ।**
**सहस अणाभोगेण व, उवादियं होज्ज जा चरिमं ॥ ५२८४ ॥**

---

१ "काले उ" त्ति तुशब्दो विशेषणे, स चैतद् विशिनष्टि—आद्य° कां० ॥ २ °श्चित्तो भवतीत्यर्थः ॥५२८२॥ इदमेवान्यपदं भावयति—पढमाए कां० ॥ ३ °त्वा यः साधुरुपानाययति तत्र कां० ॥

स्वाध्यायेऽतीवोपयोगाद् विस्मृतम् । एवं लेपपरिकर्मणं कुर्वतः, वस्त्रं वा सीव्यतः, भाजनं वा परिकर्मयतः, देशकथादिकं वा सट्टरम्—आलजालं कुर्वतः, आदिशब्दः सट्टरस्यानेकभेदसूचकः । एतेषु यद् अत्यन्तव्यग्रत्वं स सहसाकारः, 'अनाभोगः' अत्यन्तविस्मृतिः । एवं सहसाकारेणानाभोगेन वा 'चरमां' चतुर्थीं यावदतिक्रामितं भवेत् ॥ ५२८४ ॥

आहच्चुवाइणाविय, विगिंचण परिण्णऽसंथरंतम्मि ।
अन्नस्स गेण्हणं भुंजणं च असतीऍ तस्सेव ॥ ५२८५ ॥

एतैः कारणैः "आहच्च" कदाचिदतिक्रामितं भवेत् ततः 'विवेच्य' परित्यज्य 'परिज्ञा' दिवसचरमप्रत्याख्यानं कर्तव्यम् । अथ न संस्तरन्ति ततः काले पूर्यमाणे 'अन्यस्य' अशनादेर्ग्रहणं भोजनं च कर्तव्यम् । अथ कालो न पूर्यते न वा तदानीं पर्याप्तं लभ्यते ततः यतनया यथा अगीतार्थाः 'तदेवेदमशनादिकम्' इति न जानन्ति तथा तस्यैव परिभोगः कर्तव्यः ॥५२८५॥[1][2]

बिइयपएण गिलाणस्स कारणा अधवुवातिणे ओमे ।
अद्धाण पविसमाणो, मज्झे अहवा वि उत्तिण्णो ॥ ५२८६ ॥

द्वितीयपदे[3] ग्लानस्य कारणात् प्रायोग्यं भक्तादिकमतिरिक्तमपि कालं धारयेत्, ग्लानकृत्ये वा तावद् व्यापृताः यावत् चरमपौरुषी जाता, अथवा अवमे पर्यटत एव चतुर्थी सञ्जाता, अध्वनि वा प्रविशन् सार्थवशगोऽतिक्रामयेत्, एवमध्वनो मध्ये वर्तमानस्ततो वा उत्तीर्णोऽसंस्तरन् अतिक्रामयेद् भुञ्जीत वा न कश्चिद् दोषः ॥ ५२८६ ॥

व्याख्यातं कालातिक्रान्तसूत्रम् । अथ क्षेत्रातिक्रान्तसूत्रं व्याख्यानयति—

परमद्धजोयणाओ, उज्जाण परेण चउगुरू होंति ।
आणादिणो य दोसा, विराहणा संजमा-ऽऽयाए ॥ ५२८७ ॥

अर्धयोजनं—द्विगव्यूतं ततः परमशनादिकमतिक्रामयतश्चतुर्गुरु । आस्तां तावद् अर्धयोजनम् अग्रोद्यानादपि परेणातिक्रामयतश्चतुर्गुरुकाः । आज्ञादयश्च दोषाः, संयमा-ऽऽत्मनोश्च विराधना ॥ ५२८७ ॥ तामेवाह—

भारेण वेदणाए, ण पेहती खाणुमादि अभिघातो ।
इरिया पगलिय तेणग, भायणभेदो य छक्काया ॥ ५२८८ ॥

भारेणाक्रान्तो वेदनाभिभूतः स्थाणु-कण्टकादीनि न प्रेक्षते, अश्वादिभिर्वाऽभिहन्यते, अथवा "अभिघाउ" त्ति वटशाखादिना शिरसि घट्यते,[5] ईर्यां वा न शोधयति, दूरनयनेन च भक्त-पाने परिगलिते पृथिव्यादिविराधना, स्तेनैर्वा समुद्देशो ह्रियेत । क्षुधा-पिपासार्तस्य वा क्षीणबलस्य भाजनभेदो भवेत् तत्र षट्कायविराधना । आत्मनः परस्य च तेन विना परिहाणिः ॥ ५२८८ ॥ परः प्राह—

१ तत एवमन्यस्य 'असति' अभावे यत[?] कां० ॥ २ एतदनन्तरम् अथात्रैव द्वितीयपदमाह इत्यवतरणं कां० ॥ ३ "बिइयपएणं" ति सप्तम्यर्थे तृतीया । द्वितीय° कां० ॥ ४ °ता, अतस्तत्रापि उपानाययेत्, चरमपौरुषीमित्यर्थाद् गम्यते । अध्वनि कां० ॥ ५ एतदनन्तरं ग्रन्थाग्रम्—२५०० कां० ॥

उज्जाण आरएणं, तहियं किं ते ण जायते दोसा ।
परिहरिया ते होज्जा, जति वि तहिं खेत्तमावज्जे ॥ ५२८९ ॥

उद्यानादारतो ग्रामादेरानीयमाने भक्त-पाने किं ते दोषा न जायन्ते यदेवमुद्यानात् परत इत्यभिधीयते ? । सूरिराह—'ते' दोषास्तीर्थकरवचनप्रामाण्येन परिहृता भवन्ति यद्यप्यनुज्ञातक्षेत्रे तान् दोषानापद्यते ॥ ५२८९ ॥ पुनरपि परः प्रेरयति—

एवं सुत्तं अफलं, सुत्तनिवातो इमो तु जिणकप्पे ।
गच्छम्मि अद्धजोयण, केसिंची कारणे तं पि ॥ ५२९० ॥

ननु यद्युद्यानात् परतो नातिक्रामयितव्यम् ततो यत् "परमद्धजोयणमेराओ" त्ति सूत्रं भणितं तद् अफलं प्राप्नोति । आचार्यः प्राह—यद् 'अग्रोद्यानात् परतो नातिक्रामयितव्यम्' इत्युच्यते स एष सूत्रार्थनिपातः 'जिनकल्पे' जिनकल्पिकविषयो मन्तव्यः, यत् पुनः "अर्द्धयोजनात् परतः" इत्यादि सूत्रं तद् गच्छवासिविषयम् । केषाञ्चिदाचार्याणामयमभिप्रायः, यथा—गच्छवासिभिरपि उत्सर्गत उद्यानात् परतो नातिक्रामणीयम्, कारणे तु तदप्यर्धयोजनं नेतव्यम्; एवमापवादिकं सूत्रम् । यद्वा "केसिंची कारणे तं पि" त्ति अन्यथा व्याख्यायते—'केषाञ्चिद्' आचार्य-बाल-वृद्धादीनां कारणे 'तदपि' अर्धयोजनं गम्यते ॥ ५२९० ॥

इदमेव भावयति—

सक्खेत्ते जदा ण लभति, तत्तो दूरे वि कारणे जतति ।
गिहिणो वि चिंतणमणागतम्मि गच्छे किमंग पुण ॥ ५२९१ ॥

'स्वक्षेत्रे' स्वग्रामे यदा न लभते तदा दूरेऽप्याचार्यादीनां कारणे भक्त-पानग्रहणार्थं यतते, अर्धयोजनमपि गच्छतीति भावः । अपि च—यद्यपि स्वग्रामे प्राचुर्येण लभ्यते तथाऽप्युत्सर्गतस्तत्र न हिण्डनीयम् । कुतः ? इत्याह—यदि तावद् गृहिणोऽपि क्रयविक्रयसम्प्रयुक्ता अनागतं प्राघूर्णकाद्यर्थं घृत-गुड-लवण-तण्डुलादीनां चिन्तां कुर्वन्ति किमङ्ग पुनर्गच्छे सबाल-वृद्धे येषां क्रयविक्रयः सञ्चयश्च नास्ति तैः प्राघूर्णकाद्यर्थमनागतं न चिन्तनीयम् ? ॥५२९१॥ ततः—

संघाडेगो ठवणाकुलेसु सेसेसु बाल-वुड्ढादी ।
तरुणा बाहिरगामे, पुच्छा दिट्ठंतऽगारीए ॥ ५२९२ ॥

स्वग्रामे यानि दानश्राद्धादीनि स्थापनाकुलानि तेषु गुरूणां सङ्घाटक एकः प्रविशति । यानि स्वग्रामे शेषाणि कुलानि तेषु बाल-वृद्धा-ऽसहिष्णुप्रभृतयो हिण्डन्ते । ये तु तरुणास्ते बहिर्ग्रामे पर्यटन्ति । शिष्यः पृच्छति—किमादरेण क्षेत्रं प्रत्युपेक्ष्य रक्षथ ? । गुरुराह—अगार्या दृष्टान्तोऽत्र क्रियते ॥ ५२९२ ॥

परिमियमत्तपदाणे, णेहादवहरति थोवथोवं तु ।
पाहुण वियाल आगत, विसण्ण आसासणा दाणं ॥ ५२९३ ॥

एगो किविणवणिओ अगारीए अविस्ससंतो तंदुल-घत-लवण-कडुभंडादियं दिवसपरिव्वयं

१ °न्ते, गाथायामेकवचनं प्राकृतत्वात्, यदेव° कां० ॥ २ 'तद्' अर्धयोजनमपि भक्त-पानानयनार्थं गम्य° कां० ॥

परिमितं देति, आवणातो घरे ण किंचि तंदुलादि धारेति । अगारीए चिंता—जदि एयस्स अब्भरहितो मित्तो वा अन्नो वा पदोसादिअवेलाए आगमिस्सति तो किं दाहं ? । तओ अप्पणो बुद्धिपुव्वगेण वणियस्स अजाणतो णेह-तंदुलादियाण थोवथोवं फेडेति । कालेण बहुमुस्सन्नं । अन्नया तस्स मित्तो पदोसकाले आगतो । आवणं आरक्खियभया गंतुं न सक्कति । वणियस्स चिंता जाता, विसन्नो 'कहमेतस्स भत्तं दाहामि ?' त्ति । अगारी वणियस्स मणोगतं भावं जाणित्ता भणति—मा विसादं करेहि, सव्वं से करेमि । तीए अब्भंगादिणा ण्हावेउं विसिट्ठमाहारं भुंजाविओ । तुट्ठो मित्तो पभाए पुणो जेमेउं गतो । वणिओ वि तुट्ठो भारियं भणइ—अहं ते परिमियं देमि, कतो एतं ? ति । तीए सव्वं कहियं । तुट्ठेण वणिएण 'एसा घरचिंतिय' त्ति सव्वो घरसारो समप्पिओ ॥

अथाक्षरार्थः—परिमितभक्तप्रदाने सति स्नेहादेर्मध्यादगारी स्तोकस्तोकमपहरति । प्राघूर्णकस्य च विकाले आगमनम्, ततो गृहपतिर्विषण्णः । तया तस्याश्वासना कृता । ततः प्राघूर्णकस्य भक्त-पानदानमकारि ॥ ५२९३ ॥

एवं पीईवड्ढी, विवरीयऽण्णेण होइ दिट्ठंतो ।
लोगुत्तरे विसेसा, असंचया जेण समणा तु ॥ ५२९४ ॥

एवं क्रियमाणे तयोः सुहृदोः परस्परं प्रीतिवृद्धिरुपजायते । विपरीतश्चान्येन प्रकारेण दृष्टान्तो भवति—तत्र परिमितभक्तमध्यादगारी स्तोकस्तोकं नापहरति ततः सुहृदादेः प्राघुणकस्य स्नेहच्छेदो भवति । एवं यदि गृहस्था अप्यनागतं चिन्तयन्ति ततः कुक्षिशम्बलैः साधुभिः सुतरामनागतं चिन्तनीयम् । अपि च—लोकोत्तरे येन असञ्चयाः श्रमणास्तेन कारणेन विशेषतः क्षेत्रं रक्षणीयम् ॥ ५२९४ ॥

जणलावो परगामे, हिंडित्ताऽऽणेंति वसहि इह गामे ।
देअह बालादीणं, कारणजाते य सुलभं तु ॥ ५२९५ ॥

जनस्यात्मीयात्मीयगृहेषु ग्राममध्ये वा मिलितस्यालापः–प्रवादो भवति—अमी साधवः परग्रामे हिण्डित्वा भिक्षामिहानयन्ति ततः केवलं वसतिरेवेह ग्रामे अमीषाम् । एवं श्रुत्वा गृहपतयः स्वस्वमहेला आदिशन्ति—ये बालादयोऽत्र हिण्डन्ते तेषामादरेण सविशेषं प्रयच्छत । एवंविधायां चिन्तायां प्राघूर्णकादिकारणजाते यदि देशकालेऽदेशकाले वा हिण्डन्ते तदाऽपि सुलभं भवति ॥ ५२९५ ॥

पाहुणविसेसदाणे, णिज्जर कित्ती य इहर विवरीयं ।
पुव्विं चमढणसिग्गा, न देंति संतं पि कज्जेसु ॥ ५२९६ ॥

प्राघूर्णकस्य 'विशेषेण' आदरेण भक्त-पाने दीयमाने परलोके निर्जरा इहलोके च कीर्तिर्भवति, चशब्दात् प्रीतिवृद्धिः परस्परोपकारिता च भवति । 'इतरथा' प्राघुणकस्याक्रियमाणे एतदेव विपरीतं भवति, निर्जरादिकं न भवतीत्यर्थः । कथं पुनस्तद् दानं न भवति ? इत्याह—पूर्वं चमढनया–दिने दिने प्रविशद्भिः साधुभिः सिग्गानि–परिश्रान्तानि स्थापनाकुलानि 'सदपि' गृहे विद्यमानमपि घृतादिकं द्रव्यं प्राघूर्णकादिकार्येषु उत्पन्नेषु न प्रयच्छन्ति । एवं गुण-दोषान्

विज्ञाय क्षेत्रं प्रयत्नेन रक्षणीयमिति प्रक्रमः ॥ ५२९६ ॥ अयं चापरस्तत्र गुणो भवति—

**बोरीइ य दिट्ठंतो, गच्छे वायामो तहिँ च पतिरिकं ।**
**केइ पुण तत्थ भुंजण, आणेमाणे भणिय दोसा ॥ ५२९७ ॥**

बहिर्ग्रामे भिक्षाटने क्रियमाणे प्रभूतं दुग्ध-दध्यादिकं प्रायोग्यं प्राप्यते, तथा चात्र **बदर्या दृष्टान्तो** भवति । अपि च गच्छे एवैव सामाचारी गणधरभणिता—यद् बहिर्ग्रामे तरुणै-र्भिक्षायामटनीयम् । व्यायामश्च मोहचिकित्सानिमित्तं तैः कृतो भवति । 'तत्र' बहिर्ग्रामे चश-ब्दाद् इह च ग्रामे "पइरिकं" एकान्तं भवति, मुत्कलमित्यर्थः । यद्वा "पइरिकं" ति पचुरं भक्त-पानं तत्रावाप्यते । केचित् पुनराचार्यदेशीया ब्रुवते—'तत्रैव' बहिर्ग्रामे भोजनं कर्त्तव्यम्, यतो ये पूर्वमानयतो भार-वेदनादयो दोषा भणितास्ते एवं परिहृता भवन्ति । एतत् परमत-मुत्तरत्र निराकरिष्यते ॥ ५२९७ ॥ अथ **बदरीदृष्टान्तमाह**—

**गामऽब्भासे बदरी, नीसंदकडुप्फला य खुज्जा य ।**
**पक्काऽऽमाऽलस चेडा, खायंतियरे गता दूरं ॥ ५२९८ ॥**
**सिग्घतरं ते आता, तेसिऽण्णेसिं च दिंति सयमेव ।**
**खायंति एव इहई, आय-परसुहावहा तरुणा ॥ ५२९९ ॥**

कस्यापि ग्रामस्य 'अभ्यासे' प्रत्यासत्तौ बदरी । सा ग्रामनिस्यन्दपानीयेन संवर्धिता ततः कटुकफला संवृत्ता । अन्यच्च सा स्वभावत एव कुब्जा ततः सुखारोहा । तस्यां च कानिचित् फलानि पक्कानि कानिचिदामानि, अथवा "पक्काऽऽम" त्ति मन्दपक्कानि । तत्र ये अलसाः 'चेटकाः' बालकास्ते तां बदरीं सुखारोहामारुह्य कटुकान्यपि बदराणि भक्षयन्ति, तान्यपि स्वल्प-तया न पर्याप्तानि भवन्ति । 'इतरे नाम' अनलसाः—उत्साहवन्तो बालकास्ते दूरमटवीं गताः, तत्र च महाबदरीवनेषु परिपक्कानि बदराणि यथेच्छं खादन्ति ॥ ५२९८ ॥

ततो यावत् तेऽलसास्तस्यां कटुकबदर्यां क्लिश्यमाना आसते तावत् 'ते' दूरगामिनो बालका आत्मनः पर्याप्तिं कृत्वा बदरपोट्टलकभाराक्रान्ताः शीघ्रतरमागताः 'तेषाम्' अलसानाम् 'अन्येषां च' गृहे स्थितानां स्वजनानां बदराणि पर्याप्त्या ददति, स्वयमेव च भक्षयन्ति । एवम् 'इहापि' गच्छवासे तरुणा भिक्षवो वीर्यसम्पन्ना उत्साहवन्तो बाह्यग्रामे हिण्डमाना आत्मनः परेषां च—बाल-वृद्धादीनां सुखावहा भवन्ति ॥५२९९॥ कथम्? इति चेद् उच्यते—

**खीर-दहीमादीण य, लंभो सिग्घतर पढम पइरिके ।**
**उग्गमदोसा विजढा, भवंति अणुकंपिया चितरे ॥ ५३०० ॥**

यथा तेऽलसाश्चेटकास्तथा बाल-वृद्धादयोऽपि कुब्जबदरीकल्पे तस्मिन् मूलग्रामे प्रत्यहमुद्गे-ज्यमानतया चिरमपि हिण्डमानाः कोद्रव-कूरादिकमेव लभन्ते, तदपि न पर्याप्तम् । ये तु तरुणा बहिर्ग्रामे गच्छन्ति तेऽनलसचेटककल्पाः, ततः क्षीर-दध्यादीनां प्रायोग्यद्रव्याणां लाभस्तेषां बहिर्ग्रामे भवति, शीघ्रतरं च ते स्वग्रामे आगच्छन्ति । "पढम" त्ति प्रथमालिकां च स्वयं कुर्वन्ति, बालादिभ्यः प्रथमतरं वा समागच्छन्ति । "पइरिकं" ति प्रचुरं भक्त-पानमु-

१ °स्तरुणो ताटी० मो० ले० ॥

स्वादयन्ति । उद्गमदोषाश्च 'विजढाः' परित्यक्ता भवन्ति । 'इतरे च' बालादयोऽनुकम्पिता भवन्ति ॥ ५३०० ॥ अमुमेवार्थं सविशेषमाह—

**एवं उग्गमदोसा, विजढा पइरिक्कया अणोमाणं ।**
**मोहतिगिच्छा य कता, विरियायारो य अणुचिण्णो ॥ ५३०१ ॥**

'एवं' बहिर्ग्रामे गच्छद्भिस्तैः 'उद्गमदोषाः' आधाकर्मादयः परित्यक्ता भवन्ति । "पइरिक्कय" त्ति प्रचुरस्य भक्त-पानस्य लाभो भवति । 'अनपमानं' स्वपक्षापमानं न भवति । 'मोहचिकित्सा च' परिश्रमा-ऽऽतप-वैयावृत्यादिभिर्मोहस्य निग्रहः कृतो भवति । वीर्याचारश्च 'अनुचीर्णः' अनुष्ठितो भवति ॥ ५३०१ ॥ अथ परः प्राह—

**उज्जाणतो परेणं, उवातिणंतम्मि पुव्व जे भणिता ।**
**भारादीया दोसा, ते चेव इहं तु सविसेसा ॥ ५३०२ ॥**

ननु शोभनमिदम्—यद् अर्धयोजनं गम्यते, किन्तु तेषां भरितभाराणामाचार्यसकाशमागच्छतां ये पूर्वमुद्यानात् परेण 'उपानाययति' अतिक्रामयति भारादयो दोषा भणितास्त एवेह सविशेषा भवन्ति ॥ ५३०२ ॥ ततः किं कर्तव्यम्? इत्याह—

**तम्हा तु ण गंतव्वं, तहिँ भोत्तव्वं ण वा वि भोत्तव्वं ।**
**इहरा भे ते दोसा, इति उदिते चोदगं भणति ॥ ५३०३ ॥**

तस्मादाचार्यसमीपे भक्त-पानेन गृहीतेन न गन्तव्यं किन्तु 'तत्रैव' बहिर्ग्रामे भोक्तव्यम्, एवं भारादयो दोषाः परिहृता भवन्ति । "न वा वि भोत्तव्वं" ति वाशब्दः पक्षान्तरद्योतकः, अथ भवन्तो भणिष्यन्ति—नैव बहिर्ग्रामे भोक्तव्यम्, तत एवमितरथा "भे" भवतां 'त एव' भारादयो दोषाः । एवं 'उदिते' भणिते सति सूरिर्नोदकं भणति—यदि तत्र समुद्दिशन्ति ततो मासलघु, भवतोऽप्येवं भणतो मासलघु, तैश्च तत्र प्रायोग्यं समुद्दिशद्भिराचार्यादयः परित्यक्ता मन्तव्याः, तेषां प्रायोग्यमन्तरेण परितापनादिसम्भवात् ॥ ५३०३ ॥

आह किमिवाचार्यमन्तरेण न सिध्यति यदेवं तदर्थं प्रायोग्यमानीयते? इत्याह—

**जइ एयविप्पहूणा, तव-नियमगुणा भवे णिरवसेसा ।**
**आहारमाइयाणं, को नाम कहं पि कुव्वेज्जा ॥ ५३०४ ॥**

यदि एतेन—आचार्येण विप्रहीणाः—एनमन्तरेणेत्यर्थः तपो-नियमगुणा निरवशेषा भवेयुः तत आचार्यप्रायोग्याणामाहारादीनामन्वेषणे को नाम कथामपि कुर्वीत?, न कश्चित् । इदमत्र हृदयम्—सर्वोऽपि तपो-नियमादिकः प्रयासोऽस्माकं संसारनिस्तरणार्थम्, ते च तपःप्रभृतयो गुणा गुरूपदेशमन्तरेण न सम्यगवगम्यन्ते, न वा निरवशेषा अपि यथावदनुष्ठातुं शक्यन्ते, अतः संसारनिस्तरणार्थमाचार्याणां प्रायोग्यानयनादिना कर्तव्यमेव वैयावृत्यमिति ॥ ५३०४ ॥

अपि च—

**जति ताव लोइय गुरुस्स लहुओ सागारिओ पुढविमादी ।**
**आणयणे परिहरिया, पढमा आपुच्छ जतणाए ॥ ५३०५ ॥**

---

१ °न्ति । मूलग्रामे च प्रचुरसङ्घाटकपरिभ्रमणाभावाद् उद्ग° कां० ॥

यदि तावल्लौकिका अपि यो गुरुः—पिता ज्येष्ठबन्धुर्वा कुटुम्बं धारयति तस्मिन्नभुक्ते न भुञ्जते, यच्चोत्कृष्टं शाल्योदनादिकं तत् तस्य प्रयच्छन्ति; ततः किं पुनर्यस्य प्रभावेन संसारो निस्तीर्यते तस्य प्रायोग्यमदत्त्वा एवमेव भुज्यते ? । यस्तु भुङ्क्ते तस्य मासलघु । वसतेरभावाच्च तत्र भुञ्जानान् सागारिको यदि पश्यति तदा चतुर्लघु, आज्ञादयश्च दोषाः । अस्थण्डिले च समुद्दिशतां पृथिव्यादिविराधना । आनयने तु सर्वेऽप्येते दोषाः परिहृता भवन्ति, अतो गुरुसमीपमानेतव्यम् । द्वितीयपदे प्रथमालिकां कुर्वन्तो गुरुमापृच्छ्य गच्छन्ति । यतनया च यथा संसृष्टं न भवति तथा प्रथमालिका कर्तव्या ॥ ५३०५ ॥

चोदगवयणं अप्पाऽणुकंपिओ ते य मे परिच्चत्ता ।
आयरिए अणुकंपा, परलोए इह पसंसणया ॥ ५३०६ ॥

'नोदकवचनं नाम' परः प्रेरयति—यावत् ते ततो ग्रामात् प्रत्यागच्छन्ति तावत् तृष्णा-क्षुधाक्रान्ता अतीव परिताप्यन्ते, एवं प्रस्थापयद्भिर्भवद्भिरात्मा अनुकम्पितः 'ते च' साधवः परित्यक्ता भवन्ति । गुरुराह—ननु मुग्ध ! त एवानुकम्पिताः, कथम् ? इत्याह—"आयरिए" इत्यादि, यद् आचार्यवैयावृत्ये नियुक्ता एषा पारलौकिकी तेषामनुकम्पा; इहलोकेऽपि तेऽनुकम्पिताः, यतो बहुभ्यः साधु-साध्वीजनेभ्यः प्रशंसामासादयन्ति ॥ ५३०६ ॥ परः प्राह—

एवं पि परिच्चत्ता, काले खमए य असहुपुरिसे य ।
कालो गिम्हो उ भवे, खमओ वा पढम-बितिएहिं ॥ ५३०७ ॥

यतस्ते बुभुक्षित-तृषिता भाराक्रान्ताः शीत-वाता-ऽऽतपैरभिहताः पन्थानं वहन्ति, यूयं तु शीतलच्छायायां तिष्ठथ, तत एवमपि ते परित्यक्ताः । सूरिराह—तेषामपि कालं क्षपकमसहिष्णुपुरुषं च प्रतीत्य प्रथमालिकाकरणमनुज्ञातम् । तत्र कालः—ग्रीष्मलक्षणस्तस्मिन् प्रथमालिकां कृत्वा पानकं पिबन्ति, क्षपको वा प्रथम-द्वितीयपरीषहाभ्यामतीव बाधितः प्रथमालिकां करोति, एवमसहिष्णुरपि बुभुक्षार्तः प्रथमालिकां कुर्यात् ॥ ५३०७ ॥ अत्र परः प्राह—

जइ एवं संसट्ठं, अप्पत्ते दोसियाइणं गहणं ।
लंबण भिक्खा दुविहा, जहण्णमुक्कोस तिय पणए ॥ ५३०८ ॥

यद्येवमसौ बहिरेव प्रथमालिकां करोति ततो भक्तं संसृष्टं भवति, संसृष्टे च गुर्वादीनां दीयमानेऽभक्तिः कृता भवति । गुरुराह—अप्राप्ते देश-काले दोषान्नादेर्ग्रहणं कृत्वा येषु वा कुलेषु प्रभाते वेला तेषु पर्यट्य प्रथमालिकां कुर्वन्ति, भाजनस्य च कल्पं कुर्वन्ति । प्रथमालिकाप्रमाणं च द्विधा—लम्बनतो भिक्षातश्च । तत्र जघन्येन त्रयः 'लम्बनाः' कवलास्तिस्रश्च भिक्षाः, उत्कर्षतः पञ्च लम्बनाः पञ्च वा भिक्षाः । शेषं सर्वमपि मध्यमं प्रमाणम् ॥ ५३०८ ॥ अथ तैः कुत्र किं ग्रहीतव्यम् ? इति निरूपयति—

एगत्थ होइ भत्तं, बितियम्मि पडिग्गहे दवं होति ।
गुरुमादीपाउग्गं, मत्तएँ बितिए य संसत्तं ॥ ५३०९ ॥

साधुद्वयस्य द्वौ प्रतिग्रहौ द्वौ च मात्रकौ भवतः । तत्रैकस्मिन् प्रतिग्रहे भक्तं ग्रहीतव्यम्,

१ गीओ य ताभा० ॥ २ °सिणादिणं ताभा० ॥

द्वितीये च 'द्रवं' पानकं भवति । तथैकस्मिन् मात्रके आचार्यादीनां प्रायोग्यं गृह्यते, द्वितीये तु संसक्तं भक्तं वा पानकं वा प्रत्युपेक्षते । यदि शुद्धं ततः प्रतिग्रहे प्रक्षिप्यते ॥ ५३०९ ॥

**जति रिक्को तो दवमत्तगम्मि पढमालियाएँ गहणं तु ।**
**संसत्त गहण दवदुल्लभे य तत्थेव जं पंतं ॥ ५३१० ॥**

यदि रिक्तोऽसौ द्रवमात्रकः ततस्तत्र प्रथमालिकाया ग्रहणं कर्तव्यम्, एवं संसृष्टं न भवति । अथवा तस्मिन् द्रवमात्रके संसक्तं द्रवं गृहीतम्, द्रवं वा तत्र क्षेत्रे दुर्लभं ततः 'तत्रैव' भक्तप्रतिग्रहे यत् प्रान्तं तद् एकेन हस्तेनाकृष्य अन्यस्मिन् हस्ते कृत्वा समुद्दिशति, एवं संसृष्टं न भवति ॥ ५३१० ॥

**बिइयपदं तत्थेवा, सेसं अहवा वि होइ सव्वं पि ।**
**तम्हा गंतव्वं आणणं, व जति वि पुट्ठो तह वि सुद्धो ॥ ५३११ ॥**

द्वितीयपदमत्रोच्यते—अतीव बुभुक्षितास्तत्रैवात्मनः संविभागं भुञ्जते, शेषं सर्वमप्यानयन्ति, अथवा तत्रैव सर्वमात्म-परसंविभागं भुञ्जते । यत एष एवंविधो विधिस्तस्माद् विधिना गन्तव्यं विधिना आनेतव्यं विधिना तत्रैव भोक्तव्यम् । एवं सर्वत्र विधिं कुर्वन् यद्यपि दोषैः स्पृष्टो भवति तथापि शुद्धः ॥ ५३११ ॥

कथं पुनः सर्वमसर्वं वा भिक्षाचर्यागतेन भोक्तव्यम्? इत्याह—

**अंतरपल्लीगहितं, पढमागहियं व भुंजए सव्वं ।**
**संखडि धुवलंभे वा, जं गहियं दोसिणं वा वि ॥ ५३१२ ॥**

यद् अन्तरपल्लिकायां[1] गृहीतं प्रथमपौरुषीगृहीतं वा तत् सर्वमपि भुङ्क्ते । यत्र वा जानन्ति सङ्खड्यां ध्रुवो लाभो भविता तत्र यत् पूर्वं गृहीतं तत् सर्वमपि भोक्तव्यम् । यद् वा दोषान्नं गृहीतं तदशेषमपि भोक्तव्यम् ॥ ५३१२ ॥

**दरहिंडिएव भाणं, भरियं भुत्तुं पुणो वि हिंडिज्जा ।**
**कालो वाऽतिक्कमई, भुंजेज्जा अंतरा सव्वं ॥ ५३१३ ॥**

अथवा 'दरहिण्डिते' अर्धपर्यटित एव भाजनं भृतं ततोऽल्पसागारिके तत् पर्याप्तं भुक्त्वा पुनरपि भिक्षां हिण्डेत । अथवा यावद् आचार्यान्तिके आगच्छन्ति तावत् कालोऽतिक्रामति, चतुर्थपौरुषी लगति सूर्यो वाऽस्तमेतीत्यर्थः, ततः सर्वमपि 'अन्तरा' तत्रैव भुञ्जीत ॥५३१३॥

**परमद्धजोयणातो, उज्जाण परेण जे भणिय दोसा ।**
**आहच्चुवातिणाविएँ, ते चेवुस्सग्ग-अववाता ॥ ५३१४ ॥**

अथार्धयोजनात् परेण अतिक्रामयति तदा ये उद्यानात् परतोऽतिक्रामणे दोषाः पूर्वं भणितास्त एव द्रष्टव्याः । अथ "आहच्च" कदाचिदनाभोगादिनाऽतिक्रामितं ततस्तावेवोत्सर्गाऽपवादौ, उत्सर्गतस्तद् न भोक्तव्यम् अपवादतः पुनरसंस्तरणे भोक्तव्यमिति भावः ॥ ५३१४ ॥

**॥ काल-क्षेत्रातिक्रान्तप्रकृतं समाप्तम् ॥**

---

१ °यां-मूलग्रामादर्धतृतीयगव्यूतिभाविन्यां गृही° कां० ॥

## अ ने ष णी य प्र कृ त म्

सूत्रम्—

**निग्गंथेण य गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठेणं अन्नतरे अचित्ते अणेसणिज्जे पाण-भोयणे पडिग्गाहिए सिया, अत्थि या इत्थ केइ सेहतराए अणुवट्ठावियए कप्पइ से तस्स दाउं अणुप्पदाउं वा; नत्थि या इत्थ केइ सेहतराए अणुवट्ठावियए तं नो अप्पणा भुंजेज्जा, नो अन्नेसिं दावए, एगंते बहुफासुए पएसे पडिलेहित्ता पमज्जित्ता परिट्ठवेयव्वे सिया १८ ॥**

अस्य सम्बन्धमाह—

आहार एव पगतो, तस्स उ गहणम्मि वण्णिया सोही ।
आहच्च पुण असुद्धे, अचित्त गहिए इमं सुत्तं ॥ ५३१५ ॥

आहार एवानन्तरसूत्रे प्रकृतः । 'तस्य च' आहारस्य ग्रहणे शोधिर्वर्णिता, यथा शुद्ध आहारो ग्रहीतव्यः तथा भणितमिति भावः । "आहच्च" कदाचित् पुनरशुद्धो अचित्त आहारो गृहीतो भवेत् तत्र को विधिः ? इत्यस्यां जिज्ञासायामिदं सूत्रमारभ्यते ॥ ५३१५ ॥

अहवण सचित्तदव्वं, पडिसिद्धं दव्वमादिपडिसेहे ।
इह पुण अचित्तदव्वं, वारेति अणेसियं जोगो ॥ ५३१६ ॥

अथवा पूर्वतरसूत्रेषु "तओ नो कप्पंति पव्वावित्तए" ( सू० ४ ) इत्यादिषु सचित्तद्रव्यं 'द्रव्यादिप्रतिषेधेन' द्रव्यं—पण्डकादिकं तदाश्रित्य प्रतिषेधो द्रव्यप्रतिषेधस्तेन, आदिशब्दाद् "दुट्ठे मूढे" इत्यादिषु च भावप्रतिषेधेन प्रतिषिद्धम् । 'इह पुनः' प्रकृतसूत्रेऽचित्तद्रव्यमनेषणीयं वारयति । एष 'योगः' सम्बन्धः ॥ ५३१६ ॥

अनेनायातस्यास्य व्याख्या—निर्ग्रन्थेन च गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञयाऽनुप्रविष्टेन "अन्नतरे" त्ति उद्गमोत्पादनैषणादोषाणामन्यतरेण दोषेण दुष्टम् 'अनेषणीयम्' अशुद्धम् 'अचित्तं' निर्जीवं पान-भोजनमनाभोगेन प्रतिगृहीतं स्यात्, तच्चोत्कृष्टं न यतस्ततः परित्यक्तुं शक्यते, अस्ति चात्र कश्चित् 'शैक्षतरकः' लघुतरः 'अनुपस्थापितकः' अनारोपितमहाव्रतः

---

१ °थाऽनन्तरसूत्रे भणि° कां० ॥ २ °शुद्धः-अनेषणीयः परम् अचित्तः-प्रासुकः एवंविध आहा° कां० ॥ ३ "अहवण" त्ति अखण्डमव्ययमथवार्थे । अथवा कां० ॥ ४ °सूत्रे 'अचित्तद्रव्यम्' आहाररूपम् 'अनेषितम्' अनेषणी° कां० ॥ ५ च 'अत्र' विवक्षितनिर्ग्रन्थसत्कगच्छमध्ये कश्चि° कां० ॥

कल्पते "से" 'तस्य' निर्ग्रन्थस्य 'तस्सै' शैक्षाय दातुमनुप्रदातुं वा । तत्र दातुं प्रथमतः, 'अनुप्रदातुं' तेनान्यस्मिन्नेषणीये दत्ते सति पश्चात् प्रदातुम् । अथ नास्त्यत्र कोऽपि शैक्षतरकोऽनुपस्थापितकस्ततस्तद् नैव आत्मना भुञ्जीत न वाऽन्येषां दद्यात् किन्तु एकान्ते बहुप्राशुके प्रदेशे प्रत्युपेक्ष्य प्रमृज्य च परिष्ठापयितव्यं स्यादिति सूत्रार्थः ॥ अथ निर्युक्तिविस्तरः—

अन्नतरऽणेसणिज्जं, आउट्टिय गिण्हणे तु जं जत्थ ।
अणभोग गहित जतणा, अजतण दोसा इमे होंति ॥ ५३१७ ॥

'अन्यतरद्' उद्गमादीनामेकतरदोषदुष्टमनेषणीयमाकुट्टिकया यो गृह्णाति । आकुट्टिका नाम—स्वयमेव भोक्ष्ये शैक्षस्य वा दास्यामि । एवमुपेत्य ग्रहणे येन दोषेणाशुद्धं तमापद्यते, यत्र यत्र दोषे प्रायश्चित्तं तत् तस्य भवति । अथानाभोगेनानेषणीयं गृहीतं ततो यतनया शैक्षस्य दातव्यम् । यदि अयतनया ददाति तत इमे दोषा भवन्ति ॥ ५३१७ ॥[2]

मा सव्वमेयं मम देहमन्नं, उक्कोसएणं व अलाहि मज्झं ।
किं वा ममं दिज्जति सव्वमेयं, इच्चेव वुत्तो तु भणाति कोई ॥ ५३१८ ॥

तेन अनेषणीयमिति कृत्वा शैक्षस्य दत्तम्, स च शैक्षो ब्रूयात्—मा सर्वमेतद् 'अन्नं' भक्तं मम दत्त, अथोत्कृष्टमिति कृत्वा मे दीयते तत्रोत्कृष्टेन भक्तेन ममालम्, किं वा सर्वमेतद् मम दीयते ? इति । एवं शैक्षेणोक्तः कश्चिद् भणति ॥ ५३१८ ॥[3]

एतं तुब्भं अम्हं, न कप्पति चउगुरुं च आणादी ।
संका व आभिओग्गे, एगेण व इच्छियं होज्जा ॥ ५३१९ ॥

'एतत् तव कल्पते, अस्माकं तु न कल्पते' एवं भणतश्चतुर्गुरुकम् आज्ञादयश्च दोषाः । शङ्का च तस्य शैक्षस्य आभियोगः—कार्मणं तद्विषया भवति । 'एकेन वा' केनचित् शैक्षेण तद् दीयमानमीप्सितं भवेत् तस्य च ग्लानत्वे यथाभावेन जाते सति द्वितीयशैक्ष उड्डाहं कुर्यात् ॥ ५३१९ ॥ इदमेव भावयति—

कम्मोदय गेलन्ने, दट्ठूण गतो करेज्ज उड्डाहं ।
एगस्स वा वि दिण्णे, गिलाण वमिऊण उड्डाहो ॥ ५३२० ॥

कर्मोदयाद् यथाभावेनैव ग्लानत्वे जाते सति स चिन्तयेत्—एतैः 'मा व्रतादयं प्रतिभज्यताम्' इति कृत्वा ममाभियोग्यं दत्तम् । एवं 'दृष्ट्वा' ज्ञात्वा स भूयो गृहवासं गतः सन् उड्डाहं कुर्यात्—एतैः कार्मणं मम दत्तमिति । एकस्य वा दत्ते सति यदा ग्लानत्वं जातं तदा द्वितीयः शैक्षो भक्तं वमित्वा प्रभूतजनसमक्षमुड्डाहं कुर्यात् ॥ ५३२० ॥

किं पुनश्चिन्तयित्वा स भक्तं वमति ? इत्याह—

मा पडिगच्छति दिण्णं, से कम्मण तेण एस आगल्लो ।
जाव ण दिज्जति अम्ह वि, ह णु दाणि पलामि ता तुरियं ॥ ५३२१ ॥

---

१ °षां साधूनां "दावए" त्ति आर्षत्वाद् दद्या° कां० ॥ २ इतोऽग्रे कां० प्रतौ के पुनस्ते ? इत्यत आह इत्यवतरणं विद्यते ॥ ३ इतोऽग्रे कां० प्रतौ किम् ? इत्यत आह इत्यवतरणं वर्तते ॥ ४ °दा "गिलाण" त्ति भावप्रधानत्वाद् निर्देशस्य ग्ला° कां० ॥

मां प्रतिगमिष्यतीति बुद्ध्या कार्मणमस्य दत्तं तेनायं "आगलो" ग्लानः सञ्जातः, अतो यावदस्माकमपि कार्मणं न दीयते तावत् त्वरितमिदानीमहमपि पलाये ॥ ५३२१ ॥

अथवा कश्चिदिदं ब्रूयात्—

**भत्तेण मे ण कज्जं, कल्लं भिक्खं गतो व भोक्खामि ।**
**अण्णं व देह मज्झं, इय अजते उज्झिणिगदोसा ॥ ५३२२ ॥**

भक्तेन 'मे' मम न कार्यम्, कल्ये वा भिक्षां गतो वा भोक्ष्ये, अन्यद्वा भक्तं मह्यं प्रयच्छत । "इय" एवमयतनया दीयमाने 'उज्झिनिका' पारिष्ठापनिका भवेत् । तस्यां च दोषाः कीटिका-मक्षिकादिविराधनारूपा मन्तव्याः ॥ ५३२२ ॥

अथवा एकस्य ग्लानत्वे जातेऽपरश्चिन्तयेत्—

**ह णु ताव असंदेहं, एस मओ हं तु ताव जीवामि ।**
**वग्घा हु चरंति इमे, मिगचम्मगसंवुता पावा ॥ ५३२३ ॥**

"ह णु" त्ति 'हः' इति खेदे 'नुः' इति वितर्के । एष तावद् असन्देहं मृतः, अहं तु तावदिदानीं जीवामि, इमे च पापाः श्रमणका मृगचर्मसंवृता व्याघ्राश्चरन्ति, बहिः साधुवेशच्छन्ना हिंसका अमी इति भावः । अतो यावद् एते मां जीविताद् व्यपरोपयन्ति तावत् प्रतिगच्छामीति ॥ ५३२३ ॥ किञ्च—

**अभिओगपरज्झस्स हु, को धम्मो किं व तेण णियमेणं ।**
**अहियकरगाहीण व, अभिजोएंताण को धम्मो ॥ ५३२४ ॥**

अभियोगेन—कार्मणेन "परज्झस्स" त्ति परवशीकृतस्य मम को नाम धर्मो भविष्यति ?, किं वा तेन नियमेन मम कार्यम् ?, तथा अधिककरग्राहिणामिवामीषामप्येवमभियोजयतां को धर्मः ? न कश्चिदित्यर्थः । एवं विचिन्त्य गृहवासं भूयोऽपि कुर्यात् ॥ ५३२४ ॥

यो ग्लानीभूयोत्प्रव्रजितः स प्रव्रजन्तमित्थं विपरिणमयेत्—

**किच्छाहि जीवितो हं, जति मरिउं[3] इच्छसी तहिं वच्च ।**
**एस तु भणामि भाउग !, विसकुंभा ते महुपिहाणा ॥ ५३२५ ॥**

'कृच्छ्राद्' अतिदुःखेनाहं तावद् जीवितः, अतो यदि त्वमपि मर्तुमिच्छसि तदा 'तत्र' तेषां साधूनामन्तिके व्रज, येन भवतोऽप्येवं सम्पद्यत इति भावः । अपि च—हे भ्रातः ! एषोऽहमेकान्तहितो भूत्वा भवन्तं भणामि—ते साधवो विषकुम्भा मधुपिधानाः सन्ति, मुखेन जीवदयाद्युपदेशकं मधुरं वचो जल्पन्ति, चेतसा तु विषवत् परव्यपरोपणकारिदारुणपरिणामा इति हृदयम् । एवं विपरिणामितोऽसौ प्रव्रज्यामप्रतिपद्यमानः षट्कायविराधनादिकं यत् करोति तन्निष्पन्नं अयतनादायिनः प्रायश्चित्तम् ॥ ५३२५ ॥ किञ्च—

**वातादीणं खोमे, जहण्णकालुत्थिए विसाऽऽसंका ।**
**अवि जुज्जति अब्भविसे, णेव य संकाविसे किरिया ॥ ५३२६ ॥**

---

१ "वर्त्तमानासन्ने वर्त्तमानः" इति वचनात् 'मा पडिगच्छइ' त्ति मा प्रति° कां० ॥
२ °दानीं "हः" इति खेदे, "नुः" इति वितर्के, किं पलाये ? कां० ॥ ३ मरणं इ° ताभा० विना ॥

तस्याशुद्धाहारदानानन्तरं वातादीनां क्षोभे 'जघन्यकालात्' तत्क्षणादेवोत्थिते विषाशङ्का भवति—मन्ये विषममीभिर्मम दत्तं येनैवं मे सहसैव धातुक्षोभः समजनि । एवं चिन्तयतस्तस्याचिरादेव मरणं भवेत् । कुतः ? इत्याह—"अवि" इत्यादि, 'अपिः' सम्भावनायाम्, सम्भाव्यते अयमर्थः—यद् अन्यस्य सर्वस्यापि विषस्य मन्त्रादिक्रिया युज्यते, शङ्काविषस्य तु 'क्रिया' चिकित्सा नैव भवति, मानसिकत्वेन तस्य प्रतिकर्तुमशक्यत्वात् । यत एते दोषा अतो नायतनया दातव्यम् ॥ ५३२६ ॥ अत्र परमतमुपन्यस्य दूषयति—

**केइ पुण साहियव्वं, अस्समणो हं ति पडिगमो होज्ज ।**
**दायव्वं जतणाए, णाए अणुलोमणाऽऽउट्टी ॥ ५३२७ ॥**

केचित् पुनराचार्या ब्रुवते[1]—स्फुटमेव तस्य कथयितव्यम्—भवत एवेदं कल्पते; एतच्च न युज्यते । यत एवमुक्ते कदाचिदसौ ब्रूयात्—यत् श्रमणानां न कल्पते तद् मम यदि कल्पते तत एवमहम् 'अश्रमणः' न श्रमणो भवामि, अश्रमणस्य च निरर्थकं मे शिरस्तुण्डमुण्डनम्; इति विचिन्त्य प्रतिगमनं कुर्यात् । यत एवमतो यतनया दातव्यम् । यतनया च दीयमानं यदि ज्ञातं भवति तदा वक्ष्यमाणवचनैः 'अनुलोमना' प्रज्ञापना तथा कर्तव्या यथा तस्य 'आवृत्तिः' समाधानं भवति ॥ ५३२७ ॥ प्रज्ञापनाविधिश्चायम्—

**अभिनवधम्मो सि अभावितो सि बालो व तं सि अणुकंपो ।**
**तव चेवऽट्ठा गहितं, भुंजिज्जा तो परं छंदा ॥ ५३२८ ॥**
**कप्पो च्चिय सेहाणं, पुच्छसु अण्णे वि एस हु जिणाणा ।**
**सामाइयकप्पठिती, एसा सुत्तं चिमं बेंति ॥ ५३२९ ॥**

'अभिनवधर्मा' अधुनैव गृहीतप्रव्रज्योऽसि त्वम्, अत एव 'अभावितोऽसि' नाद्यापि भैक्षभोजनेन भावितः, बालश्च त्वमसि अत एव 'अनुकम्प्यः' अनुकम्पनीयः, तत इदमुत्कृष्टद्रव्यमशुद्धमपि तवैवार्थाय गृहीतम्, अतः परं 'छन्दात्' स्वच्छन्देन भुञ्जीथाः ॥ ५३२८ ॥

अपि च—कल्प एवैष शैक्षाणां यदनेषणीयमपि भोक्तुं कल्पते, यदि भवतो न प्रत्ययस्ततः पृच्छ 'अन्यानपि' गीतार्थसाधून् । तेऽपि तेन पृष्टाः सन्तो ब्रुवते—एषा 'हु' निश्चितं 'जिनाज्ञा' तीर्थकृतामुपदेशः, सामायिककल्पस्य चैषैव स्थितिः । सूत्रं च ते साधवः 'इदं' प्रस्तुतं "अत्थि या इत्थ केइ सेहतराए" इत्यादिरूपं ब्रुवते । भवेत् कारणं येनाकुट्टिकयाऽपि दद्यात् ॥५३२९॥ कथम् ? इत्याह—

**परतित्थियपूयातो, पासिय विविहातो संखडीतो य ।**
**विप्परिणमेज्ज सेधो, कक्खडचरियापरिस्संतो ॥ ५३३० ॥**

क्वापि क्षेत्रे परतीर्थिकानां पूजाः—सादरस्निग्ध-मधुरभोजनादिरूपास्तदुपासकैर्विधीयमाना दृष्ट्वा विविधाश्च सङ्खडीरवलोक्य शैक्षः कर्कशचर्यापरिश्रान्तः[2] सन् विपरिणमेत ॥५३३०॥ ततः—

**नाऊण तस्स भावं, कप्पति जतणाएँ ताहे दाउं जे ।**

---

१ °ते—"साहियव्वं" ति स्फु° कां० ॥ २ °न्तः समस्तदोषविशुद्धभैक्षग्रहणनिर्विण्णः स° कां० ॥

**संथरमाणे देंतो, लग्गइ सट्ठाणपच्छित्ते ॥ ५३३१ ॥**

ज्ञात्वा 'तस्य' शैक्षस्य 'भावं' स्निग्ध-मधुरभोजनविषयमभिप्रायमेषणीयालाभे यतनया तस्यानेषणीयमपि दातुं कल्पते । अथ संस्तरतोऽपि ददाति ततः स्वस्थानप्रायश्चित्ते लगति, येन दोषेणाशुद्धं तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तमापद्यत इति भावः ॥ ५३३१ ॥

**सेहस्स व संबंधी, तारिसमिच्छंते वारणा णत्थि ।**
**कक्खडें व महिड्ढीए, बितियं अद्धाणमादीसु ॥ ५३३२ ॥**

शैक्षस्य वा सम्बन्धिनः केऽपि स्नेहातिरेकत उत्कृष्टं भक्तमानीय दद्युः, तस्य च तादृशं भोक्तुमिच्छतः 'वारणा' प्रतिषेधो नास्ति । "कक्खडे व" त्ति कर्कशम्—अवमौदर्यं तत्रासंस्तरणेऽशुद्धं शैक्षस्य दातव्यम्, शुद्धमात्मना भोक्तव्यम् । "महिड्ढीए" त्ति महर्द्धिकः—राजादिप्रव्रजितः स यावद् नाद्यापि भावितः तावत् प्रायोग्यमनेषणीयं दीयते । "बिइयं अद्धाणमादीसु" त्ति अध्वादिषु कारणेषु द्वितीयपदं भवति, स्वयमप्यनेषणीयं भुञ्जानाः शुद्धा इति भावः । एषा पुरातनी गाथा ॥ ५३३२ ॥ साम्प्रतमेनामेव विवृणोति—

**नीया व केई तु विरूवरूवं, आणेज्ज भत्तं अणुवट्ठियस्सा ।**
**स चावि पुच्छेज्ज जता तु थेरे, तदा ण वारेंति णं मा गुरूगा ॥ ५३३३ ॥**

निजकाः केचिद् 'विरूपरूपं' मोदका-ऽशोकवर्ति-शाल्योदनप्रभृतिकमुत्कृष्टं भक्तमनुपस्थितस्य शैक्षस्यार्थायानयेयुः । स च तैर्निमन्त्रितो यदा 'स्थविरान्' आचार्यान् पृच्छेत्—गृह्णाम्यहमिदम्? न वा? इति; तदा गुरवो "ण"मिति 'तं' शैक्षं न वारयन्ति । कुतः? इत्याह—"मा गुरूग" त्ति मा वारयतां चत्वारो गुरुकाः प्रायश्चित्तं भवेत् ॥ ५३३३ ॥

किमर्थं पुनर्न वार्यते? इत्याह—

**लोलुग सिणेहतो वा, अण्णहभावो व तस्स वा तेसिं ।**
**गिण्हह तुब्भे वि बहुं, पुरिमड्ढी णिव्विगतिगा मो ॥ ५३३४ ॥**

लोलुपतया संज्ञातकस्नेहतो वा स तद् भक्तं भोक्तुमभिलषेत् ततो यदि वार्यते तदा 'तस्य' शैक्षस्य 'तेषां वा' संज्ञातकानाम् 'अन्यथाभावः' विपरिणमनं भवेत् । संज्ञातकाश्च यदि साधूनामन्त्रयन्ते—बह्वेतद् भक्तम् अतो यूयमपि गृह्णीत; ततो वक्तव्यम्—"मो" इति वयं पूर्वार्द्धप्रत्याख्यानिनो निर्विकृतिका वा ॥ ५३३४ ॥ अथ ते संज्ञातका ब्रवीरन्—

**मंदक्खेण ण इच्छति, तुब्भे से देह वेह णं तुब्भे ।**
**किं वा वारेमु वयं, गिण्हतु छंदेण तो बिंति ॥ ५३३५ ॥**

एष युष्माभिरनुज्ञातः 'मन्दाक्षेण' लज्जया न ग्रहीतुमिच्छति ततो यूयं तस्य प्रयच्छत, भणत वा यूयम्—गृहाणेति । तत्र ब्रुवते—किं वा वयं वारयामः? गृह्णातु स्वयमेव छन्देन यदि रोचते ॥ ५३३५ ॥ अथ "कक्खडे व महिड्ढीए" त्ति पदद्वयं व्याख्याति—

**वीसुं वोमे घेत्तुं, दिंति व से संथरे व उज्झंति ।**
**भावेंता विड्ढिमतो, दलंति जा भावितोऽणेसिं ॥ ५३३६ ॥**

---

१ 'निजकाः' शैक्षसत्कसंज्ञातकाः केचिद् कां० ॥ २ मंतक्खेण ताभा० ॥

'अवमे' दुर्भिक्षे यावन्तिकादिकमनेषणीयं 'विष्वक्' पृथग् गृहीत्वा शैक्षस्यार्थायाऽऽनीतं तस्यैव प्रयच्छन्ति, संस्तरन्तो वा उज्झन्ति । यो वा ऋद्धिमत्प्रव्रजितस्तं 'भावयन्तः' भैक्ष-भोजनभावनां ग्राहयन्तो यावद् भावितो न भवति तावद् येन वा तेन वा दोषेणानेषणीयं प्रायोग्यं लब्ध्वा ददति । यद्येवं ऋद्धिमत्प्रव्रजितं नानुवर्तयन्ति ततश्चतुर्गुरुकम् ॥ ५३३६ ॥

कुतः ? इति चेद् उच्यते—

तित्थविवड्डी य पभावणा य ओभावणा कुलिंगीणं ।
एमादी तत्थ गुणा, अकुव्वतो भारिया चतुरो ॥ ५३३७ ॥

ऋद्धिमति प्रव्रजिते तीर्थविवृद्धिर्भवति, 'यदीदृशा अप्येतेषां सकाशे प्रव्रजन्ति ततो वयं द्रमकप्रायाः किमेवं गृहवासमधिवसामः ?' इति बुद्ध्या भूयांसः प्रव्रजन्तीति भावः । प्रभावना च प्रवचनस्य भवति कुलिङ्गिनां चापभ्राजना भवति, तेषां मध्ये ईदृशामृद्धिमतामभावात् । एवमादयः 'तत्र' राजादिप्रव्रजिते यतो गुणा भवन्ति अतस्तस्यानुवर्तनामकुर्वतश्चत्वारो भारिका मासाः प्रायश्चित्तम् ॥ ५३३७ ॥ अथ द्वितीयपदमाह—

अद्धाणाऽसिव ओमे, रायदुट्ठे असंथरेंता उ ।
सयमवि य भुंजमाणा, विसुद्धभावा अपच्छित्ता ॥ ५३३८ ॥

अध्वा-ऽशिवा-ऽवम-राजद्विष्टेषु असंस्तरन्तः स्वयमप्यनेषणीयं विशुद्धभावा भुञ्जाना अप्रायश्चित्ता मन्तव्याः ॥ ५३३८ ॥

॥ अनेषणीयप्रकृतं समाप्तम् ॥

## कल्पस्थिताकल्पस्थितप्रकृतम्

सूत्रम्—

**जे कडे कप्पट्ठियाणं कप्पइ से अकप्पट्ठियाणं, नो से कप्पइ कप्पट्ठियाणं । जे कडे अकप्पट्ठियाणं णो से कप्पइ कप्पट्ठियाणं कप्पइ से अकप्पट्ठियाणं । कप्पे ठिया कप्पट्ठिया, अकप्पे ठिया अकप्पट्ठिया १९ ॥**

अस्य सम्बन्धमाह—

सुत्तेणेव उ जोगो, मिस्सियभावस्स पन्नवणहेउं ।
अक्खेव णिण्णओ वा, जम्हा तु ठिओ अकप्पम्मि ॥ ५३३९ ॥

सूत्रेणैव 'योगः' सम्बन्धः क्रियते—'मिश्रितभावस्य' 'किमर्थमिदमशुद्धं मम दीयते ?' इत्येवं कलुषितपरिणामस्य शैक्षस्य प्रज्ञापनाहेतोरिदं सूत्रमारभ्यते । यद्वा 'कथं शैक्षस्यानेषणीयं कल्पते ?' इत्येवं केनापि 'आक्षेपे' पूर्वपक्षे कृते 'निर्णयः' निर्वचनमनेन क्रियते । कथम् ? इत्याह—यस्माद् असौ शैक्षः 'अकल्पे' सामायिकसंयमलक्षणे स्थितः ततः कल्पते तस्यानेषणीयमिति ॥ ५३३९ ॥

अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य व्याख्या—'यद्' अशनादिकं 'कृतं' विहितं कल्पस्थितानामर्थाय कल्पते तद् अकल्पस्थितानाम्, नो तत् कल्पते कल्पस्थितानाम् । इहाचेलक्यादौ दशविधे कल्पे ये स्थितास्ते कल्पस्थिता उच्यन्ते, पञ्चयामधर्मप्रतिपन्ना इति भावः । ये पुनरेतस्मिन् कल्पे सम्पूर्णे न स्थितास्ते अकल्पस्थिताः, चतुर्यामधर्मप्रतिपत्तार इत्यर्थः । ततः पञ्चयामिकानुद्दिश्य कृतं चातुर्यामिकानां कल्पत इत्युक्तं भवति । तथा यद् 'अकल्पस्थितानां' चातुर्यामिकानामर्थाय कृतं नो तत् कल्पते 'कल्पस्थितानां' पञ्चयामिकानां किन्तु कल्पते तद् 'अकल्पस्थितानां' चतुर्यामिकानाम् । अत्रैव व्युत्पत्तिमाह—'कल्पे' आचेलक्यादौ दशविधे स्थिताः कल्पस्थिताः । 'अकल्पे' अस्थितकल्परूपे स्थिता अकल्पस्थिताः । एष सूत्रार्थः ॥ अथ **निर्युक्तिविस्तरः**—

**कप्पठिइपरूवणता, पंचेव महव्वया चउज्जामा ।**
**कप्पट्ठियाण पणगं, अकप्प चउजाम सेहे य ॥ ५३४० ॥**

कल्पस्थितेः प्रथमतः प्ररूपणा कर्तव्या । तद्यथा—पूर्व-पश्चिमसाधूनां कल्पस्थितिः पञ्चमहाव्रतरूपा, मध्यमसाधूनां महाविदेहसाधूनां च कल्पस्थितिश्चतुर्यामलक्षणा । ततो ये कल्पस्थितास्तेषां "पणगं" ति पञ्चैव महाव्रतानि भवन्ति । अकल्पस्थितानां तु 'चत्वारो यामाः' चत्वारि महाव्रतानि भवन्ति, 'नापरिगृहीता स्त्री भुज्यते' इति कृत्वा चतुर्थव्रतं परिग्रहव्रत एव तेषामन्तर्भवतीति भावः । यश्च पूर्व-पश्चिमतीर्थकरसाधूनामपि सम्बन्धी शैक्षः सोऽपि सामायिकसंयत इति कृत्वा चतुर्यामिकोऽकल्पस्थितश्च मन्तव्यः, यदा पुनरुपस्थापितो भविष्यति तदा कल्पस्थित इति ॥ ५३४० ॥ प्ररूपिता कल्पस्थितिः । इह "जे कडे कप्पट्ठियाणं" इत्यादिनाऽऽधाकर्म सूचितम् अतस्तस्योत्पत्तिमाह—

**साली घय गुल गोरस, णवेसु वल्लीफलेसु जातेसु ।**
**पुण्णट्ठ करण सड्ढा, आहाकम्मे णिमंतणता ॥ ५३४१ ॥**

कस्यापि दानरुचेरभिगमश्राद्धस्य वा नवः शालिर्भूयान् गृहे समायातस्ततः स चिन्तयति—'पूर्वं यतीनामदत्त्वा ममात्मना परिभोक्तुं न युक्तः' इति परिभाव्याऽऽधाकर्म कुर्यात् । एवं घृते गुडे गोरसे नवेषु वा तुम्ब्यादिवल्लीफलेषु जातेषु पुण्यार्थं दानरुचिः श्राद्धः "करणं" ति आधाकर्म कृत्वा साधूनां निमन्त्रणं कुर्यात् ॥ ४३४१ ॥

तस्य चाधाकर्मणोऽमून्येकार्थिकपदानि—

**आहा अहे य कम्मे, आताहम्मे य अत्तकम्मे य ।**
**तं पुण आहाकम्मं, णायव्वं कप्पते कस्स ॥ ५३४२ ॥**

आधाकर्म अधःकर्म आत्मघ्नम् आत्मकर्म चेति चत्वारि नामानि । तत्र साधूनामाधया—प्रणिधानेन यत् कर्म—षट्कायविनाशेनाशनादिनिष्पादनं तद् आधाकर्म । तथा विशुद्धसंयमस्थानेभ्यः प्रतिपात्य आत्मानं अविशुद्धसंयमस्थानेषु यद् अधोऽधः करोति तद् अधःकर्म । आत्मानं—ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूपं हन्ति—विनाशयतीति आत्मघ्नम् । यत् पाचकादेः सम्बन्धि

१ °ताः किन्तु केषुचित् शय्यातरपिण्डादिषु स्थानेषु स्थिताः केषुचित् तु आचेलक्यादिषु अस्थितास्ते अकल्प° कां० ॥

कर्म–पाकादिलक्षणं ज्ञानावरणीयादिलक्षणं वा तद् आत्मनः सम्बन्धि क्रियते अनेनेति आत्मकर्म । तत् पुनराधाकर्म कस्य पुरुषस्य कल्पते ? न वा ? यद्वा कस्य तीर्थे कथं कल्पते ? न कल्पते वा ? इत्यमीभिर्द्वारैर्ज्ञातव्यम् ॥ ५३४२ ॥ तान्येव दर्शयति—

**संघस्स पुरिम-पच्छिम-मज्झिमसमणाण चेव समणीणं ।**
**चउण्हं उवस्सयाणं, कायव्वा मग्गणा होति ॥ ५३४३ ॥**

आधाकर्मकारी सामान्येन विशेषेण वा सङ्घस्योद्देशं कुर्यात् । तत्र सामान्येन–अविशेषितं सङ्घमुद्दिशति, विशेषेण तु पूर्वं वा मध्यमं वा पश्चिमं वा सङ्घं चेतसि प्रणिधत्ते । श्रमणानामप्योघतो विभागतश्च निर्देशं करोति । तत्रौघतः–अविशेषितश्रमणानाम्, विभागतः पञ्चयामिकश्रमणानां चतुर्यामिकश्रमणानां वा । एवं श्रमणीनामपि वक्तव्यम् । तथा चतुर्णामुपाश्रयाणामप्येवमेव सामान्येन विशेषेण च मार्गणा कर्तव्या भवति । तत्र चत्वार उपाश्रया इमे— पञ्चयामिकानां श्रमणानामुपाश्रयमुद्दिशतीति एकः, पञ्चयामिकानामेव श्रमणीनां द्वितीयः, एवं चतुर्यामिक श्रमण-श्रमणीनामप्येवमेव द्वावुपाश्रयौ मन्तव्यौ ॥ ५३४३ ॥ इदमेव भावयति—

**संघं समुद्दिसित्ता, पढमो बितिओ य समण-समणीओ ।**
**ततिओ उवस्सए खलु, चउत्थओ एगपुरिसस्स ॥ ५३४४ ॥**

आधाकर्मकारी प्रथमो दानश्राद्धादिः सङ्घं सामान्येन विशेषेण वा समुद्दिश्याधाकर्म करोति । द्वितीयः श्रमण-श्रमणीः प्रणिधाय करोति । तृतीय उपाश्रयानुद्दिश्य करोति । चतुर्थ एकपुरुषस्योद्देशं कृत्वा करोति ॥ ५३४४ ॥ अत्र यथाक्रमं कल्प्या-ऽकल्प्यविधिमाह—

**जति सव्वं उद्दिसिउं, संघं कारेति दोण्ह वि ण कप्पे ।**
**अहवा सव्वे समणा, समणी वा तत्थ वि तहेव ॥ ५३४५ ॥**

'यदीति' अभ्युपगमे । यदि नाम ऋषभस्वामिनोऽजितस्वामिनश्च तीर्थमेकत्र मिलितं भवति पार्श्वस्वामि-वर्द्धमानस्वामिनोर्वा तीर्थं मिलितं यदा प्राप्यते तदा तत्कालमङ्गीकृत्यायं विधिरभिधीयते—सर्वमपि सङ्घं सामान्येनोद्दिश्य यदा आधाकर्म करोति तदा 'द्वयोरपि' पञ्चयामिक-चतुर्यामिकसङ्घयोर्न कल्पते । अथ सर्वान् श्रमणान् सामान्येनोद्दिशति ततः 'तत्रापि' श्रमणानामपि सामान्येनोद्देशे 'तथैव' सर्वेषामपि पञ्चयामिकानां चतुर्यामिकानां च श्रमणानां न कल्पते । एवं श्रमणीनामपि सामान्येनोद्देशे सर्वासामकल्प्यम् ॥ ५३४५ ॥

अथ विभागोद्देशे विधिमाह—

**जइ पुण पुरिमं संघं, उद्दिसती मज्झिमस्स तो कप्पे ।**
**मज्झिमउद्दिट्ठे पुण, दोण्हं पि अकप्पितं होति ॥ ५३४६ ॥**

यदि पुनः पूर्वमृषभस्वामिसत्कं सङ्घं समुद्दिशति ततः 'मध्यमस्य' अजितस्वामिसङ्घस्य कल्पते । अथ मध्यमं सङ्घमुद्दिशति तदा 'द्वयोरपि' पूर्व-मध्यमसङ्घयोरकल्प्यं भवति । एवं पश्चिमतीर्थकरसत्कं सङ्घमुद्दिश्य कृतं मध्यमस्य कल्पते, मध्यमस्य कृतं द्वयोरपि न कल्पते ॥ ५३४६ ॥

**एमेव समणवग्गे, समणीवग्गे य पुव्वमुद्दिट्ठे ।**

**मज्झिमगाणं कप्पे, तेसिं कडं दोण्ह वि ण कप्पे ॥ ५३४७ ॥**

एवमेव श्रमणवर्गे श्रमणीवर्गे च पूर्वेषाम्—ऋषभस्वामिसम्बन्धिनां श्रमणानां श्रमणीनां वा यद् उद्दिष्टम्—उद्दिश्य कृतं तद् मध्यमानां श्रमण-श्रमणीनां कल्पते । 'तेषां' मध्यमानामर्थाय कृतं 'उभयेषामपि' पूर्व-मध्यमानां साधु-साध्वीनां न कल्पते । एवं पश्चिम-मध्यमानामपि वक्तव्यम् ॥ ५३४७ ॥ अथैकपुरुषोद्देशे विधिमाह—

**पुरिमाणं एक्कस्स वि, कयं तु सव्वेसि पुरिम-चरिमाणं ।**
**ण वि कप्पे ठवणामेत्तयं तु गहणं तहिं नत्थि ॥ ५३४८ ॥**

'पूर्वेषाम्' ऋषभस्वामिसत्कानामेकस्यापि पुरुषस्यार्थाय कृतं सर्वेषामपि पूर्व-पश्चिमानामकल्प्यम्, पश्चिमानामप्येकस्यार्थाय कृतं सर्वेषां पूर्व-पश्चिमानामकल्प्यम् । एतच्च 'स्थापनामात्रं' प्ररूपणामात्रं संज्ञाविज्ञानार्थं क्रियते, बहुकालान्तरितत्वेन पूर्व-पश्चिमसाधूनामेकत्रासम्भवात् तत्र परस्परं ग्रहणं 'नास्ति' न घटते । मध्यमानां तु यदि सामान्येनैकं साधुमुद्दिश्य कृतं तत एकेन गृहीते शेषाणां कल्पते । अथ कमप्येकं विशेष्य कृतं ततः तस्यैवाकल्प्यम्, शेषाणां सर्वेषामपि कल्प्यम, पूर्व-पश्चिमानां तु सर्वेषामपि तन्न कल्पते ॥ ५३४८ ॥

अथोपाश्रयोद्देशे विधिमाह—

**एवस्सुवस्सय पुरिमे, उद्दिट्ठ ण तं तु पच्छिमा भुंजे ।**
**मज्झिम-तव्वज्जाणं, कप्पे उद्दिट्ठसम पुव्वा ॥ ५३४९ ॥**

एवं यदि सामान्येनोपाश्रयाणामुद्देशं करोति तदा सर्वेषामकल्प्यम् । अथ पूर्वेषाम्—आद्यतीर्थकरसाधूनामुपाश्रयानुद्दिशति ततस्तदर्थमुद्दिष्टं पश्चिमा उपलक्षणत्वात् पूर्वे वा साधवः सर्वेऽपि न भुञ्जते, मध्यमानां पुनः कल्पनीयम् । अथ मध्यमसाधूनामुपाश्रयान् सर्वानुद्दिश्य करोति ततो मध्यमानां पूर्व-पश्चिमानां च सर्वेषामकल्प्यम् । अथ कियत एव मध्यमोपाश्रयानुद्दिशति ततः 'तद्वर्जानां' तेषु—उपाश्रयेषु ये श्रमणास्तान् वर्जयित्वा शेषाणां मध्यमश्रमणश्रमणीनां[1] कल्पते । "उद्दिट्ठसम पुव्व" त्ति पूर्वे साधवः—ऋषभस्वामिसत्का भण्यन्ते, ते 'उद्दिष्टसमाः' यं साधुमुद्दिश्य कृतं तत्तुल्याः, एकमुद्दिश्य कृतं सर्वेषामकल्पनीयमिति भावः ॥ ५३४९ ॥ एवं तावत् पूर्वेषां मध्यमानां च भणितम् । अथ मध्यमानां पश्चिमानां चाभिधीयते—

**सव्वे समणा समणी, मज्झिमगा चेव पच्छिमा चेव ।**
**मज्झिमग समण-समणी, पच्छिमगा समण-समणीतो ॥ ५३५० ॥**

सर्वे श्रमणाः श्रमण्यो वा यदोद्दिश्यन्ते तदा सर्वेषामकल्प्यम् । "मज्झिमगा चेव" त्ति अथ मध्यमाः श्रमणाः श्रमण्यो वा उद्दिष्टास्ततो मध्यमानां पश्चिमानां च सर्वेषामकल्प्यम् । "पच्छिमा चेव" त्ति पश्चिमानां श्रमण-श्रमणीनामुद्दिष्टे तेषां सर्वेषामकल्प्यम्, मध्यमानां कल्प्यम् । मध्यमश्रमणानामुद्दिष्टं मध्यमसाध्वीनां कल्पते, मध्यमश्रमणीनामुद्दिष्टं मध्यमसाधूनां कल्पते । पश्चिमश्रमणानामुद्दिष्टे पश्चिमसाधु-साध्वीनां न कल्पते, मध्यमानामुभयेषामपि कल्पते । एवं पश्चिमश्रमणीनामप्युद्दिष्टे वक्तव्यम् ॥ ५३५० ॥

---

१ °मश्रमणीनां क° कां० ॥

उवस्सग गणिय-विभाइय, उज्जुग-जड्डा य वंक-जड्डा य ।
मज्झिमग उज्जु-पण्णा, पेच्छा सण्णायगाऽऽगमणं ॥ ५३५१ ॥

अथोपाश्रयेषु साधून् गणित-विभाजितान् करोति । गणिता नाम–इयतां पञ्चादिसङ्ख्याकानां दातव्यम्, विभाजिता नाम–'अमुकस्यामुकस्य' इति नामोत्कीर्तनेन निर्द्धारिताः । अत्र चतुर्भङ्गी—गणिता अपि विभाजिता अपि १ गणिता न विभाजिताः २ विभाजिता न गणिताः ३ न गणिता न विभाजिताः ४ । अत्र प्रथमभङ्गे मध्यमानां गणित-विभाजितानामेवाकल्प्यम्, शेषाणां कल्पते । द्वितीयभङ्गे यावद् गणितप्रमाणैर्न गृहीतं तावत् सर्वेषामकल्प्यम्, गणितप्रमाणैर्गृहीते मध्यमानां शेषाणां कल्प्यम् । तृतीयभङ्गे यावन्तः सदृशनामानस्तेषां सर्वेषामकल्प्यम्, शेषाणां कल्प्यम् । चतुर्थभङ्गे सर्वेषामकल्प्यम् । पूर्व-पश्चिमानां तु सर्वेष्वपि भङ्गेषु न कल्पते । परः प्राह—ननु सर्वेषां सर्वज्ञानां सदृश एव हितोपदेशस्ततः कथं पञ्चयामिकानां चतुर्यामिकानां च विसदृशः कल्प्या-ऽकल्प्यविधिः ? अत्रोच्यते—कालानुभावेन विनेयानामपरापरं तथातथास्वभावपरिणामं विमलकेवलचक्षुषा विलोक्य तीर्थकृद्भिरित्थं कल्प्या-ऽकल्प्यविधिवैचित्र्यमकारि । तथा चाह—"उज्जुग-जड्डा य" इति, पूर्वसाधवः ऋजु-जडाः पश्चिमसाधवो वक्र-जडा मध्यमा ऋजु-प्राज्ञाः । एतेषां च त्रिविधानामपि साधूनां नटप्रेक्षादृष्टान्तेन प्ररूपणा कर्तव्या । त्रिविधानामेव च साधूनां सज्ञातककुलमागतानां गृहिण उद्गमादिदोषान् कुर्युः तत्रापि त्रिधा निदर्शनं कर्तव्यम् ॥ ५३५१ ॥

तत्र नटप्रेक्षणकदृष्टान्तं तावदाह—

नडपेच्छं दट्ठूणं, अवस्स आलोयणा ण सा कप्पे ।
कउयादी सो पेच्छति, ण ते वि पुरिमाण तो सव्वे ॥ ५३५२ ॥

कश्चित् प्रथमतीर्थकरसाधुर्भिक्षां पर्यटन् नटस्य 'प्रेक्षां' प्रेक्षणकं दृष्ट्वा कियन्तमपि कालमवलोक्य समागतः, स च ऋजुत्वेनावश्यमाचार्याणामालोचयति, यथा—नटो नृत्यन् मया विलोकितः । आचार्यैरुक्तम्—'सा' नटावलोकना साधूनां कर्तुं न कल्पते । ततः 'यथाऽऽदिशन्ति भगवन्तस्तथैव' इत्यभिधाय भूयोऽपि भिक्षामटन् कयोकादिकमसौ प्रेक्षते । कयोको नाम–वेषपरावर्तकारी नटविशेषः । आदिशब्दाद् नर्तकीप्रभृतिपरिग्रहः । ततस्तथैवालोचिते गुरवो भणन्ति—ननु पूर्वं वारितस्त्वमासीः । स प्राह—नट एव द्रष्टुं वारितो न कयोकः, एष च मया कयोको दृष्टः । एवं यावन्मात्रं परिस्फुटेन वचसा वार्यन्ते तावन्मात्रमेवैते वर्जयन्ति, न पुनः सामर्थ्योक्तमपरस्य तादृशस्य प्रतिषेधं प्रतिपद्यन्ते । यदा तु भण्यते "न ते वि" त्ति 'तेऽपि' कयोकादयो न कल्पन्ते द्रष्टुं तदा सर्वानपि परिहरन्ति, अतः पूर्वेषां साधूनां सर्वेऽपि नटादयो न कल्पन्ते द्रष्टुमिति प्रथममेवोपदेष्टव्यम् ॥ ५३५२ ॥

एमेव उग्गमादी, एक्केक्क निवारि एतरे गिण्हे ।
सव्वे वि ण कप्पंति, त्ति वारितो अजियं वज्जे ॥ ५३५३ ॥

---

१ °नां गणित-विभाजितानामेवाकल्प्यम् । तृतीय° कां० ॥  २ कां० प्रतौ 'कयोक'स्थाने सर्वत्रापि 'कतवक' इति पाठो वर्तते ॥

'एवमेव' नटप्रेक्षणोक्तेनैव प्रकारेण पूर्वतीर्थकरसाधुर्यदि एकैकमुद्गमादिदोषं निवार्यते ततो यमेवाधाकर्मादिकं दोषं निवारितस्तमेव वर्जयति 'इतरांस्तु' पूतिकर्म-क्रीतकृतादीन् गृह्णाति, न वर्जयतीत्यर्थः । यदा तु 'सर्वेऽपि' उद्गमदोषा न कल्पन्ते इति वारितो भवति तदा सर्वानपि यावज्जीवं वर्जयति ॥ ५३५३ ॥ अथ संज्ञातकागमनपदं व्याचष्टे—

**सण्णायगा वि उज्जुत्तणेण कस्स कत तुज्झमेयं ति ।**
**मम उद्दिट्ठ ण कप्पइ, कीतं अण्णस्स वा पगरे ॥ ५३५४ ॥**

प्रथमतीर्थकरतीर्थे यदा साधुः संज्ञातककुलं गच्छति तदा ते संज्ञातकाः किञ्चिदाधाकर्मादिकं कृत्वा साधुना 'कस्यार्थाय युष्माभिरिदं कृतम्?' इति पृष्टाः सन्त ऋजुत्वेन कथयन्ति—युष्मदर्थमेतद् इति । ततः साधुर्भणति—ममोद्दिष्टभक्तं न कल्पते । एवमुक्तः स गृही क्रीतकृतं अन्यद्वा दोषजातं कृत्वा दद्यात्, 'उद्दिष्टमेवामुना प्रतिषिद्धं न क्रीतादिकम्' इति बुद्ध्या । अथवाऽन्यस्य साधोरर्थायाधाकर्म प्रकुर्यात्, 'ममोद्दिष्टं न कल्पते इति भणता तेनात्मन एवाधाकर्म प्रतिषिद्धम् नान्येषाम्' इति बुद्ध्या ॥ ५३५४ ॥

**सव्वजईण निसिद्धा, मा अणुमण्ण त्ति उग्गमा णे सिं ।**
**इति कधिते पुरिमाणं, सव्वे सव्वेसि ण करेंति ॥ ५३५५ ॥**

यदा तु तेषां गृहिणामग्रेऽभिधीयते—सर्वेऽप्युद्गमदोषाः सर्वेषां यतीनां 'निषिद्धाः' न कल्पन्ते, मा भूद् "णे" अस्माकं "सिं" ति तेषां दोषाणां अनुमतिदोष इति कृत्वा । तत एवं कथिते सति ते गृहिणः सर्वेषामपि साधूनां सर्वानप्युद्गमदोषान् न कुर्वन्ति । एवं पूर्वेषां तीर्थे ये दानश्राद्धादय उद्गमदोषकारिणस्तेऽपि ऋजु-जडा इति भावः ॥ ५३५५ ॥

अथ ऋजु-जडपदव्याख्यानमाह—

**उज्जुत्तणं से आलोयणाएँ जड्डत्तणं से जं भुज्जो ।**
**तज्जातिए ण याणति, गिही वि अन्नस्स अन्नं वा ॥ ५३५६ ॥**

ऋजुत्वं "से" 'तस्य' प्रथमतीर्थकरसाधोरेवं मन्तव्यम्—यद् एकान्तेऽप्यकृत्यं कृत्वा गुरूणामवश्यमालोचयति । यत् पुनर्भूयस्तज्जातीयान् दोषान् न जानाति न च वर्जयति तेन तस्य जडत्वं द्रष्टव्यम् । गृहिणोऽपि यद् एकस्य निवारितं तद् अन्यस्य निमित्तं कुर्वन्ति 'अन्यं वा' क्रीतकृतादिकं दोषं कुर्वन्ति एतत् तेषां जडत्वम् । यत् तु पृष्टाः सन्तः परिस्फुटं सद्भावं कथयन्ति एतत् तेषां ऋजुत्वम् ॥ ५३५६ ॥ अथ मध्यमानामृजु-प्रज्ञतां भावयति—

**उज्जुत्तणं से आलोयणाएँ पण्णा उ सेसवज्जणया ।**
**सण्णायगा वि दोसे, ण करेंतऽण्णे ण यऽण्णेसिं ॥ ५३५७ ॥**

'रहस्यपि यत् प्रतिसेवितं तद् अवश्यमालोचयितव्यम्' इत्यालोचनया मध्यमतीर्थङ्करसाधूनामृजुत्वं मन्तव्यम्, यत् पुनः शेषाणां—तज्जातीयानामर्थानां स्वयमभ्यूह्य ते वर्जनां कुर्वन्ति ततः प्रज्ञा तेषां प्रतिपत्तव्या । ते हि 'नटावलोकनं कर्तुं न कल्पते' इत्युक्ताः प्राज्ञतया स्वचेतसि परिभावयन्ति—यथा एतद् नटावलोकनं 'राग-द्वेषनिबन्धनम्' इति कृत्वा परिह्रियते तथा कथोक-नर्तक्यादिदर्शनमपि रागद्वेषनिबन्धनतया परिहर्तव्यमेव; इति विचिन्त्य तथैव कुर्वन्ति ।

संज्ञातका अपि तेषाम् 'इदमुद्दिष्टभक्तं मम न कल्पते' इत्युक्ताश्चिन्तयन्ति—यथैतस्यायं दोषोऽकल्पनीयस्तथाऽन्येऽपि तज्जातीयाः सर्वेऽप्यकल्पनीयाः, यथा चैतस्य ते अकल्पनीयास्तथा सर्वेषामपि साधूनां न कल्पन्ते। एवं विचिन्त्य 'अन्यान्' उद्गमदोषान् न कुर्वन्ति, अन्येषां च साधूनां हेतोर्न कुर्वन्ति ॥ ५३५७ ॥ अथ वक्र-जडव्याख्यानमाह—

**वंका उ ण साहंती, पुट्ठा उ भणंति उण्ह-कंटादी।**
**पाहुणग सद्ध ऊसव, गिहिणो वि य वाउलंतेवं ॥ ५३५८ ॥**

पश्चिमतीर्थकरसाधवो वक्रत्वेन किमप्यकृत्यं प्रतिसेव्यापि 'न कथयन्ति' नालोचयन्ति, जडतया च जानन्तोऽजानन्तो वा भूयस्तथैवापराधपदे प्रवर्तन्ते। नटावलोकनं कुर्वाणाश्च दृष्टास्ततो गुरुभिः पृष्टाः—किमियतीं वेलां स्थिताः ?। ततो भणन्ति—उष्णेनाभितापिता वृक्षादिच्छायायां विश्रामं गृहीतवन्तः, कण्टको वा लग्न आसीत् स तत्र स्थितैरपनीतः, आदिशब्दाद् अन्यदप्येवंविधमुत्तरं कुर्वन्तीति। गृहिणोऽपि आधाकर्मादौ कृते पृष्टा भणन्ति—प्राघुणका आगतास्तदर्थमिदमुपस्कृतम्, अस्माकं वा ईदृशे शाल्योदनादौ भक्तेऽद्य श्रद्धा समजनि, उत्सवो वा अद्यामुकोऽस्माकम्। एवं गृहिणोऽपि वक्र-जडतया साधून् 'व्याकुलयन्ति' व्यामोहयन्ति, सद्भावं नाख्यान्तीत्यर्थः। एतेन कारणेन चातुर्यामिक-पञ्चयामिकानामाधाकर्मग्रहणे विशेषः कृत इति प्रक्रमः ॥ ५३५८ ॥ अथ द्वितीयपदमाह—

**आयरिए अभिसेगे, भिक्खुम्मि गिलाणए य भयणा उ।**
**तिक्खुत्तऽडवि पवेसे, चउपरियट्टे तओ गहणं ॥ ५३५९ ॥**

आचार्या-ऽभिषेक-भिक्षूणामेकतरः सर्वे वा ग्लाना भवेयुः तत्र सर्वेषामपि योग्यमुद्गमादिदोषशुद्धं ग्रहीतव्यम्। अलभ्यमाने पञ्चकपरिहाण्या यतित्वा चतुर्गुरुकं यदा प्राप्तं भवति तदाऽऽधाकर्मणः 'भजना' सेवना भवति। अथवा भजना नाम—आचार्यस्याभिषेकस्य गीतार्थभिक्षोश्च येन दोषेणाशुद्धमानीतं तत् परिस्फुटमेव कथ्यते। यः पुनरगीतार्थोऽपरिणामको वा तस्य न निवेद्यते। अशिवादिभिर्वा कारणैरटवीम्—अध्वानं प्रवेष्टुमभिलषन्ति तत्र प्रथममेव शुद्धोऽध्वकल्पः 'त्रिकृत्वः' त्रीन् वारान् गवेष्यते, यदा न लभ्यते तदा चतुर्थे परिवर्ते पञ्चकपरिहाण्या आधाकर्मिकस्य ग्रहणं करोति ॥ ५३५९ ॥ अध्वनिर्गतानां चायं विधिः—

**चउरो चउत्थभत्ते, आयंबिल एगठाण पुरिमड्ढं।**
**णिव्वीयग दायव्वं, सयं च पुव्वोग्गहं कुज्जा ॥ ५३६० ॥**

आचार्यः स्वयमेव चतुःकल्याणकं प्रायश्चित्तं गृह्णाति, तत्र चत्वारि चतुर्थभक्तानि चत्वार्याचाम्लानि चत्वारि 'एकस्थानानि' एकाशनकानीत्यर्थः चत्वारि पूर्वार्द्धानि चत्वारि निर्वृतिकानि (निर्विकृतिकानि) च भवन्ति। ततः शेषा अप्यपरिणामकप्रत्ययनिमित्तं चतुःकल्याणकं प्रतिपद्यन्ते। योऽपरिणामकस्तस्य पञ्चकल्याणकं दातव्यम्, तत्र चतुर्थभक्तादीनि प्रत्येकं पञ्च पञ्च भवन्ति। स्वयं चाचार्यः पूर्वमेव प्रायश्चित्तस्यावग्रहणं कुर्याद् येन शेषाः सुखेनैव

१ षष्ठी-सप्तम्योरर्थे प्रत्ययभेदाद् आचा° कां० ॥ २ °ण्या चतुर्गुरुकं प्राप्तः सन् आधा° कां० ॥
३ °का-ऽऽचाम्लादीनि पूर्वोक्तानि पञ्च स्थानानि भवन्ति कां० ॥ ४ °न शैक्षाः सु° कां० ॥

प्रतिपद्यन्ते ॥ ५३६० ॥ आह—यत् पूर्वं प्रतिषिद्धं तत् किमेवं भूयोऽनुज्ञायते? अनुज्ञातं चेत् ततः किमर्थं प्रायश्चित्तं दीयते? इत्याह—

**काल-सरीरावेक्खं, जगस्सभावं जिणा वियाणित्ता ।**
**तह तह दिसंति धम्मं, झिज्जति कम्मं जहा अखिलं ॥ ५३६१ ॥**

'काल-शरीरापेक्षं' कालस्य शरीरस्य च यादृशः परिणामो बलं वा तदनुरूपं जगतः—मनुष्यलोकस्य स्वभावं विज्ञाय 'जिनाः' तीर्थकरास्तथा तथा विधि-प्रतिषेधरूपेण प्रकारेण धर्ममुपदिशन्ति यथा अखिलमपि कर्म क्षीयते । यच्चानुज्ञातेऽपि प्रायश्चित्तदानं तद् अनवस्था-प्रसङ्गवारणार्थम् ॥ ५३६१ ॥

**॥ कल्पस्थिता-ऽकल्पस्थितप्रकृतं समाप्तम् ॥**

---

## ग णा न्त रो प स म्प त्प्र कृ त म्

सूत्रम्—

**भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा उवज्झायं वा पवत्तिं वा थेरं वा गणिं वा गणहरं वा गणावच्छेइयं वा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए; कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए । ते य से वियरेज्जा एवं से कप्पइ अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरत्तए; ते य से नो वितरेज्जा एवं से नो कप्पइ अण्णं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए २० ॥**

एवमग्रेतनमपि सूत्राष्टकमुच्चारणीयम्[1] ॥ अथास्य सूत्रनवकस्य[2] कः सम्बन्धः? इत्याह—

**कप्पातो व अकप्पं, होज्ज अकप्पा व संकमो कप्पे ।**
**गणि गच्छे व तदुभए, सुत्तम्मि अह सुत्तसंबंधो ॥ ५३६२ ॥**

पूर्वसूत्रे कल्पस्थिता अकल्पस्थिताश्चोक्ताः । तेषां च 'कल्पात्' स्थितकल्पाद् 'अकल्पे' अस्थितकल्पे सङ्क्रमणं भवेत्[3], 'अकल्पाद् वा' अस्थितकल्पात् 'कल्पे' स्थितकल्पे सङ्क्रमणं

---

१ "एवं त्रीणि सूत्राणि उच्चारयितव्यानि ॥ संबंधो—कप्पातो० गाहा ।" इति चूर्णौ । "एवं तिन्नि सुत्ताणि उच्चारेयव्वाणि ॥ संबन्धः—कप्पातो व० गाहा ।" इति विशेषचूर्णौ ॥ २ °स्य सम्बन्धं दर्शयति—कप्पातो कां० ॥ ३ °त्, यथा ऋषभस्वामितीर्थादजितनाथतीर्थं सङ्क्रामतः; 'अकल्पा° कां० ॥

भवेत्[1], अथवा 'गणी' आचार्य उपाध्यायो वा तस्य गच्छे सूत्रा-ऽर्थ-तदुभयस्मिन् 'च्युते' विस्मृते सति गच्छान्तरे सङ्क्रमणं भवेत्[2], अतस्तद्विधिरनेनाभिधीयते । एष सूत्रसम्बन्धः ॥ ५३६२ ॥

अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य[3] व्याख्या—'भिक्षुः' सामान्यसाधुः चशब्दाद् निर्ग्रन्थी च गणाद् 'अवक्रम्य' निर्गत्य 'इच्छेत्' अभिलषेद् अन्यं गणमुपसम्पद्य विहर्तुम् । नो "से" तस्य भिक्षोः कल्पतेऽनापृच्छ्याऽऽचार्यं वा उपाध्यायं वा प्रवर्तकं वा स्थविरं वा गणिनं वा गणधरं वा गणावच्छेदकं वा अन्यं गणमुपसम्पद्य विहर्तुम् । कल्पते "से" तस्य भिक्षोराचार्यं वा यावत्करणाद् उपाध्यायं वा प्रवर्तिनं वा स्थविरं वा गणिनं वा गणधरं वा गणावच्छेदकं वाऽऽपृच्छ्यान्यं गणमुपसम्पद्य विहर्तुम् । 'ते च' आचार्यादय आपृष्टाः सन्तस्तस्यान्यगणगमनं 'वितरेयुः' अनुजानीयुः तत एवं तस्य कल्पते अन्यं गणमुपसम्पद्य विहर्तुम् । ते च तस्य न वितरेयुः ततो नो कल्पते तस्यान्यं गणमुपसम्पद्य विहर्तुमिति सूत्रार्थः ॥ अथ निर्युक्तिविस्तरः—

तिट्ठाणे अवकमणं, णाणट्ठा दंसणे चरित्तट्ठा ।
आपुच्छिऊण गमणं[4], भीतो त नियत्तते कोती १ ॥ ५३६३ ॥
चिंतंतो २ वइगादी ३, संखडि ४ पिसुगादि ५ अपडिसेहे य ६ ।
परिसिल्ले सत्तमए ७, गुरुपेसविए य ८ सुद्धे य ॥ ५३६४ ॥

स्थानं कारणमित्येकोऽर्थः, ततस्त्रिभिः स्थानैः—कारणैर्गच्छाद् अपक्रमणं भवति—ज्ञानार्थं दर्शनार्थं चारित्रार्थं च । अथ निष्कारणमन्यं गणमुपसम्पद्यते ततश्चतुर्गुरुकं आज्ञादयश्च दोषाः । कारणेऽपि यदि गुरुमनापृच्छ्य गच्छति ततश्चतुर्गुरुकम्, तस्माद् आपृच्छ्य गन्तव्यम् । तत्र ज्ञानार्थं तावद् अभिधीयते—यावद् आचार्यसकाशे श्रुतमस्ति तावद् अशेषमपि केनापि शिष्येणाधीतम्, अस्ति च तस्यापरस्यापि श्रुतस्य ग्रहणे शक्तिस्ततोऽधिकश्रुतग्रहणार्थमाचार्यमापृच्छति । आचार्येणापि स विसर्जयितव्यः । तस्यैवमापृच्छ्य गच्छत इमेऽतिचारा भवन्ति ते परिहर्तव्याः । तत्र कश्चित् तेषामाचार्याणां कर्कशचर्यां श्रुत्वा भीतः सन् निवर्तते १ ॥

तथा 'किं व्रजामि ? मा वा ?' इति चिन्तयन् व्रजति २ । व्रजिकायां वा प्रतिबन्धं करोति, आदिशब्दाद् दानश्राद्धादिषु दीर्घां गोचरचर्यां करोति, अप्राप्तं वा देशकालं प्रतीक्षते ३ । "संखडि" त्ति सङ्खड्यां प्रतिबध्यते ४ । "पिसुगाइ" त्ति पिशुक-मत्कुणादिभयाद् निवर्तते अन्यत्र वा गच्छे गच्छति ५ । "अप्पडिसेह" त्ति कश्चिदाचार्यस्तं परममेधाविनमन्यत्र गच्छन्तं श्रुत्वा परिस्फुटवचसा तं न प्रतिषेधयति किन्तु शिष्यान् व्यापारयति—तस्मिन्नागते व्यञ्जन-घोषशुद्धं पठनीयम् येनात्रैवैष तिष्ठति; एवमप्रतिषेधयन्नपि प्रतिषेधको लभ्यते, तेनैवं विपरिणामितः सन् तदीये गच्छे प्रविशति ६ । "परिसिल्ले" त्ति पर्षद्वान् स उच्यते यः संविज्ञाया असंविज्ञायाश्च पर्षदः सङ्ग्रहं करोति, तस्य पार्श्वे तिष्ठतः सप्तमं पदम् । "गुरुपेस-

---

१ °त्, यथा पार्श्वनाथतीर्थाद् वर्धमानस्वामितीर्थं सङ्क्रामतः; अथवा कां० ॥ २ °त्, उपलक्षणमिदम्, तेन भिक्षोरपूर्वसूत्रार्थग्रहणहेतुकमपि गणान्तरसङ्क्रमणं भवेत्; अत° कां० ॥ ३ °स्य सूत्रनवकस्य मध्यात् प्रथमसूत्रस्य तावद् व्याख्या कां० ॥ ४ °मणं, चिंतेइ य निग्गतो कोयी ॥ ५३६३ ॥ भीओ १ चिंतेंतो २ वइ° ताभा० ॥

विए य'' त्ति तत्र सम्प्राप्तो ब्रवीति—अहमाचार्यैः श्रुताध्ययननिमित्तं युष्मदन्तिके प्रेषितः ८। एतेषु भीतादिष्वष्टस्वपि पदेषु वक्ष्यमाणनीत्या प्रायश्चित्तम्। यस्तु भीतादिदोषविप्रमुक्तः समागतो ब्रवीति—'अहमाचार्यविसर्जितो युष्मदन्तिके समायातः' इति सः 'शुद्धः' न प्रायश्चित्तभाक् ॥ ५३६३ ॥ ५३६४ ॥ भीतादिपदेषु प्रायश्चित्तमाह—

पणगं च भिण्णमासो, मासो लहुगो य संखडी गुरुगा।
पिसुमादी मासलहू, चउरो लहुगा अपडिसेहे ॥ ५३६५ ॥
परिसिल्ले चउलहुगा, गुरुपेसवियम्मि मासियं लहुगं।
सेहेण समं गुरुगा, परिसिल्ले पविसमाणस्स ॥ ५३६६ ॥
पडिसेहगस्स लहुगा, परिसेल्ले छ च चरिमओ सुद्धो।
तेसिं पि होंति गुरुगा, जं चाऽऽभव्वं ण तं लभती ॥ ५३६७ ॥

भीतस्य निवर्तमानस्य पञ्चकम्। चिन्तयतो भिन्नमासः। व्रजिकादिषु प्रतिबध्यमानस्य मासलघु। सङ्खड्यां चतुर्गुरुकाः। पिशुकादिभयान्निवर्तमानस्य मासलघु। अप्रतिषेधकस्य पार्श्वे तिष्ठतश्चत्वारो लघुकाः ॥ ५३६५ ॥

पर्षद्वत आचार्यस्य सकाशे तिष्ठतश्चतुर्लघुकाः। 'गुरुभिः प्रेषितोऽहम्' इति भणने लघुमासिकम्। शैक्षेण समं पर्षद्वतो गच्छे प्रविशतश्चतुर्गुरुकाः। गृहीतोपकरणस्य तत्र प्रविशत उपधिनिष्पन्नम् ॥ ५३६६ ॥

'प्रतिषेधकस्य' प्रतिषेधकत्वं कुर्वतश्चतुर्लघु। पर्षदं मीलयतः षड् लघुकाः। 'चरमः' भीतादिदोषरहितः स शुद्धः। 'तेषामपि' प्रतिषेधकादीनामाचार्याणां तं स्वगच्छे प्रवेशयतां चत्वारो गुरुकाः। यच्च सचित्तमचित्तं वा वाचनाचार्यस्याभाव्यं तत् ते किञ्चिदपि न लभन्ते, यः पूर्वमभिधारितस्तस्यैवाचार्यस्य तदाभाव्यमिति भावः ॥ ५३६७ ॥[3]

अथ भीतादिपदानां क्रमेण व्याख्यानमाह—

संसाहगस्स सोउं, पडिपंथिगमादिगस्स वा भीओ।
आयरणा तत्थ खरा, सयं व णाउं पडिणियत्तो ॥ ५३६८ ॥

संसाधको नाम—वोलापकः पृष्ठतः कुतश्चिदागतो वा साधुस्तन्मुखेन श्रुत्वा, प्रतिपन्थिकः—सम्मुखीनः साध्वादिस्तदादेर्वा मुखात् श्रुत्वा, स्वयं वा 'ज्ञात्वा' स्मृत्वा। किम्? इत्याह—'आचरणा' चर्या 'तत्र' तस्याचार्यस्य गच्छे 'खरा' कर्कशा। एवं श्रुत्वा ज्ञात्वा वा भीतः सन् यः प्रतिनिवृत्तस्तस्य पञ्चकं भवतीति शेषः ॥ ५३६८ ॥ अथ चिन्तयन्निति पदं व्याचष्टे—

पुव्वं चिंतेयव्वं, णिग्गतो चिंतेति किं णु हु करेमि।
वच्चामि नियत्तामि व, तहिं व अण्णत्थ वा गच्छे ॥ ५३६९ ॥

'पूर्वमेव' यावन्न निर्गम्यते तावच्चिन्तयितव्यम्। यस्तु निर्गतश्चिन्तयति—किं करोमि? व्रजामि निवर्ते वा?, यद्वा तत्र वाऽन्यत्र वा गच्छे गच्छामि? इति; स मासलघु प्रायश्चित्तं

१ °यं गुरुयं ताभा० ॥ २ अप्पडिसेधे लहुगा ताभा० ॥ ३ एतदनन्तरम् ग्रन्थाग्रम्—३००० इति कां० ॥ ४ °ञ्चकं प्रायश्चित्तमिति प्रक्रमः ॥ ५३६८ ॥ व्याख्यातं भीतपदम्। अथ कां० ॥

प्राप्नोति इति प्रक्रमः ॥ ५३६९ ॥ व्रजिका-सङ्खडीद्वारद्वयमाह—

**उव्वत्तणमप्पत्ते, लहुओ खद्धस्स भुंजणे लहुगा ।**
**णीसट्ठ सुवणे लहुओ, संखडि गुरुगा य जं चऽण्णं ॥ ५३७० ॥**

व्रजिकां श्रुत्वा मार्गादुद्वर्तनं करोति अप्राप्तां वा वेलां प्रतीक्षते लघुमासः । अथ खद्धं–प्रभूतं तत्र भुङ्क्ते ततश्चतुर्लघु । प्रचुरं भुक्त्वा अजीर्णभयेन 'निसृष्टं' प्रकामं स्वपिति लघुमासः । सङ्खड्यामप्राप्तकालं प्रतीक्षमाणस्य प्रभूतं गृह्णतो वा चतुर्गुरुकाः । "जं चऽन्नं" ति यच्च हस्तेन हस्तसङ्घट्टनं पादेन पादस्याक्रमणं शीर्षेण शीर्षस्याकुट्टनमित्यादिकमन्यदपि सङ्खड्यां भवति तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् ॥ ५३७० ॥ अथ प्रतिषेधकद्वारमाह—

**अमुगत्थ अमुगो वच्चति, मेहावी तस्स कड्ढणट्ठाए ।**
**पंथ ग्गामे व पहे, वसधीय व कोइ वावारे ॥ ५३७१ ॥**
**अभिलावसुद्ध पुच्छा, रोलेणं मा हु मे विणासेज्जा ।**
**इति कड्ढंते लहुगा, जति सेहट्ठा ततो गुरुगा ॥ ५३७२ ॥**

कश्चिदाचार्यो विशुद्धसूत्रार्थः स्फुटविकटव्यञ्जनाभिलापी, तेन च श्रुतम्—अमुकाचार्यान्तिकेऽमुको मेधावी साधुरमुकश्रुताध्ययनार्थं व्रजति । ततोऽसौ 'मा मामतिक्रम्यान्यत्र गमद्' इति कृत्वा तस्याकर्षणार्थम् 'अथ' अनन्तरं शिष्यान् प्रतीच्छकांश्च व्यापारयति । क ? इत्याह—"पंथ ग्गामे व पहे" त्ति यत्र पथि ग्रामे स भिक्षां करिष्यति[1], मध्येन वा समेष्यति, येन वा पथा समागमिष्यति, यस्यां वा वसतौ स्थास्यति तेषु स्थानेषु गत्वा यूयमभिलापशुद्धं परिवर्तयन्तस्तिष्ठत । यदा स आगतो भवति तदा यदि असौ पृच्छेत्—केन कारणेन यूयमिहागताः ?; ततो भवद्भिर्वक्तव्यम्—अस्माकं वाचनाचार्या अभिलापशुद्धं पाठयन्ति, यदि अभिलापः कथञ्चिदन्यथा क्रियते ततो महदप्रीतिकं ते कुर्वन्ति, भणन्ति च—अत्रोपाश्रये बहूनां रोलेनाभिलापं "मे" यूयं मा विनाशयतेति, ततस्तदादेशेन वयमत्र विजने परिवर्तयामः । एवमाकर्षणं कुर्वतश्चतुर्लघुकाः । अथ तेन आगच्छता शैक्षः कोऽपि लब्धः तदर्थम्–'एष शैक्षो मे भूयाद्' इति कृत्वा आकर्षति ततश्चतुर्गुरुकाः ॥ ५३७१ ॥ ५३७२ ॥

◁ एवं बहिरावर्ज्य किं करोति ? अत आह— ▷

**अक्खर-वंजणसुद्धं, मं पुच्छह तम्मि आगए संते ।**
**घोसेहि य परिसुद्धं, पुच्छह णिउणे य सुत्तत्थे ॥ ५३७३ ॥**

स आचार्यः शिष्यान् प्रतीच्छकान् वा भणति—यदा युष्माकमभिलापशुद्धगुणनया रञ्जितः स उपाश्रयमागच्छति तदा तस्मिन्नागते अक्षर-व्यञ्जनशुद्धं सूत्रं मां पृच्छत । अक्षराणि प्रतीतानि, व्यञ्जनशब्देन अर्थाभिव्यञ्जकत्वाद् अत्र पदमुच्यते । तैरक्षरैर्व्यञ्जनैश्च शुद्धं तथा 'घोषैश्च' उदात्तादिभिः परिशुद्धं सूत्रं पठनीयम्, निपुणांश्च सूत्रार्थान् मां तदानीं पृच्छत । एवमनया भङ्ग्या तमन्यत्र गच्छे गच्छन्तं प्रतिषेधयति ॥ ५३७३ ॥

१ **°ष्यति, वाशब्दाद् यस्य ग्रामस्य मध्येन** कां० ॥ २ ◁ ▷ एतच्चिह्नान्तर्गतमवतरणं कां० एव वर्तते ॥

गतं प्रतिषेधकद्वारम् । अथ परिसिल्लद्वारमाह—

**पाउयमपाउया घट्ठ मट्ठ लोय खुर विविधवेसहरा ।**
**परिसिल्लस्स तु परिसा, थलिए व ण किंचि वारेति ॥ ५३७४ ॥**

यः परिसिल्ल आचार्यः स संविग्नाया असंविग्नायाश्च पर्षदः सङ्ग्रहं करोति, ततस्तस्य साधवः केचित् प्रावृताः, केचिदप्रावृताः, केचिद् 'घृष्टाः' फेनादिना घृष्टजङ्घाः, केचिद् 'मृष्टाः' तैलेन मृष्टकेशा मृष्टशरीरा वा, अपरे लोचलुञ्चितकेशाः, अन्ये क्षुरमुण्डिताः, एवमादिविविधवेषधरा तस्य पर्षत् । स्थली—देवद्रोणी तस्यामिवासौ न किञ्चिदपि वारयति ॥ ५३७४ ॥

**तत्थ पवेसे लहुगा, सच्चित्ते चउगुरुं च आणादी ।**
**उवहीनिप्फण्णं पि य, अचित्तं चित्ते य गिण्हंते ॥ ५३७५ ॥**

'तत्र' पर्षद्वतो गच्छे प्रवेशं कुर्वतस्तस्य चतुर्लघु । अथ सचित्तेन शैक्षेण सार्द्धं प्रविशति ततश्चतुर्गुरव आज्ञादयश्च दोषाः । अथाचित्तेन वस्त्रादिना सह प्रविशति तत उपधिनिष्पन्नम् । मिश्रे संयोगप्रायश्चित्तम् । तथा सचित्ता-ऽचित्तं ददतो गृह्णतश्चैवमेव प्रायश्चित्तम् ॥ ५३७५ ॥

अथ पिशुकादिद्वारं गुरुप्रेषितद्वारं चाह—

**ढिंकुण-पिसुगादि तहिं, सोतुं णाउं व सण्णिवत्तंते ।**
**अमुगसुतत्थनिमित्तं, तुज्झम्मि गुरूहिँ पेसविओ ॥ ५३७६ ॥**

ढिङ्कुण-पिशुक-दंश-मशकादीन् शरीरोपद्रवकारिणस्तत्र श्रुत्वा ज्ञात्वा वा सन्निवर्तमानस्य मासलघु । ( ग्रन्थाग्रम्—३००० । सर्वग्रन्थाग्रम्—३६८२५ ) तथा 'अमुकश्रुतार्थनिमित्तं गुरुभिर्युष्मदन्तिके प्रेषितोऽहम्' इति भणतो मासलघु ॥ ५३७६ ॥

आह—एवं भणतः को नाम दोषः ? सूरिराह—

**आणाएँ जिणिंदाणं, ण हु बलियतरा उ आयरियआणा ।**
**जिणआणाएँ परिभवो, एवं गव्वो अविणतो य ॥ ५३७७ ॥**

जिनेन्द्रैरेव भगवद्भिरुक्तम्, यथा—निर्दोषो विधिना सूत्रार्थनिमित्तं यः समागतस्तस्य सूत्रार्थौ दातव्यौ । न च जिनेन्द्राणामाज्ञायाः सकाशादाचार्याणामाज्ञा बलीयस्तरा । अपि च—'एवम्' आचार्यानुवृत्त्या श्रुते दीयमाने जिनाज्ञायाः परिभवो भवति, तथा प्रेषयत उपसम्पद्यमानस्य प्रतीच्छतश्च त्रयाणामपि गर्वो भवति, तीर्थकृतां श्रुतस्य चाविनयः कृतो भवति, ततः 'गुरुभिः प्रेषितोऽहम्' इति न वक्तव्यम् । यस्तु भीतादिदोषविप्रमुक्तोऽभिधारिताचार्यस्यान्तिके आयातः स शुद्धः ॥ ५३७७ ॥ यस्तु प्रतिषेधकादीनां पार्श्वे तिष्ठति तत्र विधिमाह—

**अन्नं अभिधारेतुं, अप्पडिसेह परिसिल्लमन्नं वा ।**
**पविसंते कुलादिगुरू, सच्चित्तादी व से हाउं ॥ ५३७८ ॥**
**ते दोऽवुवालभित्ता, अभिधारेज्जंते देंति तं थेरा ।**

१ °स्य शिष्यपर्षत्, किं बहुना ? स्थ° कां० ॥ २ °वासौ वस्तुभूतमवस्तुभूतं न कि° कां० ॥ ३ अचित्ते देंति य गिण्हन्ति ताभा० ॥ ४ °म् । अथ मिश्रेण सह प्रविशति ततो मिश्रे संयोगप्रायश्चित्तम् । तथा अचित्तं सचित्तं च ददतो गृह्णतस्तस्याचार्यस्य एवमेव कां० ॥

**घट्टण विचालणं ति य, पुच्छा विप्फालणेगट्ठा ॥ ५३७९ ॥**

यः पुनरन्यमाचार्यमभिधार्य अप्रतिषेधकं वा पर्षद्भ्रन्तं वाऽन्यं वा प्रविशति, तस्य पार्श्वे उपसम्पद्यत इत्यर्थः, तं यदि 'कुलादिगुरवः' कुलस्थविरा गणस्थविराः सङ्घस्थविरा वा जानीयुस्ततो यत् तेनाचित्तं सचित्तं वा तस्याचार्यस्योपनीतं तत् तस्य सकाशाद् हृत्वा तौ 'द्वावपि' आचार्य-प्रतीच्छकौ स्थविरा उपालभन्ते—कस्मात् त्वया अयमात्मपार्श्वे स्थापितः ? कस्माद् वा त्वमन्यमभिधार्य अत्र स्थितः ?; एवम् 'उपालभ्य' तं प्रतीच्छकं घट्टयित्वा 'तत्' सचित्तादिकं सर्वमभिधारितस्याचार्यस्य 'ददति' प्रयच्छन्ति, तदन्तिके प्रेषयन्तीत्यर्थः । अथ घट्टयित्वेति कोऽर्थः ? इत्याह—घट्टनेति वा विचारणेति वा पृच्छेति वा विस्फालनेति वा एकार्थानि पदानि ॥ ५३७८ ॥ ५३७९ ॥ ततः—

**घट्टेउं सचित्तं, एसा आरोवणा उ अविहीते ।**
**बितियपदमसंविग्गे, जयणाएँ कयम्मि तो सुद्धो ॥ ५३८० ॥**

तं प्रतीच्छकं 'घट्टयित्वा' 'कमभिधार्य भवान् प्रस्थित आसीत् ?' इति पृष्ट्वा सचित्तादिकं तस्याभिधारितस्य पार्श्वे स्थविराः प्रेषयन्तीति गम्यते । "एसा आरोवणा उ अविहीए" त्ति या पूर्वं प्रतिषेधकत्वं पर्षन्मीलनं वा कुर्वत आरोपणा भणिता सा अविधिनिष्पन्ना मन्तव्या । विधिना तु कारणे कुर्वाणस्य न प्रायश्चित्तम्, तथा चाह—"बिइयपय" इत्यादि, यमसावभिधारयति स आचार्योऽसंविग्नस्ततो द्वितीयपदे यतनया प्रतिषेधकत्वं कुर्यात् । का पुनर्यतना ? इति चेद् उच्यते—प्रथमं साधुभिस्तं भाणयति—मा तत्र व्रज । पश्चादात्मनाऽपि भणेत्, पूर्वोक्तेन वा शिष्यादिव्यापारणप्रयोगेण वारयेत् । एवं यतनया प्रतिषेधकत्वे कृतेऽपि 'शुद्धः' निर्दोषः ॥ ५३८० ॥ अमुमेवार्थमाह—

**अभिधारेंतो पासत्थमादिणो तं च जति सुतं अत्थि ।**
**जे अ पडिसेहदोसा, ते कुव्वंतो वि णिद्दोसो ॥ ५३८१ ॥**

यान् अभिधारयन्नसौ व्रजति ते आचार्याः पार्श्वस्थादिदोषदुष्टाः, यच्च श्रुतमसावभिलषति तद् यदि तस्य प्रतिषेधकस्यास्ति, ततो ये प्रतिषेधकत्वं कुर्वतः 'दोषाः' शिष्यव्यापारणादयस्तान् कुर्वन्नपि निर्दोषस्तदा मन्तव्यः ॥ ५३८१ ॥

**जं पुण सचित्ताती, तं तेसिं देति ण वि सयं गेण्हे ।**
**बितियऽचित्त ण पेसे, जावइयं वा असंथरणे ॥ ५३८२ ॥**

यत् पुनः सचित्तादिकं प्रतीच्छकेनागच्छता लब्धं तत् 'तेषाम्' अभिधारिताचार्याणां ददाति न पुनः स्वयं गृह्णाति । द्वितीयपदे यद् वस्त्रादिकमचित्तं तद् अशिवादिभिः कारणैः स्वयमलभमानो न प्रेषयेदपि । अथवा यावदुपयुज्यते तावद् गृहीत्वा शेषं तेषां समीपे प्रेषयेत् । असंस्तरणे वा सर्वमपि गृह्णीयात् । सचित्तमप्यमुना कारणेन न प्रेषयेत् ॥ ५३८२ ॥

**नाऊण य वोच्छेयं, पुव्वगए कालियाणुओगे य ।**
**सयमेव दिसाबंधं, करेज्ज तेसिं न पेसेज्जा ॥ ५३८३ ॥**

१ सर्वमपि यः पूर्वमभिधारितस्तस्याचा° भा० कां० ॥

यस्तेन शैक्ष आनीतः स परममेधावी, तस्य च गच्छे नास्ति कोऽप्याचार्यपदयोग्यः, यच्च तस्य पूर्वगतं कालिकश्रुतं वा समस्ति तस्यापरो ग्रहीता न प्राप्यते, ततस्तयोर्व्यवच्छेदं ज्ञात्वा स्वयमेव तस्यात्मीयं दिग्बन्धं कुर्यात्, न 'तेषां' प्रागभिधारितानां पार्श्वे प्रेषयेत् ॥ ५३८३ ॥

अथ पर्षद्वतो अपवादमाह—

असहातो परिसिल्लत्तणं पि कुज्जा उ मंदधम्मेसु ।
पप्प व काल-ऽद्धाणे, सचित्तादी वि गेण्हेज्जा ॥ ५३८४ ॥

'असहायः' एकाकी स आचार्यस्ततः संविग्नमसंविग्नं वा सहायं गृह्णीयात् । शिष्या वा मन्दधर्माणो गुरूणां व्यापारं न वहन्ति ततो यं वा तं वा सहायं गृह्णानः पर्षद्वत्त्वमपि कुर्यात् । श्राद्धा वा मन्दधर्माणो न वस्त्र-पात्रादि प्रयच्छन्ति ततो लब्धिसम्पन्नं शिष्यं यं वा तं वा परिगृह्णीयात् । दुर्भिक्षादिकं वा कालमध्वानं वा प्राप्य ये उपग्रहकारिणः शिष्यास्तान् सङ्गृह्णीयात् । एवं पर्षद्वत्त्वं कुर्वन् प्रतीच्छकस्य सचित्तादिकं तत्र प्रेषयेत्, पूर्वोक्तकारणे वा सञ्जाते स्वयमपि गृह्णीयात् ॥ ५३८४ ॥ अथ योऽसौ प्रतीच्छको गच्छति तस्यापवादमाह—

कालगयं सोऊणं, असिवादी तत्थ अंतरा वा वि ।
परिसेल्लुय पडिसेहं, सुद्धो अण्णं व विसमाणो ॥ ५३८५ ॥

यमाचार्यमभिधार्य व्रजति तं कालगतं श्रुत्वा, यद्वा यत्र गन्तुकामस्तत्र अन्तरा वा अशिवादीनि श्रुत्वा पर्षद्वतः प्रतिषेधकस्य वा अन्यस्य वा पार्श्वे प्रविशन् शुद्धः ॥ ५३८५ ॥

एतद् अविशेषितमुक्तम् । अथात्रैवाऽऽभाव्या-ऽनाभाव्यविशेषं बिभणिषुराह—

वच्चंतो वि य दुविहो, वत्तमवत्तस्स मग्गणा होति ।
वत्तम्मि खेत्तवज्जं, अव्वत्ते अणप्पिओ जाव ॥ ५३८६ ॥

यः प्रतीच्छको व्रजति सोऽपि च द्विविधः—व्यक्तोऽव्यक्तश्च । तयोः सहायः किं दातव्यो ? न वा ? इति मार्गणा कर्तव्या । तत्र व्यक्तस्य यः सचित्तादिलाभः 'क्षेत्रवर्जं' परक्षेत्रं मुक्त्वा भवति स सर्वोऽप्यभिधारिताचार्यस्याभवति । यः पुनरव्यक्तः स सहायैर्यावदद्यापि तस्याचार्यस्यार्पितो न भवति तावत् परक्षेत्रं मुक्त्वा यत् ते सहाया लभन्ते तत् पूर्वाचार्यस्यैवाभवति इति सङ्ग्रहगाथासमासार्थः ॥ ५३८६ ॥ अथैनामेव विवृणोति—

सुतअव्वत्तो अगीतो, वएण जो सोलसण्ह आरेणं ।
तव्विवरीओ वत्तो, वत्तमवत्ते य चउभंगो ॥ ५३८७ ॥

अव्यक्तो द्विधा—श्रुतेन वयसा च । तत्र श्रुतेनाव्यक्तोऽगीतार्थः, वयसाऽव्यक्तस्तु षोडशानां वर्षाणामर्वाग् वर्तमानः, तद्विपरीतो व्यक्त उच्यते । अत्र च व्यक्ता-ऽव्यक्ताभ्यां चतुर्भङ्गी भवति—श्रुतेनाप्यव्यक्तो वयसाऽप्यव्यक्तः १ श्रुतेनाव्यक्तो वयसा व्यक्तः २ श्रुतेन व्यक्तो वयसाऽव्यक्तः ३ श्रुतेन व्यक्तो वयसाऽपि व्यक्तः ४ ॥ ५३८७ ॥

अस्य च सहायाः किं दीयन्ते ? उत न दीयन्ते ? इत्याह—

वत्तस्स वि दायव्वा, पहुप्पमाणा सहाय किमु इयरे ।

---

१ इति निर्युक्तिगा° कां० ॥

खेत्तविवज्जं अव्वत्तिएसु जं लब्भति पुरिल्ले ॥ ५३८८ ॥

आचार्येण पूर्यमाणेषु साधुषु व्यक्तस्यापि सहाया दातव्याः किं पुनः 'इतरस्य' अव्यक्तस्य ?, तस्य सुतरां दातव्या इति भावः । ते च सहाया द्विधा—आत्यन्तिका अनात्यन्तिकाश्च । आत्यन्तिका नाम—ये तेन सार्द्धं तत्रैवासितुकामाः, ये तु तं तत्र मुक्त्वा प्रतिनिवर्तिष्यन्ते ते अनात्यन्तिकाः । तत्रात्यन्तिकेषु सहायेषु यद् व्यक्तः 'क्षेत्रविवर्ज' परक्षेत्रं मुक्त्वा सचित्तादिकं लभते तत् "पुरिल्ले" त्ति यस्याऽऽचार्यस्याभिमुखं व्रजति स पुरोवर्ती भण्यते, अभिधारित इत्यर्थः, तस्य सर्वमपि सचित्तादिकमाभवति । परक्षेत्रे तु लब्धं क्षेत्रिकस्याभाव्यम् ॥५३८८॥

जइ णेउं एतुमणा, जं ते मग्गिल्ले वत्ति पुरिमस्स[1] ।
नियमऽव्वत्त सहाया, णेतु णियत्तंति जं सो ये[2] ॥ ५३८९ ॥

अथ ते सहायास्तं तत्र नीत्वा आगन्तुकामाः, अनात्यन्तिका इत्यर्थः, ततो यत् ते सहाया लभन्ते तत् सर्वमपि "मग्गिल्ले" त्ति यस्य सकाशात् प्रस्थिताः तस्यासमीयस्याचार्यस्याभवति । "वत्ति पुरिमस्स" त्ति यत् पुनः स व्यक्तः स्वयमुत्पादयति तत् 'पुरिमस्य' अभिधारितस्याभवति । यः पुनरव्यक्तस्तस्य नियमेनैव सहाया दीयन्ते, ते च सहाया यदि आत्यन्तिकास्तदा यद् असौ ते च लभन्ते तद् अभिधारितस्याभाव्यम् । अथ तं तत्र नीत्वा निवर्तन्ते[3] ततो यद् असौ ते च परक्षेत्रं मुक्त्वा लभन्ते तत् सर्वं पूर्वाचार्यस्याभवति यावद् अद्याऽप्यसौ नार्पितो भवति[4] ॥ ५३८९ ॥

बितियं अपहुच्चंते, न देज्ज वा तस्स सो सहाए तु ।
वइगादिअपडिबज्झंतगस्स उवही विसुद्धो उ ॥ ५३९० ॥

द्वितीयपदमत्र भवति—अपूर्यमाणेषु साधुषु सहायान् साधून् तस्याचार्यो न दद्यादपि । स चात्मना श्रुतेन वयसा च व्यक्तः, तस्य च व्रजिकादावप्रतिबध्यमानस्योपधिर्विशुद्धो भवति, नोपहन्यते । अथ व्रजिकादिषु प्रतिबध्यते तत उपधेरुपघातो भवति[5] ॥ ५३९० ॥

एगे तू वच्चंते, उग्गहवज्जं तु लभति सच्चित्तं ।
वच्चंत गिलाणे अंतरा तु तहिँ मग्गणा होइ ॥ ५३९१ ॥

यो व्यक्त एकाकी व्रजति स यदि अन्यस्याचार्यस्य योऽवग्रहस्तद्वर्जितेऽनवग्रहक्षेत्रे यत् किञ्चिद् लभते तत् सचित्तमभिधार्यमाणस्याभवति । "वच्चंत" इत्यादि, योऽसौ ज्ञानार्थं व्रजति स द्वौ त्रीन् वाऽऽचार्यान् कदाचिद् अभिधारयेत् 'तेषां मध्ये यो मे अभिरोचिष्यते तस्यान्तिके उपसम्पदं ग्रहीष्यामि' इति कृत्वा । स चान्तरा ग्लानो जातः, तैश्चाचार्यैः श्रुतम्, यथा—अस्मानभिधार्य साधुरागच्छन् पथि ग्लानो जात इति; तत्रेयमाभाव्या-ऽनाभाव्यमार्गणा भवति ॥५३९१॥

---

१ °स्स । जे अव्वंत सहाया, तओ नियत्तंति ताभा० ॥ २ वा कां० । कां० प्रतौ टीकाऽप्येतत्पाठानुसारेणैव, दृश्यतां टिप्पणी ३ ॥ ३ °न्ते, स्वगुरुसमीपे गन्तुकामा इत्यर्थः, ततो यद् असौ वाऽऽम्नायात् ते च कां० ॥ ४ भवति । ततः परं यस्यार्पितस्तस्याभाव्यम् । परक्षेत्रे तु लब्धं सर्वत्र क्षेत्रिकस्येति ॥ ५३८९ ॥ अथवाऽत्रैव द्वितीयपदमाह—बितियं कां० ॥ ५ °वति ॥ ५३९० ॥ तस्य च सहायरहितस्य व्रजत आभाव्या-ऽनाभाव्यविधिमाह—एगे कां० ॥

**आयरिय दोण्णि आगत, एक्के एक्के वऽणागए गुरुगा ।**
**ण य लभती सच्चित्तं, कालगते विप्परिणए वा ॥ ५३९२ ॥**

यदि[1] तौ द्वावपि आचार्यावागतौ ततो यत् तेन लब्धं तद् उभयोरपि साधारणम् । अथैकस्तयोरागतः 'एकश्च' द्वितीयो नागतः ततोऽनागतस्य चतुर्गुरु, यच्च सचित्तमचित्तं वा तदसौ न लभते, यस्तं गवेषयितुमागतस्तस्य सर्वमाभवति । एवं त्र्यादिसङ्ख्याकेष्वाचार्येष्वभिधारितेषु भावनीयम् । अथासौ ग्लानः कालगतस्तदाऽपि[2] यो गवेषयितुमागच्छति तस्यैवाभवति, नेतरेषाम् । अथासौ विपरिणतस्ततो यस्य विपरिणतः स न लभते । यत् पुनः सचित्तादिकमभिधार्यमाणे लब्धं पश्चाद् विपरिणतस्ततो यदविपरिणते भावे लब्धं तद् लभते, विपरिणते भावे लब्धं न लभते ॥ ५३९२ ॥[3]

**पंथ सहाय समत्थो, धम्मं सोऊण पव्वयामि त्ति ।**
**खेत्ते य बाहि परिणये[4], वाताहडे मग्गणा इणमो ॥ ५३९३ ॥**

योऽसौ ज्ञानार्थं प्रस्थितस्तस्य पथि गच्छतः कश्चिद् मिथ्यादृष्टिः 'वाताहृतः' ◁ वातेनाऽऽहृत इव वाताहृतः, आकस्मिक इत्यर्थः, ▷ समर्थः सहायो मिलितः, स च तस्य पार्श्वे धर्मं श्रुत्वा 'प्रव्रजामि' इति परिणाममुपगतवान् । स च परिणामः साधुपरिगृहीते क्षेत्रे जातो भवेत्, 'क्षेत्राद् वा बहिः' इन्द्रस्थानादौ वा अपरिगृहीते वा क्षेत्रे, ततस्तत्र वाताहृते प्रव्रजितुं परिणते इयं मार्गणा भवति ॥ ५३९३ ॥

**खेत्तम्मि खेत्तियस्सा, खेत्तबहिं परिणए पुरिल्लस्स ।**
**अंतर परिणय विप्परिणए य णेगा उ मग्गणता ॥ ५३९४ ॥**

साधुपरिगृहीते क्षेत्रे प्रव्रज्यापरिणतः क्षेत्रिकस्याभवति । क्षेत्राद् बहिः परिणतस्तु "पुरिल्लस्स" त्ति तस्यैव साधोराभवति । अथान्तराऽन्तरा स प्रव्रज्यायां परिणतो विपरिणतश्च भवति ततः क्षेत्रेऽक्षेत्रे च धर्मकथिकस्य राग-द्वेषौ प्रतीत्यानेका मार्गणा । तद्यथा—यदि धर्मकथी ऋजुतया कथयति तदा क्षेत्रे परिणतः क्षेत्रिकस्याभवति, अक्षेत्रे परिणतो धर्मकथिकस्य । अथ विपरिणते भावे रागेण न कथयति, यदा क्षेत्रान्निर्गतो भविष्यति तदा कथयिष्यामि येन मे आभवति । एवं क्षेत्रनिर्गतस्य कथिते यदि परिणतः तदा क्षेत्रिकस्याभवतीत्येवं विभाषा कर्तव्या ॥ ५३९४ ॥

**वीसज्जियम्मि एवं, अविसज्जिए चउलहुं च आणादी ।**
**तेसिं पि हुंति लहुगा, अविधि विही सा इमा होइ ॥ ५३९५ ॥**

एवमेष विधिर्गुरुणा विसर्जिते शिष्ये मन्तव्यः । अथाविसर्जितो गच्छति तदा शिष्यस्य प्रतीच्छकस्य च चतुर्लघु । अथ विसर्जितो द्वितीयं वारमनापृच्छ्य गच्छति तदा मासलघु आज्ञादयश्च दोषाः । येषामपि समीपेऽसौ गच्छति तेषामप्यविधिनिर्गतं तं प्रतीच्छतां भवन्ति

---

१ तस्य ग्लानीभूतस्य प्रतिचरणाय यदि कां० ॥ २ °स्तत्रापि डे० ॥ ३ अथात्रैव विशेषान्तरमाह इत्यवतरणं कां० ॥ ४ °णते, तहियं पुण मग्गणा ताभा० ॥ ५ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः कां० एव वर्तते ॥

चत्वारो लघवः, सचित्तादिकं चाभाव्यं न लभन्ते । एषोऽविधिरुक्तः, विधिः पुनरयं वक्ष्यमाणो भवति ॥ ५३९५ ॥ स पुनराचार्य एभिः कारणैर्न विसर्जयति—

**परिवार-पूयहेउं, अविसज्जंते ममत्तदोसा वा ।**
**अणुलोमेण गमेज्जा, दुक्खं खु विमुंचिउं गुरुणो ॥ ५३९६ ॥**

आत्मनः परिवारनिमित्तं न विसर्जयति, बहुभिर्वा परिवारितः पूजनीयो भविष्यामि, 'मम शिष्योऽन्यस्य पार्श्वे गच्छति' इति ममत्वदोषाद्वा न विसर्जयति, एवमविसर्जयन्तं गुरुम् 'अनुलोम्ना' अनुकूलैर्वचोभिः 'गमयेत्' प्रज्ञापयेत् । कुतः ? इत्याह—'दुःखं' दुष्करं 'खुः' अवधारणे गुरून् विमोक्तुम्, परमोपकारकारित्वाद् न ते यतस्ततो विमोक्तुं शक्या इति भावः । ततः प्रथमत एव विधिना गुरूनापृच्छ्य गन्तव्यम् ॥ ५६९६ ॥

कः पुनर्विधिः ? इति चेद् उच्यते—

**नाणम्मि तिण्णि पक्खा, आयरि-उज्झाय-सेसगाणं च ।**
**एकेक पंच दिवसे, अहवा पक्खेण एकेकं ॥ ५३९७ ॥**

ज्ञानार्थं गच्छता ◁ आचार्योपाध्याय-शेषसाधूनां ▷ त्रीन् पक्षान् आपृच्छा कर्तव्या । तत्र प्रथममाचार्यं पञ्च दिवसानापृच्छति, यदि न विसर्जयति तत उपाध्यायं पञ्च दिवसानापृच्छेत्, यदि सोऽपि न विसर्जयति तदा शेषाः साधवः पञ्च दिवसान् प्रष्टव्याः, एष एकः पक्षो गतः; ततो द्वितीयं पक्षमेवमेवाचार्योपाध्याय-शेषसाधून् प्रत्येकमेकैकं पञ्चभिर्दिवसैः पृच्छति; तृतीयमपि पक्षमेवमेव पृच्छति, एवं त्रयः पक्षा भवन्ति । अथवा ◁ पक्षेणैकैकं पृच्छेत् । किमुक्तं भवति ?— ▷ निरन्तरमेवाचार्य एकं पक्षमाप्रच्छनीयः, तत उपाध्यायोऽप्येकं पक्षम्, गच्छसाधवोऽप्येकं पक्षम्, एवं वा त्रयः पक्षाः । एवमपि यदि न विसर्जयन्ति ततोऽविसर्जित एव गच्छति ॥ ५३९७ ॥

**एयविहिमागतं तू, पडिच्छ अपडिच्छणे भवे लहुगा ।**
**अहवा इमेहिँ आगतें, एगादि पडिच्छती गुरुगा ॥ ५३९८ ॥**

एतेन विधिना आगतं प्रतीच्छकं प्रतीच्छेत् । अप्रतीच्छतश्चतुर्लघुका भवेयुः । अथामीभिरेकादिभिः कारणैरागतं प्रतीच्छति ततश्चतुर्गुरुकाः ॥ ५३९८ ॥

तान्येव एकादीनि कारणान्याह—

**एगे अपरिणते या, अप्पाहारे य थेरए ।**
**गिलाणे बहुरोगे य, मंदधम्मे य पाहुडे ॥ ५३९९ ॥**

एकाकिनमाचार्यं मुक्त्वा स समागतः । अथवा तस्याचार्यस्य पार्श्वे ये तिष्ठन्ति ते 'अपरिणताः' आहार-वस्त्र-पात्र-शय्या-स्थण्डिलानामकल्पिकाः तैः सहितमाचार्यं मुक्त्वा आगतः । अथवा स आचार्यः 'अल्पाधारः' तमेव पृष्ट्वा सूत्रा-ऽर्थवाचनां ददाति । स्थविरो वा स आचार्यः, यद्वा तदीये गच्छे कोऽपि साधुः स्थविरस्तस्य स एव वैयावृत्यकर्ता । ग्लानो वा बहुरोगी वा स आचार्यः । 'ग्लानः' अधुनोत्पन्नरोगः, 'बहुरोगी नाम' चिरकालं बहुभिर्वा रोगैरभिभूतः ।

१–२ ◁ ▷ एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठः कां० एव वर्तते ॥ ३ 'म' प्रभूतकालरोगेण बहुभि' कां० ॥

अथवा शिष्यास्तस्य मन्दधर्माणस्तस्यैव गुणेन सामाचारीमनुपालयन्ति । एवंविधमाचार्यं परित्यज्यागतः । "पाहुडे" त्ति गुरुणा समं 'प्राभृतं' कलहं कृत्वा समागतः; अथवा 'प्राभृतकारिणः' आसङ्खडिकास्तस्य शिष्यास्तस्यैव गुणेन नासङ्खडयन्ति ॥ ५३९९ ॥

**एयारिसं विओसज्ज, विप्पवासो ण कप्पती ।**
**सीस-पडिच्छा-ऽऽयरिए, पायच्छित्तं विहिज्जती ॥ ५४०० ॥**

एतादृशमाचार्यं व्युत्सृज्य 'विप्रवासः' गमनं कर्तुं न कल्पते । यदि गच्छति ततः शिष्यस्य प्रतीच्छकस्याचार्यस्य च त्रयाणामपि प्रायश्चित्तं विधीयते । तत्रैकं ग्लानं वा मुक्त्वा शिष्यस्य प्रतीच्छकस्य वा समागतस्य चतुर्गुरुकाः, यश्चाचार्यः प्रतीच्छति तस्यापि चतुर्गुरु । प्राभृते शिष्य-प्रतीच्छकयोश्चतुर्गुरुकमेव, आचार्यस्य पञ्चरात्रिन्दिवच्छेदः । 'शेषेषु' अपरिणतादिषु पदेषु शिष्यस्य चतुर्गुरु, प्रतीच्छकस्य चतुर्लघु, आचार्यस्यापि शिष्यं प्रतीच्छत एतेषु चतुर्गुरु, प्रतीच्छकं प्रतीच्छतश्चतुर्लघु ॥ ५४०० ॥

अथ 'ज्ञानार्थं त्रीन् पक्षानापृच्छनीयम्' ( गा० ५३९७ ) इत्यत्रापवादमाह—

**बिइयपदमसंविग्गे, संविग्गे चेव कारणागाढे ।**
**नाऊण तस्सभावं, कप्पति गमणं अणापुच्छा ॥ ५४०१ ॥**

द्वितीयपदमत्र भवति—आचार्यादिष्वसंविग्नीभूतेषु न पृच्छेदपि । संविग्नेष्वपि वा किञ्चिदागाढं—चारित्रविनाशनकारणं स्त्रीप्रभृतिकमात्मनः समुत्पन्नं ततोऽनापृच्छयाऽपि गच्छति । तेषां वा—गुरूणां स्वभावं ज्ञात्वा—'नैते पृष्टाः सन्तः कथमपि विसर्जयन्ति' इति मत्वा अनापृच्छ्यापि गमनं कल्पते ॥ ५४०१ ॥ अथाविसर्जितेन न गन्तव्यमित्यपवदति—

**अज्झयणं वोच्छिज्जति, तस्स य गहणम्मि अत्थि सामत्थं ।**
**ण वि वियरंति चिरेण वि, एतेणऽविसज्जितो गच्छे ॥ ५४०२ ॥**

किमप्यध्ययनं व्यवच्छिद्यते, तस्य च तद्ग्रहणे सामर्थ्यमस्ति, न च गुरवश्चिरेणापि 'वितरन्ति' गन्तुमनुजानते, एतेन कारणेनाविसर्जितोऽपि गच्छेत् ॥ ५४०२ ॥

'अविधिना आगत आचार्येण न प्रतीच्छनीयः' इत्यस्यापवादमाह—

**नाऊण य वोच्छेदं, पुव्वगते कालियाणुओगे य ।**
**अविहि-अणापुच्छाऽऽगत, सुत्तत्थविजाणओ वाए ॥ ५४०३ ॥**

पूर्वगते कालिकश्रुते वा व्यवच्छेदं ज्ञात्वा अविधिना—आर्यिकादिप्रतिबन्धेनागतमनापृच्छयागतं वा सूत्रार्थज्ञायको वाचयेत्, न कश्चिद्दोषः ॥ ५४०३ ॥ यस्तेन प्रतीच्छकेन शैक्षस्तस्याभिधारितस्यानाभाव्य आनीतः स न ग्रहीतव्यः' इत्यपवदति—

**णाऊण य वोच्छेदं, पुव्वगते कालियाणुओगे य ।**
**सुत्तत्थजाणगस्सा, कारणजाते दिसाबंधो ॥ ५४०४ ॥**

पूर्वगते कालिकश्रुते वा व्यवच्छेदं ज्ञात्वा सूत्रार्थज्ञायकेन[1] कारणजाते अनाभाव्यस्यापि आत्मीयो दिग्बन्धः कर्तव्यः । आह—किमर्थमनिबद्धो न वाच्यते ? उच्यते—अनिबद्धः

---

१ "न सूरिणा 'कारणजाते' पुष्टालम्बनेऽनाभाव्यस्यापि शिष्यस्य आत्मी° कां० ॥

स्वयमेव कदाचिद् गच्छेत् पूर्वाचार्येण वा नीयेत, कालदोषेण वा ममत्वीभावमालम्ब्य वाचयिष्यन्ति इति दिग्बन्धोऽनुज्ञातः ॥ ५४०४ ॥ इदमेव सविशेषमाह—

**ससहायअवत्तेणं, खेत्ते वि उवट्ठियं तु सच्चित्तं ।**
**दलियं णाउं बंधति, उभयममत्तट्ठया तं वा ॥ ५४०५ ॥**

अव्यक्तेन ससहायेन यः शैक्षो लब्धो यश्च परक्षेत्रेऽपि उपस्थितः सचित्तः स पूर्वाचार्यस्य क्षेत्रिकाणां वा यद्यपि आभाव्यस्तथापि तं 'दलिकं' परममेधाविनमाचार्यपदयोग्यं ज्ञात्वा यथात्मीये गच्छे नास्त्याचार्यपदयोग्यस्ततस्तस्यात्मीयां दिशं बध्नाति, स्वशिष्यत्वेन स्थापयतीत्यर्थः । कुतः ? इत्याह—उभयस्य—साधु-साध्वीवर्गस्य तत्र शैक्षे ममत्वम्—'अस्माकमयम् इत्येवं ममीकारो भूयात्' इति कृत्वा, यद्वा स्वगच्छीयसाधूनां तस्य च शैक्षस्य 'परस्परं सज्झिलका वयम् इत्येवं ममत्वं भविष्यति' इति बुद्ध्या तमात्मीयशिष्यत्वेन बध्नाति । "तं व" त्ति यो वा प्रतीच्छक आयातस्तमपि ग्रहण-धारणासमर्थं विज्ञाय स्वशिष्यं स्थापयति ॥ ५४०५ ॥

एवं शैक्षः प्रतीच्छको वा कारणे शिष्यतया निबद्धः सन् यदा निर्मातो भवति तदा—

**आयरिए कालगते, परियट्टइ तं गणं च सो चेव ।**
**चोएति य अपढंते, इमा उ तहिँ मग्गणा होइ ॥ ५४०६ ॥**

आचार्ये कालगते सति गच्छस्य निबद्धाचार्यस्य च व्यवहारो भण्यते—स स्वयमेव तं गणं परिवर्तयति । स च गच्छो यदि श्रुतं न पठति ततस्तमपठन्तं नोदयति । यदि नोदिता अपि ते गच्छसाधवो न पठन्ति तत इयमाभवद्व्यवहारमार्गणा भवति ॥ ५४०६ ॥

**साहारणं तु पढमे, बितिए खित्तम्मि ततिय सुह-दुक्खे ।**
**अणहिज्जंते सीसे, सेसे एक्कारस विभागा ॥ ५४०७ ॥**

कालगतस्याचार्यस्य प्रथमे वर्षे सचित्तादिकं साधारणम्, यदसौ प्रतीच्छकाचार्य उत्पादयति तत तस्यैवाभवति यद् इतरे गच्छसाधव उत्पादयन्ति तत् तेषामेवाभवतीति भावः । द्वितीये वर्षे यत् क्षेत्रोपसम्पन्नो लभते तत् तेऽपठन्तो लभन्ते । तृतीये वर्षे यत् सुख-दुःखोपसम्पन्नो लभते तत् ते लभन्ते । चतुर्थे वर्षे कालगताचार्यशिष्या अनधीयाना न किञ्चिल्लभन्ते । शेषा नाम—येऽधीयते तेषामधीयानानां वक्ष्यमाणा एकादश विभागा भवन्ति ॥ ५४०७ ॥

शिष्यः पृच्छति—क्षेत्रोपसम्पन्नः सुख-दुःखोपसम्पन्नो वा किं लभते ? सूरिराह—

**खेत्तोवसंपयाए, बावीसं संथुया य मित्ता य ।**
**सुह-दुक्ख मित्तवज्जा, चउत्थए नालबद्धाइं ॥ ५४०८ ॥**

क्षेत्रोपसम्पदा उपसम्पन्नः 'द्वाविंशतिम्' अनन्तर-परम्परावल्लीबद्धान् माता-पित्रादीन् जनान् लभते, 'संस्तुतानि च' पूर्व-पश्चात्संस्तवसम्बद्धानि प्रपौत्र-श्वशुरादीनि 'मित्राणि च' सहजातकादीनि लभते, दृष्टाभाषितानि तु न लभते । सुख-दुःखोपसम्पन्नस्तु एतान्येव मित्रवर्जानि लभते । चतुर्थस्तु—पञ्चविधोपसम्पत्क्रमप्रामाण्यात् श्रुतोपसम्पन्नः स केवलान्येव द्वाविंशतिनालबद्धानि लभते, अयं च प्रसङ्गेनोक्तः । क्षेत्रोपसम्पन्न-सुखदुःखोपसम्पन्नयोर्यद् आभाव्यमुक्तं

---

१ °भते ? इत्यपि तावद् वयं न जानीमहे; सूरि° कां० ॥

तत् ते शिष्या अनधीयाना द्वितीये तृतीये च वर्षे यथाक्रमं लभन्ते, चतुर्थे वर्षे सर्वमप्याचार्यस्याभवति न तेषाम् ॥ ५४०८ ॥

ये तु शिष्या अधीयते तेषां विधिरुच्यते—तस्य कालगताचार्यस्य चतुर्विधो गणो भवेत्—शिष्याः शिष्यिकाः प्रतीच्छकाः प्रतीच्छिकाश्चेति । एतेषां पूर्वोद्दिष्ट-पश्चादुद्दिष्टयोः संवत्सरसङ्ख्यया एकादश गमा भवन्ति । पूर्वोद्दिष्टं नाम—यत् तेनाचार्येण जीवता तेषां श्रुतमुद्दिष्टम्, यत् पुनस्तेन प्रतीच्छकाचार्येणोद्दिष्टं तत् पश्चादुद्दिष्टम् । तत्र विधिमाह—

पुव्वुद्दिट्ठे तस्सा, पच्छुद्दिट्ठे पवाययंतस्स ।
संवच्छरम्मि पढमे, पडिच्छए जं तु सच्चित्तं ॥ ५४०९ ॥

यद् आचार्येण जीवता प्रतीच्छकस्य पूर्वमुद्दिष्टं तदेव पठन् प्रथमे वर्षे यत् सचित्तमचित्तं वा स लभते तत् 'तस्य' कालगताचार्यस्याभवति, एष एको विभागः । अथ पश्चादुद्दिष्टं ततः प्रथमसंवत्सरे यत् सचित्तादिकं लभते तत् सर्वं 'प्रवाचयतः' प्रतीच्छकाचार्यस्याभवति, एष द्वितीयो विभागः ॥ ५४०९ ॥

पुव्वं पच्छुद्दिट्ठे, पडिच्छए जं तु होइ सच्चित्तं ।
संवच्छरम्मि बितिए, तं सव्वं पवाययंतस्स ॥ ५४१० ॥

प्रतीच्छकः पूर्वोद्दिष्टं पश्चादुद्दिष्टं वा पठतु यत् तस्य सचित्तादिकं तद् द्वितीये वर्षे सर्वमपि प्रवाचयतो भवति, एष तृतीयो विभागः ॥ ५४१० ॥ अथ शिष्यस्याभिधीयते—

पुव्वं पच्छुद्दिट्ठे, सीसम्मि य जं तु होइ सच्चित्तं ।
संवच्छरम्मि पढमे, तं सव्वं गुरुस्स आभवइ ॥ ५४११ ॥

शिष्यस्य कालगताचार्येण वा उद्दिष्टं भवेत् प्रतीच्छकाचार्येण वा तदाऽसौ पठन् यत् सचित्तादिकं लभते तत् सर्वं प्रथमे संवत्सरे 'गुरोः' कालगताचार्यस्याभवति, एष चतुर्थो विभागः ॥ ५४११ ॥

पुव्वुद्दिट्ठं तस्सा, पच्छुद्दिट्ठं पवाययंतस्स ।
संवच्छरम्मि बितिए, सीसम्मि उ जं तु सच्चित्तं ॥ ५४१२ ॥

शिष्यस्य पूर्वोद्दिष्टमधीयानस्य द्वितीये वर्षे सचित्तादिकं कालगताचार्यस्याभवति, पञ्चमो विभागः । पश्चादुद्दिष्टं पठतः शिष्यस्य सचित्तादिकं प्रवाचयत आभाव्यं भवति, षष्ठो विभागः ॥ ५४१२ ॥

पुव्वं पच्छुद्दिट्ठे, सीसम्मि य जं तु होइ सच्चित्तं ।
संवच्छरम्मि ततिए, तं सव्वं पवाययंतस्स ॥ ५४१३ ॥

पूर्वोद्दिष्टं पश्चादुद्दिष्टं वा पठति शिष्ये सचित्तादिकं तृतीये वर्षे सर्वमपि प्रवाचयत आभवति, सप्तमो विभागः ॥ ५४१३ ॥

पुव्वुद्दिट्ठे तस्सा, पच्छुद्दिट्ठे पवाययंतस्स ।
संवच्छरम्मि पढमे, सिस्सिणिए जं तु सच्चित्तं ॥ ५४१४ ॥

शिष्यिकायां पूर्वोद्दिष्टं पठन्त्यां सचित्तादिकं 'तस्य' कालगताचार्यस्य प्रथमे वर्षे आभाव्यम्,

अष्टमो विभागः । पश्चादुद्दिष्टमधीयानानां प्रवाचयत आभाव्यम्, नवमो विभागः ॥ ५४१४ ॥

पुव्वं पच्छुद्दिट्ठे, सिस्सिणिए जं तु होइ सच्चित्तं ।
संवच्छरम्मि बीए, तं सव्वं पवाययंतस्स ॥ ५४१५ ॥

पूर्वोद्दिष्टं पश्चादुद्दिष्टं वा पठन्त्यां शिष्यिकायां सचित्तादिलाभो द्वितीये वर्षे प्रवाचयत आभवति, दशमो विभागः ॥ ५४१५ ॥

पुव्वं पच्छुद्दिट्ठे, पडिच्छिगा जं तु होति सच्चित्तं ।
संवच्छरम्मि पढमे, तं सव्वं पवाययंतस्स ॥ ५४१६ ॥

पूर्वोद्दिष्टं पश्चादुद्दिष्टं वा पठन्त्यां प्रतीच्छिकायां प्रथम एव संवत्सरे सर्वमपि प्रवाचयत आभवति, एष एकादशो विभागः ॥ ५४१६ ॥ एष एक आदेश उक्तः । अथ द्वितीयमाह—

संवच्छराइँ तिन्नि उ, सीसम्मि पडिच्छए उ तद्दिवसं ।
एवं कुले गणे या, संवच्छर संघे छम्मासा ॥ ५४१७ ॥

प्रतीच्छकाचार्यस्तेषां कुलसत्को गणसत्कः सङ्घसत्को वा भवेत् । तत्र यदि कुलसत्कः तदा त्रीन् संवत्सरान् शिष्याणां वाच्यमानानां सचित्तादिकं न गृह्णाति, ये पुनः प्रतीच्छकास्तेषां वाच्यमानानां यस्मिन्नेव दिने आचार्यः कालगतस्तद्दिवसमेव गृह्णाति । एवमेककुलसत्के विधिरुक्तः । अथ चासौ गणसत्कस्ततः संवत्सरं शिष्याणां सचित्तादिकं नापहरति । यस्तु कुलसत्को गणसत्को वा न भवति स नियमात् सङ्घसत्कः, स च षण्मासान् शिष्याणां सचित्तादिकं न गृह्णाति । तेन च प्रतीच्छकाचार्येण तत्र गच्छे वर्षत्रयमवश्यं स्थातव्यम्, परतः पुनरिच्छा ॥ ५४१७ ॥

तत्थेव य निम्माए, अणिग्गए णिग्गए इमा मेरा ।
सकुले तिन्नि तियाइं, गणे दुगं वच्छरं संघे ॥ ५४१८ ॥

'तत्रैव' प्रतीच्छकाचार्यसमीपे तस्मिन् अनिर्गते यदि कोऽपि गच्छे निर्मातस्तदा सुन्दरम् । अथ न निर्मातः स च वर्षत्रयात् परतो निर्गतः ते वा गच्छीयाः 'एष साम्प्रतमस्माकं सचित्तादिकं हरति' इति कृत्वा ततो निर्गतास्तदा इयं 'मर्यादा' सामाचारी—"सकुले" इत्यादि, 'स्वकुले' स्वकीयकुलस्य समवायं कृत्वा कुलस्य कुलस्थविरस्य वा उपतिष्ठन्ते, ततः कुलं तेषां वाचनाचार्यं ददाति वारकेण वा वाचयति । कियन्तं कालम्? इत्याह—"तिन्नि तियाइं" ति त्रयस्त्रिका नव भवन्ति, ततो नव वर्षाणि वाचयतीत्युक्तं भवति; यदि एतावता निर्मातास्तदा सुन्दरम्, अथैकोऽपि न निर्मातस्ततः 'कुलं सचित्तादिकं गृह्णाति' इति कृत्वा गणमुपतिष्ठन्ते, गणोऽपि द्वे वर्षे पाठयति, न च सचित्तादिकं हरति; यद्येवमप्यनिर्मातास्ततः सङ्घमुपतिष्ठन्ते, सङ्घोऽपि वाचनाचार्यं ददाति, स च संवत्सरं पाठयति; एवं द्वादश वर्षाणि भवन्ति । यद्येवमेकोऽपि निर्मातस्तदा सुन्दरम्, अथ न निर्मातस्ततः पुनरपि कुलादिषु कुलादिस्थविरेषु वा तेनैव क्रमेणोपतिष्ठन्ते, तावन्तमेव कालं कुलादीनि यथाक्रमं पाठयन्ति, न च सचित्तादिकं हरन्ति, एवमेतान्यपि द्वादश वर्षाणि भवन्ति । पूर्वद्वादशभिश्च मीलितानि जाता वर्षाणां चतु-

१ एवमनेन विधिना 'तत्रैव' कां० ॥ २ 'स्ततो वर्षनवकादूर्ध्वं 'कुलं कां० ॥

विंशतिः । यदि एतावता कालेनैकोऽपि निर्मातस्तदा विहरन्तु, अथ न निर्मातस्ततो भूयोऽपि कुल-गण-सङ्घेषु तथैवोपतिष्ठन्ते, तेऽपि तथैव पाठयन्ति । एतान्यपि द्वादश वर्षाणि चतुर्विंशत्या मील्यन्ते जाता षट्त्रिंशत् । यद्येवं षट्त्रिंशता वर्षैरेकोऽपि निर्मातस्ततो विहरन्तु ॥ ५४१८ ॥

अथैकोऽपि न निर्मातः, कथम्? इति चेद् उच्यते—

**ओमादिकारणेहि व, दुम्मेहत्तेण वा न निम्माओ ।**
**काऊण कुलसमायं, कुल थेरे वा उवट्ठंति ॥ ५४१९ ॥**

अवमा-ऽशिवादिभिः कारणैरनवरतमपरापरग्रामेषु पर्यटतां दुर्मेधस्तया वा नैकोऽपि निर्मातस्ततः कुलसमवायं कृत्वा [ कुलं ] कुलस्थविरान् वा सर्वेऽप्युपतिष्ठन्ते ततस्तैरुपसम्पदं ग्राहयितव्याः ॥ ५४१९ ॥ कुत्र पुनः? इति चेद् उच्यते—

**पव्वज्जएगपक्खिय, उवसंपय पंचहा सए ठाणे ।**
**छत्तीसाऽतिक्कंते, उवसंपय पत्तुवादाए ॥ ५४२० ॥**

यः प्रव्रज्यया एकपाक्षिकस्तस्य पार्श्वे उपसम्पदं तान् कुलस्थविरा ग्राहयेयुः । सा च उपसम्पत् पञ्चधा वक्ष्यमाणनीत्या भवति । तस्यां चोपसम्पदि षट्त्रिंशद्वर्षातिक्रमे प्राप्तायां "सए ठाणि" त्ति विभक्तिव्यत्ययात् 'स्वकम्' आत्मीयं स्थानम् 'उपादाय' गृहीत्वा तैरुपसम्पत्तव्यम् ॥ ५४२० ॥ इदमेव भावयति—

**गुरुसज्झिलओ सज्झंतिओ व गुरुगुरु गुरुस्स वा णत्तू ।**
**अहवा कुलिच्चतो ऊ, पव्वज्जाएगपक्खीओ ॥ ५४२१ ॥**

'गुरुसज्झिलकः' गुरूणां सहाध्यायी पितृव्यस्थानीयः, 'सज्झन्तिकः' आत्मनः सब्रह्मचारी भ्रातृस्थानीयः, 'गुरुगुरुः' पितामहस्थानीयो गुरुः, गुरोः सम्बन्धी 'नप्ता' प्रशिष्य आत्मनो भ्रातृव्यस्थानीयः, एते प्रव्रज्यया एकपाक्षिका उच्यन्ते । अथवा 'कुलसत्कः' समानकुलोद्भवः सोऽपि प्रव्रज्ययैकपाक्षिकः । एतेषां समीपे यथाक्रममुपसम्पत्तव्यम् ॥ ५४२१ ॥[2]

**पव्वज्जाएँ सुएण य, चउभंगुवसंपया कमेणं तु ।**
**पुव्वाहियवीसरिए, पढमासइ ततियभंगे उ ॥ ५४२२ ॥**

इहैकपाक्षिकः प्रव्रज्यया श्रुतेन च भवति । तत्र प्रव्रज्यैकपाक्षिकोऽनन्तरमुक्तः, श्रुतैकपाक्षिकः—येन सहैकवाचनिकं सूत्रम् । अत्र चतुर्भङ्गी—प्रव्रज्ययैकपाक्षिकः श्रुतेन च १ प्रव्रज्यया न श्रुतेन २ श्रुतेन न प्रव्रज्यया ३ न प्रव्रज्यया न श्रुतेन ४ । एतेषु चामुना क्रमेणोपसम्पत् प्रतिपत्तव्या । "पढमा" इत्यादि, प्रथमतः प्रथमभङ्गे उपसम्पत्तव्यम्, तदभावे तृतीये भङ्गे । कुतः? इत्याह—यतः पूर्वाधीतं श्रुतं विस्मृतं सत् तेषु सुखेनैवोज्ज्वालयितुं शक्यते, श्रुतैकपाक्षिकत्वात् ॥ ५४२२ ॥ अथ पञ्चविधामुपसम्पदमाह—

**सुय सुह-दुक्खे खेत्ते, मग्गे विणओवसंपयाए य ।**
**बावीस संथुय वयंस दिट्ठभट्ठे य सव्वे य ॥ ५४२३ ॥**

श्रुतोपसम्पत् १ सुख-दुःखोपसम्पत् २ क्षेत्रोपसम्पद् ३ मार्गोपसम्पद् ४ विनयोपसम्पत् ५,

---

१ 'य द्वादश वर्षाणि पाठ° कां० ॥ २ अत्रैव विशेषमाह इत्यवतरणं कां० ॥

एवमेषा पञ्चविधा उपसम्पत् । एतासु पञ्चस्वप्याभवद्व्यवहारमाह—"बावीस" इत्यादि, श्रुतोपसम्पदि द्वाविंशतिर्नालबद्धानि लभ्यन्ते । तद्यथा—माता १ पिता २ भ्राता ३ भगिनी ४ पुत्रो ५ दुहिता ६, मातुर्माता ७ मातुः पिता ८ मातुर्भ्राता ९ मातुर्भगिनी १०, एवं पितुर्माता ११ पिता १२ भ्राता १३ भगिनी १४, भ्रातुः पुत्रो १५ दुहिता १६, भगिन्याः पुत्रः १७ पुत्रिका १८, पुत्रस्य पुत्रः १९ पुत्रिका २०, दुहितुः पुत्रः २१ पुत्रिका २२ चेति । एतानि द्वाविंशतिरपि श्रुतोपसम्पदं प्रतिपन्नस्याभवन्ति । सुख-दुःखोपसम्पन्नस्तु एनां द्वाविंशतिमन्यांश्च पूर्वसंस्तुत-पश्चात्संस्तुतान् प्रपौत्र-श्वशुरादीन् लभते । क्षेत्रोपसम्पन्नस्तु एतान् सर्वानपि वयस्यांश्च लभते । मार्गोपसम्पन्न एतान् सर्वानपि लभते, अपरे च ये केचिद् दृष्टाभाषितास्तानपि प्राप्नोति । विनयोपसम्पदं प्रतिपन्नस्तु 'सर्वानपि' ज्ञाता-ऽज्ञात-दृष्टा-ऽदृष्टान् लभते, नवरम्—विनयार्हस्य विनयं प्रयुङ्क्ते ॥ ५४२३ ॥

"सए ठाणे" ( ५३२० ) त्ति यदुक्तं तस्यायमर्थः—पञ्चविधाऽप्युपसम्पत् स्वस्मिन् स्थाने प्रतिपत्तव्या । किमुक्तं भवति ?—श्रुतोपसम्पदं प्रतिपित्सोर्यस्य पार्श्वे श्रुतमस्ति तत् तस्य स्वस्थानम्, सुख-दुःखार्थिनः स्वस्थानं यत्र वैयावृत्यकराः सन्ति, क्षेत्रोपसम्पदर्थिनो यदीये क्षेत्रे भक्त-पानादिकमस्ति, मार्गोपसम्पदर्थिनो यत्र मार्गज्ञः समस्ति, विनयोपसम्पदर्थिनो यत्र विनयकरणं युज्यते, एतानि स्वस्थानानि । अथवा स्वस्थानं नाम—प्रव्रज्यया श्रुतेन च य एकपाक्षिकस्तत्र प्रथममुपसम्पत्तव्यम्, पश्चात् कुलेन श्रुतेन चैकपाक्षिकस्य पार्श्वे, ततः श्रुतेन गणेन चैकपाक्षिकस्य समीपे, ततः श्रुतेनैकपाक्षिकस्य सन्निधौ, ततः प्रव्रज्ययैकपाक्षिकस्य सकाशे, ततः प्रव्रज्यया श्रुतेन वा नैकपाक्षिकस्यापि पार्श्वे उपसम्पत् प्रतिपत्तव्या ॥

आह—साधर्मिकवात्सल्याराधनार्थं सर्वेणापि सर्वस्य श्रुताध्यापनादि कर्तव्यं ततः किमर्थं प्रथमं प्रव्रज्या-कुलादिभिरासन्नतरेषूपसम्पद्यते ? इत्याह—

**सव्वस्स वि कायव्वं, निच्छयओ किं कुलं व अकुलं वा ।**
**कालसभावममत्ते, गारव-लज्जाहिँ काहिंति ॥ ५४२४ ॥**

निश्चयतः सर्वेण सर्वस्याप्यविशेषेण श्रुतवाचनादिकमात्मनो विपुलतरां निर्जरामभिलषता कर्तव्यम्, किं कुलमकुलं वा इत्यादिविचारणया ?; परं दुष्षमालक्षणो यः कालस्तस्य यः स्वभावः—अनुभावस्तेन 'आत्मीयोऽयम्' इत्यादिकं यद् ममत्वम्, यच्च गुर्वादिविषयं गौरवं—बहुमानबुद्धिः, या च तदीया लज्जा, एतैः प्रेरिताः सुखेनैव करिष्यन्तीति कृत्वा प्रथमं प्रव्रज्यादिभिरासन्नतरेषूपसम्पद्यत इति ॥५४२४॥ गतं ज्ञानार्थं गमनम् । अथ दर्शनार्थं गमनमाह—

**कालिय पुव्वगए वा, णिम्माओ जति य अत्थि से सत्ती ।**
**दंसणदीवगहेउं, गच्छइ अहवा इमेहिँ तु ॥ ५४२५ ॥**

कालिकश्रुते पूर्वगते वा यद् वा यस्मिन् काले श्रुतं प्रचरति तस्मिन् सूत्रेणार्थेन च यदा निर्मातो भवति, यदि च तस्य ग्रहण-धारणशक्तिस्तथाविधा समस्ति ततो दर्शनदीपकानि—सम्यग्दर्शनोज्ज्वालनकारीणि यानि सम्मत्यादीनि शास्त्राणि तेषां हेतोरन्यं गणं गच्छति ॥ ५४२५ ॥ अथवा एभिः कारणैर्गच्छेत्—

**भिक्खुगा जहिं देसे, बोडिय-थलि-णिण्हएहिँ संसग्गी ।**
**तेसिं पण्णवणं असहमाणें वीसज्जिए गमणं ॥ ५४२६ ॥**

यत्र देशे 'भिक्षुकाः' बौद्धा बोटिका वा निह्नवा वा बहवस्तेषां तत्र स्थली तत्र ये आचार्याः स्थितास्तैः सार्द्धमाचार्याणां संसर्गिः प्रीतिरित्यर्थः; ते च भिक्षुकादयः स्वसिद्धान्तं प्रज्ञापयन्ति, स चाचार्यो दाक्षिण्येन तर्कग्रन्थाप्रवीणतया वा तूष्णीकस्तिष्ठति, तां च तदीयां प्रज्ञापनामसहमानः कश्चिद् विनेयश्चिन्तयति—अन्यं गणं गत्वा दर्शनप्रभावकानि शास्त्राणि पठामि येनामून् निरुत्तरान् करोमि । एवं विचिन्त्य स तथैव गुरूनापृच्छ्य तैर्विसर्जितो गच्छति ॥ ५४२६ ॥ इदमेव भावयति—

**लोए वि अ परिवादो, भिक्खुगमादी य गाढ चमढेंति ।**
**विप्परिणमंति सेहा, ओभामिज्जंति सड्ढा य ॥ ५४२७ ॥**

भिक्षुकादीनां स्वसिद्धान्तं शिर उद्घाट्य प्ररूपयतामपि यदा सूरयो न किमपि ब्रुवते ततो लोकेऽपि च परिवादो जातः—एते ओदनमुण्डा न किमपि जानते, अमी तु सौगताः सर्वमवबुध्यन्ते । एवं ते भिक्षुकादयः परिवादं श्रुत्वा गाढतरं जैनशासनं चमढयन्ति, शैक्षाश्च विपरिणमन्ति, श्राद्धाश्च रक्तपटोपासकैरपभ्राज्यन्ते—एते श्वेतभिक्षवो बठरशिरोमणयश्चाटुकारिणः, यद्यस्ति सामर्थ्यं ततोऽस्माकमुत्तरं प्रयच्छन्तु । अथवा तैः भिक्षुकादिभिः स्थलिकायामाचार्यस्यापि वण्टको निबद्धो वर्तते, भाग इत्यर्थः ॥ ५४२७ ॥ ततः—

**रसगिद्धो व थलीए, परतित्थियतज्जणं असहमाणो ।**
**गमणं बहुस्सुतत्तं, आगमणं वादिपरिसा उ ॥ ५४२८ ॥**

स आचार्यस्तस्यां स्थलिकायां 'रसगृद्धः' स्निग्ध-मधुराहारलम्पटः सामर्थ्ये सत्यपि न किञ्चिदुत्तरं प्रयच्छति । एवमादिकां परतीर्थिकतर्जनामसहमानः शिष्य आचार्यं विधिना पृष्ट्वा 'निर्गतः' अन्यगणगमनं कृतवान्, तत्र च तर्कशास्त्राणि श्रुत्वा बहुश्रुतत्वं तस्य सञ्जज्ञे, ततो भूयः स्वगच्छे आगमनम्, आगतेन च पूर्वमाचार्या द्रष्टव्याः, ततोऽन्यस्यां वसतौ स्थित्वा या तत्र वादमार्गकुशला पर्षत् तां परिचितां कृत्वा राज्ञो महाजनस्य च पुरतः परतीर्थिकान् निष्पिष्टप्रश्नव्याकरणान् करोति ॥ ५४२८ ॥[1]

**वायपरायणकुविया, जति पडिसेहंति साहु लट्ठं च ।**
**अह चिरणुगओ अम्हं, मा सें पवत्तं परिहवेह ॥ ५४२९ ॥**

वादे पराजयेन कुपिताः सन्तो यदि ते भिक्षुकादय आचार्यस्य तं वण्टं प्रतिषेधयन्ति ततः 'साधु' सुन्दरं 'लष्टं च' अभीष्टं जातमिति । अथ तत्र कोऽपि ब्रूयात्—एतस्य को दोषः ? चिरमनुगत एषोऽस्माकम्, मा पूर्वप्रवृत्तं दातव्यमस्य परिहापयत ॥ ५४२९ ॥

ततः को विधिः ? इत्याह—

**काऊण य प्पणामं, छेदसुतस्सा दलाह पडिपुच्छं ।**
**अण्णत्थ वसहि जग्गण, तेसिं च णिवेदणं काउं ॥ ५४३० ॥**

---

१ ततश्च किं सञ्जायते ? इत्याह इत्यवतरणं कां० ॥

गुरोः पदकमलस्य प्रणामं कृत्वा वक्तव्यम्—छेदश्रुतस्य प्रतिपृच्छां मम प्रयच्छत । अत्र चागीतार्थाः शृण्वन्ति ततोऽन्यस्यां वसतौ गच्छावः । एवमुक्तोऽपि यदि तस्या वसतेर्न निर्गच्छति तत्राख्यानिकादिकथापनेन चिरं रात्रौ गुरवो जागरणं कारापणीयाः, 'तेषां च' अगीतार्थानाम् 'वयमाचार्यमेवं नेष्यामः, भवद्भिर्बोलो न कर्तव्यः' इति निवेदनं कृत्वा गन्तव्यम् ॥ ५४३० ॥ इदमेव व्याचष्टे—

**सद्दं च हेउसत्थं, अहिज्जओ छेदसुत्त णट्ठं मे ।**
**एत्थ य मा असुतत्था, सुणिज्ज तो अण्णहिं वसिमो ॥ ५४३१ ॥**

'शब्दशास्त्रम्' ऐन्द्रादिकं 'हेतुशास्त्रं' सम्मत्यादिकम् एवमादिकं शास्त्रमधीयानस्य 'छेदसूत्रं' निशीथादिकं सूत्रतोऽर्थतस्तदुभयतो वा मम नष्टं तस्य प्रतिपृच्छां मे प्रयच्छत । 'अत्र च' वसतौ 'अश्रुतार्थाः' शैक्षा अपरिणामका वा मा शृणुयुः, ततोऽन्यस्यां वसतौ वसामः । एवमन्यव्यपदेशेन निष्काशयति ॥ ५४३१ ॥

अथ तस्या वसतेः क्षेत्राद्वा निर्गन्तुं नेच्छति ततोऽयं विधिः—

**खित्ताऽऽरक्खिणिवेयण, इयरे पुव्वं तु गाहिया समणा ।**
**जग्गविओ सो अ चिरं, जह णिज्जंतो ण चेतेती ॥ ५४३२ ॥**

'आरक्षिकः' दाण्डपाशिकस्तस्य निवेदनं क्रियते—"खित्त" त्ति अस्माकं क्षिप्तचित्तः साधुः समस्ति तं वयमर्धरात्रे वैद्यसकाशं नेष्यामः, स यदि नीयमानः 'ह्रियेऽहं ह्रियेऽहम्' इत्यारटेत् ततो युष्माभिर्न किमपि भणनीयम् । 'इतरे' अगीतार्थाः श्रमणाः पूर्वमेव ग्राहिताः कर्तव्याः—वयमाचार्यमेवं नेष्यामः, मा बोलं कुरुध्वम् । स चाचार्यश्चिरमाख्यायिकाः कथापयित्वा जागरितः सन् यदा निर्भरं सुप्तो भवति तदा नीयते यथा नीयमानो न किञ्चित् चेतयति ॥ ५४३२ ॥

**णिण्हयसंसग्गीए, बहुसो भण्णंतुवेह सो कुणइ ।**
**तुह किं ति वच्च परिणम, गता-ऽऽगते णीणिओ विहिणा ॥ ५४३३ ॥**

अथ निह्नवानां संसर्ग्याऽऽचार्यो न निर्गच्छति, बहुशो भण्यमानोऽप्युपेक्षां कुरुते, अथवा ब्रूयात्—यद्यहं निह्नवसंसर्गं करोमि ततो भवतः किं दुःखयति ? व्रज त्वं यत्र गन्तव्यम् । एवं परिणामं गुरूणां ज्ञात्वा शिष्येण 'गता-ऽऽगतेन' अन्यं गणं गत्वा शास्त्राण्यधीत्य भूय आगतेन निह्नवान् पराजित्याचार्यः 'विधिना' अनन्तरोक्तेन निष्काशितः कर्तव्यः ॥५४३३॥

**एसा विही विसज्जिएँ, अविसज्जिएँ लहुग दोस आणादी ।**
**तेसिं पि हुंति लहुगा, अविहि विही सा इमा होइ ॥ ५४३४ ॥**

एष विधिर्गुरुणा विसर्जिते शिष्ये मन्तव्यः । अविसर्जितस्य तु गच्छतश्चतुर्लघु दोषाश्चाज्ञादयः । 'तेषामपि' प्रतीच्छतां चतुर्लघुकाः । एषोऽविधिरुक्तोऽतो विधिना गन्तव्यम् ॥५४३४॥ स चायं विधिर्भवति—

**दंसणनिंते पक्खो, आयरि-उवज्झाय-सेसगाणं च ।**
**एक्केक पंच दिवसे, अहवा पक्खेण सव्वे वि ॥ ५४३५ ॥**

---

१ 'शास्त्रं च' ऐन्द्रादिकं व्याकरणं 'हेतुशास्त्रं' सम्मत्यादिकं प्रमाणशास्त्रमधी° कां० ॥

दर्शनप्रभावकाणां शास्त्राणामर्थाय निर्गच्छत एकं पक्षमाचार्योपाध्याय-शेषसाधूनां आपच्छनकालो भवति। तद्यथा—आचार्यः पञ्च दिवसानापृच्छयते, यदि न विसर्जयति तत उपाध्यायोऽपि पञ्च दिवसान्, शेषसाधवोऽपि पञ्च दिवसान्। अथवा पक्षेण सर्वेऽपि पृच्छयन्ते। किमुक्तं भवति?—दिने दिने सर्वेऽपि पृच्छयन्ते यावत् पक्षः पूर्ण इति ॥ ५४३५ ॥

**एतविहिआगतं तू, पडिच्छ अपडिच्छणे भवे लहुगा।**
**अहवा इमेहिँ आगत, एगागि(दि) पडिच्छणे गुरुगा ॥ ५४३६ ॥**
**एगे अपरिणए या, अप्पाहारे य थेरए।**
**गिलाणे बहुरोगी य, मंदधम्मे य पाहुडे ॥ ५४३७ ॥**
**एतारिसं विओसज्ज, विप्पवासो न कप्पई।**
**सीस-पडिच्छा-ऽऽयरिए, पायच्छित्तं विहिज्जई ॥ ५४३८ ॥**
**बिइयपदमसंविग्गे, संविग्गे चेव कारणागाढे।**
**नाऊण तस्सभावं, होइ उ गमणं अणापुच्छा ॥ ५४३९ ॥**

गाथाचतुष्टयमपि गतार्थम् (गा० ५३९८-५४०१) ॥ ५४३६ ॥ ५४३७ ॥ ॥ ५४३८ ॥ ५४३९ ॥ गतं दर्शनार्थं गमनम्। अथ चारित्रार्थमाह—

**चरित्तट्ठ देसे दुविहा, एसणदोसा य इत्थिदोसा य।**
**गच्छम्मि य सीयंते, आयसमुत्थेहिँ दोसेहिं ॥ ५४४० ॥**

चारित्रार्थं गमनं द्विधा—देशदोषैरात्मसमुत्थदोषैश्च। देशदोषा द्विविधाः—एषणादोषाः स्त्रीदोषाश्च। आत्मसमुत्था अपि द्विधा—गुरुदोषा गच्छदोषाश्च। तत्र गच्छो यदि 'आत्मसमुत्थैः' चक्रवालसामाचारीवितथकरणलक्षणैर्दोषैः सीदेत् तत्र पक्षमापृच्छन्नास्ते, तत ऊर्ध्वं गच्छति ॥ ५४४० ॥ इदमेव व्याचष्टे—

**जहियं एसणदोसा, पुरकम्माई ण तत्थ गंतव्वं।**
**उदगपउरो व देसो, जहिँ व चरिगाइसंकिण्णो ॥ ५४४१ ॥**

यत्र देशे पुरःकर्मादय एषणादोषा भवेयुः तत्र न गन्तव्यम्। यो वा उदकप्रचुरो देशः सिन्धुविषयवद् यो वा चरिकादिभिः—परिव्राजिका-कापालिकी-तच्चनिकादिभिर्बहुमोहाभिराकीर्णो विषयस्तत्रापि न गन्तव्यम् ॥५४४१॥ अथाशिवादिभिः कारणैस्तत्र गता भवेयुस्ततः—

**असिवाईहिँ गता पुण, तक्कज्जसमाणिया तओ णिंति।**
**आयरियमणिंते पुण, आपुच्छिउ अप्पणा णिंति ॥ ५४४२ ॥**

अशिव-दुर्भिक्ष-परचक्रादिभिः कारणैस्तत्र गता अपि "तक्कज्जसमाणिय" त्ति प्राकृते पूर्वापरनिपातस्यातन्त्रत्वात् समापिततत्कार्याः, संयमक्षेत्रे यदाऽशिवादीनि स्फिटितानि भवन्तीति भावः,

---

१ °मपि ज्ञानद्वारे व्याख्यातार्थमिति नेह भूयो व्याख्यायते ॥५४३६-३७-३८-३९-४०॥ गतं कां० ॥ २ °श्च। गुरुदोषाः-गुरोश्चारित्रे शिथिलीभवनादिलक्षणाः, गच्छदोषाः-गच्छस्य सामाचार्यां प्रमत्तीभवनादिरूपाः। तत्र गच्छो कां० ॥ ३ °च्छति। गुरोस्तु सीदतो विधिरग्रेऽभिधास्यते ॥ ५४४० ॥ इद° कां० ॥

तदा 'ततः' असंयमक्षेत्राद् 'निर्यन्ति' निर्गच्छन्ति । यथाचार्याः केनापि प्रतिबन्धेन सीदन्तो न निर्गच्छेयुः ततो ये एको द्वौ बहवोऽसीदन्तस्ते गुरुमापृच्छ्य आत्मना निर्गच्छन्ति ॥५४४२॥
तत्र चायं विधिः—

दो मासे एसणाए, इत्थि वज्जेज्ज अट्ठ दिवसाइं ।
गच्छम्मि होइ पक्खो, आयसमुत्थेगदिवसं तु ॥ ५४४३ ॥

एषणायामशुध्यमानायां यतनयाऽनेषणीयमपि गृह्णन् द्वौ मासौ गुरुमापृच्छन् प्रतीक्षते । अथ स्त्री–शय्यातरीप्रभृतिका उपसर्गयति आत्मनश्च दृढं चित्तं ततोऽष्टौ दिवसान् गुरूनापृच्छ्य ततस्तत् क्षेत्रं वर्जयेत् । यत्र च गच्छः सीदति तत्र पक्षमापृच्छ्य गन्तव्यम् । अथ स्त्रियां स्वयमध्युपपन्नस्तत ईदृशे आत्मसमुत्थे आगाढदोषे एकदिवसमापृच्छ्य गच्छति ॥ ५४४३ ॥[1]

सेज्जायरिमाइ सएज्झए व आउत्थ दोस उभए वा ।
आपुच्छइ सन्निहियं, सण्णाइगतं व तत्तो उ ॥ ५४४४ ॥

अथात्मना शय्यातर्यादौ स्त्रियां 'सज्झिकायां वा' प्रातिवेश्मिक्यामतीवाध्युपपन्नः, 'उभयं वा' परस्परमध्युपपन्नं ततो यथाचार्यः सन्निहितस्तदा तमापृच्छ्य गच्छति । अथासन्निहितः संज्ञाभूम्यादौ गत आचार्यस्तदा तत एवानापृच्छया गच्छति, अपरं वा सन्निहितसाधुं भणति— मम वचनेन गुरूणामाप्रच्छनं निवेदनीयम् ॥ ५४४४ ॥

एयविहिमागयं तू, पडिच्छ अपडिच्छणे भवे लहुगा ।
अहवा इमेहिं आगय, एगागि(दि) पडिच्छणे गुरुगा ॥ ५४४५ ॥
एगे अपरिणए या, अप्पाहारे य थेरए ।
गिलाणे बहुरोगी य, मंदधम्मे य पाहुडे ॥ ५४४६ ॥
एयारिसं विओसज्ज, विप्पवासो ण कप्पई ।
सीस-पडिच्छा-ऽऽयरिए, पायच्छित्तं विहिज्जई ॥ ५४४७ ॥

गाथात्रयमपि गतार्थम् ( गा० ५३९८–५४०० ) ॥ ५४४५ ॥ ५४४६ ॥ ५४४७ ॥
भवेत् कारणं येन न पृच्छेत्—

बिइयपदमसंविग्गे, संविग्गे चेव कारणागाढे ।
नाऊण तस्स भावं, अप्पणो भावं अणापुच्छा ॥ ५४४८ ॥

द्वितीयपदमत्रोच्यते—आचार्यादिरसंविग्नो भवेत्, अथवा संविग्नः परम् अहिदष्टादिकमागाढकारणमवलम्ब्य न पृच्छेत्, 'तस्य वा' गुरोः 'भावं' 'सुचिरेणापि न विसर्जयति' इति लक्षणं ज्ञात्वा, आत्मीयं च 'भावम्' 'अहमिह तिष्ठन्नवश्यं विनश्यामि' इति ज्ञात्वाऽनापृच्छयाऽपि व्रजेत् ॥ ५४४८ ॥ अथ गुरोः चारित्रे सीदतो विधिमाह—

सेज्जायरकप्पट्ठी, चरित्तठवणाएँ अभिगया खरिया ।
सारूविओ गिहत्थो, सो वि उवाएण हायव्वो ॥ ५४४९ ॥

---

१ इदमेवान्त्यपदं भावयति इत्यवतरणं कां० ॥ २ °क्यामात्मसमुत्थदोषवान् जातः, स्वयमेव तस्यामध्युपपन्न इत्यर्थः, 'उभयं' कां० ॥

शय्यातरस्य कैल्पस्थिकायां आचार्येण चारित्रस्य स्थापना कृता, तां प्रतिसेवेत इति भावः, तस्यां चारित्रस्थापनायां जातायाम्, व्यक्षरिका वा काचिद् 'अभिगता' जीवाद्यधिगमोपेता श्राविकेत्यर्थः तस्यामाचार्योऽध्युपपन्नः, स च चारित्रवर्जितो वेषधारी भवेत्, सारूपिको वा गृहस्थो वा उपलक्षणत्वात् सिद्धपुत्रको वा । तत्र मुण्डितशिराः शुक्लवासःपरिधायी कच्छामबध्नानोऽभार्यको भिक्षां हिण्डमानः सारूपिक उच्यते । यस्तु मुण्डः सशिखाको वा सभार्यकः स सिद्धपुत्रकः । एवमेषामन्यतर उपायेन हर्तव्यः । कथम्? इति चेद् उच्यते—पूर्वं तावद् गुरवो भण्यन्ते—वयं युष्मद्भिरहिता अनाथा अतः प्रसीद गच्छामोऽपरं क्षेत्रम् । एवमुक्ते यदि नेच्छन्ति ततो यस्यां स प्रतिबद्धः सा प्रज्ञाप्यते—एष बहूनां साधूनामाधारः, एतेन विना गच्छस्य ज्ञानादीनां परिहाणिः, अतो मा नरकादिकं संसारमात्मनो वर्धय । यदि सा स्थिता ततः सुन्दरम् । अथ न तिष्ठति ततो विद्या-मन्त्रादिभिरावर्त्यते । तदभावे कैत्रयिका अपि तस्या दीयन्ते, गुरुश्च पूर्वक्रमेण रात्रौ हर्तव्यः । एवं तावद् भिक्षुमङ्गीकृत्य विधिरुक्तः ॥५४४९॥

सूत्रम्—

**गणावच्छेइए य गणादवक्कम्म इच्छेज्जा अण्णं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, कप्पति गणावच्छेइयस्स गणावच्छेइयत्तं णिक्खिवित्ता अण्णं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए । णो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव अन्नं गणं उपसंपज्जित्ताणं विहरित्तए; कप्पइ से आउच्छित्ता आयरियं वा जाव विहरित्तए । ते य से वितरंति एवं से कप्पइ जाव विहरित्तए; ते य से णो वितरंति एवं से णो कप्पइ जाव विहरित्तए २१ ॥**[3]

**आयरिय-उवज्झाए य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, कप्पइ आयरिय-उवज्झायस्स आयरिय-उवज्झायत्तं णिक्खिवित्ता अण्णं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए । णो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए; कप्पति से आपुच्छित्ता जाव**

१ 'कल्पस्थिकायां' दुहितरि आचा° कां० ॥ २ °वमानेन चारित्रं तटे स्थापितमिति भावः, कां० ॥ ३ एतदनन्तरं ग्रन्थाग्रम्—३५०० इति कां० ॥

**विहरित्तए । ते य से वितरंति एवं से कप्पति अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए; ते य से णो वियरंति एवं से णो कप्पति अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए २२ ॥**

अस्य सूत्रद्वयस्य व्याख्या प्राग्वत् । नवरम्—गणावच्छेदिकत्वमाचार्योपाध्यायत्वं च निक्षिप्य गन्तव्यमिति विशेषः ॥ अथ भाष्यम्—

**एमेव गणावच्छे, गणि-आयरिए वि होइ एमेव ।**
**नवरं पुण नाणत्तं, ते नियमा हुंति वत्ता उ ॥ ५४५० ॥**

'एवमेव' भिक्षुवद् गणावच्छेदिकस्य ज्ञान-दर्शन-चारित्रार्थमन्यं गणं गच्छतो विधिर्द्रष्टव्यः । गणिनः—उपाध्यायस्याचार्यस्य चैवमेव विधिः । नवरं पुनरिदं नानात्वम्—नियमात् 'ते' गणावच्छेदिकादयो व्यक्ता एव भवन्ति नाऽव्यक्ताः[1] ॥ ५४५० ॥

**एसेव गमो नियमा, निग्गंथीणं पि होइ नायव्वो ।**
**नाणट्ठ जो उ नेई, सच्चित्त ण अप्पिणे जाव ॥ ५४५१ ॥**

'एष एव' भिक्षुसूत्रोक्तो गमो निर्ग्रन्थीनामप्यपरं गणमुपसम्पद्यमानानां ज्ञातव्यः । नवरम्—नियमेनैव ताः ससहायाः । यः पुनः ज्ञानार्थं ता आर्यिका नयति स यावदद्यापि न वाचनाचार्यस्यार्पयति तावत् सचित्तादिकं तस्यैवाभवति । अर्पितासु पुनर्वाचनाचार्यस्याभाव्यम् ॥ ५४५१ ॥ कः पुनस्ता नयति ? इत्याह—

**पंचण्हं एगयरे, उग्गहवज्जं तु लभति सच्चित्तं ।**
**आपुच्छ अट्ठ पक्खे, इत्थीसत्थेण संविग्गो ॥ ५४५२ ॥**

'पञ्चानाम्' आचार्योपाध्याय-प्रवर्तक-स्थविर-गणावच्छेदकानामेकतरः संयतीर्नयति । तत्र सचित्तादिकं परक्षेत्रावग्रहवर्जं स एव लभते । निर्ग्रन्थी च ज्ञानार्थं व्रजन्ती अष्टौ पक्षानापृच्छति—तत्राचार्यमेकं पक्षमापृच्छति, यदि न विसर्जयति तत उपाध्यायं वृषभं गच्छं चैवमेव पृच्छति; संयतीवर्गेऽपि प्रवर्तिनी-गणावच्छेदिका-ऽभिषेका-शेषसाध्वीर्यथाक्रममेकैकं पक्षमापृच्छति । ताश्च स्त्रीसार्थेन समं संविग्नेन परिणतवयसा साधुना नेतव्याः ॥ ५४५२ ॥

सूत्रम्—

**भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव अन्नं गणं संभोगवडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए; कप्पइ**

---

१ °क्ताः, ततो योऽव्यक्तस्य विधिरुक्तः सोऽत्र न भवतीति भावः ॥ कां० ॥

**स आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव विहरित्तए । ते य से वियरंति एवं से कप्पइ जाव विहरित्तए; ते य से नो वियरेज्जा एवं से नो कप्पइ जाव विहरित्तए । जत्थुत्तरियं धम्मविणयं लभेज्जा एवं से कप्पइ अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए; जत्थुत्तरियं धम्मविणयं नो लभेज्जा एवं से नो कप्पइ अन्नं गणं जाव विहरित्तए २३ ॥**

अस्य व्याख्या प्राग्वत् । नवरम्—सम्भोगः—एकमण्डल्यां समुद्देशनादिरूपः तत्प्रत्ययं—तन्निमित्तम् । "जत्थुत्तरियं" इत्यादि, 'यत्र' गच्छे उत्तरं—प्रधानतरं 'धर्मविनयं' स्मारणा-वारणादिरूपां धार्मिकीं शिक्षां लभेत एवं "से" तस्य कल्पते अन्यं गणमुपसम्पद्य विहर्तुम् । यत्रोत्तरं धर्मविनयं नो लभेत एवं "से" तस्य नो कल्पते उपसम्पद्य विहर्तुमिति सूत्रार्थः ॥

अथ भाष्यम्—

**संभोगो वि हु तिहिँ कारणेहिँ नाणट्ठ दंसण चरित्ते ।**
**संकमणे चउभंगो, पढमो गच्छम्मि सीयंते ॥ ५४५३ ॥**

सम्भोगोऽपि त्रिभिः कारणैरिष्यते । तद्यथा—ज्ञानार्थं दर्शनार्थं चारित्रार्थं च । तत्र ज्ञानार्थं दर्शनार्थं वा यस्योपसम्पदं प्रतिपन्नस्तस्मिन् सूत्रार्थदानादौ सीदति गणान्तरसङ्क्रमणे स एव विधिर्यः पूर्वसूत्रे भणितः । चारित्रार्थं तु यस्योपसम्पन्नस्तत्र चरण-करणक्रियायां सीदति चतुर्भङ्गी भवति—गच्छः सीदति नाचार्यः १ आचार्यः सीदति न गच्छः २ गच्छोऽप्याचार्योऽपि सीदति ३ न गच्छो नाप्याचार्य ४ इति । अत्र प्रथमो भङ्गो गच्छे सीदति मन्तव्यः । तत्र च गुरुणा स्वयं वा गच्छस्य नोदना कर्तव्या ॥ ५४५३ ॥

कथं पुनः स गच्छः सीदेत् ? इत्याह—

**पडिलेह दियतुअट्टण, निक्खिव आदाण विणय सज्झाए ।**
**आलोग-ठवण-भत्तट्ठ-भास-पडल-सेज्जातराईसु ॥ ५४५४ ॥**

ते गच्छसाधवः प्रत्युपेक्षणां काले न कुर्वन्ति, न्यूना-ऽतिरिक्तादिदोषैर्विपर्यासेन वा प्रत्युपेक्षन्ते, गुरु-ग्लानादीनां वा न प्रत्युपेक्षन्ते । निष्कारणे दिवा त्वग्वर्तयन्ति । दण्डकादिकं निक्षिपन्त आददतो वा न प्रत्युपेक्षन्ते, न वा प्रमार्जयन्ति, दुष्प्रत्युपेक्षितं दुष्प्रमार्जितं वा कुर्वन्ति । यथार्हं विनयं न प्रयुञ्जते । स्वाध्याये—सूत्रपौरुषीमर्थपौरुषीं वा न कुर्वन्ति, अकालेऽस्वाध्याये वा कुर्वन्ति । पाक्षिकादिषु आलोचनां न प्रयच्छन्ति, अथवा "आलोय" त्ति "ठाणदिसिपगासणया" ( ओघनि० गा० ५६३ ) इत्यादिकं सप्तविधमालोकं न प्रयुञ्जते,

---

१ इति । चतुर्थो भङ्गः शुद्ध एव । आद्येषु त्रिषु भङ्गेषु विधिरुच्यते—तत्र प्रथमो कां० ॥

सक्खडीं वा आलोकन्ते । स्थापनाकुलानि न स्थापयन्ति । 'भक्तार्थं' मण्डल्यां समुद्देशनं न कुर्वन्ति । गृहस्थभाषाभिर्भाषन्ते, सावद्यं वा भाषन्ते । पटलकेषु आनीतं भुञ्जते । शय्यातरपिण्डं भुञ्जते । आदिग्रहणेन उद्गमाद्यशुद्धं गृह्णन्ति ॥ ५४५४ ॥

एतेषु गच्छस्य सीदतो विधिमाह—

**चोयावेइ य गुरुणा, विसीयमाणं गणं सयं वा वि ।**
**आयरियं सीयंतं, सयं गणेणं च चोयावे ॥ ५४५५ ॥**

प्रथमभङ्गे सामाचार्यां विषीदन्तं गच्छं गुरुणा नोदयति, अथवा स्वयमेव नोदयति । द्वितीयभङ्गे आचार्यं सीदन्तं स्वयं वा गणेन वा नोदयति ॥ ५४५५ ॥

**दुण्णि वि विसीयमाणे, सयं व जे वा तहिं न सीयंति ।**
**ठाणं ठाणाऽऽसज्ज उ, अणुलोमाईहिँ चोएति ॥ ५४५६ ॥**

तृतीयभङ्गे गच्छा-ऽऽचार्यौ द्वावपि सीदन्तौ स्वयमेव नोदयति, ये वा तत्र न सीदन्ति तैर्नोदयति, किं बहुना ? स्थानं स्थानम् 'आसाद्य' प्राप्यानुलोमादिभिर्वचोभिर्नोदयति । किमुक्तं भवति ?—आचार्योपाध्यायादिकं भिक्षु-क्षुल्लकादिकं वा पुरुषवस्तु ज्ञात्वा यस्य यादृशी नोदना योग्या यो वा खरसाध्यो मृदुसाध्यः क्रूरोऽक्रूरो वा यथा नोदनां गृह्णाति तं तथा नोदयेत् ॥ ५४५६ ॥[1]

**भणमाणे भणाविंते, अयाणमाणम्मि पक्खो उक्कोसो ।**
**लज्जाएँ पंच तिण्णि व, तुह किं ति व परिणय विवेगो ॥ ५४५७ ॥**

गच्छमाचार्यमुभयं वा सीदन्तं स्वयं भणन् अन्यैश्च भाणयन्नास्ते । यत्र न जानाति एते भण्यमाना अपि नोद्यमं करिष्यन्ति तत्रोत्कर्षतः पक्षमेकं तिष्ठति । गुरुं पुनः सीदन्तं लज्जया गौरवेण वा जानन्नपि पञ्च त्रीन् वा दिवसानभणन्नपि शुद्धः । अथ नोद्यमानो गच्छो गुरुर्भयं वा भणेत्—तव किं दुःखयति ? यदि वयं सीदामस्तर्हि वयमेव दुर्गतिं गमिष्यामः । एवंविधे भावे तेषां परिणते तेषां 'विवेकः' परित्यागो विधेयः । ततश्चान्यं गणं सङ्क्रमति । तत्र चतुर्भङ्गी—संविग्नः संविग्नं गणं सङ्क्रामति १ संविग्नोऽसंविग्नम् २ असंविग्नः संविग्नम् ३ असंविग्नोऽसंविग्नम् ४ ॥ ५४५७ ॥ तत्र प्रथमो भङ्गस्तावदुच्यते—

**संविग्गविहाराओ, संविग्गा दुण्णि एज्ज अन्नयरे ।**
**आलोइयम्मि सुद्धो, तिविहोवहिमग्गणा नवरिं ॥ ५४५८ ॥**

संविग्नविहाराद् गच्छात् संविग्नौ द्वौ 'अन्यतरौ' गीतार्था-ऽगीतार्थौ संविग्ने गच्छे समागच्छेताम्, स च गीतार्थोऽगीतार्थो वा यतो दिवसात् संविग्नेभ्यः स्फिटितः तद्दिनादारभ्य सर्वमप्यालोचयति, आलोचिते च शुद्धः । नवरम्—त्रिविधोपधेः—यथाकृतादिरूपस्य मार्गणा कर्तव्या ॥ ५४५८ ॥ इदमेव व्याचष्टे—

**गीयमगीतो गीते, अप्पडिबद्धे न होइ उवघातो ।**
**अविगीयस्स वि एवं, जेण सुता ओहनिज्जुत्ती ॥ ५४५९ ॥**

स संविग्नो गीतार्थो वा स्यादगीतार्थो वा । यदि गीतार्थो व्रजिकादिषु अप्रतिबद्ध आयातः

---

1 अथ त्रिष्वपि भङ्गेषु साधारणं विधिमाह इत्यवतरणं कां० ॥

तत उपधेरुपघातो न भवति, न प्रायश्चित्तम् । 'अविगीतस्य' अगीतार्थस्यापि येन जघन्यत ओघनिर्युक्तिः श्रुता तस्यापि 'एवमेव' अप्रतिबध्यमानस्य नोपधिरुपहन्यते ॥ ५४५९ ॥[1]

**गीयाण विमिस्साण व, दुण्ह वयंताण वइयमाईसु ।**
**पडिबज्झंताणं पि हु, उवहि ण हम्मे ण वाऽऽरुवणा ॥ ५४६० ॥**

'द्वयोः' गीतार्थयोर्गीतार्थविमिश्रयोर्वा व्रजतोर्व्रजिकादिषु प्रतिबध्यमानयोरप्युपधिर्नोपहन्यते, न वा 'आरोपणा' प्रायश्चित्तं भवति । एवमेकोऽनेके वा विधिना समागता यत्प्रभृति गणाद् निर्गतास्तत आरभ्यालोचनां ददति ॥ ५४६० ॥ अथ त्रिविधोपधिमार्गणामाह—

**आगंतुमहागडयं, वत्थव्वअहाकडस्स असईए ।**
**मेलिंति मज्झिमेहिं, मा गारवकारणमगीए ॥ ५४६१ ॥**

तस्य गीतार्थस्यागीतार्थस्य वा त्रिविध उपधिर्भवेत् । तद्यथा—यथाकृतोऽल्पपरिकर्मा सपरिकर्मा च । वास्तव्यानामप्येवमेव त्रिविध उपधिर्भवति । तत्र यथाकृतो यथाकृतेन सह मील्यते, अल्पपरिकर्मा अल्पपरिकर्मणा, सपरिकर्मा सपरिकर्मणा । अथ वास्तव्यानां यथाकृतो नास्ति तत आगन्तुकस्य यथाकृतं वास्तव्यमध्यमैः-अल्पपरिकर्मभिः सह मीलयन्ति । किं कारणम् ? इति चेद् अत आह—मा सोऽमीलितः सन्नगीतार्थस्य 'मदीय उपधिरुत्तमसम्भोगिकोऽतोऽहमेव सुन्दरः' इत्येवं गौरवकारणं भवेदिति ॥ ५४६१ ॥

**गीयत्थे ण मेलिज्जइ, जो पुण गीओ वि गारवं कुणइ ।**
**तस्सुवही मेलिज्जइ, अहिकरण अपच्चओ इहरा ॥ ५४६२ ॥**

गीतार्थो यदि अगौरवी ततस्तदीयो यथाकृतः प्रतिग्रहो वास्तव्ययथाकृताभावेऽल्पपरिकर्मभिः सह न मील्यते किन्तु उत्तमसम्भोगिकः क्रियते । यस्तु गीतार्थोऽपि गौरवं करोति तस्य यथाकृतो वास्तव्याल्पपरिकर्मभिः सह मील्यते । किं कारणम् ? इति चेद् अत आह—"इहर" त्ति यदि यथाकृतपरिभोगेन परिभुज्यते तदा केनाप्यजानता अल्पपरिकर्मणा समं मेलितं दृष्ट्वा स गीतार्थः 'अधिकरणम्' असङ्खडं कुर्यात्, किमर्थं मदीय उत्कृष्टोपधिरशुद्धेन सह मीलितः ? इति । अप्रत्ययो वा शैक्षाणां भवेत्, अयमेतेषां सकाशादुद्यततरविहारी येनोपधिमुत्कृष्टपरिभोगेन परिभुङ्क्ते, एते तु हीनतरा इति ॥ ५४६२ ॥

**एवं खलु संविग्गे, संविग्गे संकमं करेमाणे ।**
**संविग्गमसंविग्गे, असंविग्गे यावि संविग्गे ॥ ५५६३ ॥**

एवं खलु संविग्नस्य संविग्नेषु सङ्क्रमं कुर्वाणस्य विधिरुक्तः । अथ संविग्नस्यासंविग्नेषु सङ्क्रामतोऽसंविग्नस्य वा संविग्नेषु सङ्क्रामतो विधिरुच्यते ॥ ५४६३ ॥

तत्र संविग्नस्यासंविग्नसङ्क्रमणे तावदिमे दोषाः—

**सीहगुहं वग्घगुहं, उदहिं व पलित्तगं व जो पविसे ।**
**असिवं ओमोयरियं, धुवं से अप्पा परिच्चत्तो ॥ ५४६४ ॥**

---

१ एवमेकाकिनो विधिरुक्तः । अथ द्वयोर्जनयोर्विधिमाह इत्यवतरणं कां० ॥ २ 'व्रजतोः' संविग्नं गणं समागच्छतोर्व्रजि° कां० ॥

सिंहगुहां व्याघ्रगुहां 'उदधिं वा' समुद्रं प्रदीप्तं वा नगरादिकं यः प्रविशति, अशिवमवमौदर्यं वा यत्र देशे तत्र यः प्रविशति तेन ध्रुवमात्मा परित्यक्तः ॥ ५४६४ ॥

**चरण-करणप्पहीणे, पासत्थे जो उ पविसए समणो ।**
**जतमाणए पजहिउं, सो ठाणे परिच्चयइ तिण्णि ॥ ५४६५ ॥**

एवं सिंहगुहादिस्थानीयेषु चरण-करणप्रहीणेषु पार्श्वस्थेषु यः श्रमणः 'यतमानान्' संविग्नान् 'प्रहाय' परित्यज्य प्रविशति स मन्दधर्मा 'त्रीणि स्थानानि' ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूपाणि परित्यजति । अपि च—सिंहगुहादिप्रवेशे एकभविकं मरणं प्राप्नोति, पार्श्वस्थेषु पुनः प्रविशन्ननेकानि मरणानि प्राप्नोति ॥ ५४६५ ॥[1]

**एमेव अहाछंदे, कुसील-ओसन्न-नीय-संसत्ते ।**
**जं तिन्नि परिचयई, नाणं तह दंसण चरित्तं ॥ ५४६६ ॥**

'एवमेव' पार्श्वस्थवद् यथाच्छन्देषु कुशीला-ऽवसन्न-नित्यवासि-संसक्तेषु च प्रविशतो मन्तव्यम् । यच्च त्रीणि स्थानानि परित्यजतीत्युक्तं तद् ज्ञानं दर्शनं चारित्रं चेति द्रष्टव्यम् ॥ ५४६६ ॥

गतो द्वितीयभङ्गः । अथ तृतीयभङ्गमाह—

**पंचण्हं एगयरे, संविग्गे संकमं करेमाणे ।**
**आलोइए विवेगो, दोसु असंविग्गे सच्छंदो ॥ ५४६७ ॥**

पार्श्वस्था-ऽवसन्न-कुशील-संसक्त-यथाच्छन्दानामेकतरः संविग्नेषु सङ्क्रमं कुर्वन् प्रथममालोचनां ददाति, तत आलोचितेऽविशुद्धोपधेर्विवेकं करोति । स च यदि चारित्रार्थमुपसम्पद्यते ततः प्रतीच्छनीयः । यस्तु 'द्वयोः' ज्ञान-दर्शनयोरर्थायासंविग्न उपसम्पद्यते तस्य 'स्वच्छन्दः' स्वाभिप्रायः, नासौ प्रतीच्छनीय इति भावः । अथवा "दोसु असंविग्गे" त्ति 'असंविग्नोऽसंविग्नेषु सङ्क्रामति' इति रूपे द्विधाऽप्यसंविग्ने चतुर्थभङ्गे 'स्वच्छन्दः' स्वेच्छा, अवस्तुभूतत्वाद् न कोऽपि तत्र विधिरिति भावः ॥ ५४६७ ॥[3]

**पंचेगतरे गीए, आरुभियवते जयंतए तम्मि ।**
**जं उवहिं उप्पाए, संभोइत सेसमुज्झंति ॥ ५४६८ ॥**

तेषां पञ्चानां—पार्श्वस्थादीनामेकतर आगच्छन् यदि गीतार्थस्ततः स्वयमेव महाव्रतान्युच्चार्यारोपितव्रतो यतमानः—व्रजिकादावप्रतिबध्यमानो मार्गे यमुपधिमुत्पादयति स साम्भोगिकः, "सेसमुज्झंति" त्ति यः प्राक्तनः पार्श्वस्थोपधिरशुद्धस्तं परिष्ठापयन्ति । यः पुनरगीतार्थस्तस्य व्रतानि गुरवः प्रयच्छन्ति, उपधिश्च तस्य चिरन्तनोऽभिनवोत्पादितो वा सर्वोऽपि परित्यज्यते ॥ ५४६८ ॥ तेषु चायमालोचनाविधिः—

**पासत्थाईमुंडिएँ, आलोयण होइ दिक्खपभिइं तु ।**
**संविग्गपुराणे पुण, जप्पभिई चेव ओसण्णो ॥ ५४६९ ॥**

---

१ एवं पार्श्वस्थेषु सङ्क्रामतो भणितम् । अथ यथाच्छन्दादिषु सङ्क्रामत इदमेवातिदिशन्नाह इत्यवतरणं कां० ॥ २ °शतो दोषजालं च विशेषतरं मन्त° कां० ॥ ३ तृतीयभङ्ग एव विधिशेषमाह इत्यवतरणं कां० ॥

यः पार्श्वस्थादिभिरेव मुण्डितः—प्रव्राजितस्तस्य दीक्षादिनादारभ्य आलोचना भवति । यस्तु पूर्वं संविग्नः पश्चात् पार्श्वस्थो जातः तस्य संविग्नपुराणस्य यत्प्रभृति अवसन्नो जातस्तद्दिनादारभ्याऽऽलोचना भवति ॥ ५४६९ ॥

सूत्रम्—

**गणावच्छेइए य गणाद्वक्कम्म इच्छेज्जा अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, णो से कप्पति गणावच्छेइयत्तं अणिक्खिवित्ता संभोगपडियाए जाव विहरित्तए; कप्पति से गणावच्छेइअत्तं णिक्खिवित्ता जाव विहरित्तए । णो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव विहरित्तए; कप्पति से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव विहरित्तए । ते य से वितरंति एवं से कप्पइ अन्नं गणं संभोगपडियाए जाव विहरित्तए; ते य से नो वितरंति एवं से णो कप्पइ जाव विहरित्तए । जत्थुत्तरियं धम्मविणयं लभेज्जा एवं से कप्पति अन्नं गणं सं० जाव विहरित्तए; जत्थुत्तरियं धम्मविणयं नो लभेज्जा एवं से णो कप्पति जाव विहरित्तए २४ ॥**

**आयरिय-उवज्झाए य गणाद्वक्कम्म इच्छेज्जा अन्नं गणं संभोगपडियाए जाव विहरित्तए, णो से कप्पति आयरिय-उवज्झायत्तं अणिक्खिवित्ता अण्णं गणं सं० जाव विहरित्तए; कप्पति से आयरिय-उवज्झायत्तं णिक्खिवित्ता जाव विहरित्तए । णो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव विहरित्तए; कप्पति से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव विहरित्तए । ते य से वितरंति एवं से कप्पति जाव विहरित्तए;**

१ °तः स पुराणसंविग्नः, गाथायां व्यत्यासेन पूर्वापरनिपातः प्राकृतत्वात्, तस्य यत्प्र° कां० ॥

**ते य से णो वितरंति एवं से णो कप्पति जाव विहरित्तए । जत्थुत्तरियं धम्मविणयं लभेज्जा एवं से कप्पइ जाव विहरित्तए; जत्थुत्तरियं धम्मविणयं नो लभेज्जा एवं से णो कप्पति जाव विहरित्तए २५ ॥**

अस्य सूत्रद्वयस्य व्याख्या पूर्ववत् ॥ अथ भाष्यम्—

**एमेव गणावच्छे, गणि-आयरिए वि होइ एमेव ।**
**णवरं पुण णाणत्तं, एते नियमेण गीया उ ॥ ५४७० ॥**

एवमेव गणावच्छेदिकस्य तथा गणिनः—उपाध्यायस्याचार्यस्य च सूत्रं मन्तव्यम् । नवरं पुनरत्र नानात्वम्—एते नियमतो गीतार्था भवन्ति नागीतार्थाः ॥ ५४७० ॥

सूत्रम्—

**भिक्खू य इच्छिज्जा अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावित्तए, नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावित्तए; कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावित्तए । ते य से वियरिज्जा एवं से कप्पइ अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावित्तए; ते य से नो वियरेज्जा एवं से नो कप्पइ अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावित्तए । नो से कप्पइ तेसिं कारणं अदीवित्ता अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावित्तए; कप्पति से तेसिं कारणं दीवित्ता अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावित्तए २६ ॥**

अस्य व्याख्या प्राग्वत् । नवरम्—अन्यम् 'आचार्योपाध्यायमुद्देशयितुम्' आचार्यश्चोपाध्यायश्चाचार्योपाध्यायम्, समाहारद्वन्द्वः, यद्वा आचार्ययुक्त उपाध्याय आचार्योपाध्यायः, शाकपार्थिववद् मध्यपदलोपी समासः, आचार्योपाध्यायावित्यर्थः, तावन्यावुद्देशयितुमात्मन इच्छेत् । ततो नो कल्पते अनापृच्छ्याचार्यं वा यावद् गणावच्छेदिकं वा इत्यादि प्राग्वद् द्रष्टव्यम् । तथा न कल्पते 'तेषाम्' आचार्यादीनां कारणम् 'अदीपयित्वा' अनिवेद्य अन्यमा-

चार्योपाध्यायम् 'उद्देशयितुम्' आत्मनो गुरुतया व्यवस्थापयितुम् । ◁ कारणं दीपयित्वा तु कल्पते । ▷ एष सूत्रार्थः ॥ अथ भाष्यम्—

सुत्तम्मि कड्डियम्मी, आयरि-उज्झाय उद्दिसाविंति ।
तिण्हऽट्ठ उद्दिसिज्जा, णाणे तह दंसण चरित्ते ॥ ५४७१ ॥

'सूत्रे' सूत्रार्थे 'आकृष्टे' उक्ते सति निर्युक्तिविस्तर उच्यते—आचार्योपाध्यायमभिनवमुद्देशयन् त्रयाणामर्थायोद्दिशेत् । तद्यथा—ज्ञानार्थं दर्शनार्थं चारित्रार्थं चेति ॥ ५४७१ ॥[2]

नाणे महकप्पसुतं, सिस्सत्ता केइ उवगए देयं ।
तस्सऽट्ठ उद्दिसिज्जा, सा खलु सेच्छा ण जिणआणा ॥ ५४७२ ॥

ज्ञाने तावदभिधीयते—केषाञ्चिदाचार्याणां कुले गणे वा महाकल्पश्रुतमस्ति, तैश्च गणसंस्थितिः कृता—योऽस्माकं शिष्यतयोपगच्छति तस्यैव महाकल्पश्रुतं देयं नान्यस्य । तत्र चोत्सर्गतो नोपसम्पत्तव्यम्, यदि अन्यत्र नास्ति तदा 'तस्य' महाकल्पश्रुतस्यार्थाय तमप्याचार्यमुद्दिशेत्, उद्दिश्य चाधीते तस्मिन् पूर्वाचार्याणामेवान्तिके गच्छेत्, न तत्र तिष्ठेत् । कुतः ? इत्याह—सा खलु तेषामाचार्याणां स्वेच्छा, 'न जिनाज्ञा' न हि जिनैरिदं भणितम्—शिष्यतयोपगतस्य श्रुतं दातव्यमिति ॥ ५४७२ ॥ अथ दर्शनार्थमाह—

विज्जा-मंत-निमित्ते, हेऊसत्थट्ठ दंसणट्ठाए ।
चरित्तट्ठा पुव्वगमो, अहव इमे हुंति आएसा ॥ ५४७३ ॥

विद्या-मन्त्र-निमित्तार्थं 'हेतुशास्त्राणां च' गोविन्दनिर्युक्तिप्रभृतीनामर्थाय यद् अन्य आचार्य उद्दिश्यते तद् दर्शनार्थं मन्तव्यं । चारित्रार्थे पुनरुद्देशने 'पूर्वः' प्रागुक्त एव गमो भवति । अथवा तत्रैते 'आदेशाः' प्रकारा भवन्ति ॥ ५४७३ ॥

आयरिय-उवज्झाए, ओसण्णोहाविते व कालगते ।
ओसण्ण छव्विहे खलु, वत्तमवत्तस्स मग्गणया ॥ ५४७४ ॥

आचार्य उपाध्यायो वा अवसन्नः सञ्जातः 'अवधावितो वा' गृहस्थीभूतः कालगतो वा । यदि अवसन्नस्ततः षड्विधो भवेत्—पार्श्वस्थोऽवमग्नः कुशीलः संसक्तो नित्यवासी यथाच्छन्दश्चेति । यश्च तस्य शिष्य आचार्यपदयोग्यः स व्यक्तोऽव्यक्तो वा भवेत् तत्रेयं मार्गणा ॥ ५४७४ ॥

वत्ते खलु गीयत्थे, अव्वत्ते वएण अहव अगीयत्थे ।
वत्तिच्छ सार पेसण, अहवाऽऽसण्णे सयं गमणं ॥ ५४७५ ॥

अत्र[3] चत्वारो भङ्गाः—तत्र वयसा व्यक्तः षोडशवार्षिकः श्रुतेन च व्यक्तो गीतार्थः, एष प्रथमो भङ्गः । वयसा व्यक्तः श्रुतेनाव्यक्तः, एषोऽर्थतो द्वितीयः । वयसाऽव्यक्तः श्रुतेन व्यक्तः, अयमर्थतस्तृतीयः । "अव्वत्ते वएण अहव अगीयत्थि" त्ति चतुर्थो भङ्गो गृहीतः, स चायम्—वयसाऽप्यव्यक्तः श्रुतेन चाव्यक्त इति ४ । अत्र प्रथमे भङ्गे द्विधाऽपि व्यक्तस्य 'इच्छा' अन्यमाचार्यमुद्दिशति वा न वा । यावन्नोद्दिशति तावत् तमवसन्नीभूतमाचार्यं दूरस्थं सारयितुं

१ ◁ ▷ एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठः भा० एव वर्तते ॥ २ तत्र ज्ञानार्थं तावदाह इत्यवतरणं कां० ॥
३ वयसा श्रुतेन चाव्यक्तो [ व्यक्तो वा ] भवतीति अत्र चत्वा° कां० ॥

साधुसङ्घाटकं प्रेषयति । अथासन्ने स आचार्यस्ततः स्वयमेव गत्वा नोदयति ॥ ५४७५ ॥

नोदनायां चैवं कालपरिमाणम्—

**एगाह पणग पक्खे, चउमासे वरिस जत्थ वा मिलइ ।**
**चोएइ चोयवेइ व, णेच्छंतेँ सयं तु वट्टावे ॥ ५४७६ ॥**

'एकाहं नाम' दिने दिने गत्वा नोदयति, एकान्तरितं वा । तथा 'पञ्चाहं' पञ्चानां दिवसानामन्ते, एवं पक्षे चतुर्मासे वर्षान्ते वा 'यत्र वा' समवसरणादौ मिलति तत्र स्वयमेव नोदयति, अपरैर्वा स्वगच्छीय-परगच्छीयैर्नोदनां कारयति । यदि सर्वथाऽपि नेच्छति ततः स्वयमेव तं गणं वर्तापयति ॥ ५४७६ ॥

**उद्दिसइ व अन्नदिसं, पयावणट्ठा न संगहट्ठाए ।**
**जइ णाम गारवेण वि, मुएज्ज णिच्छे सयं ठाई ॥ ५४७७ ॥**

अथवा स उभयव्यक्तः 'अन्यां दिशम्' अपरमाचार्यमुद्दिशति तच्च तस्यावसन्नाचार्यस्य 'प्रतापनार्थम्' उत्तेजनार्थं न पुनर्गणस्य सङ्ग्रहोपग्रहनिमित्तम् । स च तत्र गत्वा भणति—अहमन्यमाचार्यमुद्दिशामि यदि यूयमितः स्थानाद् नोपरमध्वे । ततः स चिन्तयेत्—अहो ! अमी मयि जीवत्यपि अपरमाचार्यं प्रतिपद्यन्ते, मुञ्चामि पार्श्वस्थताम् । यदि नामैवं गौरवेणापि पार्श्वस्थत्वं मुञ्चेत् ततः सुन्दरम्, अथ सर्वथा नेच्छत्युपरन्तुं ततः स्वयमेव गच्छाधिपत्ये तिष्ठति ॥ ५४७७ ॥ गतः प्रथमो भङ्गः । अथ द्वितीयमाह—

**सुअवत्तो वतवत्तो, भणइ गणं ते ण सारितुं सत्तो ।**
**सारेहि सगणमेयं, अण्णं व वयामों आयरियं ॥ ५४७८ ॥**

यः श्रुतेन व्यक्तो वयसा पुनरव्यक्तः स स्वयं गच्छं वर्तापयितुमसमर्थः तमाचार्यं भणति—अहमप्राप्तवयस्त्वेन त्वदीयं गणं सारयितुं न शक्तः, अतः सारय स्वगणमेनम्, अहं पुनरन्यस्य शिष्यो भविष्यामि, अथवा अहमेते वाऽन्यमाचार्यं व्रजामः, उद्दिशाम इत्यर्थः ॥ ५४७८ ॥

**आयरिय-उवज्झायं, निच्छंते अप्पणा य असमत्थे ।**
**तिगसंवच्छरमद्धं, कुल गण संघे दिसाबंधो ॥ ५४७९ ॥**

एवंभणित आचार्य उपाध्यायो वा यदि नेच्छति संयमे स्थातुम्, स चात्मना गणं वर्तापयितुमसमर्थः, ततः कुलसत्कमाचार्यमुपाध्यायं वा उद्दिशति । तत्र त्रीणि वर्षाणि तिष्ठति, तं चाचार्यं सारयति । ततः 'त्रयाणां वर्षाणां परतः सचित्तादिकं कुलाचार्यो हरति' इति कृत्वा गणाचार्यमुद्दिशति । तत्र संवत्सरं स्थित्वा सङ्घाचार्यस्य दिग्बन्धं प्रतिपद्य 'वर्षार्द्धं' षण्मासान् तत्र तिष्ठति ॥ ५४७९ ॥ कुलाद् गणं गणाच्च सङ्घं सङ्क्रामन्नाचार्यमिदं भणति—

**सच्चित्तादि हरंती, कुलं पि नेच्छामों जं कुलं तुब्भं ।**
**वच्चामो अन्नगणं, संघं व तुमं जइ न ठासि ॥ ५४८० ॥**

यत् त्वदीयं कुलं त्वदीया आचार्या अस्माकं वर्षत्रयादूर्द्ध्वं सचित्तादिकं हरन्ति अतः कुलमपि नेच्छामः, यदि त्वमिदानीमपि न तिष्ठसि ततो वयं गणं सङ्घं वा व्रजामः ॥ ५४८० ॥

**एवं पि अठायंते, ताहे तू अद्धपंचमे वरिसे ।**

**सयमेव धरेइ गणं, अणुलोमेणं च सारेइ ॥ ५४८१ ॥**

एवमर्द्धपञ्चमैर्वर्षैः पूर्वाचार्यो नोदनाभिः प्रतापितोऽपि यदि न तिष्ठति तत एतावता कालेन स श्रुतव्यक्तो वयसाऽपि व्यक्तो जात इति कृत्वा स्वयमेव गणं धारयति । यत्र च पूर्वाचार्यं पश्यति तत्र अनुलोमवचनैस्तथैव सारयति ॥ ५४८१ ॥

**अहव जइ अत्थि थेरा, सत्ता परियट्टिऊण तं गच्छं ।**
**दुहओवत्तसरिसगो, तस्स उ गमओ मुणेयव्वो ॥ ५४८२ ॥**

अथवा यदि तस्य श्रुतऽव्यक्तस्य स्थविरास्तं गच्छं परिवर्तयितुं शक्ताः सन्ति ततः कुल-गण-सङ्घेषु नोपतिष्ठते किन्तु स स्वयं सूत्रार्थौ शिष्याणां ददाति, स्थविरास्तु गच्छं परिवर्तयन्ति । एवं च द्विधाव्यक्तसदृशस्तस्य गमो ज्ञातव्यो भवति ॥ ५४८२ ॥

गतो द्वितीयभङ्गः । अथ तृतीयभङ्गमाह—

**वत्तवओ उ अगीओ, जइ थेरा तत्थ केइ गीयत्था ।**
**तेसंतिगे पढंतो, चोएइ स असइ अण्णत्थ ॥ ५४८३ ॥**

यो वयसा व्यक्तः परमगीतार्थः, तस्य च गच्छे यदि केऽपि स्थविरा गीतार्थाः सन्ति ततः 'तेषां' स्थविराणामन्तिके पठन् गच्छमपि परिवर्तयति, अवसन्नाचार्यं चान्तराऽन्तरा नोदयति । तेषां गीतार्थस्थविराणामभावे गणं गृहीत्वाऽन्यत्रोपसम्पद्यते ॥ ५४८३ ॥

गतस्तृतीयो भङ्गः । अथ चतुर्थभङ्गमाह—

**जो पुण उभयअवत्तो, वट्टावग असइ सो उ उद्दिसई ।**
**सव्वे वि उद्दिसंता, मोत्तूणं उद्दिसंति इमे ॥ ५४८४ ॥**

यः पुनः उभयथा—श्रुतेन वयसा चाऽव्यक्तस्तस्य यदि स्थविराः पाठयितारो विद्यन्ते अपरे च गच्छवर्तापकास्ततोऽसावपि नान्यमुद्दिशति । स्थविराणामभावे स नियमादन्यमाचार्यमुद्दिशति । 'सर्वेऽपि' भङ्गचतुष्टयवर्तिनोऽप्यन्यमाचार्यमुद्दिशन्तोऽमून् मुक्त्वा उद्दिशन्ति ॥ ५४८४ ॥

तद्यथा—

**संविग्गमगीयत्थं, असंविग्गं खलु तहेव गीयत्थं ।**
**असंविग्गमगीयत्थं, उद्दिसमाणस्स चउगुरुगा ॥ ५४८५ ॥**

संविग्नमगीतार्थं असंविग्नं गीतार्थं असंविग्नमगीतार्थं चेति त्रीनप्याचार्यत्वेनोद्दिशतश्चतुर्गुरुकाः । एते च यथाक्रमं कालेन तपसा तदुभयेन च गुरुकाः कर्तव्याः ॥ ५४८५ ॥

अत्रैव प्रायश्चित्तवृद्धिमाह—

**सत्तरत्तं तवो होइ, तओ छेओ पहावई ।**
**छेदेण छिण्णपरियाए, तओ मूलं तओ दुगं ॥ ५४८६ ॥**

एतानयोग्यानुद्दिश्यानावर्तमानस्य प्रथमं सप्तरात्रं दिने दिने चतुर्गुरु, द्वितीयं सप्तरात्रं षड्लघु, तृतीयं षड्गुरु, चतुर्थं चतुर्गुरुकच्छेदः, पञ्चमं षड्लघुकः, षष्ठं षड्गुरुकः, तत एकदिवसे

---

१ तत एवं द्विचत्वारिंशता दिवसैर्गतैस्त्रयश्चत्वारिंशदिवसे मूलम्, चतुश्चत्वारिंशेऽनवस्थाप्यम्, पञ्चचत्वारिंशे दिवसे पाराञ्चिकम् । अथवा षड्लघुकतपो° कां० ॥

मूलम्, द्वितीयेऽनवस्थाप्यम्, तृतीये पाराञ्चिकम् । अथवा षड्गुरुकतपोऽनन्तरं प्रथमत एव सप्तरात्रं षड्गुरुकच्छेदः, ततः मूला-ऽनवस्थाप्य-पाराञ्चिकानि प्राग्वत् । यद्वा तपोऽनन्तरं पञ्चकादिच्छेदः सप्त सप्त दिनानि भवति, शेषं पूर्ववत् । एवं प्रायश्चित्तं विज्ञाय संविग्नो गीतार्थ उद्देष्टव्यः ॥ ५४८६ ॥ तत्रापि विशेषमाह—

**छट्ठाणविरहियं वा, संविग्गं वा वि वयइ गीयत्थं ।**
**चउरो य अणुग्घाया, तत्थ वि आणाइणो दोसा ॥ ५४८७ ॥**

षड्भिः स्थानैर्वक्ष्यमाणैर्विरहितमपि संविग्नं गीतार्थं यदि 'सदोषं' काथिकादिदोषसहितं 'वदति' आचार्यत्वेन उद्दिशति तदा चत्वारोऽनुद्घाताः । तत्राप्याज्ञादयो दोषाः ॥ ५४८७ ॥

इदमेव व्याचष्टे—

**छट्ठाणा जा नियगो, तव्विरहिय काहियाइता चउरो ।**
**ते वि य उद्दिसमाणे, छट्ठाणगयाण जे दोसा ॥ ५४८८ ॥**

'षट्स्थानानि नाम' पार्श्वस्थोऽवसन्नः कुशीलः संसक्तो यथाच्छन्दो नित्यवासी चेति, एतैः षड्भिर्विरहिता ये 'काथिकादयः' काथिक-प्राश्निक-मामाक-सम्प्रसारकाख्या चत्वारस्तानप्युद्दिशतस्त एव दोषा ये षट्स्थानेषु—पार्श्वस्थादिषु गतानां—प्रविष्टानां भवन्ति ॥ ५४८८ ॥

एष सर्वोऽप्यवसन्ने आचार्ये विधिरुक्तः । अथावधावित-कालगतयोर्विधिमाह—

**ओहाविय कालगते, जाधिच्छा ताहि उद्दिसावेइ ।**
**अव्वत्ते तिविहे वी, णियमा पुण संगहट्ठाए ॥ ५४८९ ॥**

अवधाविते कालगते वा गुरौ 'त्रिविधेऽपि' प्रथमभङ्गवर्जे भङ्गत्रयेऽपि योऽव्यक्तः स यदा इच्छा भवति तदाऽन्यमाचार्यमुद्देशयति । अथवा 'त्रिविधेऽपि' कुलसत्के गणसत्के सङ्घसत्के च आचार्योपाध्याये आत्मन उद्देशं कारयति । स चाव्यक्तत्वाद् नियमात् सङ्ग्रहोपग्रहार्थमेवोद्दिशति ॥ ५४८९ ॥ आचार्यं गृहीभूतमवसन्नं वा यदा पश्यति तदेत्थं भणति—

**ओहाविय ओसन्ने, भणइ अणाहा वयं विणा तुज्झे ।**
**कम सीसमसागारिए, दुप्पडियरगं जतो तिण्हं ॥ ५४९० ॥**

अवधावितस्यावसन्नस्य वा गुरोः 'क्रमयोः' पादयोः शीर्षमसागारिके प्रदेशे कृत्वा भणति—भगवन्! अनाथा वयं युष्मान् विना, अतः प्रसीद, भूयः संयमे स्थित्वा सनाथीकुरु डिम्भकल्पानस्मान् । शिष्यः पृच्छति—तस्य गृहीभूतस्य अचारित्रिणो वा चरणयोः कथं शिरो विधीयते? गुरुराह—'दुष्प्रतिकरं' दुःखेन प्रतिकर्तुं शक्यं यतस्त्रयाणाम्, तद्यथा—माता-पित्रोः स्वामिनो धर्माचार्यस्य च । यदुक्तम्—"तिण्हं दुप्पडियारं समणाउसो!—अम्मा-पियस्स भट्टिस्स धम्मायरियस्स य" ( स्थानाङ्गे स्था० ३ उ० १ ) इत्यादि । तत एवमवसन्नेऽवधाविते वा गुरौ विनयो विधीयते ॥ ५४९० ॥ किञ्च—

**जो जेण जम्मि ठाणम्मि ठाविओ दंसणे व चरणे वा ।**

---

१ ततः सप्तरात्रचतुष्टयानन्तरं मूला° कां० ॥ २ पञ्चक-दशक-पञ्चदशकादिच्छेदाः सप्त सप्त दिनानि भवन्ति, शे° कां० ॥ ३ षष्ठी-सप्तम्योरर्थे प्रत्ययभेदाद् अव° कां० ॥

सो तं तओ चुतं तम्मि चेव काउं भवे निरिणो ॥ ५४९१ ॥

यः 'येन' आचार्यादिना यस्मिन् स्थाने स्थापितः, तद्यथा—दर्शने वा चरणे वा, 'सः' शिष्यः 'तं' गुरुं 'ततः' दर्शनाद् चरणाद्वा च्युतं 'तत्रैव' दर्शने चरणे वा 'कृत्वा' स्थापयित्वा 'निर्ऋणः' ऋणमुक्तो भवति, कृतप्रत्युपकार इत्यर्थः ॥ ५४९१ ॥

अथ "कप्पइ तेसिं कारणं दीवित्ता" इत्यादिसूत्रावयवं व्याचष्टे—

तीसु वि दीवियकज्जा, विसज्जिता जइ य तत्थ तं णत्थि ।

'त्रिष्वपि' ज्ञान-दर्शन-चारित्रेषु व्रजन्तो भिक्षुप्रभृतयः 'दीपितकार्याः' पूर्वोक्तविधिना निवेदितस्वप्रयोजना गुरुणा विसर्जिता गच्छन्ति । यदि च 'तत्र' गच्छे 'तद्' अवसन्नतादिकं कारणं नास्ति तत उपसम्पद्यते, नान्यथेति ॥

सूत्रम्—

**गणावच्छेइए य इच्छिज्जा अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावित्तए, नो से कप्पइ गणावच्छेइयत्तं अनिक्खिवित्ता अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावित्तए; कप्पइ से गणावच्छेइयत्तं निक्खिवित्ता अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावित्तए । नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावित्तए; कप्पइ से आपुच्छित्ता जाव उद्दिसावित्तए । नो से कप्पति तेसिं कारणं अदीवित्ता अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावित्तए; कप्पइ से तेसिं कारणं दीवित्ता अन्नं जाव उद्दिसावित्तए २७ ॥**

**आयरिय-उवज्झाए इच्छिज्जा अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावित्तए, नो से कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्तं अनिक्खिवित्ता अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावित्तए; कप्पइ से आयरिय-उवज्झायत्तं निक्खिवित्ता अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावित्तए । णो से कप्पति अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अन्नं आयरिय-उवज्झायं**

**उद्दिसावित्तए; कप्पति से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावित्तए। ते य से वितरंति एवं से कप्पति जाव उद्दिसावित्तए; ते य से णो वियरंति एवं से नो कप्पइ जाव उद्दिसावित्तए। णो से कप्पइ तेसिं कारणं अदीवित्ता अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावित्तए; कप्पइ से तेसिं कारणं दीवित्ता जाव उद्दिसावित्तए २८॥**

सूत्रद्वयस्य व्याख्या प्राग्वत्॥ अथ भाष्यम्—

**णिक्खिविय वयंति दुवे, भिक्खू किं दाणि णिक्खिवतु॥ ५४९२॥**

"निक्खिविय वयंति दुवे" इत्यादि पश्चार्द्धम्। 'द्वौ' गणावच्छेदिक आचार्योपाध्यायश्च यथाक्रमं गणावच्छेदिकत्वमाचार्योपाध्यायत्वं च निक्षिप्य व्रजतः। यस्तु भिक्षुः स किमिदानीं निक्षिपतु? गणाभावाद् न किमपि तस्य निक्षेपणीयमस्ति, अत एव सूत्रे तस्य निक्षेपणं नोक्तमिति भावः॥ ५४९२॥ अथ गणावच्छेदिका-ऽऽचार्ययोर्गणनिक्षेपणे विधिमाह—

**दुण्हऽट्ठाए दुण्ह वि, निक्खिवणं होइ उज्जमंतेसु।**
**सीअंतेसु अ सगणो, वच्चइ मा ते विणासिज्जा॥ ५४९३॥**

'द्वयोः' ज्ञान-दर्शनयोरर्थाय गच्छतोः 'द्वयोरपि' गणावच्छेदिका-ऽऽचार्ययोः स्वगणस्य निक्षेपणं ये 'उद्यच्छन्तः' संविग्ना आचार्यास्तेषु भवति। अथ सीदन्तस्ते ततः 'सगणः' स्वगणं गृहीत्वा व्रजति न पुनस्तेषामन्तिके निक्षिपति। कुतः? इत्याह—मा 'ते' शिष्यास्तत्र मुक्ता विनश्येयुः॥ ५४९३॥ इदमेव भावयति—

**वत्तम्मि जो गमो खलु, गणवच्छे सो गमो उ आयरिए।**
**निक्खिवणे तम्मि चत्ता, जमुद्दिसे तम्मि ते पच्छा॥ ५४९४॥**

यो गम उभयव्यक्ते भिक्षावुक्तः स एव गणावच्छेदिके आचार्ये च मन्तव्यः। नवरम्—गणनिक्षेपं कृत्वा तौ आत्मद्वितीयौ आत्मतृतीयौ वा व्रजतः। तत्र स्वगच्छ एव यः संविग्नो गीतार्थ आचार्यादिस्तत्रात्मीयसाधून् निक्षिपति। अथासंविग्नस्य पार्श्वे निक्षिपति ततः ते साधवः परित्यक्ता मन्तव्याः, तस्माद् न निक्षेपणीयाः किन्तु येन तेन प्रकारेणात्मना सह नेतव्याः। ततो यमाचार्यं स गणावच्छेदिक आचार्यो वा उद्दिशति तस्मिन् 'तान्' आत्मीयसाधून् पश्चाद् निक्षिपति, यथा अहं युष्माकं शिष्यस्तथा इमेऽपि युष्मदीयाः शिष्या इति

---

१ °चार्योपाध्याययोर्ग° कां०॥ २ °चार्योपाध्याययोः स्व° कां०॥ ३ स्वकीयगणसहित एव व्रज° कां०॥ ४ °चार्योपाध्याये च म° कां०॥ ५ °चार्योपाध्यायो वा कां०॥

भावः ॥ ५४९४ ॥ इदमेवाह—

**जह अप्पगं तहा ते, तेण पहुप्पंते ते ण घेत्तव्वा ।**
**अपहुप्पंते गिण्हइ, संघाडं मुत्तु सव्वे वा ॥ ५४९५ ॥**

यथा आत्मानं तथा तानपि साधून् निवेदयति । 'तेनापि' आचार्येण पूर्यमाणेषु साधुषु 'ते' प्रतीच्छकाचार्यसाधवो न ग्रहीतव्याः, तस्यैव तान् प्रत्यर्पयति । अथ वास्तव्याचार्यस्य साधवो न पूर्यन्ते तत एकं सङ्घाटकं तस्य प्रयच्छति, तं मुक्त्वा शेषानात्मना गृह्णाति । अथ वास्तव्याचार्यः सर्वथैवासहायस्ततः सर्वानपि गृह्णाति ॥ ५४९५ ॥

**सहु असहुस्स वि तेण वि, वेयावच्चाइ सव्व कायव्वं ।**
**ते तेसि अणाएसा, वावारेउं न कप्पंति ॥ ५४९६ ॥**

'तेनापि' प्रतीच्छकाचार्यादिना तस्याचार्यस्य सहिष्णोरसहिष्णोर्वा वैयावृत्यादिकं सर्वमपि कर्तव्यम् । 'तेऽपि' साधवः 'तेषां' आचार्याणामादेशमन्तरेण व्यापारयितुं न कल्पन्ते ॥ ५४९६ ॥

**॥ गणान्तरोपसम्पत्प्रकृतं समाप्तम् ॥**

---

## वि ष्व ग्भ व न प्र कृ त म्

सूत्रम्—

**भिक्खू य रातो वा वियाले वा आहच्च वीसुं भिज्जा, तं च सरीरगं केइ वेयावच्चकरे भिक्खू इच्छिज्जा एगंते बहुफासुए पएसे परिट्ठवित्तए, अत्थि याइं[2] थ केइ सागारियसंतिए उवगरणजाए अचित्ते परिहरणारिहे, कप्पइ से सागारिकडं गहाय तं सरीरगं एगंते बहुफासुए पएसे परिट्ठवित्ता तत्थेव उवनिक्खिवियव्वे सिया २९ ॥**

अस्य सम्बन्धमाह—

**तिहिँ कारणेहिँ अन्नं, आयरियं उद्दिसिज्ज तहिँ दुण्णि ।**
**मुत्तुं तइए पगयं, वीसुंभणसुत्तजोगोऽयं[3] ॥ ५४९७ ॥**

'त्रिभिः कारणैः' अवसन्नतादिभिरन्यमाचार्यमुद्दिशेदित्युक्तम् ( गा० ५४७४ ) । तत्राद्ये 'द्वे' अवसन्ना-ऽवधावितलक्षणे मुक्त्वा 'तृतीयेन' कालगतरूपेण कारणेन प्रकृतम्, तद्विषयो विधिरनेनाभिधीयत इति भावः । एष विष्वग्भवनसूत्रस्य 'योगः' सम्बन्धः ॥ ५४९७ ॥[4]

**अहवा संजमजीविय, भवग्गहणजीवियाउ विगए वा ।**

---

१ **अहगं तह एसे,** ताभा० ॥ २ अत्र "आइं" इत्यव्ययं वाक्यालङ्कारे ॥ ३ **विस्संभण°** ताभा० ॥
४ **प्रकारान्तरेण सम्बन्धमाह** इत्यवतरणं कां० ॥

अण्णुद्देसो वुत्तो, इमं तु सुत्तं भवच्चाए ॥ ५४९८ ॥

अथवा संयमजीविताद् भवग्रहणजीविताद्वा विगतेऽन्यस्याचार्यस्य उद्देशः पूर्वसूत्रे उक्तः। इदं तु सूत्रं भवजीवितपरित्यागविषयमारभ्यते ॥ ५४९८ ॥

अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य व्याख्या—भिक्षुः चशब्दाद् आचार्योपाध्यायौ वा रात्रौ वा विकाले वा "आहच्च" कदाचिद् 'विष्वग् भवेत्' जीव-शरीरयोः पृथग्भावमाप्नुयात्, म्रियत इत्यर्थः। तच्च शरीरकं 'कश्चिद्' वैयावृत्यकरो भिक्षुरिच्छेत् 'एकान्ते' विविक्ते 'बहुप्राशुके' कीटिकादिसत्त्वरहिते प्रदेशे परिष्ठापयितुम्। अस्ति चात्र किञ्चित् सागारिकसत्कं 'अचित्तं' निर्जीवं 'परिहरणार्हं' परिभोगयोग्यमुपकरणजातम्, वहनकाष्ठमित्यर्थः। कल्पते "से" तस्य भिक्षोस्तत् काष्ठं 'सागारिककृतं' 'सागारिकस्यैव सत्कमिदं नास्माकम्' इत्येवं गृहीत्वा तत् शरीरमेकान्ते बहुप्राशुके प्रदेशे परिष्ठापयितुम्। तच्च परिष्ठाप्य यतो गृहीतं तत् काष्ठं तत्रैवोपनिक्षेप्तव्यं स्यादिति सूत्रार्थः ॥ सम्प्रति निर्युक्तिविस्तरः—

पुव्विं दव्वोलोयण, नियमा गच्छे उवक्कमनिमित्तं ।
भत्तपरिण्ण गिलाणे, पुव्वुग्गहो थंडिलस्सेव ॥ ५४९९ ॥

यत्र साधवो मासकल्पं वर्षावासं वा कर्तुकामास्तत्र पूर्वमेव तिष्ठन्तः द्रव्यस्य—वहनकाष्ठादेरवलोकनं नियमाद् गच्छवासिनः कुर्वन्ति। किमर्थम्? इत्याह—उपक्रमः—मरणं तत् कस्यापि संयतस्य भवेदित्येवमर्थम्। तच्च मरणं कदाचिद् भक्तपरिज्ञावतो भवेत्, कदाचित् तु ग्लानस्य, उपलक्षणमिदम्, तेनाशुकारेण वा मरणं भवेत्, ततः पूर्वमेव महास्थण्डिलस्य वहनकाष्ठादेश्च 'अवग्रहः' प्रत्युपेक्षणं विधेयम् ॥ ५४९९ ॥ अथ द्वारगाथात्रयमाह—

पडिलेहणा दिसा णंतए य काले दिया व राओ य ।
जग्गण-बंधण-छेयण, एयं तु विहिं तहिं कुज्जा ॥ ५५०० ॥
कुसपडिमाइ णियत्तण, मत्तग सीसे तणाइँ उवगरणे ।
काउस्सग्ग पदाहिण, अब्भुट्ठाणे य वाहरणे ॥ ५५०१ ॥
काउस्सग्गे सज्झाइए य खमणस्स मग्गणा होइ ।
वोसिरणे ओलोयण, सुभा-ऽसुभगइ-निमित्तट्ठा ॥ ५५०२ ॥

वहनकाष्ठस्य स्थण्डिलस्य च प्रथमत एव प्रत्युपेक्षणं विधेयम्। "दिस" त्ति दिग्भागो निरूपणीयः। "णंतए य" त्ति औपग्रहिकानन्तकं मृताच्छादनार्थं गच्छे सदैव धारणीयम्; जातिप्रधानश्चायं निर्देशः, ततो जघन्यतोऽपि त्रीणि वस्त्राणि धारणीयानि। "काले दिया व राओ अ" त्ति दिवा रात्रौ वा कालगते विषादो न विधेयः। रात्रौ च स्थाप्यमाने मृतके जागरणं बन्धनं छेदनं च कर्तव्यम्। एवं विधिं तत्र कुर्यात् ॥

तथा नक्षत्रं विलोक्य कुशप्रतिमाया एकस्या द्वयोर्वा करणमकरणं वा। "नियत्तणि" त्ति येन प्रथमतो गताः न तेनैव पथा निवर्तनीयम्। मात्रके पानकं गृहीत्वा पुरत एकेन साधुना

१ °त्' विष्कम्भमाप्नु° कां० । "'आहच्च' कयाई 'वीसुं' पृथग् 'भेज्जा' भवेयुः, पृथक् शरीराज्जीवो म्रियत इत्यर्थः" इति चूर्णौ विशेषचूर्णौ च ॥ २ किम्? इ° मो० डे० ॥

गन्तव्यम् । यस्यां दिशि ग्रामस्ततः शीर्षं कर्तव्यम् । तृणानि समानि प्रस्तरणीयानि । 'उपकरणं' रजोहरणादिकं तस्य पार्श्वे धारणीयम् । अविधिपरिष्ठापनायाः कायोत्सर्गः स्थण्डिले स्थितैर्न कर्तव्यः । निवर्तमानैः प्रादक्षिण्यं न विधेयम् । शवस्य चाभ्युत्थाने वसत्यादिकं परित्यजनीयम् । यस्य च संयतस्य 'व्याहरणं' नामग्रहणं स करोति तस्य लोचः कर्तव्यः ॥ गुरुसकाशमागतैः कायोत्सर्गो विधेयः । स्वाध्यायकस्य क्षपणस्य च मार्गणा कर्तव्या । उच्चारादिमात्रकाणां व्युत्सर्जनं कर्तव्यम् । अपरेऽह्नि तस्यावलोकनं शुभा-ऽशुभगतिज्ञानार्थं निमित्तग्रहणार्थं च विधेयमिति द्वारगाथात्रयसमासार्थः ॥ ५५०० ॥ ५५०१ ॥ ५५०२ ॥

अथैतदेव विवरीषुराह—

**जं दव्वं घणमसिणं, वावारजढं च चिट्ठए बलियं ।**
**वेणुमय दारुगं वा, तं वहणट्ठा पलोयंति ॥ ५५०३ ॥**

यद् द्रव्यं वेणुमयं दारुकं वा घनमसृणं 'व्यापारमुक्तम्' अवहमानकं 'बलीयः' दृढतरं सागारिकस्य गृहे तिष्ठति तत् कालगतस्य वहनार्थं प्रथममेव प्रलोकयन्ति, महास्थण्डिलं च प्रत्युपेक्षणीयम् ॥ ५५०३ ॥ अथ न प्रत्युपेक्षन्ते तत इमे दोषाः—

**अत्थंडिलम्मि काया, पवयणघाओ य होइ आसण्णे ।**
**छड्डावण गहणाई, परुग्गहे तेण पेहिज्जा ॥ ५५०४ ॥**

अस्थण्डिले परिष्ठापयन् षट् कायान् विराधयति । प्रवचनघातश्च ग्रामादेरासन्ने परिष्ठापयतो भवति । परावग्रहे च परिष्ठापयतः छर्दापनं भवेत् । छर्दापनं नाम—ते बलादपि साधुपार्श्वादन्यत्र तं शवं परित्याजयेयुः । ग्रहणा-ऽऽकर्षणादयो दोषा भवेयुः । ततो महास्थण्डिलमवश्यं प्रागेव प्रत्युपेक्षेत ॥ ५५०४ ॥ गतं प्रत्युपेक्षणाद्वारम् । अथ दिग्द्वारमाह—

**दिस अवरदक्खिणा दक्खिणा य अवरा य दक्खिणापुव्वा ।**
**अवरुत्तरा य पुव्वा, उत्तर पुव्वुत्तरा चेव ॥ ५५०५ ॥**

प्रथमम् 'अपरदक्षिणा' नैर्ऋती दिग् निरीक्षणीया, तदभावे दक्षिणा, तस्या अभावेऽपरा, तदभावे 'दक्षिणपूर्वा' आग्नेयी, तदलाभे 'अपरोत्तरा' वायवी, तस्या अभावे पूर्वा, तदभावे उत्तरा, तदभावे उत्तरपूर्वा ॥ ५५०५ ॥

सम्प्रति प्रथमायां दिशि सत्यां शेषदिक्षु परिष्ठापने दोषानाह—

**समाही य भत्त-पाणे, उवकरणे तुमंतुमा य कलहो य ।**
**भेदो गेलन्नं वा, चरिमा पुण कड्डए अण्णं ॥ ५५०६ ॥**

प्रथमायां दिशि शवस्य परिष्ठापने प्रचुरान्न-पान-वस्त्रलाभतः समाधिर्भवति । तस्यां सत्यां यदि दक्षिणस्यां परिष्ठापयन्ति तदा भक्त-पानं न लभन्ते, अपरस्यामुपकरणं न प्राप्नुवन्ति, दक्षिणपूर्वस्यां तुमन्तुमा परस्परं साधूनां भवति, अपरोत्तरस्यां कलहः संयत-गृहस्था-ऽन्यतीर्थिकैः समं भवति, पूर्वस्यां गणभेदश्चारित्रभेदो वा भवेत्, उत्तरस्यां ग्लानत्वम्, 'चरमा' पूर्वोत्तरा सा कृतमृतकपरिष्ठापना अन्यं साधुमाकर्षति, मारयतीत्यर्थः ॥ ५५०६ ॥

**आसन्न मज्झ दूरे, वाघातट्ठा तु थंडिले तिन्नि ।**

**खेत्तुदय-हरिय-पाणा, णिविट्ठमादी व वाघाए ॥ ५५०७ ॥**

प्रथमायामपि दिशि त्रीणि स्थण्डिलानि प्रत्युपेक्षणीयानि—ग्रामादेरासन्ने मध्ये दूरे च । किमर्थं पुनस्त्रीणि प्रत्युपेक्ष्यन्ते ? इत्याह—व्याघातार्थम्, व्याघातः कदाचिद् भवेदित्यर्थः । स चायम्—क्षेत्रं तत्र प्रदेशे कृष्टम्, उदकेन वा भावितम्, हरितकायो वा जातः, त्रसप्राणिभिर्वा संसक्तं समजनि, ग्रामो वा निविष्टः, आदिग्रहणेन सार्थो वा आवासितः । एवमादिको व्याघातो यदि आसन्नस्थण्डिले भवति तदा मध्ये परिष्ठापयन्ति, तत्रापि व्याघाते दूरे परिष्ठापयन्ति । अथ प्रथमायां दिशि विद्यमानायां द्वितीयायां तृतीयायां वा प्रत्युपेक्षन्ते ततश्चतुर्गुरुकाः ॥ ५५०७ ॥ एते च दोषाः—

**एसणपेल्लण जोगाण व हाणी भिण्ण मासकप्पो वा ।**
**भत्तोवधीअभावे, इति दोसा तेण पढमम्मि ॥ ५५०८ ॥**

भक्त-पानालाभाद् उपधेरलाभाच्च एषणाप्रेरणं कुर्युः । अथैषणां न प्रेरयेयुः ततः 'योगानाम्' आवश्यकव्यापाराणां हानिः । अपरं वा क्षेत्रं गच्छतां मासकल्पो भिन्नो भवेत् । एवमादयो दोषा भक्तोपध्योरभावे भवन्ति ततः प्रथमे दिग्भागे महास्थण्डिलं प्रत्युपेक्षणीयम् ॥ ५५०८ ॥

**एमेव सेसियासु वि, तुमंतुमा कलह भेद मरणं वा ।**
**जं पावंति सुविहिया, गणाहिवो पाविहिति तं तु ॥ ५५०९ ॥**

यथा द्वितीयायां तृतीयायां च दोषा उक्ता एवमेव 'शेषास्वपि' चतुर्थ्यादिषु यत् तुमन्तुमाकरणं कलहं गणभेदं मरणं वा सुविहिताः प्राप्नुवन्ति तद् गणाधिपः सर्वमपि प्राप्स्यति । अथ प्रथमायां व्याघातस्ततो द्वितीयायामपि प्रत्युपेक्षणीयम् । तस्यां च स एव भक्त-पानलाभलक्षणो गुणो भवति यः प्रथमायामुक्तः । अथ द्वितीयस्यां विद्यमानायां तृतीयायां प्रत्युपेक्षन्ते ततः स एव प्रागुक्तो दोषः, एवमष्टमीं दिशं यावद् नेतव्यम् । अथ द्वितीयस्यां व्याघातस्ततस्तृतीयस्यां प्रत्युपेक्षणीयम्, तस्यां च स एव गुणो भवति । एवमुत्तरोत्तरदिक्ष्वपि भावनीयम् ॥ ५५०९ ॥ गतं दिग्द्वारम् । अथ णन्तकद्वारमाह—

**वित्थारा-ऽऽयामेणं, जं वत्थं लब्भती समतिरेगं ।**
**चोक्ख सुतिगं च सेतं, उवक्कमट्ठा धरेतव्वं ॥ ५५१० ॥**

विस्तारेणायामेन च यद् वस्त्रप्रमाणमर्द्धतृतीयहस्तादिकं तृतीयोद्देशके भणितं ततो यद् वस्त्रं समतिरेकं लभ्यते । कथम्भूतम् ? "चोक्खं" धवलितं 'शुचिकं नाम' सुगन्धि 'श्वेतं' पाण्डुरम् । एवंविधं जीवितोपक्रमार्थं गच्छे धारयितव्यम् ॥ ५५१० ॥

गणनाप्रमाणेन तु तानि त्रीणि भवन्ति, तद्यथा—

**अत्थुरणट्ठा एगं, बिइयं छोढुमुवरिं घणं बंधे ।**
**उक्कोसयरं उवरिं, बंधादीछादणट्ठाए ॥ ५५११ ॥**

एकं तस्य मृतकस्याध आस्तरणार्थं द्वितीयं पुनः प्रक्षिप्योपरि घनं बध्नीयात् । किमुक्तं भवति ?—द्वितीयेन तद् मृतकं प्रावृत्योपरि दवरकेण घनं बध्यते । तृतीयम् 'उत्कृष्टतरम्'

१ वस्त्रस्य प्रमाणं यथाक्रममर्धतृतीयहस्तचतुष्टयलक्षणं तृतीयोद्दे° कां० ॥

अतीवोज्ज्वलं बन्धादिच्छादनार्थं तदुपरि स्थापनीयम् । एवं जघन्यतस्त्रीणि वस्त्राणि ग्रहीतव्यानि । उत्कर्षतस्तु गच्छं ज्ञात्वा बहून्यपि गृह्णन्ते ॥ ५५११ ॥

एतेसिं अग्गहणे, चउगुरु दिवसम्मि वण्णिया दोसा ।
रत्तिं च पडिच्छंते, गुरुगा उट्ठाणमादीया ॥ ५५१२ ॥

'एतेषाम्' एवंविधानां त्रयाणां वस्त्राणामग्रहणे चतुर्गुरु प्रायश्चित्तम् । मलिनवस्त्रप्रावृते च तस्मिन् दिवसतो नीयमाने 'दोषाः' अवर्णवादादयो वर्णिताः । अथैतद्दोषभयाद् 'रात्रौ परिष्ठापयिष्यामि' इति बुद्ध्या मृतकं प्रतीक्षापयति ततश्चतुर्गुरुका उत्थानादयश्च दोषाः ॥ ५५१२ ॥ कथं पुनरवर्णवादादयो दोषाः ? इत्याह—

उज्झाइए अवण्णो, दुविह णियत्ती य मइलवसणाणं ।
तम्हा तु अहत कसिणं, धरेंति पक्खस्स पडिलेहा ॥ ५५१३ ॥

"उज्झाइए" मलिनकुचेले तस्मिन् नीयमानेऽवर्णो भवति—अहो ! अमी वराका मृता अपि शोभां न लभन्ते । मलिनवस्त्राणां च दर्शने द्विविधा निवृत्तिर्भवति, सम्यक्त्वं प्रव्रज्यां च ग्रहीतुकामाः प्रतिनिवर्तन्ते । शुचि-श्वेतवस्त्रदर्शने तु लोकः प्रशंसति—अहो ! शोभनो धर्म इति । यत एवं तस्माद् 'अहतम्' अपरिभुक्तं 'कृत्स्नं' प्रमाणतः प्रतिपूर्णं वस्त्रत्रिकं धारणीयम् । पक्षस्य चान्ते तस्य प्रत्युपेक्षणा कर्तव्या, दिवसे दिवसे प्रत्युपेक्ष्यमाणं हि मलिनीभवेत् ॥ ५५१३ ॥ गतं णन्तकद्वारम् । अथ "दिवा रात्रौ वा कालगतः" इति द्वारमाह—

आसुक्कार गिलाणे, पच्चक्खाए व आणुपुव्वीए ।
दिवसस्स व रत्तीइ व, एगतरे होज्जऽवक्कमणं ॥ ५५१४ ॥

आशु—शीघ्रं सजीवस्य निर्जीवीकरणमाशुकारः, तत्कारणत्वाद् अहि-विष-विशूचिकादयोऽप्याशुकारा उच्यन्ते, तैः 'अपक्रमणं' मरणं कस्यापि भवेत् । 'ग्लानत्वेन वा' मान्द्येन कोऽपि म्रियेत । 'आनुपूर्व्या वा' शरीरपरिकर्मणाक्रमेण भक्ते प्रत्याख्याते सति कश्चित् कालधर्मं गच्छेत् । एवं दिवस-रजन्योरेकतरस्मिन् काले जीवितादपक्रमणं भवेत् ॥ ५५१४ ॥

एव य कालगयम्मि, मुणिणा सुत्त-ऽत्थगहितसारेणं ।
न विसातो गंतव्वो, कातव्व विधीय वोसिरणं ॥ ५५१५ ॥

'एवम्' एतेन प्रकारेण कालगते सति साधौ सूत्रा-ऽर्थगृहीतसारेण मुनिना न विषादो गन्तव्यः, किन्तु कर्तव्यं तस्य कालगतस्य विधिना व्युत्सर्जनम् ॥ ५५१५ ॥ कथम् ? इत्याह—

आयरिओ गीतो वा, जो व कडाई तहिं भवे साहू ।
कायव्वो अखिलविही, न तु सोग भया व सीतेज्जा ॥ ५५१६ ॥

यस्तत्राचार्योऽपरो वा गीतार्थो यो वा अगीतार्थोऽपि 'कृतादिः' ईदृशे कार्ये कृतकरणः आदिशब्दाद् धैर्यादिगुणोपेतः साधुर्भवति तेनाखिलोऽपि विधिः कर्तव्यः, न पुनः शोकाद् भयाद्वा तत्र 'सीदेत्' यथोक्तविधिविधाने प्रमादं कुर्यात् ॥ ५५१६ ॥

---

१ °हणे, गुरुगा दिव° ताभा० ॥ २ °हणे उपलक्षणत्वाद् अधारणे च चतु° कां० ॥ ३ °ण संलेखनापुरस्सरं भक्ते कां० ॥

किमालम्ब्य शोक-भये न कर्त्तव्ये ? इत्याह—

**सव्वे वि मरणधम्मा, संसारी तेण कासि मा सोगं ।**
**जं चऽप्पणो वि होहिति, किं तत्थ भयं परगयम्मि ॥ ५५१७ ॥**

सर्वेऽपि संसारिणो जीवा मरणधर्माण इत्यालम्ब्य शोकं मा कार्षीः । यच्च मरणमात्मनोऽपि कालक्रमेण भविष्यति तत्र 'परगते' परस्य सञ्जाते किं नाम भयं विधीयते ? न किञ्चिदित्यर्थः ॥ ५५१७ ॥ गतं "दिवा रात्रौ वा" इति द्वारम् । अथ जागरण-बन्धन-च्छेदनद्वारमाह—

**जं वेलं कालगतो, निक्कारण कारणे भवे निरोधो ।**
**जग्गण बंधण छेदण, एतं तु विहिं तहिं कुज्जा ॥ ५५१८ ॥**

दिवा रजन्यां वा यस्यां वेलायां कालगतस्तस्यामेव वेलायां निष्काशनीयः । एवं निष्कारणे उक्तम् । कारणे तु निरोधोऽपि भवेत् । निरोधो नाम-कियन्तमपि कालं प्रतीक्षाप्यते । तत्र च जागरणं बन्धनं छेदनं 'एतम्' एवमादिकं विधिं वक्ष्यमाणनीत्या कुर्यात् ॥ ५५१८ ॥

कैः पुनः कारणैः स प्रतीक्षाप्यते ? इत्याह—

**हिम-तेण-सावयभया, पिहिता दारा महाणिणादो[2] वा ।**
**ठवणा नियगा व तहिं, आयरिय महातवस्सी वा ॥ ५५१९ ॥**

रात्रौ दुरधिसहं हिमं पतति, स्तेनभयात् श्वापदभयाद्वा न निर्गन्तुं शक्यते । नगरद्वाराणि वा तदानीं पिहितानि । 'महानिनादो वा' महाजनज्ञातः स तत्र ग्रामे नगरे वा । 'स्थापना वा' तत्र ग्रामादौ ईदृशी व्यवस्था, यथा—रात्रौ मृतकं न निष्काशनीयम् । 'निजका वा' संज्ञातकास्तत्र सन्ति ते भणन्ति—अस्माकमनापृच्छया न निष्काशनीयः । आचार्यो वा स तत्र नगरेऽतीव लोकविख्यातः । 'महातपस्वी वा' प्रभूतकालपालितानशनो मासादिक्षपको वा । एतैः कारणै रजन्यां प्रतीक्षाप्यते ॥ ५५१९ ॥ दिवा पुनरेभिः कारणैः प्रतीक्षापयेत्—

**णंतक असती राया, वऽतीति संतेपुरो पुरवती तु ।**
**णीति व जणणिवहेणं, दार निरुद्धाणि णिसि तेणं ॥ ५५२० ॥**

'णन्तकानां' शुचि-श्वेतवस्त्राणामभावे दिवा न निष्काश्यते । राजा वा सान्तःपुरः पुरपतिर्वा नगरम् 'अतियाति' प्रविशति 'जननिवहेन वा' महता भट-भोजिकादिवृन्देन नगराद् निर्गच्छति ततो द्वाराणि निरुद्धानि, तेन निशि निष्काश्यते । एवं दिवाऽपि प्रतीक्षापणं भवेत् ॥ ५५२० ॥ अत्र चायं विधिः—

**वातेण अणक्कंते, अभिणवमुक्कस्स हत्थ-पादे उ ।**
**कुव्वंतऽहापणिहिते, मुह-णयणाणं च संपुडणं ॥ ५५२१ ॥**

वातेन यावद् अद्यापि शरीरकम् आक्रान्तं—स्तब्धं न भवति तावद् अभिनवजीवितमुक्तस्य हस्त-पादान् 'यथाप्रणिहितान्' प्रगुणतया लम्बमानान् कुर्वन्ति, मुख-नयनानां च 'सम्पुटनं' सम्मीलनं कुर्वन्ति ॥ ५५२१ ॥ जागरणादिविधिमाह—

---

१ वा "जं वेलं" त्ति विभक्तिव्यत्ययाद् यस्यां कां० ॥ २ महाणणातो वा ताभा० । "महाणिणादो व त्ति महायणणादो वा सो" इति चूर्णौ विशेषचूर्णौ च ॥

जितणिद्दुवायकुसला, ओरस्सबली य सत्तजुत्ता य ।
कतकरण अप्पमादी, अभीरुगा जागरंति तहिं ॥ ५५२२ ॥

जितनिद्रा उपायकुशलाः 'औरसबलिनः' महापराक्रमाः 'सत्त्वयुक्ताः' धैर्यसम्पन्नाः कृतकरणा अप्रमादिनोऽभीरुकाश्च ये साधवस्ते तत्र तदानीं जाग्रति ॥ ५५२२ ॥

जागरणट्ठाएँ तहिं, अन्नेसिं वा वि तत्थ धम्मकहा ।
सुत्तं धम्मकहं वा, मधुरगिरो उच्चसद्देणं ॥ ५५२३ ॥

जागरणार्थं तत्र तैरन्योन्यं 'अन्येषां वा' श्राद्धादीनां धर्मकथा कर्तव्या । स्वयं वा सूत्रं 'धर्मकथां वा' धर्मप्रतिबद्धामाख्यायिकां मधुरगिर उच्चशब्देन गुणयन्ति ॥ ५५२३ ॥

अथ बन्धन-च्छेदनपदे व्याख्याति—

कर-पायंगुट्ठे दोरेण बंधिउं पुत्तीए मुहं छाए ।
अक्खयदेहे खणणं, अंगुलिविच्चे ण बाहिरतो ॥ ५५२४ ॥

'कर-पादाङ्गुष्ठान्' कराङ्गुष्ठद्वयं पादाङ्गुष्ठद्वयं च दवरकेण बद्ध्वा मुखपोतिकया मुखं छादयेत्, एतद् बन्धनमुच्यते । तथा अक्षतदेहे तस्मिन् "अंगुलीविच्चे" अङ्गुलीमध्ये चीरकेै 'खननम्' ईषत्फालनं क्रियते न बाह्यतः, एतत् छेदनं मन्तव्यम् ॥ ५५२४ ॥

अण्णाइट्ठसरीरे, पंता वा देवतऽत्थ उट्ठेज्जा ।
परिणामि डब्बहत्थेण बुज्झ मा गुज्झगा ! मुज्झ ॥ ५५२५ ॥

एवमपि क्रियमाणे यदि 'अन्याविष्टशरीरः' सामान्येन व्यन्तराधिष्ठितदेहः 'प्रान्ता वा' प्रत्यनीका काचिद् देवता 'अत्र' अवसरे तत्कलेवरमनुप्रविश्योत्तिष्ठेत् ततः 'परिणामिनीं' कायिकीं "डब्बहत्थेणं" ति वामहस्तेन गृहीत्वा तत् कडेवरं सेचनीयम् । इदं च वक्तव्यम्— बुध्यस्व बुध्यस्व गुह्यक ! 'मा मुह्य' मा प्रमादीः, संस्तारकाद् मा उत्तिष्ठति भावः ॥ ५५२५ ॥

वित्तासेज्ज रसेज्ज व, भीमं वा अट्टहास मुंचेज्जा ।
अभिएण सुविहिएणं, कायव्व विहीय वोसिरणं ॥ ५५२६ ॥

अन्याधिष्ठितं तत् कडेवरं 'वित्रासयेत्' विकरालरूपं दर्शयित्वा भापयेद् 'रसेद्वा' आरार्टिं मुञ्चेद् 'भीमं वा' रोमहर्षजनकं अट्टहासं मुञ्चेत् तथापि तत्राभीतेन सुविहितेन 'विधिना' पूर्वोक्तेन वक्ष्यमाणेन च व्युत्सर्जनं कर्तव्यम् ॥ ५५२६ ॥

गतं जागरणादिद्वारम् । अथ कुशप्रतिमाद्वारमाह—

दोण्णि य दिवड्ढखेत्ते, दब्भमया पुत्तगऽत्थ कायव्वा ।
समखेत्तम्मि य एको, अवड्ढ अभिए ण कायव्वो ॥ ५५२७ ॥

कालगते सति संयते नक्षत्रं विलोक्यते । यदि न विलोकयति ततश्चतुर्गुरु । ततो नक्षत्रे विलोकिते यदि सार्द्धक्षेत्रं तदानीं नक्षत्रम्, सार्द्धक्षेत्रं नाम—पञ्चचत्वारिंशन्मुहूर्तभोग्यं सार्द्धदिनभोग्यमिति यावत्, तदा दर्भमयौ द्वौ पुत्रकौ कर्तव्यौ । यदि न करोति तदाऽपरं साधु-

१ °ला इति द्वयमपि प्रकटार्थम्, 'औ°' कां० ॥ २ एतदनन्तरं कां० ग्रन्थाग्रम्—४००० इति वर्त्तते ॥ ३ °रकप्रदेशे 'ख' कां० ॥ ४ °वलऽत्थ ताभा० ॥

द्वयमाकर्षति । तानि च सार्द्धक्षेत्राणि नक्षत्राणि षड् भवन्ति, तद्यथा—उत्तराफाल्गुन्य उत्तराषाढा उत्तराभद्रपदाः पुनर्वसू रोहिणी विशाखा चेति । अथ समक्षेत्रं–त्रिंशन्मुहूर्तभोग्यं यदा नक्षत्रं तत एकः पुत्तलकः कर्तव्यः 'एष ते द्वितीयः' इति च वक्तव्यम् । अकरणेऽपरमेकमाकर्षति । समक्षेत्राणि चामूनि पञ्चदश—अश्विनी कृत्तिका मृगशिरः पुष्यो मघाः पूर्वाफाल्गुन्यो हस्तश्चित्रा अनुराधा मूलं पूर्वाषाढाः श्रवणो धनिष्ठाः पूर्वभद्रपदा रेवती चेति । अथापार्द्धक्षेत्रं–पञ्चदशमुहूर्तभोग्यं तद् नक्षत्रम् अभीचिर्वा तत एकोऽपि पुत्तलको न कर्तव्यः । अपार्द्धक्षेत्राणि चामूनि षड्—शतभिषग् भरणी आर्द्रा अश्लेषा स्वातिर्ज्येष्ठा चेति ॥ ५५२७ ॥

अथ निवर्तनद्वारमाह—

**थंडिलवाघाएणं, अहवा वि अतिच्छिए अणाभोगा ।**
**भमिऊण उवागच्छे, तेणेव पहेण न नियत्ते ॥ ५५२८ ॥**

तत्र नीयमाने स्थण्डिलस्योदक-हरितादिभिर्व्याघातो भवेत्, अनाभोगेन वा स्थण्डिलमतिक्रान्तं भवेत्, ततः 'भ्रमित्वा' प्रदक्षिणामकुर्वाणा उपागच्छेयुः, तेनैव पथा न निवर्तेरन् ॥ ५५२८ ॥ जइ तेणेव मग्गेण नियत्तंति तो असमायारी, कयाइ उट्ठेज्जा, सो य जओ चेव उट्ठइ तओ चेव पहावइ, तत्थ जओ गामो ततो धाविज्जा (आव० पारि० निर्यु० गा० ४७ हारि० टीका पत्र ६३५-२) तत एवं कर्त्तव्यम्—

**वाघायम्मि ठवेउं, पुव्वं व अपेहियम्मि थंडिल्ले ।**
**तह णेति जहा से कमा, ण होंति गामस्स पडिहुत्ता ॥ ५५२९ ॥**

स्थण्डिलस्य व्याघाते पूर्वं वा स्थण्डिलं न प्रत्युपेक्षितं ततस्तद् मृतकमेकान्ते स्थापयित्वा स्थण्डिलं च प्रत्युपेक्ष्य तथा भ्रमयित्वा नयति यथा तस्य 'क्रमौ' पादौ ग्रामं प्रति अभिमुखौ न भवतः ॥ ५५२९ ॥ अथ मात्रकद्वारमाह—

**सुत्त-ऽत्थतदुभयविऊ, पुरतो घेत्तूण पाणग कुसे य ।**
**गच्छति जइ सागरियं, परिट्ठवेऊण आयमणं ॥ ५५३० ॥**

सूत्रा-ऽर्थ-तदुभयवेदी मात्रकेऽसंसृष्टपानकं 'कुशांश्च' दर्भान् 'समच्छेदान्' परस्परमसम्बद्धान् हस्तचतुरङ्गुलप्रमाणान् गृहीत्वा पृष्ठतोऽनपेक्षमाणः[2] 'पुरतः' अग्रतः स्थण्डिलाभिमुखो गच्छति । दर्भाणामभावे चूर्णानि केशराणि वा गृह्यन्ते । यदि सागारिकं ततः शबं परिष्ठाप्य 'आचमनं' हस्त-पादशौचादिकं कर्तव्यम् । आचमनग्रहणेनेदं ज्ञापयति—यथा यथा प्रवचनोड्डाहो न भवति तथा तथा अपरमपि विधेयम् ॥ ५५३० ॥ अथ शीर्षद्वारमाह—

**जत्तो दिसाएँ गामो, तत्तो सीसं तु होइ कायव्वं ।**
**उट्ठेंतरक्खणट्ठा, अमंगलं लोगगरिहा य ॥ ५५३१ ॥**

यस्यां दिशि ग्रामस्ततः शीर्षं शबस्य प्रतिश्रयाद् नीयमानस्य परिष्ठाप्यमानस्य च कर्तव्यम् । किमर्थम् ? इत्याह—उत्तिष्ठतो रक्षणार्थम्, यदि नाम कथञ्चिदुत्तिष्ठते तथापि प्रति-

१ पूर्वमप्रत्युपेक्षितस्य स्थण्डिलस्य व्याघातेऽथवा पूर्वं स्थण्डिलं न प्रत्युपेक्षितं विस्मृतमित्यर्थः ततस्तद् मृत° कां० ॥ २ °ऽनवलोकमानः 'पु° कां० ॥

ग्रामाभिमुखं नागच्छतीति भावः । अपि च—यस्यां दिशि ग्रामस्तदभिमुखं पादयोः क्रियमाणयोरमङ्गलं भवति, लोकश्च गर्हां कुर्यात्—अहो ! अमी श्रमणका एतदपि न जानन्ति यद् ग्रामाभिमुखं शवं न क्रियते ॥ ५५३१ ॥ अथ तृणादिद्वारमाह—

कुसमुट्ठिएण एक्केणं, अव्वोच्छिण्णाएँ तत्थ धाराए ।
संथार संथरिज्जा, सव्वत्थ समो य कायव्वो ॥ ५५३२ ॥

यदा स्थण्डिलं प्रमार्जितं भवति तदा कुशमुष्टिनैकेनाव्यवच्छिन्नया धारया संस्तारकं संस्तरेत्, स च सर्वत्र समः कर्तव्यः ॥ ५५३२ ॥ विषमे एते दोषाः—

विसमा जति होज्ज तणा, उवरिं मज्झे तहेव हेट्ठा य ।
मरणं गेलन्नं वा, तिण्हं पि उ णिद्दिसे तत्थ ॥ ५५३३ ॥

'*विषमाणि*' *तृणानि यदि तस्मिन् संस्तारके उपरि वा मध्ये वाऽधस्ताद्वा भवेयुः तदा त्रयाणामपि मरणं ग्लानत्वं वा निर्दिशेत्* ॥ ५५३३ ॥ केषां त्रयाणाम् ? इत्याह—

उवरिं आयरियाणं, मज्झे वसभाण हेट्ठि भिक्खूणं ।
तिण्हं पि रक्खणट्ठा, सव्वत्थ समा य कायव्वा ॥ ५५३४ ॥

उपरि विषमेषु तृणेषु आचार्याणां मध्ये वृषभाणामधस्ताद् भिक्षूणां मरणं ग्लानत्वं वा भवेत्, अतस्त्रयाणामपि रक्षणार्थं सर्वत्र समानि तृणानि कर्तव्यानि ॥ ५५३४ ॥

जत्थ य नत्थि तिणाइं, चुण्णेहिँ तत्थ केसरेहिँ वा ।
कायव्वोऽत्थ ककारो, हेट्ठ तकारं च बंधेज्जा ॥ ५५३५ ॥

यत्र तृणानि न सन्ति तत्र चूर्णैर्वा नागरकेशरैर्वाऽव्यवच्छिन्नया धारया ककारः कर्तव्यः तस्याधस्तात् तकारं च बध्नीयात्, क्त इत्यर्थः । चूर्णानां केशराणां चाभावे प्रलेपकादिभिरपि क्रियते ॥ ५५३५ ॥ अथोपकरणद्वारमाह—

चिंधट्ठा उवगरणं, दोसा तु भवे अचिंधकरणम्मि ।
मिच्छत्त सो व राया, कुणति गामाण वहकरणं ॥ ५५३६ ॥

परिष्ठाप्यमाने चिह्नार्थं यथाजातमुपकरणं पार्श्वे स्थापनीयम् । तद्यथा—रजोहरणं मुखपोतिका चोलपट्टकः । यदि एतद् न स्थापयन्ति ततश्चतुर्गुरु । आज्ञादयश्च दोषाः चिह्नस्याकरणे भवन्ति । 'स वा' कालगतो मिथ्यात्वं गच्छेत् । राजा वा जनपरम्परया तं ज्ञात्वा 'कश्चिद् मनुष्योऽमीभिरपद्रावितः' इति बुद्ध्या कुपितः प्रत्यासन्नवर्तिनां द्वित्र्यादीनां ग्रामाणां वधं कुर्यात् ॥ ५५३६ ॥ अथैतदेव भावयति—

उवगरणमहाजाते, अकरणे उज्जेणिभिक्खुदिट्ठंतो ।
लिंगं अपेच्छमाणो, काले वइरं तु पाडेत्ति ॥ ५५३७ ॥

यथाजातमुपकरणं यदि तस्य पार्श्वे न कुर्वन्ति ततोऽसौ देवलोकगतः प्रयुक्तावधिः 'अहमनेन गृहलिङ्गेन परलिङ्गेन वा देवो जातः' इति मिथ्यात्वं गच्छेत् । उज्जयिनीभिक्षुदृष्टान्तश्चात्र भवति, स चावश्यकटीकातो मन्तव्यः ( आव० हारि० टीका पत्र ८१३–१ ) । यस्य

---

१ °मीभिरेतद्ग्रामवास्तव्यैरप' कां० ॥ २ वधकरणं कुर्यात्, विनाशमित्यर्थः ॥ कां० ॥

वा ग्रामस्य पार्श्वे परिष्ठापितः तत्र तत्पार्श्वे लिङ्गमपश्यन् लोको राजानं विज्ञपयेत्। स च 'केनाप्यपद्रावितोऽयम्' इति मत्वा कालेन प्रतिवैरं पातयति, वैरं निर्यातयतीति भावः ॥ ५५१७ ॥ कायोत्सर्गद्वारमाह—

उट्ठाणाई दोसा, हवंति तत्थेव काउसग्गम्मि ।
आगम्मुवस्सयं गुरुसमीव अविहीय उस्सग्गो ॥ ५५३८ ॥

'तत्रैव' परिष्ठापनभूमिकायां कायोत्सर्गे क्रियमाणे उत्थानादयो दोषा भवन्ति, अत उपाश्रयमागम्य गुरुसमीपेऽविधिपरिष्ठापनिकायाः कायोत्सर्गः कर्तव्यः ॥ ५५३८ ॥

प्रादक्षिण्यद्वारमाह—

जो जहियं सो तत्तो, णियत्तइ पयाहिणं न कायव्वं ।
उट्ठाणादी दोसा, विराहणा बाल-वुड्ढाणं ॥ ५५३९ ॥

शवं परिष्ठाप्य यो यत्र भवति स ततो निवर्तते, प्रादक्षिण्यं न कर्तव्यम्। यदि कुर्वन्ति तत उत्थानादयो दोषा बाल-वृद्धानां च विराधना भवति ॥ ५५३९ ॥ अथाभ्युत्थानद्वारमाह—

जइ पुण अणीणिओ वा, णीणिज्जंतो विविंचिओ वा वि ।
उट्ठेज्ज समाइट्ठो, तत्थ इमा मग्गणा होति ॥ ५५४० ॥

यदि पुनः स कालगतोऽनिष्काशितो वा निष्काश्यमानो वा 'विविक्तो वा' परिष्ठापितो व्यन्तरसमाविष्ट उत्तिष्ठेत् ततस्तत्रेयं मार्गणा भवति ॥ ५५४० ॥

वसहि निवेसण साही, गाममज्झे य गामदारे य ।
अंतर उज्जाणंतर, णिसीहिया उट्ठिते वोच्छं ॥ ५५४१ ॥

वसतौ वा स उत्तिष्ठेत्, 'निवेशने वा' पाटके 'साहिकायां वा' गृहपङ्क्तिरूपायां ग्राममध्ये वा ग्रामद्वारे वा ग्रामोद्यानयोरन्तरा वा उद्याने वा उद्यान-नैषेधिक्योरन्तरा वा 'नैषेधिक्यां वा' शवपरिष्ठापनभूम्याम्, एतेषु उत्थिते यो विधिस्तं वक्ष्यामि ॥ ५५४१ ॥

प्रतिज्ञातमेव करोति—

उवस्सय निवेसण साही, गामद्धे दारें गामो मोत्तव्वो ।
मंडल कंड देसे, णिसीहियाए य रज्जं तु ॥ ५५४२ ॥

तत् कडेवरं नीयमानं यदि वसतावुत्तिष्ठति तत उपाश्रयो मोक्तव्यः। अथ निवेशने उत्तिष्ठति ततो निवेशनं मोक्तव्यम्। साहिकायामुत्थिते साहिका मोक्तव्या। ग्राममध्ये उत्थिते ग्रामार्द्धं मोक्तव्यम्। ग्रामद्वारे उत्थिते ग्रामो मोक्तव्यः। ग्रामस्य चोद्यानस्य चान्तरा यदि उत्तिष्ठति तदा विषयमण्डलं मोक्तव्यम्। उद्याने उत्थिते 'कण्डं' देशखण्डं मण्डलाद् बृहत्तरं परित्यक्तव्यम्। उद्यानस्य नैषेधिक्याश्चान्तराले उत्तिष्ठति देशः परिहर्तव्यः। नैषेधिक्यामुत्थिते राज्यं परिहरणीयम् ॥ ५५४२ ॥ एवं तावन्नीयमानस्योत्थाने विधिरुक्तः। परिष्ठापिते च तस्मिन् गीतार्था एकस्मिन् पार्श्वे मुहूर्तं प्रतीक्षन्ते, कदाचित् परिष्ठापितोऽप्युत्तिष्ठेत् तत्र चायं विधिः—

वच्चंते जो उ कमो, कलेवरपवेसणम्मि वोच्चत्थो ।

१ काले कियत्यपि गतेऽवसरं लब्ध्वा वैरं पा° कां० ॥ २ वा' उपाश्रयपक्षपाद° कां० ॥

**णवरं पुण णाणत्तं, गामद्दारम्मि बोद्धव्वं ॥ ५५४३ ॥**

'व्रजतां' निर्गच्छतां कडेवरस्योत्थाने यः क्रमो भणितः स एव विपर्यस्तः कडेवरस्य परिष्ठापितस्य भूयः प्रवेशने विज्ञेयः । नवरं पुनरत्र नानात्वं ग्रामद्वारे बोद्धव्यम्, तत्र वैपरीत्यं न भवति किन्तु तुल्यतैवेति भावः । तथा चात्र **वृद्धसम्प्रदायः**—

निसीहियाए परिट्ठविओ जइ उट्ठेत्ता तत्थेव पडिज्जा ताहे उवस्सओ मोत्तव्वो । निसीहियाए उज्जाणस्स य अंतरा पडइ निवेसणं मोत्तव्वं । उज्जाणे पडइ साही मोत्तव्वा । उज्जाणस्स य गामस्स य अंतरा पडइ गामद्धं मोत्तव्वं । गामद्दारे पडइ गामो मोत्तव्वो । गाममज्झे पडइ मंडलं मोत्तव्वं । साहीए पडइ देसखंडं मोत्तव्वं । निवेसणे पडइ देसो मोत्तव्वो । वसहीए पडइ रज्जं मोत्तव्वं ॥

अत्र निर्गमने प्रवेशने च ग्रामद्वारोत्थाने ग्रामत्याग एवोक्त इति ग्रामद्वारे तुल्यतैव न वैपरीत्यम् ॥ ५५४३ ॥ अथ परिष्ठापितो द्व्यादिवारान् वसतिं प्रविशति ततोऽयं विधिः—

**बिइयं वसहिमतिंते, तगं च अण्णं च मुचते रज्जं ।**
**तिप्पभितिं तिन्नेव उ, मुयंति रज्जाइँ पविसंते ॥ ५५४४ ॥**

निर्यूढो यदि द्वितीयं वारं वसतिं प्रविशति तदा तच्चान्यच्च राज्यं मुच्यते, राज्यद्वयमित्यर्थः । अथ 'त्रिप्रभृतीन्' त्रीन् चतुरो बहुशो वा वारान् वसतिं प्रविशति तदा त्रीण्येव राज्यानि मुञ्चति ॥ ५५४४ ॥

**असिवाई बहिया कारणेहिँ, तत्थेव वसंति जस्स जो उ तवो ।**
**अभिगहिया-ऽणभिगहितो, सा तस्स उ जोगपरिवुड्ढी ॥ ५५४५ ॥**

यदि बहिरशिवादिभिः कारणैर्न निर्गच्छन्ति ततस्तत्रैव वसतां यस्य यत् तपोऽभिगृहीतमनभिगृहीतं वा तेन तस्य वृद्धिः कर्तव्या, सा च योगपरिवृद्धिरभिधीयते । किमुक्तं भवति ?—ये नमस्कारप्रत्याख्यायिनस्ते पौरुषीं कुर्वन्ति, पौरुषीप्रत्याख्यायिनः पूर्वार्द्धं कृत्वा शक्तौ सत्यामाचाम्लं पारयन्ति, शक्तेरभावे निर्विकृतिकमेकासनकं यावद् द्व्यासनकमपि । यदाह **चूर्णिकृत्**—

सइ सामत्थे आयंबिलं पारिंति, असइ निव्वीयं एक्कासणयं, असमत्था सबीइयं पि त्ति ।

एवं पूर्वार्द्धप्रत्याख्यानिनश्चतुर्थम्, चतुर्थप्रत्याख्यातारः षष्ठम्, षष्ठप्रत्याख्यायिनोऽष्टमम्, एवं विस्तरेण विभाषा कर्तव्या ॥ ५५४५ ॥

एवं योगपरिवृद्धिं कुर्वतामपि यदि कदाचिदुत्थाय आगच्छेत् तदाऽयं विधिः—

**अण्णाइट्ठसरीरे, पंता वा देवतऽत्थ उट्ठिज्जा ।**
**काईय डब्बहत्थेण, भणेज्ज मा गुज्झया ! मुज्झा ॥ ५५४६ ॥**

गतार्था ( गा० ५५२५ ) ॥ ५५४६ ॥ अथ व्याहरणद्वारमाह—

**गिण्हइ णामं एगस्स दोण्ह अहवा वि होज्ज सव्वेसिं ।**

---

१ °ञ्चति नाधिकानीति ॥ ५५४४ ॥ अथाशिवादिकारणं भणित्वा बहिर्न निर्गच्छन्ति ततोऽयं विधिः—असि° कां० ॥ २ व्याख्यातार्था कां० ॥

**खिप्पं तु लोयकरणं, परिण्ण गणभेद बारसमं ॥ ५५४७ ॥**

एकस्य द्वयोः सर्वेषां वा साधूनामसौ नाम गृह्णाति 'भवेत्' कदाचिदप्येवं तदा तेषां लोचः कर्तव्यः । "परिण्ण" त्ति प्रत्याख्यानं-तपः, तच्च 'द्वादशम्' उपवासपञ्चकरूपं ते कारापणीयाः । अथ द्वादशं कर्तुं कश्चिदसहिष्णुर्न शक्नोति ततो दशममष्टमं षष्ठं चतुर्थं वा काराप्यते । गणभेदश्च क्रियते, गच्छान्निर्गत्य ते पृथग् भवन्तीति भावः ॥ ५५४७ ॥

अथ कायोत्सर्गद्वारमाह—

**चेइयघरुवस्सए वा, हायंतीतो थुतीओ तो बिंति ।**
**सारवणं वसहीए, करेति सव्वं वसहिपालो ॥ ५५४८ ॥**
**अविधिपरिट्ठवणाए, काउस्सग्गो य गुरुसमीवम्मि ।**
**मंगल-संतिनिमित्तं, थओ तओ अजितसंतीणं ॥ ५५४९ ॥**

चैत्यगृहे उपाश्रये वा परिहीयमानाः स्तुतीस्ततः 'ब्रुवते' भणन्ति । यावच्च तेऽद्यापि नागच्छन्ति तावद् वसतिपालो वसतेः 'सारवणं' प्रमार्जनं तदादिकं सर्वमपि कृत्यं करोति । अविधिपरिष्ठापनानिमित्तं च गुरुसमीपे कायोत्सर्गः कर्तव्यः । ततो मङ्गलार्थं शान्तिनिमित्तं चाऽ**जितशान्तिस्तवो** भणनीयः ।

अत्र **चूर्णिः**—ते साहुणो चेइयघरे वा उवस्सए वा ठिया होज्जा । जइ चेइयघरे तो परिहायंतीहिं थुईहिं चेइयाइं वंदित्ता आयरियसगासे इरियावहियं पडिक्कमिउं अविहिपरिट्ठावणियाए काउस्सग्गं करिंति । ताहे मंगल-संतिनिमित्तं **अजियसंतिथओ** । तओ अन्ने वि दो **थए** हायंते कड्ढुंति । उवस्सए वि एवं चेव चेइयवंदणवज्जं ॥

**विशेषचूर्णिः** पुनरित्थम्—तओ आगम्म चेइयघरं गच्छंति । चेइयाणि वंदित्ता संतिनिमित्तं **अजितसंतिथओ** परियट्टिज्जइ तिन्नि वा थुईओ परिहायंतीओ कड्ढिज्जंति । तओ आगंतुं आयरियसगासे अविहिपरिट्ठावणियाए काउस्सग्गो कीरइ ॥ ५५४८ ॥ ५५४९ ॥

( ग्रन्थाग्रम्—४००० । सर्वग्रं० ३७८२५ )

अथ क्षपण-स्वाध्यायमार्गणाद्वारमाह—

**खमणे य असज्झाए, रातिणिय महाणिणाय णितए वा ।**
**सेसेसु णत्थि खमणं, णेव असज्झाइयं होइ ॥ ५५५० ॥**

यदि 'रात्निकः' आचार्यादिः अपरो वा 'महानिनादः' लोकविश्रुतः कालगतो भवति, 'निजका वा' संज्ञातकास्तत्र तदीयाः सन्ति ते महतीमधृतिं कुर्वन्ति, तत एतेषु क्षपणमस्वाध्यायिकं च कर्तव्यम् । 'शेषेषु' साधुषु कालगतेषु क्षपणमस्वाध्यायिकं च न भवति ॥ ५५५० ॥

व्युत्सर्जनद्वारमाह—

**उच्चार-पासवण-खेलमत्तगा य अत्थरण कुस-पलालादी ।**

---

१ ग्रन्थाग्रम्—४००० ॥ छ ॥ कल्पवृत्तितृतीयखंडं समाप्तम् ॥ छ ॥ ग्रन्थाग्रं एवं समग्र १२५४० ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥ शुभं भवतु कल्याणमस्तु ॥ लेखकपाठकयोः । लिषितं ॥ छ ॥ ॥ श्री ॥ छ ॥ श्री ॥ ॥ ५ ॥ छ ॥ श्री ॥ मो० ॥

**संथारया बहुविधा, उज्झंति अणण्णगेलन्ने ॥ ५५५१ ॥**

यानि तस्योच्चार-प्रश्रवण-खेलमात्रकाणि ये चास्तरणार्थं कुश-पलालादिमया बहुविधाः संस्तारकास्तान् सर्वानपि उज्झन्ति "अणन्नगेलन्न" त्ति यद्यन्यस्य ग्लानत्वं नास्ति, अथापरोऽपि ग्लानः कश्चिदस्ति ततस्तदर्थं तानि मात्रकादीनि ध्रियन्त इति भावः ॥ ५५५१ ॥

**अहिगरणं मा होहिति, करेइ संथारगं विकरणं तु ।**
**सव्वुवहि विगिंचंती, जो छेवइतस्स छित्तो वि ॥ ५५५२ ॥**

"छेवइओ" अशिवगृहीतः स यदि मृतः तदा येन संस्तारकेण स नीतः तं विकरणं कुर्वन्ति, खण्डशः कृत्वा परिष्ठापयन्तीत्यर्थः । कुतः ? इत्याह—अधिकरणं गृहस्थेन गृहीते प्रान्तदेवतया वा पुनरप्यानीते भवेत् तद् मा भूदिति कृत्वा विकरणीक्रियते । यश्च तदीय उपधिरपरो वा तेन स्ववपुषा छुप्तस्तं सर्वमपि परिष्ठापयन्ति ॥ ५५५२ ॥

**असिवम्मि णत्थि खमणं, जोगविवड्डी य णेव उस्सग्गो ।**
**उवयोगद्धं तुलितुं, णेव अहाजायकरणं तु ॥ ५५५३ ॥**

अशिवे मृतस्य क्षपणं न कर्तव्यम्, योगवृद्धिस्तु क्रियते । न चाविधिपरिष्ठापनायाः कायोत्सर्गः क्रियते । उपयोगाद्धां चान्तर्मुहूर्त्तमानां तोलयित्वा यथाजातं तस्य नैव कर्तव्यम् । किमुक्तं भवति ?—अशिवमृतस्य समीपे यथाजातं न स्थाप्यते, अतो देवलोकं गतो यावदुपयुक्तो भवति तावत् तदीयं वपुः प्रतिश्रय एव प्रतीक्षाप्यते येन प्रतिश्रयस्थितं स्वं वपुर्दृष्ट्वा 'संयतोऽहमभूवम्' इति जानीते ॥ ५५५३ ॥ अथावलोकनद्वारमाह—

**अवरज्जुगस्स य ततो, सुत्त-ऽत्थविसारएहिँ थेरेहिं ।**
**अवलोयण कायव्वा, सुभा-ऽसुभगती-निमित्तट्ठा ॥ ५५५४ ॥**

ततोऽस्य कालगतस्य 'अपरेद्युः' द्वितीये दिवसे सूत्रा-ऽर्थविशारदैः स्थविरैः शुभा-ऽशुभगति-निमित्तज्ञानार्थमवलोकनं कर्तव्यम् ॥ ५५५४ ॥ कथम् ? इत्याह—

**जं दिसि विगड्डितो खलु, देहेणं अक्खुएण संचिक्खे ।**
**तं दिसि सिवं वदंती, सुत्त-ऽत्थविसारया धीरा ॥ ५५५५ ॥**

यस्यां दिशि स शिवादिभिराकर्षितोऽक्षतेन देहेन सन्तिष्ठेत् तस्यां दिशि सूत्रा-ऽर्थविशारदा धीराः '[3]शिवं' सुभिक्षं सुखविहारं च वदन्ति ॥ ५५५५ ॥

**जति दिवसे संचिक्खति, तति वरिसे धातगं च खेमं च ।**
**विवरीए विवरीतं, अकड्डिए सव्वहिं उदितं ॥ ५५५६ ॥**

'यति' यावतो दिवसान् यस्यां दिशि अक्षतदेहस्तिष्ठति 'तति' तावन्ति वर्षाणि तस्यां दिशि ध्रातं च क्षेमं च भवति । ◁ ध्रातं नाम—सुभिक्षम्, क्षेमं तु—परचक्राद्युपद्रवाभावः । ▷ अथ क्षतदेहः सञ्जातः ततः 'विपरीते' क्षतदेहे विपरीतं मन्तव्यम्, यस्यां दिशि क्षतदेहो

१ तत्र गतिः शुभा-ऽशुभस्वरूपा पश्चादभिधास्यते, निमित्तं शुभा-ऽशुभं तावदाह इत्यवतरणं कां० ॥ २ °गड्डियं खलु, सरीरगं अक्खतं तु सं° ताभा० ॥ ३ शिवं वदन्ति । शिवं नाम—सुभिक्षं सुखविहारं चेति ॥ ५५५५ ॥ कां० ॥ ४ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः कां० एव वर्त्तते ॥

नीतस्तस्यां दुर्भिक्षादिकं भवतीति भावः । अथ नान्यत्राकृष्टः किन्तु तत्रैवाक्षतस्तिष्ठति ततः सर्वत्र 'उदितं' सुभिक्षं सुखविहारं च द्रष्टव्यम् ॥ ५५५६ ॥ एतद् निमित्तं कस्य गृह्यते ? इत्याह—

**खमगस्साऽऽयरियस्सा, दीहपरिण्णस्स वा निमित्तं तु ।**
**सेसे तधऽण्णधा वा, ववहारवसा इमा य गती ॥ ५५५७ ॥**

क्षपकस्य आचार्यस्य वा 'दीर्घपरिज्ञावतो वा' प्रभूतकालपालितानशनस्येदं निमित्तं ग्रही-तव्यम् । 'शेषे' एतद्व्यतिरिक्ते तथा वाऽन्यथा वा भवेत्, न कोऽपि नियमः । व्यवहार-वशाच्चेयं गतिः प्रतिपत्तव्या ॥ ५५५७ ॥

**थलकरणे वेमाणितो, जोतिसिओ वाणमंतर समम्मि ।**
**गड्डाए भवणवासी, एस गती से समासेणं ॥ ५५५८ ॥**

यदि तस्य शरीरकं स्थले कृतं—शिवादिभिरारोपितं तदा वैमानिकः सञ्जात इति मन्तव्यम् । समभूभागे नीतस्य ज्योतिष्केषु व्यन्तरेषु वा उपपातो ज्ञेयः । गर्तायां नीते भवनवासिषु गत इति अवमन्तव्यम् । एषा गतिः समासेन तस्याभिहिता ॥ ५५५८ ॥

व्याख्यातास्त्रिलोऽपि द्वारगाथाः । अथात्रैव प्रायश्चित्तमाह—

**एक्केकम्मि उ ठाणे, हुंति विवच्चासकारणे गुरुगा ।**
**आणाइणो य दोसा, विराहणा संजमा-ऽऽयाए ॥ ५५५९ ॥**

एषां प्रत्युपेक्षणादीनामेकैकस्मिन् स्थाने विपर्यासं कुर्वतां चत्वारो गुरुकाः, आज्ञादयश्च दोषाः, संयमा-ऽऽत्मविराधना च द्रष्टव्या ॥ ५५५९ ॥

**एतेण सुत्त न गतं, सुत्तनिवातो तु दव्व सागारे ।**
**उट्ठवणम्मि वि लहुगा, छड्डणे लहुगा अतिगमे य ॥ ५५६० ॥**

यद् एतद् द्वारकदम्बकमनन्तरं व्याख्यातम् एतेन सूत्रं न गतं किन्तु सामाचारीज्ञापनार्थं सर्वमेतदुक्तम् । किं पुनस्तर्ह्यत्र सूत्रे प्रकृतम् ? इत्याह—सूत्रनिपातः पुनः सागारिकसत्के वहनकाष्ठलक्षणे द्रव्ये भवति । रात्रौ कालगते यदि वहनकाष्ठानुज्ञापनाय सागारिकमुत्थापयन्ति तदा चतुर्लघु अरहट्टयोजनादयश्च दोषाः तस्मान्नोत्थापनीयः किन्तु यदि एकोऽपि कश्चिद् वैयावृत्यकरः समर्थस्तद् वोढुं ततः काष्ठं न गृह्यते । अथासमर्थस्ततो यावन्तः शक्नुवन्ति तावन्तः तेन काष्ठेन वहन्ति । अथ वहनकाष्ठं तत्रैव परिष्ठाप्यागच्छन्ति तदापि चतुर्लघु, अप-रेण च गृहीतेऽधिकरणम्, सागारिको वा तद् अपश्यन् 'एतैः शववहनार्थं नीत्वा तत्रैव परि-त्यक्तम्' इति मत्वा प्रद्विष्टः व्यवच्छेद-कटकमर्दादिकं कुर्यात्, तस्मात्तन्नेतव्यम् । यदि पुनरानीय तेन गृहीतेनैव अतिगमनं—प्रवेशं कुर्वन्ति तदाऽपि चतुर्लघु ॥ ५५६० ॥

एते च दोषाः—

**मिच्छत्तऽदिन्नदाणं, समलावण्णो दुगुंछितं चेव ।**

१ गतिः शुभा-ऽशुभस्वरूपा प्रति° कां० ॥ २ °वगन्त° मो० ले० ॥ ३ °षां महास्थण्डिल-प्रत्युपेक्षणा-दिग्भागग्रह-नन्तकधारणादीनां द्वाविंशतेः स्थानानामेकै° कां० ॥ ४ °वति । कथम् ? इत्याह—"उट्ठवणम्मि वि" इत्यादि, रात्रौ कां० ॥

**दिय रातों आसितावण, वोच्छेओ होति वसहीए ॥ ५५६१ ॥**

सागारिकस्तत् काष्ठं प्रवेश्यमानं दृष्ट्वा मिथ्यात्वं गच्छेत्, एते भणन्ति—अस्माकमदत्तस्यादानं न कल्पते; यथैतदलीकं तथा अन्यदप्यलीकमेव। अथवा ब्रूयात्—समला अमी, अस्थिसरजस्कानामप्युपरिवर्तिनः; एवमवर्णो ब्रूयात्। 'जुगुप्सितं वा' जुगुप्सां स कुर्यात्—मृतकमूढ्वा मम गृहमानयन्ति। ततो दिवा रात्रौ वा साधूनां "आसियावणं" निष्काशनं कुर्यात्, वसतेश्च व्यवच्छेदं 'नातः परं ददामि' इत्येकस्यानेकेषां वा कुर्यात् ॥ ५५६१ ॥

यत एते दोषा अतोऽयं विधिः—

**अइगमणं एगेणं, अण्णाएँ पतिट्ठवेंति तत्थेव।**
**णाए अणुलोमण तस्स वयण बितियं उट्ठाण असिवे वा ॥ ५५६२ ॥**

एकेन साधुना प्रथमम् 'अतिगमनं' प्रवेशनं कार्यम्, यदि सागारिको नाद्याप्युत्तिष्ठते तत एवमज्ञाते काष्ठमानीय यतो गृहीतं तत्रैव प्रतिष्ठापयन्ति। अथ सागारिक उत्थितस्ततस्तस्याग्रे निवेद्यते—यूयं प्रसुप्ता इति कृत्वा नास्माभिरुत्थापिताः, रात्रौ साधुः कालगतः युष्मदीयकाष्ठेन निष्काशितः, साम्प्रतं तदानीयतां उत परिष्ठाप्यताम्?। एवमुक्ते यद् असौ भणति तत् प्रमाणम्। अथ तैः पूर्वमज्ञायमानैः स्थापितं सागारिकेण च पश्चात् कथमपि ज्ञातं ततः कुपितस्यानुलोमनं विधेयम्। अथ प्रज्ञाप्यमानस्यापि तस्य वक्ष्यमाणं वचनं भवति तदा गुरुभिः स साधुर्निष्काशनीय इति शेषः। द्वितीयपदे उत्थितोऽसौ ग्रामः अशिवगृहीतो वाऽसौ ततस्तत्रैव परिष्ठापयेत्, न सागारिकस्य प्रत्यर्पयेत् ॥ ५५६२ ॥ अथ सागारिकवचनं दर्शयति—

**जइ नीयमणापुच्छा, आणिज्जति किं पुणो घरं मज्झ।**
**दुगुणो एसऽवराधो, ण एस पाणालओ भगवं! ॥ ५५६३ ॥**

यदि अस्माकमनापृच्छया नीतं ततः किमर्थमिदानीं पुनरपि मदीयगृहमानीयते? एष द्विगुणोऽपराधः, न चैष भगवन्! मदीय आवासः पाणानां—मातङ्गानामालयो यदेवं मृतकोपकरणमत्रानीतम् ॥ ५५६३ ॥ एवमुक्ते गुरुभिर्वक्तव्यम्—

**किमियं सिट्ठम्मि गुरू, पुरतो तस्सेव णिच्छुभति तं तू।**
**अविजाणंताण कयं, अम्ह वि अण्णो वि णं बेंति ॥ ५५६४ ॥**

किमिदं वृत्तान्तजातमभूत्?। ततः शेषसाधुभिः शय्यातरेण वा गुरूणां शिष्टम्—अमुकेन साधुना अनापृच्छया काष्ठं नीतम्। ततो गुरवः 'तस्यैव' शय्यातरस्य पुरतः 'तं' साधुं 'किमनापृच्छया नयसि?' इति निर्भर्त्स्य कैतवेन निष्काशयन्ति। अन्येऽपि साधवः "ण"मिति तं शय्यातरं ब्रुवते—अस्माकमप्यविजानतामेवममुना कृतम्, अन्यथा जानन्तो वयमपि कर्तुं न दद्म इति ॥ ५५६४ ॥

**वारेति अणिच्छुभणं, इहरा अण्णाएँ ठाति वसहीए।**
**मम णीतो णिच्छुभई, कइतव कलहेण वा बितिओ ॥ ५५६५ ॥**

यदि सागारिकः 'वारयति' 'मा निष्काशयत, नैवं भूयः करिष्यति' इति ततः 'अनिष्का-

१ °पदमत्र भवति, कथम्? इति अत आह—"उट्ठाण" त्ति उत्थि° कां० ॥

शनं' न निष्काश्यते । 'इतरथा' अवारयति सागारिके[1]ऽन्यस्यां वसतौ तिष्ठति । द्वितीयश्च साधुः 'कैतवेन' मातृस्थानेन भणति—मम निजको यदि निष्काश्यते ततोऽहमपि गच्छामि । सागारिकेण वा समं कोऽपि कलहयति ततः सोऽपि निष्काश्यते, स च तस्य द्वितीयो भवति ॥५५६५॥

**॥ विष्वग्भवनप्रकृतं समाप्तम् ॥**

---

## अ धि क र ण प्र कृ त म्

सूत्रम्—

**भिक्खू य अहिकरणं कट्टु तं अहिगरणं अविओसवित्ता नो से कप्पइ गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा, बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा णिक्खमित्तए वा पविसित्तए वा, गामाणुगामं वा दूइज्जित्तए, गणातो वा गणं संकमित्तए, वासावासं वा वत्थए । जत्थेव अप्पणो आयरिय-उवज्झायं पासेज्जा बहुस्सुयं बब्भागमं तस्संतिए आलोइज्जा पडिक्कमिज्जा निंदिज्जा गरहिज्जा विउट्टेज्जा विसोहेज्जा अकरणयाए अब्भुट्ठिज्जा आहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा । से य सुएण पट्ठविए आईअव्वे सिया, से य सुएण नो पट्ठविए नो आदिइतव्वे सिया, से य सुएणं पट्ठवेज्जमाणे नो आइयइ से निज्जूहियव्वे सिया ३० ॥**

अस्य सम्बन्धमाह—

केण कयं कीस कयं, णिच्छुब्भऊ एस किं इहाणेती ।
एमादि गिहीतुदितो, करेज्ज कलहं असहमाणो ॥ ५५६६ ॥

केनेदं वहनकाष्ठानयनं कृतम् ? कस्माद्वा कृतम् ? निष्काश्यतामेषः, किमर्थमिहानयति ?; एवमादिभिर्वचोभिर्गृहिणा तुदितः—व्यथितः कश्चिदसहमानः कलहं कुर्यात् । अत इदमधिकरणसूत्रमारभ्यते ॥ ५५६६ ॥

---

१ °के उपकरणं स्वकीयं गृहीत्वाऽन्य° कां० ॥

अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य व्याख्या—'भिक्षुः' प्रागुक्तः, चशब्दाद् उपाध्यायादिपरिग्रहः, 'अधिकरणं' कलहं कृत्वा नो कल्पते तस्य तदधिकरणमव्यवशमय्य गृहपतिकुलं भक्ताय वा पानाय वा निष्क्रमितुं वा प्रवेष्टुं वा, ◁ बहिर्विचारभूमौ वा विहारभूमौ वा निष्क्रमितुं वा प्रवेष्टुं वा, ▷ ग्रामानुग्रामं वा 'द्रोतुं' विहर्तुम्, गणाद्वा गणं सङ्क्रमितुम्, वर्षावासं वा वस्तुम् । किन्तु यत्रैवात्मन आचार्योपाध्यायं पश्येत्; कथम्भूतम्? 'बहुश्रुतं' छेदग्रन्थादिकुशलं 'बह्वागमम्' अर्थतः प्रभूतागमम्; तत्र तस्यान्तिके 'आलोचयेत्' स्वापराधं वचसा प्रकटयेत्, 'प्रतिक्रामेत्' मिथ्यादुष्कृतं तद्विषये दद्यात्, 'निन्द्याद्' आत्मसाक्षिकं जुगुप्सेत, 'गर्हेत' गुरुसाक्षिकं निन्द्यात् । इह च निन्दनं गर्हणं वा तात्त्विकं तदा भवति यदा तत्करणतः प्रतिनिवर्तते तत आह—'व्यावर्तेत' तस्मादपराधपदाद् निवर्तेत । व्यावृत्तावपि कृतात् पापात् तदा मुच्यते यदाऽऽत्मनो विशोधिर्भवति तत आह—आत्मानं 'विशोधयेत्' पापमलस्फेटनतो निर्मलीकुर्यात् । विशुद्धिः पुनरपुनःकरणतायामुपपद्यते ततस्तामेवाह—अकरणता—अकरणीयता तया अभ्युत्तिष्ठेत् । पुनरकरणतया अभ्युत्थानेऽपि विशोधिः प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या भवति तत आह—'यथार्हं' यथायोग्यं तपःकर्म प्रायश्चित्तं प्रतिपद्येत । 'तच्च' प्रायश्चित्तमाचार्येण 'श्रुतेन' श्रुतानुसारेण यदि 'प्रस्थापितं' प्रदत्तं तदा 'आदातव्यं' ग्राह्यं 'स्याद्' भवेत्, अथ श्रुतेन न प्रस्थापितं तदा नादातव्यं स्यात्, 'स च' आलोचको यदि श्रुतेन प्रस्थाप्यमानमपि तत् प्रायश्चित्तं 'नाददाति' न प्रतिपद्यते ततः सः 'निर्यूहितव्यः' 'अन्यत्र शोधिं कुरुष्व' इति निषेधनीयः स्यादिति सूत्रार्थः ॥ अथ भाष्यविस्तरः—

**अचियत्तकुलपवेसे, अतिभूमि अणेसणिज्जपडिसेहे ।**
**अवहारऽमंगलुत्तर, सभावअचियत्त मिच्छत्ते ॥ ५५६७ ॥**

कथमधिकरणमुत्पन्नम्? इत्यस्यां जिज्ञासायामभिधीयते—कस्मिंश्चित् कुले साधवः प्रविशन्तोऽप्रीतिकराः तत्राजानतामनाभोगाद्वा प्रवेशे स गृहपतिराक्रोशेद्वा हन्याद्वा, साधुरप्यसहमानः प्रत्याक्रोशेत् ततोऽधिकरणमुत्पद्यते । एवमतिभूमिं प्रविष्टे, अनेषणीयभिक्षाया वा प्रतिषेधे, शैक्षस्य वा संज्ञातकस्यापहारे, यात्राप्रस्थितस्य वा गृहिणः साधुं दृष्ट्वाऽमङ्गलमिति प्रतिपत्तौ, समयविचारेण वा प्रत्युत्तरं दातुमसमर्थे गृहस्थे, स्वभावेन वा काऽपि साधौ 'अचियत्ते' अनिष्टे दृष्टे, अभिग्रहमिथ्यादृष्टेर्वा सामान्यतः साधौ अवलोकिते अधिकरणमुत्पद्येत ॥ ५५६७ ॥[2]

**पडिसेधे पडिसेधो, भिक्ख वियारे विहार गामे वा ।**
**दोसा मा होज्ज बहू, तम्हा आलोयणा सोधी ॥ ५५६८ ॥**

भगवद्भिः प्रतिषिद्धम्—न वर्तते साधूनामधिकरणं कर्तुम् । एवंविधे प्रतिषेधे भूयः प्रतिषेधः क्रियते—कदाचित् तद् अधिकरणं गृहिणा समं कृतं भवेत्, कृत्वा च तस्मिन् अनुपशमिते भिक्षायां न हिण्डनीयम्, विचारभूमौ विहारभूमौ वा न गन्तव्यम्, ग्रामानुग्रामं वा न विहर्तव्यम् । कुतः? इत्याह—मा 'बहवः' बन्धन-कटकमर्दादयो दोषा भवेयुः । तस्मात् तं

१ ◁ ▷ एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठः भा० एव वर्तते ॥ २ एवमेभिः प्रकारैः गृहिणा सममधिकरणे उत्पन्ने सति विधिमाह इत्यवतरणं कां० ॥

गृहस्थमुपशमय्य गुरूणामन्तिके आलोचना दातव्या । ततः शोधिः प्रतीच्छनीया ॥ ५५६८ ॥

इदमेव भावयति—

**अहिगरण गिहत्थेहिं, ओसार विकड्डणा य आगमणं ।**
**आलोयण पत्थवणं, अपेसणे होंति चउलहुगा ॥ ५५६९ ॥**

गृहस्थैः सममधिकरणे उत्पन्ने द्वितीयेन साधुना तस्य साधोरपसारणं कर्तव्यम् । अथ नापसरति ततः "विकड्डणा य" त्ति बाहौ गृहीत्वाऽऽकर्षणीयः, इदं च वक्तव्यम्—न वर्तते मम त्वया साधिकरणेन समं भिक्षामटितुम् अतः प्रतिश्रयोपरि निवर्तावहे । एवमुक्त्वा प्रतिश्रयमागम्य गुरूणामालोचनीयम् । ततो गुरुभिरुपशमनार्थं वृषभास्तस्य गृहस्थस्य मूले प्रेषणीयाः । यदि न प्रेषयन्ति तदा चतुर्लघु ॥ ५५६९ ॥

**आणादिणो य दोसा, बंधण णिच्छुभण कडगमद्दो य ।**
**वुग्गाहण सत्थेण व, अगणुवगरणं विसं वारे ॥ ५५७० ॥**

आज्ञादयश्च दोषाः । स च गृहस्थो येन साधुना सहाधिकरणं जातं तस्य अनेकेषां वा साधूनां बन्धनं निष्काशनं वा कुर्यात् । 'कटकमर्दो नाम' सर्वानपि साधून् कोऽपि व्यपरोपयेत् । व्युद्ग्राहणं वा लोकस्य कुर्यात्—नास्त्यमीषां दत्ते परलोकफलम्, यद्वा अमी संज्ञां व्युत्सृज्य विकिरन्ति न च निर्लेपयन्ति । खड्गादिना वा शस्त्रेण साधूनाहन्यात्, अग्निकायेन वा प्रतिश्रयं दहेत्, उपकरणं वा अपहरेत्, विष-गरादिकं वा दद्यात्, भिक्षां वा वारयेत् ॥ ५५७० ॥

तच्च वारणमेतेषु स्थानेषु कारयेत्—

**रज्जे देसे गामे, णिवेसण गिहे णिवारणं कुणति ।**
**जा तेण विणा हाणी, कुल गण संघे य पत्थारो ॥ ५५७१ ॥**

राज्ये सकलेऽपि निवारणं कारयेत्—एतेषां भक्तमुपधिं वसतिं वा मा दद्यात् । एवं देशे ग्रामे निवेशने गृहे वा निवारणं करोति । ततो या 'तेन' भक्तादिना विना परिहाणिः तां वृषभान् अप्रेषयन् गुरुः प्राप्नोति । अथवा यः प्रभवति स कुलस्य गणस्य सङ्घस्य वा 'प्रस्तारं' विस्तरेण विनाशं कुर्यात् ॥ ५५७१ ॥

**एयस्स णत्थि दोसो, अपरिक्खियदिक्खगस्स अह दोसो ।**
**पभु कुज्जा पत्थारं, अपभू वा कारवे पभुणा ॥ ५५७२ ॥**

गृहस्थश्चिन्तयति—'एतस्य साधोर्नास्ति दोषः किन्तु य एनमपरीक्ष्य दीक्षितवान् तस्यायं दोषः, अतस्तमेव घातयामि' इति विचिन्त्य प्रभुः स्वयमेव प्रस्तारं कुर्यात् । अप्रभुरपि द्रव्यं राजकुले दत्त्वा प्रभुणा कारापयेत् ॥ ५५७२ ॥ यत एते दोषाः—

**तम्हा खलु पट्ठवणं, पुव्वं वसभा समं च वसभेहिं ।**
**अणुलोमण पेच्छामो, णेंति अणिच्छं पि तं वसभा ॥ ५५७३ ॥**

तस्माद् वृषभाणां तत्र प्रस्थापनं कर्तव्यम् । "पुव्वं" ति येन साधुनाऽधिकरणं कृतं तं तावद् न प्रेषयन्ति यावद् वृषभाः पूर्वं प्रज्ञापयन्ति । किं कारणम् ? उच्यते—स गृहस्थस्तं दृष्ट्वा कदाचिदाहन्यात् । अथ ज्ञायते 'नाहनिष्यति' ततो वृषभैः समं तमपि प्रेषयन्ति । तत्र

गत्वाऽऽनुकूल्यवचोभिः 'अनुलोमनं' प्रगुणीकरणं तस्य कुर्वन्ति । अथासौ गृहस्थो ब्रूयात्— आनयत तावत् तं कलहकारिणं येनैकवारं पश्यामः पश्चात् क्षमिष्ये न वा । ततो वृषभास्तदभिप्रायं ज्ञात्वा तं साधुं गृहिणः समीपमानयन्ति । अथासौ साधुर्नेच्छति ततो बलादपि वृषभास्तं तत्र नयन्ति ॥ ५५७३ ॥ ते च वृषभा ईदृशगुणयुक्ताः प्रस्थाप्यन्ते—

तस्संबंधि सुही वा, पगता ओयस्सिणो गहियवक्का ।
तस्सेव सुहीसहिया, गमेंति वसभा तगं पुव्वं ॥ ५५७४ ॥

तस्य—गृहिणः संयतस्य वा सम्बन्धिनः सुहृदो वा ते भवेयुः, 'प्रगताः' लोकप्रसिद्धाः 'ओजस्विनः' बलीयांसः 'गृहीतवाक्याः' आदेयवचसः, ईदृशा वृषभाः 'तस्यैव' गृहिणः सुहृद्भिः सहिताः 'तकं' गृहस्थं पूर्वं 'गमयन्ति' प्रज्ञापयन्ति ॥ ५५७४ ॥ कथम् ? इत्याह—

सो निच्छुभति साहू, आयरिए तं च जुज्जसि गमेतुं ।
नाऊण वत्थुभावं, तस्स जती णिंति गिहिसहिया ॥ ५५७५ ॥

येन साधुना त्वया सह कलहितं स साधुराचार्यैः साम्प्रतं निष्काश्यते, अस्मदीयं च वचो गुरवो न सुष्ठु शृण्वन्ति, अत आचार्यान् गमयितुं त्वं 'युज्यसे' युक्तो भवसि । एवमुक्ते यद्याचार्यं गमयति क्षामयति च ततो लष्टम् । अथ ब्रूते—पश्यामस्तावत् तं कलहकारिणम्; ततो ज्ञात्वा वस्तुनः—गृहस्थस्य भावं—'किमयं हन्तुकामस्तमानाययति ? उत क्षामयितुकामः ?' एवमभिप्रायं ज्ञात्वा तस्य ये सुहृदस्तैर्गृहिभिः सहिता यतयस्तं साधुं तत्र नयन्ति ॥ ५५७५ ॥ अथासौ गृही तीव्रकषायतया नोपशाम्यति ततस्तस्य साधोर्गच्छस्य च रक्षणार्थमयं विधिः—

वीसुं उवस्सए वा, ठवेंति पेसंति फड्डपतिणो वा ।
देंति सहाते सव्वे, व णेंति गिहिने अणुवसंते ॥ ५५७६ ॥

'विष्वग्' अन्यस्मिन्नुपाश्रये तं साधुं स्थापयन्ति, अन्यग्रामे वा यः स्पर्द्धकपतिस्तस्यान्तिके प्रेषयन्ति । निर्गच्छतश्च तस्य सहायान् ददति । अथ मासकल्पः पूर्णस्ततः सर्वेऽपि 'निर्यन्ति' निर्गच्छन्ति ॥ ५५७६ ॥ एष गृहस्थेऽनुपशान्ते विधिः । अथ गृहस्थ उपशाम्यति न साधुस्तदा तस्येदं प्रायश्चित्तम्—

अविओसियम्मि लहुगा, भिक्ख वियारे य वसहि गामे य ।
गणसंकमणे भण्णति, इहं पि तत्थेव वच्चाहि ॥ ५५७७ ॥

अधिकरणेऽव्यवशमिते यदि भिक्षां हिण्डते, विचारभूमिं विहारभूमिं वा गच्छति, वसतेर्निर्गत्यापरसाधुवसतिं गच्छति, ग्रामानुग्रामं विहरति; एतेषु सर्वेषु चतुर्लघु । अथापरं गणं सङ्क्रामति ततस्तैरन्यगणसाधुभिर्भण्यते—इहापि गृहिणः क्रोधनाः सन्ति ततस्तत्रैव व्रज ॥ ५५७७ ॥ इदमेव सुव्यक्तमाह—

इह वि गिही अविसहणा, ण य वोच्छिण्णा इहं तुह कसाया ।
अन्नेसिं पाऽऽयासं, जणइस्ससि वच्च तत्थेव ॥ ५५७८ ॥

'इहापि' ग्रामे गृहिणः 'अविषहणाः' क्रोधनाः सन्ति, न चेह समागतस्य तव कषाया व्यवच्छिन्नाः, अतः 'अन्येषामपि' अस्मदादीनामायासं जनयिष्यसि तस्मात् तत्रैव व्रज ॥ ५५७८ ॥

सिट्ठम्मि न संगिण्हति, संकंतम्मि उ अपेसणे लहुगा ।
गुरुगा अजयणकहणे, एगतरपतोसतो जं च ॥ ५५७९ ॥

अनुपशान्ते साधौ गणान्तरं सङ्क्रान्ते मूलाचार्येण साधुसङ्घाटकस्तत्र प्रेषणीयः । तेन च सङ्घाटकेन 'शिष्टे' कथिते सति द्वितीयाचार्यो न सङ्गृह्णीयात् । अथ मूलाचार्यः सङ्घाटकं न प्रेषयति तदा चतुर्लघु । सङ्घाटको यद्ययतनया कथयति ततश्चतुर्गुरु । अयतनाकथनं नाम—बहुजनमध्ये गत्वा भणति—एष निर्धर्मा गृहिभिः सममधिकरणं कृत्वा समायातः, सकलेनापि गच्छेन भणितो नोपशान्तः । एवमयतनया कथिते स साधुरेकतरस्य—गृहिणः साधुसङ्घाटकस्य मूलाचार्यस्य वा प्रद्वेषतो यत् करिष्यति तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् ॥ ५५७९ ॥

तस्मादयं विधिः—

उवसामितो गिहत्थो, तुमं पि खामेहि एहि वच्चाहि ।
दोसा हु अणुवसंते, ण य सुज्झति[1] तुज्झ सामइयं ॥ ५५८० ॥

पूर्वं गुरूणामेकान्ते कथयित्वा ततः स्वयमेकान्ते स भण्यते—उपशामितः स गृहस्थः, एहि व्रजामः, त्वमपि तं गृहस्थं क्षामय, अनुपशान्तस्येह परत्र च बहवो दोषाः, समभावः सामायिकं तच्चैवं सकषायस्य भवतः 'न शुध्यति' न शुद्धं भवति । एवमेकान्ते भणितो यदि नोपशाम्यति ततो गणमध्येऽप्येवमेव भणनीयः ॥ ५५८० ॥ ततोऽपि कश्चिन्नोपशाम्येत् प्रत्युत स्वचेतसि चिन्तयेत् 'तस्य गृहिणो निमित्तेनेहाप्यवकाशं न लभे' ततः—

तमतिमिरपडलभूतो, पावं चिंतेइ दीहसंसारी ।
पावं ववसिउकामे, पच्छित्ते मग्गणा होति ॥ ५५८१ ॥

कृष्णचतुर्दशीरजन्यां भास्वरद्रव्याभावस्तम उच्यते, तस्यामेव च रात्रौ यदा रजो-धूमभूमिका भवति तदा तमस्तिमिरं भण्यते, यदा पुनस्तस्यामेव रजन्यां रजःप्रभृतयो मेघदुर्दिनं च भवति तदा तमस्तिमिरपटलमभिधीयते । यथा तत्रैवान्धकारे पुरुषः किञ्चिदपि न पश्यति[2] एवं यस्तीव्र-तीव्रतर-तीव्रतमेन कषायोदयेनान्धीभूतः स तमस्तिमिरपटलभूतो भण्यते, भूतशब्दस्येहोपमार्थवाचकत्वात् । एवम्भूतश्चेह-परलोकहितमपश्यन् दीर्घसंसारी तस्य गृहस्थस्योपरि 'पापम्' 'ऐश्वर्याद् जीविताद्वा भ्रंशयिष्यामि' इति रूपं चिन्तयति । एवं च पापं[3] कर्तुं व्यवसिते तस्मिन्निदं प्रायश्चित्ते मार्गणा भवति ॥ ५५८१ ॥

वच्चामि वच्चमाणे, चउरो लहुगा य होंति गुरुगा य ।
उग्गिण्णम्मि य छेदो, पहरणे मूलं च जं जत्थ ॥ ५५८२ ॥

'व्रजामि, तं गृहस्थं व्यपरोपयामि' इति सङ्कल्पे चतुर्लघवः । पदभेदादारभ्य यदि व्रजति चतुर्गुरवः । यष्टि-लोष्टादिकं प्रहरणं मार्गयति षड्लघवः । प्रहरणे लब्धे गृहीते च षड्गुरवः । उद्गीर्णे प्रहारे छेदः । प्रहारे पतिते यदि न म्रियते ततश्छेद एव । अथ मृतस्ततो मूलम् । यच्च यत्र परितापनादिकं सम्भवति तत् तत्र वक्तव्यम् ॥ ५५८२ ॥ एते चापरे दोषाः—

---

१ °ति तस्स साम° भा० विना ॥ २ °ति एवं तथा कृत्यमकृत्यं वा न किमपि पश्यति स तम° कां० ॥ ३ पापं 'व्यवसितुकामे' कर्तुमनसि तस्मि° कां० ॥

तं चेव णिट्ठवेती, बंधण णिच्छुभण कडगमद्दो य ।
आयरिए गच्छम्मि य, कुल गण संघे य पत्थारो ॥ ५५८३ ॥

स गृहस्थः 'तं' संयतं वधार्थमागतं दृष्ट्वा कदाचित् तत्रैव 'निष्ठापयति' व्यापादयति, ◁ पाशैर्वा बन्धापयति, ▷ ग्राम-नगरादेर्वा निर्धाटयति, कटकमर्देन वा मृद्नाति, अथवा 'कटकमर्दः' एकस्य रुष्टः सर्वमपि गच्छं व्यापादयति, यथा पालकः स्कन्दकाचार्यगच्छम् । अथवा बन्धन-निष्काशनादिकमाचार्यस्यापरगच्छस्य वा करोति । तथा कुलसमवायं कृत्वा कुलस्य बन्धनादिकं कुर्यात्, एवं गणस्य वा सङ्घस्य वा । एष प्रस्तारः ॥ ५५८३ ॥

एवमेकाकिनो व्रजत आरोपणा दोषाश्च भणिताः । अथ सहायसहितस्यारोपणामाह—

संजतगणे गिहिगणे, गामे नगरे व देस रज्जे य ।
अहिवति रायकुलम्मि य, जा जहिँ आरोवणा भणिया ॥ ५५८४ ॥

बहवः संयताः संयतगणः तं सहायं गृह्णाति । एवं गृहिगणं वा सहायं गृह्णाति । स च गृहिगणो ग्रामं वा नगरं वा देशो वा राज्यं वा भवेत्, ग्रामादिवास्तव्यजनसमुदाय इत्यर्थः । एतेषां वा संयतादीनां येऽधिपतयस्तान् वा सहायत्वेन गृह्णाति, अन्यद्वा राजकुलं गृहीत्वा गच्छति, यथा कालकाचार्येण शकराजवृन्दम् । अत्र चैकाकिनो या 'यत्र' सङ्कल्पादावारोपणा भणिता सैवेहापि द्रष्टव्या ॥ ५५८४ ॥ एतदेव व्याचष्टे—

संजयगणो तदधिवो, गिही तु गाम पुर देस रज्जे वा ।
एतेसिं चिय अहिवा, एगतरजुतो उभयतो वा ॥ ५५८५ ॥

'संयतगणः' प्रतीतः । तेषां—संयतानामधिपः तदधिपः, आचार्य इत्यर्थः । ये तु गृहिणस्ते ग्राम-पुर-देश-राज्यवास्तव्याः एतेषामधिपतयो वा भवेयुः । तत्र ग्रामाधिपतिः—भोगिकादिकः, पुराधिपतिः—श्रेष्ठी कोट्टपालो वा, देशाधिपतिः—देशारक्षिको देशव्यापृतको वा, राज्याधिपतिः—महामन्त्री राजा वा । एतेषामेकतरेणोभयेन वा युक्तो व्रजति ॥ ५५८५ ॥

तत्रेयं प्रायश्चित्तमार्गणा—

तहिँ वच्चंते गुरुगा, दोसु तु छल्लहुग गहणे छग्गुरुगा ।
उग्गिणि पहरणे छेदो, मूलं जं जत्थ वा पंथे ॥ ५५८६ ॥

'संयतगणेन तदधिपेन वा उभयेन वा सहाहं व्रजामि' इति सङ्कल्पे चतुर्लघु । पदभेदमादौ कृत्वा तत्र व्रजतश्चतुर्गुरु । प्रहरणस्य मार्गणे दर्शने च द्वयोरपि षड्लघु । प्रहरणस्य ग्रहणे षड्गुरु । उद्गीर्णे प्रहरणे छेदः । प्रहारे दत्ते मूलम् । 'यद् वा' परितापनादिकं पृथिव्यादिविनाशनं 'यत्र' पथि ग्रामे वा करोति तन्निष्पन्नमपि मन्तव्यम् । तथा गृहस्थवर्गेऽपि 'ग्रामेण वा ग्रामाधिपतिना यावद् राज्येन वा राज्याधिपतिना वा उभयेन वा सह व्रजामि' इति सङ्कल्पे चतुर्गुरु । पथि गच्छतः प्रहरणं च गृह्णतः षड्लघु । गृहीते षड्गुरु । शेषं प्राग्वत् । एवं भिक्षोः प्रायश्चित्तमुक्तम् ॥ ५५८६ ॥

---

१ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः भा० कां० एव वर्तते ॥ २ °ष्टु, एतदर्थाद् व्याख्यातम् । एवं° कां० ॥

**एसेव गमो णियमा, गणि आयरिए य होति णेयव्वो ।**
**नवरं पुण नाणत्तं, अणवठ्ठप्पो य पारंची ॥ ५५८७ ॥**

एष एव गमो नियमाद् 'गणिनः' उपाध्यायस्य आचार्यस्य चशब्दाद् गणावच्छेदिकस्य वा मन्तव्यः । नवरं पुनरत्र नानात्वम्—अधस्तादेकैकपदह्रासेन यत्र भिक्षोर्मूलं तत्रोपाध्यायस्यानवस्थाप्यम्, आचार्यस्य पाराञ्चिकम् ॥ ५५८७ ॥ तपोर्हं च प्रायश्चित्तमित्थं विशेषयितव्यम्—

**भिक्खुस्स दोहि लहुगा, गणवच्छे गुरुग एगमेगेणं ।**
**उज्झाए आयरिए, दोहि वि गुरुगं च णाणत्तं ॥ ५५८८ ॥**

भिक्षोरेतानि प्रायश्चित्तानि 'द्वाभ्यामपि' तपः-कालाभ्यां लघुकानि, गणावच्छेदिकस्यैकतरेण तपसा कालेन वा गुरुकाणि, उपाध्यायस्याचार्यस्य च 'द्वाभ्यामपि' तपः-कालाभ्यां गुरुकाणि । एतद् 'नानात्वं' विशेषः ॥ ५५८८ ॥

**काऊण अकाऊण व, उवसंत उवट्ठियस्स पच्छित्तं ।**
**सुत्तेण उ पट्ठवणा, असुत्ते रागो व दोसो वा ॥ ५५८९ ॥**

गृहस्थस्य प्रहारादिकमपकारं कृत्वाऽकृत्वा वा यदि उपशान्तः—निवृत्तः प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्यर्थं चालोचनाविधानपूर्वकमपुनःकरणेनोपस्थितस्तदा प्रायश्चित्तं दातव्यम् । कथम्? इत्याह—सूत्रेण प्रायश्चित्तं प्रस्थापनीयम् । असूत्रोपदेशेन तु प्रस्थापयतो रागो वा द्वेषो वा भवति, प्रभूतमापन्नस्य स्वल्पदाने रागः स्तोकमापन्नस्य प्रभूतदाने द्वेषः ॥ ५५८९ ॥

एवं राग-द्वेषाभ्यां प्रायश्चित्तदाने दोषमाह—

**थोवं जति आवण्णो, अतिरेगं देति तस्स तं होति ।**
**सुत्तेण उ पट्ठवणा, सुत्तमणिच्छंते निज्जुहणा ॥ ५५९० ॥**

स्तोकं प्रायश्चित्तमापन्नस्य यदि अतिरिक्तं ददाति ततो यावताऽधिकं तावत् 'तस्य' प्रायश्चित्तदातुः प्रायश्चित्तम् आज्ञादयश्च दोषाः, अथोनं ददाति ततो यावता न पूर्यते तावद् आत्मना प्राप्नोति, अतः सूत्रेण[2] प्रस्थापना कर्तव्या । यस्तु सूत्रोक्तं प्रायश्चित्तं नेच्छति स वक्तव्यः—अन्यत्र शोधिं कुरुष्व । एषा निर्यूहणा भण्यते ॥ ५५९० ॥

अस्या एव पूर्वार्द्धं व्याचष्टे—

**जेणऽधियं ऊणं वा, ददाति तावतिअमप्पणा पावे ।**
**अहवा सुत्तादेसा, पावति चतुरो अणुग्घाता ॥ ५५९१ ॥**

'येन' यावता अधिकं ऊनं वा ददाति तावद् आत्मना प्राप्नोति । अथवा सूत्रादेशादूनाऽतिरिक्तं ददानश्चतुरोऽनुद्घातान् मासान् प्राप्नोति । तच्चेदं निशीथदशमोद्देशकान्तर्गतं सूत्रम्—

जे उग्घाइए अणुग्घाइयं देइ जे अणुग्घाइए उग्घाइयं देइ से आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं (सू० १७-१८) ।　　॥ ५५९१ ॥ अथ द्वितीयपदमाह—

**बितियं उप्पाएउं, सासणपंते असज्झे पंच वि पयाइं ।**

---

१ नेयव्वो ताभा० ॥ २ °ण, तुशब्दोऽवधारणे, सूत्रेणैव प्रायश्चित्तस्य प्रस्थापना कर्तव्या, नासूत्रेण । यस्तु कां० ॥

**आगाढे कारणम्मि, रायसंसारिए जतणा ॥ ५५९२ ॥**

द्वितीयपदं नाम—अधिकरणमुत्पादयेदपि । सः 'शासनप्रान्तः' प्रवचनप्रत्यनीकः 'असाध्यश्च' न यथा तथा शासितुं शक्यते ततस्तेन सममधिकरणमुत्पाद्य शिक्षणं कर्तव्यम् । तत्र च स्वयमसमर्थः संयत-ग्राम-नगर-देश-राज्यलक्षणानि पञ्चापि पदानि सहायतया गृह्णीयात् । आगाढे कारणे राजसंसारिका—राजान्तरस्थापना तामपि यतनया कुर्यात् । तथाहि—यदि राजाऽतीव प्रवचनप्रान्तः अनुशिष्ट्यादिभिरनुकूलोपायैर्नोपशाम्यति ततस्तं राजानं स्फेटयित्वा तद्वंशजमन्यवंशजं वा भद्रकं राजानं स्थापयेत् ॥ ५५९२ ॥

यश्च तं स्फेटयति स ईदृशगुणयुक्तो भवति—

**विज्जा-ओरस्सबली, तेयसलद्धी सहायलद्धी वा ।**
**उप्पादेउं सासति, अतिपंतं कालकज्जो वा ॥ ५५९३ ॥**

यो विद्याबलेन युक्तो यथा आर्यखपुटः, औरसेन वा बलेन युक्तो यथा बाहुबली, तेजोलब्ध्या वा सलब्धिको यथा ब्रह्मदत्तः सम्भूतभवे, सहायलब्धियुक्तो वा यथा हरिकेशबलः । ईदृशोऽधिकरणमुत्पाद्य 'अतिप्रान्तम्' अतीवप्रवचनप्रत्यनीकं शास्ति, 'कालिकाचार्य इव' यथा कालकाचार्यो[1] गर्दभिल्लराजानं शासितवान् । कथानकं सुप्रतीतत्वान्न लिख्यते ॥ ५५९३ ॥

॥ अधिकरणप्रकृतं समाप्तम् ॥

---

## प रि हा रि क प्र कृ त म्

सूत्रम्—

**परिहारकप्पट्ठियस्स णं भिक्खुस्स कप्पइ आयरिय-उवज्झाएणं तद्दिवसं एगगिहंसि पिंडवायं दवावित्तए, तेण परं णो से कप्पइ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दाउं वा अणुप्पदाउं वा । कप्पइ से अन्नयरं वेयावडियं करित्तए, तं जहा—उट्ठावणं वा निसिआवणं वा तुयट्टावणं वा उच्चार-पासवण-खेल-सिंघाणविगिंचणं वा विसोहणं वा करित्तए । अह पुण एवं जाणिज्जा—छिन्नावाएसु पंथेसु आउरे झिंझिए पिवासिए, तवस्सी दुब्बले किलंते मुच्छिज्ज वा पवडिज्ज वा एवं से कप्पइ असणं वा ४ दाउं वा अणुप्पदाउं वा ३१ ॥**

---

१ °कार्यो भा० ॥

अस्य सम्बन्धमाह—

पच्छित्तमेव पगतं, सहुस्स परिहार एव न उ सुद्धो ।
तं वहतो का मेरा, परिहारियसुत्तसंबंधो ॥ ५५९४ ॥

प्रायश्चित्तमेवानन्तरसूत्रे प्रकृतम्, तच्च 'सहिष्णोः' समर्थस्य प्रथमसंहननादिगुणयुक्तस्य परिहारतपोरूपमेव दातव्यम्, न पुनः शुद्धतपोरूपम्, अतः 'तत्' परिहारतपो वहतः 'का मर्यादा' का सामाचारी ? इति । अस्यां जिज्ञासायामिदं परिहारिकसूत्रमारभ्यते । एष सम्बन्धः ॥ ५५९४ ॥

वीसुंभणसुत्ते वा, गीतो बलवं च तं परिट्ठप्पा ।
चोयण कलहम्मि कते, तस्स उ नियमेण परिहारो ॥ ५५९५ ॥

अथवा 'विष्वग्भवनसूत्रे' मरणसूत्रे गीतार्थः 'बलवांश्च' प्रथमसंहननयुक्तः 'तद्' मृतकं परिष्ठाप्य काष्ठमानयन् गृहस्थेन नोदितो यदि कलहं करोति तदा तस्य नियमेन परिहारो दातव्यः, तस्य च विधिरनेनाभिधीयते ॥ ५५९५ ॥

अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य व्याख्या—परिहारकल्पस्थितस्य भिक्षोः कल्पते आचार्योपाध्यायेन 'तद्दिवसम्' इन्द्रमहाद्युत्सवदिने एकस्मिन् गृहे 'पिण्डपातं' विपुलमवगाहिमादिभक्तलाभं दापयितुम् । ततः परं "से" तस्य नो कल्पते अशनं वा पानं वा खादिमं वा स्वादिमं वा दातुमनुप्रदातुं वा । तत्र दातुं एकशः, अनुप्रदातुं पुनः पुनः । किन्तु कल्पते "से" तस्य परिहारिकस्यान्यतरद् वैयावृत्यं कर्तुम् । तद्यथा—उत्थापनं वा निषादनं वा त्वग्वर्तापनं वा उच्चार-प्रश्रवण-खेल-सिङ्घानादीनां च विवेचनं वा-परिष्ठापनं 'विशोधनं वा' उच्चारादिखरण्टितोपकरणादेः प्रक्षालनं कर्तुम् । अथ पुनरेवं जानीयात्—'छिन्नापातेषु' व्यवच्छिन्नगमा-ऽऽगमेषु पथिषु 'आतुरः' ग्लानः 'झिञ्झितः' बुभुक्षार्त्तः 'पिपासितः' तृषितो न शक्नोति विवक्षितं ग्रामं प्राप्तुम्, अथवा ग्रामादावपि तिष्ठतां सः 'तपस्वी' षष्ठा-ऽष्टमादिपरिहारतपःकर्म कुर्वन् दुर्बलो भवेत्, ततो भिक्षाचर्यया क्लान्तः सन् मूर्च्छेद्वा प्रपतेद्वा, एवं "से" तस्य कल्पते अशनादिकं दातुमनुप्रदातुं वा । एष सूत्रार्थः ॥ अथ निर्युक्तिविस्तरः—

कंटगमादीसु जहा, आदिकडिल्ले तहा जयंतस्स ।
अवसं छलणाऽऽलोयण, ठवणा जुत्ते य वोसग्गो ॥ ५५९६ ॥

ननु स भगवान् 'प्रमादो न कर्तव्यः' इत्युपदेशेन संयमाध्वनि गच्छन् कथं परिहारकत्वं प्राप्तः ? इति उच्यते—यथा कण्टकाकीर्णे मार्गे उपयुक्तस्यापि कण्टको लगति, आदिशब्दाद् विषमे वा यथोपयुक्तोऽप्यागच्छन् प्रपतति, कृतप्रयत्नो वा यथा नदीवेगेन ह्रियते, सुशिक्षितोऽपि यथा खड्गेन लाञ्छ्यते; एवं कण्टकादिस्थानीयमादिकडिल्लम्—आद्यगहनं यद् उद्गमोत्पादनैषणारूपं ज्ञानादिरूपं वा तत्र यतमानस्याप्यवश्यं कस्यापि च्छलना भवति, छलितेन चावश्यमालोचना दातव्या । ततो यः संहनना-ऽऽगमादिभिर्गुणैर्युक्तः—सहितस्तस्य 'स्थापना' परिहारतपः प्रायश्चित्तदानं कर्तव्यम् । तत्र चायं विधिः—प्रशस्तेषु द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावेषु

---

१ °स्वी' चतुर्थ-षष्ठा-ऽष्टम-दशम-द्वादशलक्षणं परि° कां० ॥

तस्य साधोर्निर्विघ्नतपःकर्मसमाप्तये शेषसाधूनां च भयजननार्थं सकलेनापि गच्छेन 'व्युत्सर्गः' कायोत्सर्गः कर्तव्यः । तत्राचार्यो भणति—"एतस्स साधुस्स निरुवसग्गनिमित्तं ठामि काउस्सग्गं जाव वोसिरामि" ततश्चतुर्विंशतिस्तवमनुप्रेक्ष्य "नमो अरिहंताणं" इति भणित्वा चतुर्विंशतिस्तवं मुखेनोच्चार्य भणति ॥ ५५९६ ॥

**एस तवं पडिवज्जति, ण किंचि आलवति मा ण आलवहा ।**
**अत्तट्ठचिंतगस्सा, वाघातो मे ण कायव्वो ॥ ५५९७ ॥**

'एषः' आत्मविशुद्धिकारकः परिहारतपः प्रतिपद्यते अतो न किञ्चिद् युष्मानालपति, अत्र "सत्सामीप्ये सद्वद्वा" ( सि० हे० ५-४-१ ) इति सूत्रेण भविष्यदर्थे वर्तमाना, ततो नालप्स्यतीत्यर्थः; यूयमपि "णं" एनं माऽऽलपत । एष युष्मान् सूत्रा-ऽर्थौ शरीरोदन्तं वा न पृच्छति, यूयमप्येनं मा पृच्छत । एवमन्येष्वपि परिवर्तनादिपदेषु भावनीयम् । इत्थमात्मार्थचिन्तकस्यास्य ध्यानस्य परिहारतपसश्च व्याघातः "मे" भवद्भिर्न कर्तव्यः ॥ ५५९७ ॥

अथ यानि पदानि तेन साधुभिश्च परस्परं परिहर्तव्यानि तानि दर्शयति—

**आलावण पडिपुच्छण, परियट्टुट्ठाण वंदणग मत्ते ।**
**पडिलेहण संघाडग, भत्तदाण संभुंजणा चेव ॥ ५५९८ ॥**

'आलपनं' सम्भाषणमनेन युष्माकं न कर्तव्यं युष्माभिरप्यस्य न विधेयम् । एवं सूत्रा-ऽर्थयोः शरीरवार्तया वा प्रतिप्रच्छनम्, पूर्वाधीतस्य श्रुतस्य परिवर्तनम्, कालग्रहणनिमित्तं "उट्ठाणं" ति उत्थापनम्, रात्रौ सुप्तोत्थितैर्वन्दनककरणम्, खेल-कायिका-संज्ञामात्रकाणां समर्पणम्, उपकरणस्य प्रत्युपेक्षणं भिक्षा-विचारादौ गच्छतां सङ्घाटकेन भवनम्, भक्तस्य वा पानकस्य वा दानम्, एकमण्डल्यां वा सम्—एकीभूय भोजनं न कर्तव्यम् ॥ ५५९८ ॥

अथ कुर्वन्ति तत इदं प्रायश्चित्तम्—

**संघाडगाओ जाव उ, लहुओ मासो दसण्ह उ पयाणं ।**
**लहुगा य भत्तदाणे, संभुंजण होंतऽणुग्घाता ॥ ५५९९ ॥**

एतेषामालपनादीनां दशानां पदानां मध्यादालपनादारभ्य यावत् सङ्घाटकपदं तावद् अष्टानां पदानां करणे गच्छसाधूनां प्रत्येकं मासलघु । अथ भक्तदानं कुर्वन्ति ततश्चतुर्लघु । एकमण्डल्यां सम्भुञ्जने ततस्तेषामेव चत्वारोऽनुद्घाता मासाः ॥ ५५९९ ॥ परिहारकस्य इदं प्रायश्चित्तम्—

**अट्ठण्हं तु पदाणं, गुरुओ परिहारियस्स मासो उ ।**
**भत्तपदाणे संभुंजणे य चउरो अणुग्घाया ॥ ५६०० ॥**

पारिहारिकस्याष्टानां पदानां सङ्घाटकान्तानां करणे मासगुरु । भक्तप्रदानं सम्भोजनं वा कुर्वतश्चत्वारो मासा अनुद्घाताः ॥ ५६०० ॥ इमे च दोषाः—

---

१ °तिसूत्रम° डे० ॥ २ °तिसूत्रं मु° डे० ॥ ३ °जनं-सम्भोजनं भवद्भिरनेन सार्धं न कर्त्तव्यानि, एषोऽपि भवद्भिः सार्धं न करिष्यतीति ॥ ५५९८ ॥ अथ कां० ॥ ४ °त्त-पाणे कां० ताभा० विना । एतत्पाठानुसारेणैव भा० टीका । दृश्यतां टिप्पणी ५ ॥ ५ °क्त-पानं कु° भा० । °क्त-पानदानं कु° कां० ॥

**कुव्वंताणेयाणि उ, आणादि विराहणा दुवेण्हं पि ।**
**देवय पमत्त छलणा, अधिगरणादी व उदितम्मि ॥ ५६०१ ॥**[1]

'एतानि' आलपनादीनि कुर्वतामाज्ञादयो दोषाः, विराधना च 'द्वयोरपि' पारिहारिक-गच्छसाधुवर्गयोर्भवति । प्रमत्तस्य च देवतया छलनम् । अन्येन वा साधुना भणितः— 'किमित्यालपनादीनि करोषि ?' एवं 'उदिते' भणिते सति अधिकरणादयो दोषा भवन्ति ॥ ५६०१ ॥ अथ "कप्पइ० एगगिहंसि" इत्यादि सूत्रं व्याख्यानयति—

**विउलं व भत्त-पाणं, दट्ठूणं साहुवज्जणं चेव ।**
**नाऊण तस्स भावं, संघाडं देंति आयरिया ॥ ५६०२ ॥**

सङ्खड्यामुत्सवे वा विपुलं भक्त-पानं साधुभिरानीतं दृष्ट्वा तद्विषय ईषदभिलाषो भवेत्, 'साधुवर्जनां च' 'साधुभिः स्वदुश्चरितैः परित्यक्तोऽहम्' इत्येवं मनसि चिन्तयेत् । एवं ज्ञात्वा तदीयं भावमाचार्याः सङ्घाटकं ददति ॥ ५६०२ ॥ अथेदमेवं भावपदं व्याचष्टे—

**भावो देहावत्था, तप्पडिबद्धो व ईसि भावो से ।**
**अप्पातित हयतण्हो, वहति सुहं सेसपच्छित्तं ॥ ५६०३ ॥**

भावो नाम 'देहावस्था' देहस्य दुर्बलता 'तत्प्रतिबद्धो वा' विपुलभक्त-पानविषय ईषद् 'भावः' अभिलाषः तस्य सञ्जातः, ततश्च यथाभिलषिताहारेणाप्यायितो हततृष्णश्च सन् सुखेनैव शेषं प्रायश्चित्तं वहतीति मत्वा सङ्घाटको दीयते ॥ ५६०३ ॥

अमुमेवार्थमन्याचार्यपरिपाट्या किञ्चिद् विशेषयुक्तमाह—

**देहस्स तु दोबल्लं, भावो ईसिं व तप्पडीबंधो ।**
**अगिलाए सोहिकरणेण वा वि पावं पहीणं से ॥ ५६०४ ॥**

देहस्य दौर्बल्यम् ईषद्वा मनोज्ञाहारविषयप्रतिबन्धः, एष भाव उच्यते । यद्वा अग्लान्या शोधिकरणेन पापं तस्य प्रक्षीणप्रायम् एवंविधं भावमाचार्या जानीयुः ॥ ५६०४ ॥

कथं पुनरेतद् जानन्ति ? इति उच्यते—

**आगंतु एयरो वा, भावं अतिसेसिओ से जाणिज्जा ।**
**हेऊहि व से भावं, जाणित्ता अणतिसेसी वि ॥ ५६०५ ॥**

आगन्तुकः 'इतरो वा' वास्तव्यः 'अतिशयी' नवपूर्वधरादिरवधिज्ञानादियुक्तो वा स एवंविधं भावं "से" तस्य जानीयात् । अथवा अनतिशयज्ञान्यपि बाह्यैराकारादिभिर्हेतुभिस्तस्य भावं जानीयात् ॥ ५६०५ ॥ ततः—

**सक्कमहादी दिवसो, पणीयभत्ता व संखडी विपुला ।**
**धुवलंभिग एगघरं, तं सागकुलं असागं वा ॥ ५६०६ ॥**

शक्रमहादेर्दिवसो यदा सञ्जातस्तदा तं क्वापि श्राद्धगृहे नयन्ति, प्रणीतभक्ता वा काचिद् विपुला सङ्खडिस्तत्र वा विसर्जयन्ति । तच्च 'ध्रुवलम्भिकम्' अवश्यसम्भावनीयलाभमेकमेव गृहं विद्यते । इदं च श्रावकगृहमश्रावकगृहं वा भवेत् उभयत्रापि गुरवः स्वयं प्रथमतो गच्छन्ति,

१ एतदनन्तरं ग्रन्थाग्रम्—४५०० कां० ॥ २ °व निर्युक्तिगाथागतं भा° कां० ॥

तं च परिहारिकं ब्रुवते—आर्य ! समागन्तव्यममुकगृहे पात्रकमुद्ग्राह्य त्वयेति । ततस्तत्र प्राप्तस्य विपुलमवगाहिमादिकं भक्तं दापयन्ति । अथासौ तत्र गन्तुं न शक्नोति ततो भाजनानि गृहीत्वा स्वयमानीय गुरवो ददति ॥ ५६०६ ॥

एतावता "कप्पइ आयरि-उवज्झाएणं तद्दिवसं एगगिहंसि पिंडवायं दवावित्तए" इति सूत्रं व्याख्यातं मन्तव्यम् । अथ "तेण परं नो से कप्पइ" इत्यादि सूत्रं व्याख्याति—

**भत्तं वा पाणं वा, ण दिंति परिहारियस्स ण करेंति ।**
**कारणे उट्ठवणादी, चोयग गोणीय दिट्ठंतो ॥ ५६०७ ॥**

भक्तं वा पानकं वा ततः परं परिहारिकस्य निष्कारणे न प्रयच्छन्ति, न वा किमप्यालपनादिकं कुर्वन्ति । 'कारणे तु' यदा उत्थानादिकं कर्तुं क्षीणदेहतया न शक्नोति तत उत्थापनादिकं कारयन्ति । अत्र नोदकः प्राह—किं प्रायश्चित्तं राजदण्ड इवावशेन वोढव्यं येनेदृशीमवस्थां प्राप्तस्यापि भक्त-पानमानीय न दीयते ? । सूरिराह—**गोदृष्टान्तो**ऽत्र क्रियते—यथा नवप्रावृषि या गौरुत्थातुं न शक्नोति तां गोप उत्थापयति अटवीं च चारिचरणार्थं नयति, या तु गन्तुं न शक्नोति तस्या गृहे आनीय प्रयच्छति । एवं पारिहारिकोऽपि यत् कर्तुं शक्नोति तत् कार्यते, यत् पुनरुत्थानादिकं कर्तुं न शक्नोति तद् अनुपारिहारिकः करोति ॥ ५६०७ ॥

कथं पुनरसौ करोति ? इत्याह—

**उट्ठेज्ज निसीएज्जा, भिक्खं हिंडेज्ज भंडगं पेहे ।**
**कुवियपियबंधवस्स व, करेइ इयरो वि तुसिणीओ ॥ ५६०८ ॥**

स परिहारिकस्तपसा क्लान्तो ब्रवीति—उत्तिष्ठेयं निषीदेयं भिक्षां हिण्डेयं भाण्डकं प्रत्युपेक्षेयम्; एवमुक्तेऽनुपारिहारिक उत्थापनादिकं सर्वमपि करोति । कथम् ? इत्याह—यथा प्रियबान्धवस्य कुपितः कश्चिद् बन्धुर्यत् करणीयं तत् तूष्णीकः करोति, एवम् 'इतरोऽपि' अनुपारिहारिकः सर्वमपि तूष्णीकभावेन करोति ॥ ५६०८ ॥ अथ भिक्षाहिण्डनादौ विधिमाह—

**णीणेति पवेसेति व, भिक्खगए उग्गहं तउग्गहियं ।**
**रक्खति य रीयमाणं, उक्खिवइ करे य पेहाए ॥ ५६०९ ॥**

भिक्षां गतस्य पारिहारिकस्य 'अवग्रहं' प्रतिग्रहं तेन—पारिहारिकेण गृहीतमनुपारिहारिकः पात्रबन्धाद् निष्काशयति तत्र वा प्रवेशयति, 'रीयमाणं च' पर्यटन्तं श्वान-गवाद्युपद्रवात् प्रपतनादेर्वा रक्षति, भाण्डप्रत्युपेक्षणायामशक्तस्य 'करौ' हस्तावनुपरिहारिक उत्क्षिपति येन स्वयमेव प्रत्युपेक्षते ॥ ५६०९ ॥

आह—यदि नामाशक्तस्तर्हि कस्मादसौ भिक्षाहिण्डनादिकं विधाप्यते ? इत्याह—

**एवं तु असढभावो, विरियायारो य होति अणुचिण्णो ।**

---

१ भक्खयं दा° मो॰ ले॰ ॥ २ "चोदगो भणति—कीस उट्ठविज्जति ? बहुयरी से णिज्जरा होहिति । एत्थाऽऽयरिओ **गोणिदिट्ठंतं** करेति—जधा गोणी पवुविट्ठा जति ण उट्ठविज्जति मरति छुधाए, तधा सो वि अणुट्ठविज्जंतो मरेज्जा । संजमजीवितं च कम्मक्खयट्ठाए चिरं इच्छिज्जति, व्यसनसप्तमव्याख्या कार्या ॥" इति **चूर्णौ विशेषचूर्णौ च** ॥

**भयजणणं सेसाण य, तवो य सप्पुरिसचरियं च ॥ ५६१० ॥**

'एवं' यथाशक्ति कुर्वतस्तस्याशठभावो भवति, वीर्याचारश्चानुचीर्णो भवति, 'शेषाणामपि' साधूनां भयजननं कृतं भवति, तपः सम्यगनुपालितं भवति, सत्पुरुषचरितं च कृतं भवति ॥ ५६१० ॥ अथ "छिन्नावाएसु पंथेसु" इत्यादि सूत्रं व्याचष्टे—

**छिण्णावात किलंते, ठवणा खेत्तस्स पालणा दोण्हं ।**
**असहुस्स भत्तदाणं, कारणे पंथे व पत्ते वा ॥ ५६११ ॥**

छिन्नापातेऽध्वनि गच्छन् परिहारिको यदि बुभुक्षया तृषा च क्लान्तो ग्रामं प्राप्तुं न शक्नोति ततोऽनुपारिहारिको भक्त-पानं गृहीत्वा तस्यान्तरग्रामे ददाति । अथवा स भगवान् अनिगूहितबल-वीर्यो बहिर्ग्रामे भिक्षां पर्यटति, तत्र हिण्डित्वा तपःक्लान्तो यदा न शक्नोत्यागन्तुं तत आगन्तुमसमर्थे तस्मिन् क्षेत्रस्य स्थापना कर्तव्या, मूलग्राम एव स हिण्डते न बहिर्भिक्षाचर्यां गच्छतीत्यर्थः । "पालणा दोण्हं" ति 'द्वयोरपि' पारिहारिका-ऽनुपारिहारिकयोः पालना कर्तव्या । कथम् ? इत्याह—"असहुस्स भत्तदाणं कारणे" त्ति यदि स पारिहारिकः स्वग्रामेऽपि हिण्डितुं न शक्नोति ततोऽनुपारिहारिको हिण्डित्वा तस्य प्रयच्छति अनुपारिहारिकस्तु मण्डलीतः समुद्दिशति; अथानुपारिहारिकोऽपि ग्लानत्वेनासहिष्णुर्भिक्षां गन्तुं न शक्नोति तत एवंविधे कारणे द्वयोरपि गच्छसत्काः साधवः प्रयच्छन्ति; एवं द्वावपि पालितौ—अनुकम्पितौ भवतः । एवं स्थानस्थितानां यतना भणिता । सम्प्रति पूर्णे मासे वर्षावासे वा ग्रामानुग्रामं विहरतां "पंथे व पत्ते व" त्ति पथि वा ग्रामे प्राप्तानां वा यतनाऽभिधीयते ॥ ५६११ ॥

**उवयंति डहरगामं, पत्ता परिहारिए अपावंते ।**
**तस्सऽट्ठा तं गामं, ठविंति अन्नेसु हिंडंति ॥ ५६१२ ॥**

पथि व्रजन्तो डहरं–लघुतरं ग्रामं प्राप्ताः ◁ परिहारिकश्चाद्यापि न प्राप्नोति ततस्तस्यार्थे तं ग्रामं स्थापयन्ति । स्वयं तु गच्छसाधवोऽन्येषु ग्रामेषु भिक्षां हिण्डन्ते ॥ ५६१२ ॥

**वेलइवाते दूरम्मि य गामे तस्स ठाविउमद्धं ।**
**अद्धं अडंति सो वि य, अद्धमडे तेहिँ अडिते वा ॥ ५६१३ ॥**

अथ यावत् ते गच्छन्ति तावदन्यग्रामेषु वेलाया अतिपातो भवति दूरे वा स ग्रामस्ततः 'तस्यैव' मूलग्रामस्यार्द्धे ▷ परिहारिकस्यार्थाय स्थापयित्वा द्वितीयमर्द्धं स्वयमटन्ति । एवं तावत् पथि वर्तमाने पारिहारिके भणितम् । यत्र तु साधवः पारिहारिकश्च समकमेव प्राप्तास्तत्राप्यर्द्धे ग्रामे साधवो हिण्डन्तेऽर्द्धे पारिहारिकः । अथ साधूनामर्द्धे पर्यटतां न पूर्यते ततस्तैः सर्वस्मिन् ग्रामे पर्यटिते पारिहारिकः पश्चात् पर्यटति ॥ ५६१३ ॥

अथ पारिहारिको यथा कारणे गच्छसाधूनां वैयावृत्यं करोति तथाऽभिधीयते—

**बिइयपय कारणम्मि, गच्छे वाऽऽगाढे सो तु जयणाए ।**
**अणुपरिहारिओ कप्पट्ठितो व आगाढ संविग्गो ॥ ५६१४ ॥**

द्वितीयपदे 'कारणे' कुलादिकार्ये पारिहारिकोऽपि साधूनां वैयावृत्यं करोति, यथा पाराञ्चिकः

---

१ °ड्डा णं गा° ताभा० ॥ २ ◁ ▷ एतच्चिह्नान्तर्वर्ती पाठः भा० पुस्तक एव वर्तते, नान्येष्वादर्शेष्विति ॥

"अच्छउ महाणुभागो, जहासुहं गुणसयागरो संघो ।" ( गा० ५०४५ ) इत्यादि भणित्वा वैयावृत्त्यं कृतवान् । तथा गच्छे वा आगाढं कारणं समजनि ततः सोऽपि 'यतमया' वक्ष्यमाणया भक्त-पानाहरणादिकं वैयावृत्त्यं करोति । "अणुपरिहारिय" इत्यादि पश्चार्द्धम्—अथ गच्छसाधवः प्रज्ञप्तिमहाश्रुतादीनामन्यतरमागाढयोगं प्रतिपन्ना उपाध्यायश्च ग्लानः कालगतो वा ततोऽनुपारिहारिकः कल्पस्थितो वा वाचनां गच्छस्य ददाति । अथ तावप्यशक्तौ ततः पारिहारिकोऽपि वाचनां ददाति । स च तां ददानोऽपि संविग्न एव मन्तव्यः । इह मा भूत् कस्यापि मतिः—पूर्वसूत्रेण प्रतिषिद्धं सूत्रार्थदानादिकमनेनानुज्ञातम्, एवं पूर्वापरविरुद्धमाचरन् असंविग्नोऽसाविति तन्मतिव्यपोहार्थं संविग्नग्रहणम् ॥ ५६१४ ॥

अथ गच्छस्यागाढकारणं व्याचष्टे—

मयण च्छेव विसोमे, देति गणे सो तिरो व अतिरो वा ।
तब्भाणेसु सएसु व, तस्स वि जोगं जणो देति ॥ ५६१५ ॥

मदनकोद्रवकूरेण भुक्तेन गच्छः सर्वोऽपि ग्लानः जातः, छेवकम्–अशिवं तेन वा गृहीतः, प्रत्यनीकेन वा विषं दत्तम्, अवमौदर्ये वा न संस्तरति; तत एवमागाढे कारणे 'सः' पारिहारिको भक्त-पानमौषधानि वा 'तद्भाजनेषु' गच्छसत्केषु पात्रकेषु तेषामभावे स्वभाजनेषु वा गृहीत्वा तिरोहितमतिरोहितं वा 'गणे' गच्छस्य प्रयच्छति । तिरोहितं नाम–स आनीयानुपारिहारिकस्य ददाति सोऽपि गच्छस्यार्पयति, अथानुपारिहारिकोऽपि ग्लानस्तदा कल्पस्थितस्य ददाति सोऽपि तथैव गच्छस्यार्पयति । कल्पस्थितस्यापि ग्लानत्वेऽतिरोहितं–स्वयमेव गच्छस्य ददाति । यच्च तेषां योग्यं जनो ददाति तत् तेषामर्थाय गृह्णाति, यत् तु तस्य योग्यं तद् आत्मनो गृह्णाति ॥ ५६१५ ॥

एवं ता पंथम्मि, जत्थ वि य ठिया तहिं पि एमेव ।
बाहिं अडती डहरे, इयरे अद्धद्ध अडिते वा ॥ ५६१६ ॥

एवं तावत् पथि गच्छतामभिहितम् । यत्रापि च ग्रामादौ स्थितास्तत्राप्येवमेव मन्तव्यम् । मार्गे च यत्र गच्छो न प्राप्तस्तत्र डहरे ग्रामे पारिहारिकः प्राप्तो बहिर्ग्रामे पर्यटति । "इतरे" ति अथ वेलातिक्रमो दूरे वा स ग्रामः ततस्तत्रैव मूलग्रामेऽर्द्धे पारिहारिकः पर्यटति अर्द्धे गच्छसाधवः, तेन वा अटिते गच्छः पर्यटति ॥ ५६१६ ॥

किं बहुना ? पक्षद्वयस्याप्ययं परमार्थ उच्यते—

कप्पट्ठिय परिहारी, अणुपरिहारी व भत्त-पाणेणं ।
पंथे खेत्ते व दुवे, सो वि य गच्छस्स एमेव ॥ ५६१७ ॥

पथि वा क्षेत्रे वा द्वयोरपि वर्तमानो ग्लानत्वादौ कारणे कल्पस्थितोऽनुपारिहारिको वा पारिहारिकस्य भक्त-पानेनोपग्रहं करोति । सोऽपि च पारिहारिको गच्छस्यैवमेवोपग्रहं करोति ॥ ५६१७ ॥

## ॥ परिहारिकप्रकृतं समाप्तम् ॥

## महानदीप्रकृतम्

सूत्रम्—

**नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा इमाओ पंच महण्णवाओ महानदीओ उद्दिट्ठाओ गणियाओ वंजियाओ अंतो मासस्स दुक्खुत्तो वा तिक्खुत्तो वा उत्तरित्तए वा संतरित्तए वा । तं जहा—गंगा जउणा सरऊ कोसिया मही ३२ ॥**

अस्य सम्बन्धमाह—

**अद्धाणमेव पगतं, तत्थ थले पुव्ववण्णिया मेरा ।**
**जति होज्ज तत्थ तोयं, तत्थ उ सुत्तं इमं होति ॥ ५६१८ ॥**

अनन्तरसूत्रे "छिन्नावाएसु पंथेसु" इति वचनाद् 'अध्वा' मार्ग एव तावत् प्रकृतः । तत्र च स्थले गच्छतां 'पूर्ववर्णिता' प्रथमोद्देशके अध्वसूत्रे भणिता मर्यादा अवधारणीया । यत्र तु मार्गे तोयं भवति तद्विषयविधिप्रतिपादकमिदं सूत्रं भवति ॥ ५६१८ ॥

अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य व्याख्या—'नो कल्पन्ते' न युज्यन्ते, सूत्रे एकवचननिर्देशः प्राकृतत्वात्, निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा 'इमाः' प्रत्यक्षासन्नाः पञ्च 'महार्णवाः' बहूदकतया महार्णवकल्पा महासमुद्रगामिन्यो वा 'महानद्यः' गुरुनिम्नगाः 'उद्दिष्टाः' सामान्येनाभिहिता यथा महानद्य इति, गणिता यथा पञ्चेति, 'व्यञ्जिताः' व्यक्तीकृता यथा गङ्गेत्यादि, 'अन्तः' मध्ये मासस्य द्विकृत्वो वा त्रिकृत्वो वा उत्तरीतुं वा बाहु-जङ्घादिना सन्तरीतुं वा नावादिना । तद्यथा—गङ्गा १ यमुना २ सरयूः ३ कोशिका ४ मही ५ । एष सूत्रार्थः ॥

अथ भाष्यकारः कानिचिद् विषमपदानि विवृणोति—

**इमाउ त्ति सुत्तउत्ता, उद्दिट्ठ नदीउ गणिय पंचेव ।**
**गंगादि वंजिताओ, बहुओदग महण्णवातो तू ॥ ५६१९ ॥**

इमा इति प्रत्यक्षवाचिना सर्वनाम्ना सूत्रोक्ता उच्यन्ते । उद्दिष्टा नद्य इति । गणिताः पञ्चेति । व्यञ्जिता गङ्गादिभिः पदैर्व्यक्तीकृताः । यास्तु बहूदकास्ता महार्णवा उच्यन्ते ॥ ५६१९ ॥ कृता विषमपदव्याख्या भाष्यकृता । अथ निर्युक्तिविस्तरः—

**पंचण्हं गहणेणं, सेसा वि उ सूइया महासलिला ।**
**तत्थ पुरा विहरिंसु य, ण य तातो कयाइ सुक्खंति ॥ ५६२० ॥**

'पञ्चानां' गङ्गादीनां ग्रहणेन शेषा अपि याः[1] 'महासलिलाः' बहूदका अविच्छेदवाहिन्यस्ताः सूचिता मन्तव्याः । स्याद् बुद्धिः—किमर्थं गङ्गादीनां ग्रहणम् ? इत्याह—"तत्थ" इत्यादि,

---

१ °लः, गाथायां नपुंसकत्वनिर्देशः प्राकृतत्वात् । तत्र कां० ॥ २ याः सिन्धुप्रभृतयः 'महा° कां० ॥

येषु विषयेषु गङ्गादयः पञ्च महानद्यो वहन्ति तेषु पुरा साधवो विहृतवन्तो न च ताः कदाचनापि शुष्यन्ति अतस्तासां ग्रहणम् ॥ ५६२० ॥

पंच परूवेतूणं णावासंतारिमे उ जं जत्थ ।
उत्तरणम्मि वि लहुगा, तत्थ वि आणाइणो दोसा ॥ ५६२१ ॥

पञ्चापि महानदीः प्ररूप्य या यादृशी यत्र विषये तां तथा वर्णयित्वा प्रस्तुतमभिधातव्यम् । तच्चेदम्—नौसन्तारिमं यत्रोदकं तत्र यत् षट्कायविराधनामात्मविराधनां वा प्राप्नोति तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । यत्रापि जङ्घादिनोत्तरणं भवति तत्रापि चतुर्लघुकाः, अपिशब्दात् सन्तरणेऽपि चतुर्लघु । 'तत्रापि' उत्तरणे आज्ञादयो दोषाः, किं पुनः सन्तरणे ? इत्यपिशब्दार्थः ॥ ५६२१ ॥

तत्र सन्तरणे तावद्दोषानाह—

अणुकंपा पडिणीया, व होज्ज बहवो उ पच्चवाया ऊ ।
एतेसिं णाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥ ५६२२ ॥

अनुकम्पादोषाः प्रत्यनीकदोषा बहवो वा प्रत्यपाया नावमारूढानां भवन्ति । एतेषां च 'नानात्वं' विभागं यथाऽऽनुपूर्व्या वक्ष्यामि ॥ ५६२२ ॥ तदेवाह—

छुभणं जले थलातो, अण्णो वोयारिता छुभति साहू ।
ठवणं व पत्थिताए, दट्ठुं णावं व आणेती ॥ ५६२३ ॥

साधुं तरणार्थिनं ज्ञात्वा नौवाणिजो नाविको वा अनुकम्पया नावं स्थलाद् जले प्रक्षिपेत्, ये वा पूर्वं नावमारोपितास्तानुदके तटे वा अवतार्य साधून् प्रक्षिपेद् नावमारोपयेदित्यर्थः, सम्प्रस्थितां वा नावं 'साधव उत्तरिष्यन्ति' इति कृत्वा स्थापयेत्, साधून् वा दृष्ट्वा परकूलाद् नावमानयेत् ॥ ५६२३ ॥ अत्र चामी दोषाः—

नावित-साधुपदोसो, णियत्तणऽच्छंतगा य हरियादी ।
जं तेण-सावएहि व, पवहण अण्णाएँ किणणं वा ॥ ५६२४ ॥

ये वेडिकाया अवतारितास्ते नाविकस्य वा साधूनां वा उपरि प्रद्वेषं गच्छेयुः, यद्वा ते निवर्तमानाः तटे वा तिष्ठन्तो हरितादीनां विराधनामन्यद्वाऽधिकरणं यत् कुर्वन्ति, यद्वा स्तेनश्वापदेभ्य उपद्रवं प्राप्नुवन्ति, अवहन्तीं वा नावं यत् प्रवाहयिष्यन्ति, अन्यस्या वा नावः क्रयणं करिष्यन्ति तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् ॥ ५६२४ ॥ परकूलाद् नावानयने दृष्टान्तमाह—

मज्जणगतो मुरुंडो, णावं दट्ठूण अप्पणा णेति ।
कहिगा जति अक्खेवा, तति लहुगा मग्गणा पच्छा ॥ ५६२५ ॥

'मज्जनगतः' स्नानं कुर्वन् मुरुण्डो राजा साधून् दृष्ट्वा नावमात्मना नयति, ततो नावारूढः साधुः कथिकाः कथयितुं लग्नः, यावन्तश्च तत्रावलकाक्षेपास्तावन्ति चतुर्लघूनि, पश्चाच्च साधूनां मार्गणा तेनान्तःपुरे धर्मकथनार्थं कृता इत्यक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्—

पाडलिपुत्ते मुरुंडो राया गंगाए नावारूढो उदगे ण्हायंतो अभिरमइ । साहुणो परकूले पासित्ता सयमेव नावं नेउं साहुणो विलग्गावित्ता भणइ—कहं कहेह जाव न उत्तरामो । अक्खे-

१ आयं नइं उत्त° के० ॥

वणाइकहालद्धिजुत्तो साहू कहेउमारद्धो । तेण कहिंतेण अक्खित्तो नाविय सजेइ—सणियं कड्ढेहि जेण एस साहू चिरं कहेइ । साहूण कारणे सणियं गच्छंताणं जत्तिया आवलखेवा तत्तिया चउलहुं । उत्तिण्णेण रन्ना अंतेउरे कहियं, जहा—सुंदराओ कहाओ तरङ्गवत्याद्याः कथयन्ति साधवः । अंतेउरियाणं कोउगं जायं । रायाणं विण्णवेंति—जइ ते साहुणो इह-माणिज्जिज्ज तो अम्हे वि सुणेज्जामो । रन्ना गवेसित्ता पवेसिया साहुणो अंतेउरे ॥ ५६२५ ॥

तत्र च प्रविष्टानामेते दोषाः—

**सुत्त-ऽत्थे पलिमंथो, णेगा दोसा य णिवघरपवेसे ।**
**सइकरण कोउएण व, भुत्ता-ऽभुत्ताण गमणादी ॥ ५६२६ ॥**

सूत्रा-ऽर्थयोः परिमन्थः, स्मृतिकरणेन कौतुकेन च भुक्ता-ऽभुक्तानां प्रतिगमनादयोऽनेके दोषा नृपगृहप्रवेशे भवन्ति ॥ ५६२६ ॥

एते अनुकम्पायां दोषा उक्ताः । अथ प्रत्यनीकतायां दोषानाह—

**वुब्भण सिंचण बोलण, कंबल-सबला य घाडितिनिमित्तं ।**
**अणुसट्ठा कालगता, णागकुमारेसु उववण्णा ॥ ५६२७ ॥**

वाहनं सेचनं बोलनं वा प्रत्यनीकेन साधूनां क्रियते तत्र सामान्येन दृष्टान्तोऽयम्—**मथुरायां भण्डीरयक्षयात्रायां कम्बल-शबलौ** वृषभौ घाटिकेन–मित्रेण **जिनदासस्यानापृच्छया** वाहितौ, तन्निमित्तं सञ्जातवैराग्यौ श्रावकेणानुशिष्टौ भक्तं प्रत्याख्याय कालगतौ **नागकुमारेषूपपन्नौ** ॥ ५६२७ ॥ ततस्ताभ्यां किं कृतम्? इत्याह—

**वीरवरस्स भगवतो, नावारूढस्स कासि उवसग्गं ।**
**मिच्छद्दिट्ठि परद्धो, कंबल-सबलेहिं तारिओ भगवं ॥ ५६२८ ॥**

**वीरवरस्य** भगवतो नावारूढस्य **सुदाढो नागकुमार** उपसर्गमकार्षीत् । तेन मिथ्यादृष्टिना प्रारब्धो जले बोलयितुं **कम्बल-शबलाभ्यां** मोचितो भगवान् । कथानकमावश्यकादवधारणीयम् ( आव० निर्यु० गा० ४६९–७१ हारि० टीका पत्र १९९–१ ) । एवं नावारूढस्य साधोर्बोलनादिकं सम्भवतीति ॥ ५६२८ ॥ अथ वाहनादिपदानि व्याचष्टे—

**सीसगता वि ण दुक्खं, करेह मज्झं ति एवमवि वोत्तुं ।**
**जा छुब्भंतु समुद्दे, मुंचति णावं विलग्गेसु ॥ ५६२९ ॥**

'सिद्धार्थका इव शिरसि गता अपि मम दुःखं न कुरुथ' एवमप्युक्त्वा कश्चित् प्रत्यनीको यदा साधवो नावं विलग्नास्तदा नावं नदीमुखेषु मुञ्चति येन समुद्रे प्रक्षिप्यन्ते, तत्र पतिताः क्लिश्यन्तां म्रियन्तां चेति कृत्वा ॥ ५६२९ ॥ गतं वाहनम् । अथ सेचनं बोलनं चाह—

**सिंचति ते उवहिं वा, ते चेव जले छुभेज्ज उवधिं वा ।**
**मरणोवधिनिप्फन्नं, अणेसिग तणादि तरपण्णं ॥ ५६३० ॥**

नाविकोऽन्यो वा प्रत्यनीकस्तान् साधूनुपधिं वा सिञ्चति, तानेव साधूनुपधिं वा जले प्रक्षिपेत्, बोलयेदित्यर्थः । तत्र चात्मविराधनायां मरणनिष्पन्नम्, उपधिनाशे उपधिनिष्पन्नम् ।

१ °च्छुगा । उसि° के० ॥

यच्चानेषणीयमुपधिं ग्रहीष्यन्ति तृणानि वा सेविष्यन्ते तन्निष्पन्नं सर्वमपि प्राप्नोति । तरपण्यं वा स मार्गयेत्, अदीयमाने चिरं निरुन्ध्यात्, दीयमानेऽधिकरणम् ॥ ५६३० ॥

गताः प्रत्यनीकदोषाः । अथ 'बहवः प्रत्यपायाः' इति व्याचष्टे—

संघट्टणाऽऽयसिंचण, उवगरणे पडण संजमे दोसा ।
सावत तेणे तिण्हेगतर, विराहणा संजमा-ऽऽयाए ॥ ५६३१ ॥

त्रसादीनां सङ्घट्टना, जलेन वा सेचनमुपकरणस्यात्मनो वा, पतनं वा, एते संयमे दोषाः । श्वापदकृता स्तेनकृता वा आत्मविराधना । "तिण्हेगयर" त्ति अनुकम्पा-प्रत्यनीकता-तदुभया-दिरूपाणां त्रयाणामेकतरस्मिन् संयमविराधनाऽऽत्मविराधना च भवति । एष सङ्ग्रहगाथासमासार्थः ॥ ५६३१ ॥ अथैनामेव विवृणोति—

तस-उदग-वणे घट्टण, सिंचण लोगे अ णावि सिंचणता ।
वुब्भण उवधाऽऽतुभये, मगरादि समुद्दतेणा य ॥ ५६३२ ॥

जलोद्भवानां त्रसानाम् उदकस्य वा सेवालादिरूपस्य वनस्पतेर्वा सङ्घट्टनं भवेत् । लोकेन नाविकेन वा साधोरुपकरणस्य वा सेचनं क्रियेत । अतिसम्बाधे वा उपधेरात्मनस्तदुभयस्य वा स्ताघेऽस्ताघे वा जले "वुब्भणं" बोलनं भवति । मकरादयः श्वापदाः समुद्रस्तेनाश्च तत्र भवेयुः ॥ ५६३२ ॥ इदमेव व्याचष्टे—

ओहार-मगरादीया, घोरा तत्थ उ सावया ।
सरीरोवहिमादीया, णावातेणा य कत्थई ॥ ५६३३ ॥

ओहार-मकरादयः 'तत्र' नद्यां घोराः श्वापदा भवन्ति । ओहारः—मत्स्यविशेषः, स किल नावमधस्तले जलस्य नयति । शरीरहरा उपधिहरा वा आदिशब्दादुभयहरा वा नौस्तेनाः कुत्रापि भवेयुः, एतैरात्मन उपधेर्वा विनाशे तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् ॥ ५६३३ ॥

अथ "तिण्हेगयर" त्ति पदं व्याख्याति—

सावय तेणे उभयं, अणुकंपादी विराहणा तिण्णि ।
संजम आउभयं वा, उत्तर-णावुत्तरंते वा ॥ ५६३४ ॥

श्वापदाः १ स्तेनाः २ श्वापदा अपि स्तेना अपि ३ एतत् त्रयम् । अथवा अनुकम्पया १ प्रत्यनीकतया २ अनुकम्पा-प्रत्यनीकार्थतया वा ३ । अथवा तिस्रो विराधनाः, तद्यथा—संयमविराधना १ आत्मविराधना २ उभयविराधना वा ३ । यदि वा उदकमवतरतः १ नावारूढस्य २ नाव उत्तरतश्चेति ३ । एतेषां त्रयाणामेकतरस्मिन् बहवः प्रत्यपाया भवन्ति ॥ ५६३४ ॥ उक्तं सन्तरणम् । अथोत्तरणमाह—

उत्तरणम्मि परूविते, उत्तरमाणस्स चउलहू होंति ।
आणाइणो य दोसा, विराहणा संजमा-ऽऽताए ॥ ५६३५ ॥

उत्तरणं नाम—यद् नावं विना वक्ष्यमाणैः सङ्घट्टादिभिः प्रकारैरुत्तीर्यते, तस्मिन्नुत्तरणे प्ररूपिते सति इदमभिधीयते—यदि जङ्घादिनाऽप्युत्तरति तदा चतुर्लघु, आज्ञादयश्च दोषाः, संयमा-ऽऽत्मविराधना च भवति ॥ ५६३५ ॥ तस्य चोत्तरणस्यैते भेदाः—

**जंघद्धा संघट्टो, संघट्टुवरिं तु लेवो जा णाभी ।**
**तेण परं लेवोवरि, तुंबोडुव णावबज्जेसु ॥ ५६३६ ॥**

यस्मिन् जले उत्तरतां पादतलादारभ्य जङ्घाया अर्द्धं ब्रुडति स सङ्घट्टः । तस्यैव सङ्घट्टस्योपरि यावद् नाभिरेतावद् यत्र प्रविशति स लेपः । 'ततः परं' नाभेरारभ्योपरि सर्वमपि लेपोपरि भण्यते । तच्च द्विधा—स्ताघमस्ताघं च । यत्र नासिका न ब्रुडति तत् स्ताघम्, यत्र तु नासिका ब्रुडति तद् अस्ताघम् । तच्च तुम्बोडुपादिभिर्नौवर्जितैर्यद् उत्तीर्यते तद् उत्तरणं मन्तव्यम् । तत्रोत्तरणे एते संयमा-ऽऽत्मविराधनादोषाः ॥ ५६३६ ॥

**संघट्टणा य सिंचण, उवगरणे पडण संजमे दोसा ।**
**चिक्खल्ल खाणु कंटग, सावत भय वुब्भणे आया ॥ ५६३७ ॥**

लोकेन साधोः सङ्घट्टनं भवेत्, साधुर्वा जलं सङ्घट्टयेत्, सङ्घट्टनग्रहणात् परितापनमपद्रावणं च सूचितम्, एतेषु कायनिष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । प्रत्यनीकः साधुमुपधिं वा सिञ्चति, स्वयं वा साधुरात्मानं सिञ्चेत्, साधोरुपकरणस्य जले पतनम्, एते संयमे दोषाः । तथा चिक्खल्ले यद् निमज्जति, जलमध्ये वा चक्षुरविषयतया स्थाणुना कण्टकेन वा यद् विध्यते, मकरादिश्वापदभयं वा भवति, नदीवाहेन वा वाहनम्, एषा सर्वाऽप्यात्मविराधना ॥ ५६३७ ॥

सूत्रम्—

**अह पुण एवं जाणिज्जा—एरवइ कुणालाए जत्थ चक्किया एगं पायं जले किच्चा एगं पायं थले किच्चा एवण्हं कप्पइ अंतो मासस्स दुक्खुत्तो वा तिक्खुत्तो वा उत्तरित्तए वा संतरित्तए वा; एवं नो चक्किया एवण्हं नो कप्पइ अंतो मासस्स दुक्खुत्तो वा तिक्खुत्तो वा उत्तरित्तए वा संतरित्तए वा ३३ ॥**

अथ पुनरेवं जानीयात्—ऐरावती नाम नदी कुणालाया नगर्याः समीपे जङ्घार्द्धप्रमाणेनोद्वेधेन वहति तस्यामन्यस्यां वा यत्रैवं "चक्किया" शक्नुयात् उत्तरीतुमिति शेषः । कथम्? इत्याह—एकं पादं जले कृत्वा एकं पादं 'स्थले' आकाशे कृत्वा, "एवण्ह"मिति वाक्यालङ्कारे, यत्रोत्तरीतुं शक्नुयात् तत्र कल्पते अन्तर्मासस्य द्विकृत्वो वा त्रिकृत्वो वा 'उत्तरीतुं' लङ्घयितुं 'सन्तरीतुं वा' भूयः प्रत्यागन्तुम् । यत्र पुनरेवमुत्तरीतुं न शक्नुयात् तत्र नो कल्पते अन्तर्मासस्य द्विकृत्वो वा त्रिकृत्वो वा उत्तरीतुं वा सन्तरीतुं वा इति सूत्रार्थः ॥

अथ भाष्यकृद् विषमपदानि व्याचष्टे—

**एरवइ जम्हि चक्किय, जल-थलकरणे इमं तु णाणत्तं ।**
**एगो जलम्मि एगो, थलम्मि इहइं थलाऽऽगासं ॥ ५६३८ ॥**

---

१ गाथायां संघट्टणाऽऽयसिंचण इत्याकारप्रश्लेषेऽयमर्थः ॥

ऐरावती नाम नदी, यस्यां जल-स्थलयोः पादकरणेनोत्तरीतुं शक्यम् । इदमेव चात्र नानात्वम्— यत् पूर्वसूत्रोक्तासु महानदीषु मासान्तर्द्वौ त्रीन् वा वारान् उत्तरीतुं न कल्पते, अस्यां तु कल्पते । यच्चात्र 'एको जले एकश्च पादः स्थले' इत्युक्तं तद् इह स्थलमाकाशमुच्यते ॥५६३८॥

**एरवइ कुणालाए, विस्थिण्णा अद्धजोअणं वहति ।**
**कप्पति तत्थ अपुण्णे, गंतुं जा वेरिसी अण्णा ॥ ५६३९**

ऐरावती नदी कुणालानगर्या अदूरेऽर्द्धयोजनं विस्तीर्णा वहति, सा चोद्वेधेन जङ्घार्द्धप्रमाणा, तत्र ऋतुबद्धे काले मासकल्पे अपूर्णे त्रिकृत्वो भिक्षाग्रहण-लेपानयनादौ कार्ये यतनया गन्तुं कल्पते । या वा ईदृशी अन्याऽपि नदी तस्यामपि त्रिकृत्वो गन्तुं कल्पते ॥ ५६३९ ॥

कृता विषमपदव्याख्या भाष्यकृता । सम्प्रति **निर्युक्तिविस्तरः—**

**[१]संकम थले य णोथल, पासाणजले य वालुगजले य ।**
**सुद्धुदग पंकमीसे, परित्तऽणंते तसा चेव ॥ ५६४० ॥**

नदीमुत्तरतस्त्रयः पन्थानः, तद्यथा—सङ्क्रमः १ स्थलं २ नोस्थलं ३ च । तत्र यद् एकाङ्गिकादिना सङ्क्रमेण गम्यते [२]स सङ्क्रमः । स्थलं नाम—नद्याः कूर्परेण वरणेन वा यद् नदीजलं परिहृत्य गम्यते । नोस्थलं चतुर्विधम्—पाषाणजलं वालुकाजलं शुद्धोदकं पङ्कमिश्रजलम् । एतेषु चतुर्ष्वपि गच्छतां यथासम्भवं परीत्ता-ऽनन्तकायास्त्रसाश्च विराधनां प्राप्नुवन्ति ॥५६४०॥ तथा—

**उदए चिक्खल्ल परित्त-ऽणंतकाइग तसे त मीसे त ।**
**अक्कंतमणक्कंते, संजोए होंति अप्पबहुं ॥ ५६४१ ॥**

उदके चिक्खल्लादिकः पृथिवीकायः वनस्पतयश्च परीत्तकायिका अनन्तकायिका वा त्रसाश्च द्वीन्द्रियादयो भवेयुः । एते च सर्वेऽपि यथासम्भवं मिश्रा [३]सचित्ता वा आक्रान्ता अनाक्रान्ता वा स्थिरा अस्थिरा वा सप्रत्यपाया निष्प्रत्यपाया वा भवेयुः । एतेषु च बहवः संयोगा उपयुज्य वक्तव्याः । तेषु यत्राल्पबहुत्वं भवति, अल्पतराः संयमा-ऽऽत्मविराधनादोषा बहवश्च गुणा भवन्तीत्यर्थः, तत्र कारणे समुत्पन्ने गन्तव्यम् ॥ ५६४१ ॥

यत्र च सङ्क्रमो भवति तत्रामी भङ्गविकल्पा भवेयुः—

**एगंगिय चल थिर पारिसाडि सालंब वज्जिए सभए ।**
**पडिपक्खेसु त गमणं, तज्जातियरे व संडेवा ॥ ५६४२ ॥**

सङ्क्रम एकाङ्गिको वा स्यादनेकाङ्गिको वा । एकाङ्गिकः—य एकेन फलकादिना कृतः, अनेकाङ्गिकः—अनेकफलकादिनिर्मितः । अत्रैकाङ्गिकेन गन्तव्यं नानेकाङ्गिकेन, एवं स्थिरेण न च चलेन, अपरिशाटिना न परिशाटिना, सालम्बेन गन्तव्यं न 'वर्जितेन' निरालम्बेनेत्यर्थः । सालम्बोऽपि द्विधा—एकतः सालम्बो द्विधा सालम्बश्च । पूर्वं द्विधा सालम्बेन, तत एकतः सालम्बेनापि । तथा निर्भयेन गन्तव्यं न सभयेन । अत एवाह—"**पडिपक्खेसु य गमणं**" ति अनेकाङ्गिक-चल-परिशाटि-निरालम्ब-सभयाख्यानां पञ्चानां पदानां ये एकाङ्गि-

---

१ "**संकम थले य० पुरातनं गाथाद्वयम्**" इति **विशेषचूर्णौ** ॥ २ **स पन्था अप्युपचारात् सङ्क्र°** कां० ॥ ३ **°श्रा उपलक्षणत्वात् सचि°** कां० ॥

कादयः प्रतिपक्षास्तेषु गमनं कर्तव्यम् । अत्र पञ्चभिः पदैर्द्वात्रिंशद् भङ्गाः—एकाङ्गिकः स्थिरोऽपरिशाटी सालम्बो निर्भय इत्यादि । एषु प्रथमो भङ्गः शुद्धः शेषा अशुद्धाः, तेष्वपि बहुगुणतरेषु गमनं यतना च कर्तव्या । सण्डेवका अपि सङ्क्रमभेद एव, अत आह—तज्जातकाः 'इतरे वा' अतज्जातकाः सण्डेवका भवेयुः । तत्रैव जातास्तज्जाताः शिलादयः, अन्यतः स्थानादानीय स्थापिता अतज्जाताः इष्टालकादयः । तेष्वपि चला-ऽचला-ऽऽक्रान्ता-ऽना-क्रान्तादयो भेदाः कर्तव्याः ॥ ५६४२ ॥ उक्तः सङ्क्रमः । अथ स्थलमाह—

**नदिकोप्पर वरणेण व, थलमुदयं णोथलं तु तं चउहा ।**
**उवलजल वालुगजलं, सुद्धमही पंकमुदगं च ॥ ५६४३ ॥**

नद्या आकुण्टितकूर्पराकारं वलनं नदीकूर्परमुच्यते । जलोपरि कपाटानि मुक्त्वा पालिबन्धः क्रियते स वरण उच्यते । एताभ्यां यदुदकं परिहृत्य गम्यते तत् स्थलं द्रष्टव्यम् । अथ नोस्थलं तत् चतुर्विधम्—'उपलजलम्' अधः पाषाणा उपरि जलं १ 'वालुकाजलम्' अधो वालुका उपरि पानीयं २ 'शुद्धोदकं' अधः शुद्धा मही उपरि जलं ३ 'पङ्कोदकं' अधः कर्दम उपरि जलम् ४ ॥ ५६४३ ॥ पङ्कोदकस्य चामूनि विधानानि—

**लत्तगपहे य खुलए, तहऽद्धजंघाएँ जाणुउवरिं च ।**
**लेवे य लेवउवरिं, अक्कंतादी उ संजोगा ॥ ५६४४ ॥**

यावन्मात्रमलक्तकेन पादो रज्यते तावन्मात्रो यत्र पथि कर्दमः स लत्तकपथः । खुलकमात्रः—पादघुण्टकप्रमाणः । अर्द्धजङ्घामात्रः—जङ्घार्द्धं यावद् भवति । 'जानूपरि' जानुमात्रं यावद् भवति । 'लेपः' नाभिप्रमाणः । तत ऊर्द्ध्वं सर्वोऽपि लेपोपरि । एते सर्वेऽपि कर्दमप्रकाराः । चतुर्विधे नोस्थले कर्दमे चाक्रान्ता-ऽनाक्रान्त-सभय-निर्भयादयः संयोगा यथासम्भवं वक्तव्याः । अमुना दोषेण युक्तः पन्थाः परिहर्तव्यः ॥ ५६४४ ॥

**जो वि य होतऽक्कंतो, हरियादि-तसेहिँ चेव परिहीणो ।**
**तेण वि तु न गंतव्वं, जत्थ अवाया इमे होंति ॥ ५६४५ ॥**

योऽपि च पन्थाः 'आक्रान्तः' दरमलितो हरितादिभिस्त्रसैश्च परिहीणो भवति तेनापि न गन्तव्यम् । यत्र अमी अपाया भवन्ति ॥ ५६४५ ॥[4]

**गिरिनदि पुण्णा वाला-ऽहि-कंटगा दूरपारमावत्ता ।**
**चिक्खल्ल कलुगाणि य, गारा सेवाल उवला य ॥ ५६४६ ॥**

यत्र पथि गिरिनदी 'पूर्णा' तीव्रवेगा वहति, मकरादयो व्याला अहयो वा यत्र जलमध्ये भवन्ति, कण्टका वा पूरेणानीताः, दूरपारम् आवर्तबहुलं वा जलं भवेत्, चिक्खल्लो वा नदीषु तादृशो यत्र पादो निमज्जति, 'कलुकाः' गाथायां नपुंसकत्वं प्राकृतत्वात् पाषाणेषु द्वीन्द्रियजातिविशेषा भवन्ति ते पादौ छेदयन्ति, 'गाराः' पाषाणशृङ्गिकाः, 'सेवालः' प्रसिद्धः,

१ "थले णाम परिरएणं गम्मइ, जहा कोप्परादीणं । णोथलं पाणियं, तं चउव्विहं" इति विशेषचूर्णौ ॥
२ खलुए मो० ले० । खुलुए भा० । एवमग्रेऽपि सर्वत्र ॥ ३ खलुक° मो० ले० । खुलुक° भा० । एवमग्रेऽपि सर्वत्र ॥ ४ तानेवाह इत्यवतरणं कां० ॥

'उपलाः' छिन्नपाषाणाः । एभिरपायैर्वर्जितेन पूर्वं स्थलेन गन्तव्यम्, तदभावे सङ्क्रमेण, तदभावे नोस्थलेनापि ॥ ५६४६ ॥ तत्र चतुर्विधे नोस्थले पूर्वमनुना गन्तव्यम्—

**उवलजलेण तु पुव्वं, अक्कंत-निरच्चएण गंतव्वं ।**
**तस्सऽसति अणक्कंते, णिरच्चएणं तु गंतव्वं ॥ ५६४७ ॥**

उपलजले कर्दमो न भवति, स्थिरसंहननं च तद् भवति, अतः पूर्वं तेन 'आक्रान्त-निरत्ययेन' क्षुण्ण-निष्प्रत्यपायेन गन्तव्यम् । तस्याभावे अनाक्रान्त-निरत्ययेनापि गन्तव्यम् ॥ ५६४७ ॥

**एमेव सेसएसु वि, सिगतजलादीहिँ होंति संजोगा ।**
**पंक महुसित्थ लत्तग, खुलऽद्धजंघा य जंघा य ॥ ५६४८ ॥**

उपलाद् वालुका अल्पसंहनना, तत उपलजलाभावे वालुकाजलेन गन्तव्यम् । वालुकायाः शुद्धपृथिवी स्वल्पतरसंहनना, ततो वालुकाजलानन्तरं शुद्धोदकेन गम्यते । तेष्वपि सिकताजलादिषु शेषपदेषु 'एवमेव' प्राग्वद् आक्रान्ता-ऽनाक्रान्तादयः संयोगा भवन्ति । पङ्कजलं बहुप्रत्यपायम्, अतः सर्वेषामुपलजलादीनामभावे तेन गम्यते । स च यः 'मधुसिक्थाकृतिः' क्रमतलयोरेव केवलं लगति यो वा अलक्तकमात्रस्तेन पूर्वं गम्यते, पश्चात् खुलकमात्रेण, पश्चादर्द्धजङ्घामात्रेण, ततो जङ्घामात्रेण जानुप्रमाणेनेत्यर्थः ॥ ५६४८ ॥

यस्तु जानुप्रमाणादुपरि पङ्कस्तेन न गन्तव्यम्, यत आह—

**अद्धोरुतमित्तातो, जो खलु उवरिं तु कद्दमो होति ।**
**कंटादिजढो वि य सो, अत्थाहजलं व सावायं ॥ ५६४९ ॥**

'अर्द्धोरुकमात्राद्' जानुप्रमाणादुपरि यः कर्दमो भवति स कण्टकाद्यपायवर्जितोऽप्यस्ताघजलमिव गन्तुमशक्यत्वात् सापायो मन्तव्यः ॥ ५६४९ ॥

एष विधिः सर्वोऽपि सचित्तपृथिव्यामुक्तः । अथाचित्तपृथिव्यां तमेवाह—

**जत्थ अचित्ता पुढवी, तहियं आउ-तरुजीवसंजोगा ।**
**जोणिपरित्त-थिरेहि य, अक्कंत-णिरच्चएहिं च ॥ ५६५० ॥**

यत्र पृथिवी अचित्ता तत्राप्कायजीवानां तरुजीवानां च संयोगाः कर्तव्याः । तद्यथा—पृथिवी सर्वत्राप्यचित्ता किमप्कायेन गच्छतु ? किं वा वनस्पतिना ? उच्यते—अप्काये नियमाद् वनस्पतिरस्ति तस्मात् तेन मा गात्, वनस्पतिना गच्छतु, तत्रापि परीत्तयोनिकेन स्थिरसंहननेन आक्रान्तेन निरत्ययेन च–निष्प्रत्यपायेन । अत्र षोडश भङ्गाः, तद्यथा—प्रत्येकयोनिकः स्थिर आक्रान्तो निःप्रत्यपायः, एष प्रथमो भङ्गः, सप्रत्यपायेन द्वितीयः, अनाक्रान्तेऽप्येवमेव द्वौ विकल्पौ, एवं स्थिरे चत्वारो विकल्पाः लब्धाः, अस्थिरेऽप्येवं चत्वारः, एते प्रत्येकयोनिकेनाष्टौ भङ्गा लब्धाः, अनन्तयोनिकेऽप्येवमेवाष्टौ लभ्यन्ते, एवं सर्वसङ्ख्यया वनस्पतिकाये परीत्तादिभिः पदैः षोडश भङ्गा भवन्ति ॥ ५६५० ॥ अथाप्कायस्य त्रसानां च संयोगानाह—

**एमेव य संजोगा, उदगस्स चउव्विहेहिं तु तसेहिं ।**
**अक्कंत-थिरसरीरे-णिरच्चएहिं तु गंतव्वं ॥ ५६५१ ॥**

---

१ एतैर° भा० ॥ २ गन्तव्यम्, तेष्व° भा० ॥

चतुर्विधास्त्रसाः—द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाश्चतुरिन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाश्चेति । एतैश्चतुर्विधैरपि त्रसैराक्रान्तादिभिः पदैरेवमेव उदकेन सह संयोगाः कार्याः, तद्यथा—आक्रान्ताः स्थिरा निःप्रत्यपायाः १ आक्रान्ताः स्थिराः सप्रत्यपायाः २ एवं त्रिभिः पदैरष्टौ भङ्गा भवन्ति, एते च द्वीन्द्रियादिषु चतुर्ष्वपि प्रत्येकमष्टावष्टौ लभ्यन्ते, जाता भङ्गकानां द्वात्रिंशत् । अथ सान्तर-निरन्तरविकल्पविवक्षा क्रियते ततश्चतुःषष्टिः संयोगा उत्तिष्ठन्ते । अत्र चाक्रान्त-स्थिरशरीर-निरत्ययैः सान्तरैस्त्रसैर्गन्तव्यं नाप्कायेन ॥ ५६५१ ॥

**तेऊ-वाउविहूणा, एवं सेसा वि सव्वसंजोगा ।**
**उदगस्स उ कायव्वा, जेणऽहिगारो इहं उदए ॥ ५६५२ ॥**

'तेजो-वायुकाययोर्गमनं न सम्भवति' इति कृत्वा तेजो-वायुविहीना एवं शेषा अपि संयोगाः सर्वेऽपि कर्तव्याः । तत्राप्कायस्य वनस्पतिना त्रसैश्च सह भङ्गका उक्ताः, अथ वनस्पति-त्रसानां द्विकसंयोगेन भङ्गा उच्यन्ते— किं वनस्पतौ गम्यताम् ? उत त्रसेषु ? उच्यते—त्रसेषु सान्तरेषु गन्तव्यम्, न पुनर्वनस्पतौ, तत्र हि नियमेन त्रसा भवेयुः । आह च **निशीथचूर्णिकृत्**—

पुव्वं तसेसु थिराइसु गंतव्वं, जतो वणे वि नियमा तसा अत्थि ।

पृथिव्यप्काय-वनस्पतित्रयसम्भवे कतमेन गम्यताम् ? उच्यते—पूर्वं पृथिवीकायेन, ततो वनस्पतिना, ततोऽप्कायेनापि । पृथिव्युदक-वनस्पति-त्रसलक्षणचतुष्कसंयोगसम्भवे कतमेन गन्तव्यम् ? उच्यते—पूर्वमचित्तपृथिव्यां प्रविरलत्रसेषु, ततः सचित्तपृथिव्याम्, ततो वनस्पतिना, ततोऽप्कायेनापि गम्यम् । एवमिह बहुभङ्गविस्तरे बीजमात्रमिदमुक्तम् । इह च उदकपदममुञ्चता ये भङ्गाः प्राप्यन्ते ते कर्तव्याः, येनेह सूत्रे उदकस्याधिकारः । शेषास्तु विनेयव्युत्पादनार्थमभिहिताः ॥ ५६५२ ॥ "अंतो मासस्स दुक्खुत्तो वा" इत्यादि सूत्रं व्याख्याति—

**एरवइ जत्थ चक्किय, तारिसए न उवहम्मती खेत्तं ।**
**पडिसिद्धं उत्तरणं, पुण्णामति खेत्तऽणुण्णायं ॥ ५६५३ ॥**

या ऐरावती नदी कुणालाजनपदे योजनार्द्धविस्तीर्णा जङ्घार्द्धमानमुदकं वहति तस्याः केचित् प्रदेशाः शुष्का न तत्रोदकमस्ति, तामुत्तीर्य यदि भिक्षाचर्या गम्यते तदा ऋतुबद्धे त्रय उदकसङ्घट्टाः, ते च गता-ऽऽगतेन षड् भवन्ति; वर्षासु सप्त दकसङ्घट्टाः, ते च गता-ऽऽगतेन चतुर्दश भवन्ति । एवमीदृशे सङ्घट्टप्रमाणे क्षेत्रं नोपहन्यते, इत एकेनाप्यधिके सङ्घट्टे उपहन्यते । अन्यत्रापि यत्राधिकतराः सङ्घट्टास्तत्रोत्तरणं प्रतिषिद्धम् । पूर्णे मासकल्पे वर्षावासे वा यद्यनुत्तीर्णानामपरं मासकल्पप्रायोग्यं क्षेत्रमस्ति ततो नोत्तरणीयम् । अथानुत्तीर्णानामन्यत् क्षेत्रं नास्ति ततोऽसति क्षेत्रे उत्तरणमनुज्ञातम् ॥ ५६५३ ॥ इदमेव व्याचष्टे—

**सत्त उ वासासु भवे, दगघट्टा तिन्नि होंति उडुबद्धे ।**
**जे तु ण हणंति खेत्तं, भिक्खायरियं व न हणंति ॥ ५६५४ ॥**

सप्तोदकसङ्घट्टा वर्षासु त्रयः सङ्घट्टा ऋतुबद्धे भवन्ति एतावन्तः क्षेत्रं नोपघ्नन्ति, न वा भिक्षाचर्यामुपघ्नन्ति ॥ ५६५४ ॥

**जह कारणम्मि पुण्णे, अंतो तह कारणम्मि असिवादी ।**

**उवहिस्स गहण लिंपण, णावोयग तं पि जतणाए ॥ ५६५५ ॥**

यथा कारणे पूर्णे मासकल्पे वर्षावासे वाऽपरक्षेत्राभावे दृष्टमुत्तरणं तथा मासस्यान्तरप्यशिवादिभिः कारणैरुपधेर्वा ग्रहणार्थं लेपस्यानयनार्थं वा उत्तरणीयम् । कारणे यत्र नावाऽप्युदकं तीर्यते तत्रापि यतनया सन्तरणीयम् ॥ ५६५५ ॥ तत्र चायं विधिः—

**नाव थल लेवहेट्ठा, लेवो वा उवरि एव लेवस्स ।**
**दोण्णी दिवड्ढमेकं, अद्धं णावाएँ परिहाती ॥ ५६५६ ॥**

अत्र पूर्वार्द्ध-पश्चार्द्धपदानां यथासङ्ख्येन योजना—नावुत्तरणस्थानाद् यदि द्वे योजने वक्रं स्थलेन गम्यते तेन गन्तव्यं न च नौरारोढव्या, "लेवहिट्ठ" त्ति लेपस्याधस्ताद् दकसङ्घट्टेन यदि सार्द्धयोजनपरिरयेण गम्यते ततस्तत्र गम्यतां न च नावमधिरोहेत्, एवं योजनपर्याहारेण लेपेन गच्छतु मा च नावमधिरुहत्, अर्द्धयोजनपर्यवहारेण लेपोपरिणा गच्छेत् न च नावमधिरोहेत्; एवं नावुत्तरणस्थानात् स्थलादिषु योजनद्वयादिकं परिहीयते । एवमेव लेपोपरिस्थानात् सार्द्धयोजनपरिहारेण स्थलेन, एकयोजनपरिरयेण सङ्घट्टेन, अर्द्धयोजनपरिहारेण वा लेपेन गम्यतां न च लेपोपरिणा । लेपोत्तरणस्थानादेकयोजनपर्यवहारेण स्थलेन, अर्द्धयोजनपरिहारेण वा सङ्घट्टेन गन्तव्यं न लेपेन । सङ्घट्टोत्तरणस्थानादर्द्धयोजनपर्यवहारेण स्थलेन गम्यतां न च सङ्घट्टेन । एतेषां परिहारपरिमाणानामभावे नावा लेपोपरिणा लेपेन सङ्घट्टेन वा गम्यते न कश्चिद्दोषः ॥ ५६५६ ॥ अत्र "नाव थल" त्ति पदं व्याचष्टे—

**दो जोयणाइँ गंतुं, जहियं गम्मति थलेण तेण वए ।**
**मा य दुरुहे नावं, तत्थावाया बहू वुत्ता ॥ ५६५७ ॥**

द्वे योजने गत्वा यत्र स्थलेन गम्यते तेन पथा व्रजेद् मा च नावमारोहत् । यतस्तत्र बहवोऽपायाः पूर्वमेवोक्ताः । कारणे तु तत्रापि गम्यते ॥ ५६५७ ॥

तत्र सङ्घट्टे गच्छतां तावद् यतनामाह—

**थलसंकमणे जयणा, पलोयणा पुच्छिऊण उत्तरणं ।**
**परिपुच्छिऊण गमणं, जति पंथो तेण जतणाए ॥ ५६५८ ॥**

स्थलसङ्क्रमणे यतना कार्या, एकं पादं जले एकं च पादं स्थले कुर्यादित्यर्थः । प्रलोकना नाम—लोकमुत्तरन्तं प्रलोकयति, यस्मिन् पार्श्वे जङ्घार्द्धमात्रमुदकं तत्र गच्छति । अथोत्तरतो न पश्यति ततः प्रातिपथिकमन्यं वा पृच्छति, ततो यत्र नीचतरमुदकं तत्रोत्तरणं विधेयम् । "परिपुच्छिऊण" इत्यादि, यदि तस्योदकस्य परिहारेण पन्था विद्यते तदा तं परित्यज्य यतनया तेन गन्तव्यम् ॥ ५६५८ ॥ अथ स्थलपथेऽमी दोषा भवेयुः—

**समुदाणं पंथो वा, वसही वा थलपथेण जति नत्थि ।**
**सावत-तेणभयं वा, संघट्टेणं ततो गच्छे ॥ ५६५९ ॥**

'समुदानं' भिक्षा तत्र नास्ति, स्थलपथ एव वा नास्ति, वसतिर्वा स्थलपथे यदि न समस्ति, श्वापदभयं स्तेनभयं वा तत्र विद्यते ततः स्थलपथं मुक्त्वा सङ्घट्टेन प्रथमतो गच्छेत्, तदभावे लेपेन ॥ ५६५९ ॥ तत्रेयं यतना—

**णिभये गारत्थीणं, तु मग्गतो चोलपट्टमुस्सारे ।**
**सभए अत्थग्घे वा, उत्तिण्णेसुं घणं पट्टं ॥ ५६६० ॥**

यदि स साधुर्गृहिसार्थसहायस्तत उदकसमीपं गत्वोर्द्ध्वकायं मुखवस्त्रिकयाऽधःकायं रजोहरणेन प्रमार्ज्योपकरणमेकतः कृत्वा यदि निर्भयं–चौरभयं नास्ति ततो गृहस्थानां 'मार्गतः' सर्वपश्चादुदकमवतरति । यथा यथा चोण्डमुण्डतरं जलमवगाहते तथा तथोपर्युपरि चोलपट्टकमुत्सारयेद् येन न तीम्यते । अथ तत्र सभयम् अस्ताघं वा जलं ततो यदा कियन्तोऽपि गृहस्था अग्रतोऽवतीर्णास्तदा मध्ये साधुनाऽवतरणीयम् चोलपट्टकं च 'घनं' दृढं बध्नीयात् ॥ ५६६० ॥ एतेन विधिनोत्तीर्णस्य यदि चोलपट्टकोऽन्यद्वा किञ्चिदुपकरणजातं तीमितं तदाऽयं विधिः—

**दगतीरे ता चिट्ठे, णिप्पगलो जाव चोलपट्टो तु ।**
**सभए पलंबमाणं, गच्छति काएण अफुसंतो ॥ ५६६१ ॥**

'दकतीरे' स्निग्धपृथिव्यामप्कायरक्षणार्थं तावत् तिष्ठेत् यावत् चोलपट्टकोऽन्यद्वोपकरणं निष्प्रगलं भवति । अथ तत्र तिष्ठतः सभयं ततः प्रगलन्तमेव तं चोलपट्टकं कायेनास्पृशन् बाहायां प्रलम्बमानं नयन् गच्छति ॥ ५६६१ ॥ यत्र सार्थविरहित एकाकी समुत्तरति तत्रायं विधिः—

**असइ गिहि णालियाए, आणक्खेउं पुणो वि पडियरणं ।**
**एगाभोगं च करे, उवकरणं लेव उवरिं वा ॥ ५६६२ ॥**

गृहिणामभावे सर्वोपकरणमवतरणतीरे मुक्त्वा नालिकां–आत्मप्रमाणात् चतुरङ्गुलातिरिक्तां यष्टिं गृहीत्वा तया "आणक्खेउं" अस्ताघतामनुमीय परतीरात् पुनरपि जले प्रतिचरणं करोति, प्रत्यागच्छतीत्यर्थः; आगत्य च तदुपकरणमेकाभोगं करोति, एकत्र नियन्त्रयतीत्यर्थः; ततस्तद् गृहीत्वा तेन परीक्षितजलपथेनोत्तरति । एष लेपे लेपोपरि वा विधिरुक्तः ॥ ५६६२ ॥

अथ नावं यैः कारणैरारोहेत् तानि दर्शयति—

**बिइयपय तेण सावय, भिक्खे वा कारणे व आगाढे ।**
**कज्जुवहि मगर छुब्भण, नावोदग तं पि जतणाए ॥ ५६६३ ॥**

द्वितीयपदमत्रोच्यते—स्थल-सङ्क्रमादिपथेषु शरीरोपधिस्तेनाः सिंहादयो वा श्वापदा भवेयुः, भैक्षं वा न लभ्यते, आगाढं वा कारणम्–अहिदष्ट-विष-विसूचिकादिकं भवेत् तत्र त्वरितमौषधान्यानेतव्यानि, कुलादिकार्यं वा अक्षेपेण करणीयमुपस्थितम्, उपधेरुत्पादनार्थं वा गन्तव्यम्, लेपे लेपोपरि वा मकरभयं ततो नावमारोहेत् । तत्र च प्रथममेवोपकरणमेकाभोगं कुर्यात् । कुतः ? इत्याह—"छुब्भण" त्ति कदाचित् प्रत्यनीकेन उदके प्रक्षिप्येत, तत एकाभोगकृतेषु भाजनेषु विलम्बस्तरतीति । "नावोदग तं पि जयणाए" त्ति यदि बलाभियोगेन नावुदकस्योत्सेचापनं कार्यते तदा तदपि यतनया कर्तव्यम् ॥ ५६६३ ॥

कथं पुनरेकाभोगमुपकरणं करोति ? इत्याह—

**पुरतो दुरुहणमेगतो, पडिलेहा पुव्व पच्छ समगं वा ।**
**सीसे मग्गतो मज्झे, बितियं उवकरण जयणाए ॥ ५६६४ ॥**

गृहिणां पुरत उपकरणं न प्रत्युपेक्षते, न वा एकाभोगं करोति । "दुरुहण" त्ति नावमारो-

ढुकामेन एकान्तमपक्रम्योपकरणं प्रत्युपेक्षणीयम् । "पडिलेह" त्ति ततोऽधःकायं रजोहरणेन उपरिकायं मुखानन्तकेन प्रमृज्य भाजनान्येकत्र बध्नाति, तेषामुपरिष्टादुपधिं सुनियन्त्रितं करोति । "पुव्व पच्छ समगं व" त्ति किं गृहिभ्यः पूर्वमारोढव्यम्? उत पश्चात्? उताहो समकम्? अत्रोत्तरम्—यदि भद्रका नाविकादयो यदि च स्थिरा नौर्न दोलायते ततः पूर्वमारोढव्यम्; अथ प्रान्ताः ततः पूर्वं नारुह्यते, मा 'अमङ्गलम्' इति कृत्वा प्रद्वेषं गमन्, तेषां प्रान्तानां भावं ज्ञात्वा समकं पश्चाद्वा आरोहणीयम् । "सीसे" त्ति नावः शिरसि न स्थातव्यम्, देवतास्थानं तदिति कृत्वा; मार्गतोऽपि न स्थातव्यम्, निर्यामकस्तत्र तिष्ठतीति कृत्वा; मध्येऽपि यत्र कूपकस्थानं तत्र न स्थातव्यम्, तद् मुक्त्वा यद् अपरं मध्ये स्थानं तत्र स्थेयम् । अथ मध्ये नास्ति स्थानं ततः शिरसि पृष्ठतो वा यत्र ते स्थापयन्ति तत्र निराबाधे स्थीयते । साकारं भक्तं प्रत्याख्याय नमस्कारपरस्तिष्ठति । उत्तरन्नपि न पूर्वमुत्तरति न वा पश्चात् किन्तु मध्ये उत्तरति । सारोपधिश्च पूर्वमेवाल्पसागारिकः क्रियते, यद् अन्तप्रान्तं चीवरं तत् प्रावृणोति । यदि च तरपण्यं नाविको मार्गयति तदा धर्मकथाऽनुशिष्टिश्च क्रियते । अथ न मुञ्चति ततो द्वितीयपदे यद् अन्तप्रान्तमुपकरणं तद् यतनया दातव्यम् । अथ तद् नेच्छति निरुणद्धि वा ततोऽनुकम्पया यदि अन्यो ददाति तदा न वारणीयः ॥ ५६६४ ॥

॥ महानदीप्रकृतं समाप्तम् ॥

---

## उ पा श्र य प्र कृ त म्

सूत्रम्—

**से तणेसु वा तणपुंजेसु वा पलालेसु वा पलालपुंजेसु वा अप्पंडेसु अप्पपाणेसु अप्पबीएसु अप्पहरिएसु अप्पुस्सेसु अप्पुत्तिंग-पणग-दगमट्टिय-मक्कडगसंताणएसु अहेसवणमायाए नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा तहप्पगारे उवस्सए हेमंत-गिम्हासु वत्थए ३४ ॥**

**से तणेसु वा जाव संताणएसु उप्पिसवणमायाए कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा तहप्पगारे उवस्सए हेमंत-गिम्हासु वत्थए ३५ ॥**

**से तणेसु वा जाव संताणएसु अहेरयणीमुक्कमउडेसु नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा तहप्पगारे उवस्सए वासावासं वत्थए ३६ ॥**

**से तणेसु वा जाव संताणएसु उप्पिरयणीमुक्कमउडेसु कप्पइ निग्गंथाण य निग्गंथीण य तहप्पगारे उवस्सए वासावासं वत्थए ३७ ॥**

अस्य सूत्रचतुष्टयस्य सम्बन्धमाह—

**अद्धाणातो निलयं, उविंति तहियं तु दो इमे सुत्ता ।**
**तत्थ वि उडुम्मि पढमं, उडुम्मि दूइज्जणा जेणं ॥ ५६६५ ॥**

पूर्वसूत्रे 'अध्वा' जलपथलक्षणः प्रकृतस्तत उत्तीर्णाः 'निलयम्' उपाश्रयमुपागच्छन्ति । तद्विषये च ऋतुबद्ध-वर्षावासयोः प्रत्येकमिमे द्वे सूत्रे आरभ्येते । तत्रापि प्रथमं सूत्रद्वयमृतुबद्धविषयं द्वितीयं वर्षावासविषयम् । कुतः ? इत्याह—ऋतुबद्धे येन कारणेन "दूइज्जणा" विहारो भवति न वर्षावासे, पूर्वसूत्रे च विहारोऽधिकृतः, अतः सम्बन्धानुलोम्येन पूर्वमृतुबद्धसूत्रद्वयं ततो वर्षावाससूत्रद्वयमिति ॥ ५६६५ ॥

**अहवा अद्धाणविही, वुत्तो वसहीविहिं इमं भणई ।**
**सा वी पुव्वं वुत्ता, इह उ पमाणं दुविह काले ॥ ५६६६ ॥**

अथवाऽध्वनि विधिः पूर्वसूत्रे उक्तः, इमं तु प्रस्तुतसूत्रे वसतिविधिं भणति । साऽपि च वसतिः 'पूर्वं' प्रथमोद्देशकादिष्वनेकशः प्रोक्ता, इह तु 'द्विविधेऽपि' ऋतुबद्ध-वर्षावासलक्षणे काले तस्याः प्रमाणमुच्यते ॥ ५६६६ ॥

अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य व्याख्या—अथ तृणेषु वा तृणपुञ्जेषु वा पलालेषु वा पलालपुञ्जेषु वा अल्पाण्डेषु अल्पप्राणेषु अल्पबीजेषु अल्पहरितेषु अल्पावश्यायेषु अल्पोत्तिङ्ग-पनक-दकमृत्तिका-मर्कटसन्तानकेषु । इह अण्डकानि पिपीलिकादीनाम्, प्राणाः—द्वीन्द्रियादयः, बीजम्—अनङ्कुरितम्, तदेवाङ्कुरितोद्भिन्नं हरितम्, अवश्यायः—स्नेहः, उत्तिङ्गः—कीटिकानगरम्, पनकः—पञ्चवर्णः साङ्कुरोऽनङ्कुरो वाऽनन्तवनस्पतिविशेषः, दकमृत्तिका—सचित्तो मिश्रो वा कर्दमः, मर्कटकः—कोलिकस्तस्य सन्तानकं—जालकम् । अल्पशब्दश्चेह सर्वत्राभाववचनः, ततोऽण्डरहितेषु प्राणरहितेषु इत्यादि मन्तव्यम् । "अहेसवणमायाए" त्ति 'अधःश्रवणमात्रया' श्रवणयोरधस्ताद् यत्र छादनतृणादीनि भवन्ति तथाप्रकारे उपाश्रये नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा हेमन्त-ग्रीष्मेषु वस्तुम्, अष्टावृतुबद्धमासानित्यर्थः ॥

एवं प्रतिषेधसूत्रमभिधाय प्रपञ्चितज्ञविनेयानुग्रहार्थं विधिसूत्रमाह—

अथ तृणेषु वा यावदल्प० सन्तानकेषु उपरिश्रवणमात्रया युक्तेषु तथाविधोपाश्रये कल्पते हेमन्त-ग्रीष्मेषु वस्तुम् ॥ एवमृतुबद्धसूत्रद्वयं व्याख्यातम् । अथ वर्षावाससूत्रद्वयं व्याख्यायते—

अथ तृणेषु वा तृणपुञ्जेषु वा यावदल्प० सन्तानकेषु "अत्रेरयणीमुक्कमउडेसु" त्ति अञ्जलिमुकुलितं बाहुद्वयमुच्छ्रितं मुकुट उच्यते स च हस्तद्वयप्रमाणः । यदाह बृहद्भाष्यकृत्—

**मउडो पुण दो रयणी, पमाणतो होइ हू मुणेयव्वो ।**

रत्निभ्यां—हस्ताभ्यां मुक्ताभ्यां—उच्छ्रिताभ्यां यो निर्मितो मुकुटः स रत्निमुक्तमुकुटः । एता-

वक्ष्यमाणमधस्तादुपरि च यत्रान्तरालं न प्राप्यते तेष्वधोरत्निमुक्तमुकुटेषु तृणादिषु न कल्पते वर्षावासे वस्तुम् ॥

अथ तृणेषु वा यावदल्प० सन्तानकेषु उपरिरत्निमुक्तमुकुटेषु यथोक्तप्रमाणेषु मुकुटोपरिवर्तिषु संस्तारके निविष्टस्य साधोर्यत्तृतीयहस्ताद्यपान्तरालयुक्तेष्वित्यर्थः । ईदृश्यां वसतौ कल्पते वर्षावासे वस्तुमिति सूत्रचतुष्टयार्थः ॥ अथ भाष्यकारः प्रथमसूत्रं विवरीषुराह—

तणगहणाऽऽरण्णतणा, सामगमादी उ सूइया सव्वे ।
सालीमाति पलाला, पुंजा पुण मंडवेसु कता ॥ ५६६७ ॥

तृणग्रहणाद् आरण्यकानि श्यामाकादीनि सर्वाण्यपि तृणानि सूचितानि । पलालग्रहणेन शाल्यादीनि पलालानि गृहीतानि । पुञ्जाः पुनस्तृणानां पलालानां वा उपरिमण्डपेषु कृता भवन्ति । येषु हि देशेषु स्वल्पानि तृणानि तेषु पुञ्जरूपतया तानि मण्डपेषु सङ्गृह्यन्ते, अधस्ताद्भूमौ स्थापितानि मा विनश्येयुरिति कृत्वा ॥ ५६६७ ॥

पुंजा उ जहिं देसे, अप्पप्पाणा य होंति एमादी ।
अप्प तिग पंच सत्त य, एतेण ण वच्चती सुत्तं ॥ ५६६८ ॥

एवं यत्र देशे मण्डपेषु पुञ्जाः कृता भवन्ति तत्र विवक्षितायां वसतौ ते पुञ्जा अल्पप्राणा अल्पबीजा एवमादिविशेषणयुक्ता भवेयुः, अत्र कस्याप्येवं बुद्धिः स्यात्—अल्पाः प्राणास्त्रयः पञ्च सप्त वा मन्तव्याः, अत आह—न 'एतेन' परोक्तेनाभिप्रायेण सूत्रं व्रजति, किं तर्हि ? अल्पशब्दोऽत्राभाववाचको द्रष्टव्यः, प्राणादयस्तेषु न सन्तीति भावः ॥ ५६६८ ॥ अत्र परः प्राह—

वत्तव्वा उ अपाणा, बंधणुलोमेणिमं कयं सुत्तं ।
पाणादिमादिएसुं, ठंते सट्ठाणपच्छित्तं ॥ ५६६९ ॥

यदि अभावार्थोऽल्पशब्दस्तत एवं सूत्रालापका वक्तव्याः—"अपाणेसु अबीएसु अहरिएसु" इत्यादि । गुरुराह—बन्धानुलोम्येनेत्थं सूत्रं कृतम् "अप्पपाणेसु" इत्यादि, एवंविधो हि पाठः सुललितः सुखेनैवोच्चरितुं शक्यते । यदि पुनर्द्वौ त्रयः पञ्च वा द्वीन्द्रियादयः प्राणिन आदिशब्दाद्दण्डादीनि वा यत्र भवन्ति तत्र तिष्ठन्ति ततस्तेषां विराधनायां स्वस्थानप्रायश्चित्तं द्रष्टव्यम् ॥ ५६६९ ॥ कथं पुनरल्पशब्दोऽभावे वर्तते ? तत आह—

थोवम्मि अभावम्मि य, विणिओगो होति अप्पसद्दस्स ।
थोवे उ अप्पमाणो, अप्पासी अप्पनिद्दो य ॥ ५६७० ॥
निस्सत्तस्स उ लोए, अभिहाणं होइ अप्पसत्तो त्ति ।
लोउत्तरे विसेसो, अप्पाहारो तुअट्टिज्जा ॥ ५६७१ ॥

स्तोकेऽभावे च अल्पशब्दस्य 'विनियोगः' व्यापारो भवति । तत्र स्तोकार्थवाचको यथा—अल्पमानो अल्पाशी अल्पनिद्रोऽयम् ॥ ५६७० ॥ अभाववाचको यथा—

*यः किल निःसत्त्वः पुरुषस्तस्य लोकेऽल्पसत्त्वोऽयमित्यभिधानं भवति ।* लोकोत्तरेऽप्ययं विशेषः समस्ति, यथा—अल्पाहारो भवेद् अल्पं च त्वग्वर्तयेत् । अभावेऽपि दृश्यते, यथा—"अप्पायंके" नीरोग इत्यर्थः ॥ ५६७१ ॥ अथ बीजादियुक्तेषु तिष्ठतां प्रायश्चित्तमाह—

[1]बिय-मट्टियासु लहुगा, हरिए लहुगा व होंति गुरुगा वा ।
पाणुत्तिंग-दएसुं, लहुगा पणए गुरू चउरो ॥ ५६७२ ॥

बीज-मृत्तिकायुक्तेषु [2]तृणादिषु तिष्ठतां चतुर्लघुकाः । हरितेषु प्रत्येकेषु चतुर्लघु, अनन्तेषु चतुर्गुरु । प्राणेषु—द्वीन्द्रियादिषु उत्तिङ्गोदकयोश्चतुर्लघु । पनके चतुर्गुरवः ॥ ५६७२ ॥

[3]उक्तः सूत्रार्थः । अथ निर्युक्तिविस्तरः—

सवणपमाणा वसही, अधिठंते चउलहुं च आणादी ।
मिच्छत्त अवाउड पडिलेह वाय माणे य वाले य ॥ ५६७३ ॥

श्रवणप्रमाणा वसतिः कर्णयोरधस्तात् तृणादियुक्ता या भवति तस्यामधःश्रवणमात्रायां तिष्ठतश्चतुर्लघु, आज्ञादयश्च दोषा मिथ्यात्वं च भवति । कथम् ? इति चेद् इत्याह—येषां साधूनां सागारिकमपावृतं वैक्रियं वा तान् प्रविशतो दृष्ट्वा लोको ब्रूयात्—अहो ! ह्रीप्रच्छादनमपि तीर्थकरेण नानुज्ञातम्, लज्जामयश्च पुरुष-स्त्रियोरलङ्कारः, तद् नूनमसर्वज्ञ एवासौ; एवं मिथ्यात्वगमनं भवेत् । "पडिलेह" त्ति उपर्यप्रत्युपेक्षिते शीर्षमास्फिटति, तत्र प्राणविराधनानिष्पन्नम्; अवनतानां च प्रविशतां निर्गच्छतां च कटी पृष्ठं वा वातेन गृह्यते । अवनतस्य च प्रविशतः सागारिकं लम्बमानं पृष्ठतः श्वानो मार्जारो वा त्रोटयेत् । "वाले य" त्ति उपरि शीर्षे आस्फिटिते सर्पो वृश्चिको वा दशेत् । यत एते दोषा अतोऽधःश्रवणमात्रायां वसतौ न स्थातव्यम् । द्वितीयपदे तिष्ठेयुरपि ॥ ५६७३ ॥

सवणपमाणा वसही, खेत्ते ठायंते बाहि वोसग्गो ।
पाणादिमादिएसुं, वित्थिण्णाऽऽगाढ जतणाए ॥ ५६७४ ॥

परेषु क्षेत्रेष्वशिवादीनि भवेयुः ततः क्षेत्राभावेऽधःश्रवणमात्रायामप्यल्पप्राणादियुक्तायां तिष्ठतामियं यतना—वसतेर्बहिरावश्यकं कुर्वन्ति । अन्योऽपि यः 'व्युत्सर्गः' कायोत्सर्गः स बहिः क्रियते । द्वितीयपदे सप्राणेषु आदिशब्दाद् बीजादिष्वपि वसतौ विद्यमानेषु तिष्ठेयुः तत्र यतनया विस्तीर्णायां तिष्ठन्ति । सा येष्ववकाशेषु संसक्ता तान् क्षारेण लक्षयन्ति, कुटमुखेन वा हरितादिकं स्थगयन्ति, दकमृत्तिका-बीजादीन्येकान्ते वृषभाः स्थापयन्ति । एवमागाढे कारणे स्थितानां यतना विज्ञेया ॥ ५६७४ ॥

वेउव्व-ऽवाउडाणं, वुत्ता जयणा णिसिज्ज कप्पो वा ।
उवओग णितऽइंते, हु छिंदणा णामणा वा वि ॥ ५६७५ ॥

ये विकुर्विता-ऽपावृतसागारिकास्तेषां प्रथमोद्देशकोक्ता यतनाऽवधारणीया । प्रविशन्तो निर्गच्छन्तश्च पृष्ठतो निषद्यां कल्पं वा कुर्वन्ति[4] । श्वानादीनामुपयोगं ददाना नित्यं निर्गच्छन्ति प्रविशन्ति च । यान्युपरि तृणान्यवलम्बन्ते तेषां प्रमार्ज्य च्छेदनं नामनं वा कुर्वन्ति ॥ ५६७५ ॥

व्याख्यातं ऋतुबद्धसूत्रद्वयम् । अथ वर्षावाससूत्रद्वयं विवृणोति—

अंजलिमउलिकयाओ, दोण्णि वि बाहा समूसिया मउडो ।
हेट्ठा उवरिं च भवे, मुक्कं तु तओ पमाणाओ ॥ ५६७६ ॥

१ अत्रान्तरे ग्रन्थाग्रम्—५००० कां० ॥ २ तृणेषु कां० विना ॥ ३ उक्तो भाष्यकृता सूत्रा° कां० ॥ ४ °न्ति येन गृहस्थाः सागारिकं न पश्येयुरिति । श्वाना° कां० ॥

अञ्जलिमुकुलीकृतौ द्वावपि बाहू समुच्छ्रितौ मुकुट उच्यते । मुक्तमुकुटं पुनः 'ततः प्रमाणात्' तावत्प्रमाणमङ्गीकृत्य संस्तारकनिविष्टस्याध उपरि च यत्रान्तरालं प्राप्यते ईदृश्यामुपरिष्टान्मुक्तमुकुटायां वसतौ वर्षाकाले स्थातव्यम् ॥ ५६७६ ॥ कुतः ? इति चेद् उच्यते—

**हत्थो लंबइ हत्थं, भूमीओ सप्पो हत्थमुट्ठेति ।**
**सप्पस्स य हत्थस्स य, जह हत्थो अंतरा होइ ॥ ५६७७ ॥**

फलकादौ संस्तारके सुप्तस्य 'हस्तः' हस्तमेकं अधो लम्बते, भूमितश्च सर्पो[1] हस्तमुत्तिष्ठति, ततः सर्पस्य च हस्तस्य च यथा हस्तो अन्तरा भवति तथा कर्तव्यम् ॥ ५६७७ ॥ तथा—

**माला लंबति हत्थं, सप्पो संथारए निविट्ठस्स ।**
**सप्पस्स य सीसस्स य, जह हत्थो अंतरा होइ ॥ ५६७८ ॥**

संस्तारके निविष्टस्य मालात् सर्पो हस्तं लम्बते, ततः सर्पस्य च शीर्षस्य च यथा हस्तो अन्तरा भवति तथा विधेयम्, ईदृक्प्रमाण उपाश्रयो ग्रहीतव्य इत्यर्थः ॥ ५६७८ ॥

**काउस्सग्गं तु ठिए, मालो जइ हवइ दोसु रयणीसु ।**
**कप्पइ वासावासो, इय तणपुंजेसु सव्वेसु ॥ ५६७९ ॥**

कायोत्सर्गे स्थितस्य मालो यदि द्वयो रत्न्योरुपरि भवति तदा कल्पते तस्यां वसतौ वर्षावासः कर्तुम् । "इय" एवं सर्वेष्वपि तृणपुञ्जेषु विधिर्द्रष्टव्यः ॥ ५६७९ ॥

**उप्पिं तु मुक्कमउडे, अहि ठंते चउलहुं च आणाई ।**
**मिच्छत्ते वालाई, बीयं आगाढ संविग्गो ॥ ५६८० ॥**

अत उपरिमुक्तमुकुटे प्रतिश्रये स्थातव्यम् । अथाधोमुक्तमुकुटे तिष्ठति ततश्चतुर्लघु आज्ञादयो मिथ्यात्वं व्यालादयश्च दोषाः पूर्वसूत्रोक्ता भवन्ति । द्वितीयपदमप्यागाढे कारणे तथैव मन्तव्यम् । तत्र च तिष्ठन् संविग्न एव भवति ॥ ५६८० ॥ अत्रेयं यतना—

**दीहाइमाईसु उ विज्जबंधं, कुव्वंति उल्लोय कडं च पोत्तिं ।**
**कप्पाऽसईए खलु सेसगाणं, मुत्तुं जहण्णेण गुरुस्स कुज्जा ॥ ५६८१ ॥**

दीर्घजातीयादिषु वसतौ विद्यमानेषु तेषां विद्यया बन्धं कुर्वन्ति । विद्याया अभावे उपरिष्टादुल्लोचं कुर्वन्ति । उल्लोचाभावे कटम्[3] । कटाभावे "पोत्तिं" ति चिलिमिलिकां सर्वसाधूनामुपरि कुर्वन्ति । अथ तावन्तः कल्पा न विद्यन्ते ततः शेषाणां मुक्त्वा जघन्येन गुरोरुपरिष्टादुल्लोचं कुर्यात् ॥ ५६८१ ॥

**॥ उपाश्रयविधिप्रकृतं समाप्तम् ॥**

## ॥ इति कल्पटीकायां चतुर्थोद्देशकः समाप्तः ॥

श्रीचूर्णिकारवदनाब्जवचोमरन्दनिष्यन्दपारणकपीवरपेशलश्रीः ।
उद्देशके मम मतिभ्रमरी[4] तुरीये, टीकामिषेण मुखरत्वमिदं वितेने ॥

---

१ सर्प ऊर्ध्वीभवन् हस्तमेकमुत्ति° कां० ॥ २ °षु अधोमुक्तमुकुटायां वसतौ कां० ॥ ३ 'कटं' वंशादिमयमुपरिष्टाद् ददति । कटा° कां० ॥ ४ मतिर्मधुपी तुरीये भा० ॥



॥ श्रीमद्विजयानन्दसूरिवरेभ्यो नमः ॥

## पूज्यश्रीभद्रबाहुस्वामिविनिर्मितस्वोपज्ञनिर्युक्त्युपेतं

# बृहत् कल्पसूत्रम् ।

श्रीसङ्घदासगणिक्षमाश्रमणसूत्रितेन लघुभाष्येण भूषितम् ।

तपाश्रीक्षेमकीर्त्याचार्यविहितया वृत्त्या समलङ्कृतम् ।

## पञ्चम उद्देशकः ।

### ब्रह्मापायप्रकृतम्

व्याख्यातश्चतुर्थोद्देशकः । सम्प्रति पञ्चम आरभ्यते । तस्य चेदमादिसूत्रचतुष्टयम्—

**देवे य इत्थिरूवं विउव्वित्ता निग्गंथं पडिगाहिज्जा, तं च निग्गंथे साइज्जेज्जा, मेहुणपडिसेवणप्पत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं १ ॥**

**देवी य इत्थिरूवं विउव्वित्ता निग्गंथं पडिगाहिज्जा, तं च निग्गंथे साइज्जेज्जा, मेहुणपडिसेवणप्पत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं २ ॥**

**देवी य पुरिसरूवं विउव्वित्ता निग्गंथिं पडिगाहेज्जा, तं च निग्गंथी साइज्जेज्जा, मेहुणपडिसेवणपत्ता आवज्जइ चाउम्मासियं अणुग्घाइयं ३ ॥**

**देवे य पुरिसरूवं विउव्वित्ता निग्गंथिं पडिगाहिज्जा, तं च निग्गंथी साइज्जिज्जा, मेहुणपडिसेवणपत्ता आवज्जइ चाउम्मासियं अणुग्घाइयं ४ ॥**

अथास्य सूत्रचतुष्टयस्य कः सम्बन्धः ? इत्याह—

**पाएण होंति विजणा, गुज्झगसंसेविया य तणपुंजा ।**
**होज्ज मिह संपयोगो, तेसु य अह पंचमे जोगो ॥ ५६८२ ॥**

प्रायेण तृणपुञ्जाः 'विजनाः' जनसम्पातरहिताः गुह्यकैश्च—व्यन्तरैः सेविताः—अधिष्ठिता भवन्ति, ततस्तेषु तिष्ठतां तैः सह मिथः सम्प्रयोगोऽपि भवेत्, अत इदं सूत्रमारभ्यते । 'अथ' एष पञ्चमोद्देशके आद्यसूत्रचतुष्टयस्य सम्बन्धः ॥ ५६८२ ॥[1]

**अवि य तिरिओवसग्गा, तत्थुदिया आयवेयणिज्जा य ।**
**इमिगा उ होंति दिव्वा, ते पडिलोमा इमे इयरे ॥ ५६८३ ॥**

'अपि च' इति सम्बन्धस्य प्रकारान्तराभ्युच्चये । 'तत्र' इति अनन्तरसूत्रे 'तिर्यगुपसर्गाः' व्यालादिकृताः 'आत्मसंवेदनीयाश्च' वातेन कटीग्रहणादयः 'उदिताः' भणिताः[2], एतेषु प्रस्तुतसूत्रेषु दिव्या उपसर्गा उच्यन्ते । उपसर्गाश्च द्विधा—'प्रतिलोमाः' प्रतिकूलाः 'इतरे च' अनुकूलाः । तत्र प्रतिकूलाः पूर्वसूत्रोक्ताः[3], इहानुकूला भण्यन्ते ॥ ५६८३ ॥[4]

**अहवा आयावाओ, चउत्थचरिमम्मि पवयणे चेव ।**
**इमओ बंभावाओ, तस्स उ भंगम्मि किं सेसं ॥ ५६८४ ॥**

अथवा चतुर्थोद्देशकचरमसूत्रे[5] आत्मापायः प्रवचनापायश्चोक्तः, अयं पुनः प्रस्तुतसूत्रेषु[6] ब्रह्मव्रतापाय उच्यते । तस्य हि भङ्गे किं नाम शेषमभग्नम् ? अतस्तद्भङ्गो मा भूदिति प्रकृतसूत्रारम्भः[7] ॥ ५६८४ ॥ अथवा चतुर्थेन प्रकारेण सम्बन्धः, तमेवाह—

**सरिसाहिकारियं वा, इमं चउत्थस्स पढमसुत्तेणं ।**
**अन्नहिगारम्मि वि पत्थुतम्मि अन्नं पि इच्छंति ॥ ५६८५ ॥**

अथवा इदं सूत्रं चतुर्थोद्देशकस्य 'प्रथमसूत्रेण' "तओ अणुग्घाइया पण्णत्ता" इत्यादिरूपेण समं सदृशाधिकारिकम्[8], तत्राप्यनुद्घातिकाधिकार उक्त इहापि स एवाभिधीयत इति भावः । आह—चतुर्थप्रथमसूत्रानन्तरमपराणि भूयांसि सूत्राणि गतानि तेषु चापरापरेऽधिकारास्ततः कथमयं सम्बन्धो घटते ? इत्याह—अन्यस्मिन्नधिकारे प्रस्तुतेऽपि अन्यमधिकारमिच्छन्ति सूरयः ॥ ५६८५ ॥ तथा चात्र दृष्टान्तः—

**जह जाइरूवधातुं, खणमाणो लभिज्ज उत्तमं वयरं ।**
**तं गिण्हइ न य दोसं, वयंति तहियं इमं पेवं ॥ ५६८६ ॥**

यथा जातरूपं—सुवर्णं तस्य धातुं खनमानो यदि उत्तमं वज्रं लभेत ततस्तं गृह्णाति[9] न च तस्य वज्रं गृह्णतः कमपि दोषं वदन्ति । एवम् 'इदमपि' प्रस्तुतमपराधिकारे प्रस्तुतेऽपराधिकारग्रहणं न विरुध्यते ॥ ५६८६ ॥

---

१ द्वितीयप्रकारेण सम्बन्धमाह इत्यवतरणं कां० ॥ २ °ताः, इमे तु एतेषु पुनः प्रस्तु° कां० ॥ ३ °सूत्रे प्रोक्ताः, इह पुनरनु° कां० ॥ ४ तृतीयेनापि प्रकारेण सम्बन्धः समस्तानि (?) दर्शयति इत्यवतरणं कां० ॥ ५ °सूत्रे नीचतरायां वसतौ अवनतानां प्रविशत आत्मा° कां० ॥ ६ °षु चतुर्षु ब्र° कां० ॥ ७ °सूत्रचतुष्टयार° कां० ॥ ८ समम् 'इदं' सूत्रचतुष्टयं सदृशाधिकारिकं मन्तव्यम्, तत्रा° कां० ॥ ९ °ह्णाति, इदं काका व्याख्येयम्, ततः किं न गृह्णाति ? अपि तु गृह्णात्येव, न च तस्य कां० ॥

अत्र परः प्राह—ननु यानेन सुवर्ण-वज्रदृष्टान्तेनेदमापन्नम्—अधस्तनसूत्रेभ्यः[1] पञ्चमस्यादिसूत्रं प्रधानतरम् । सूरिराह—नैवम्, प्राधान्यस्योभयोरप्यापेक्षिकतया तुल्यत्वात् । तथाहि—

**कणएण विणा वइरं, न भायए नेव संगहमुवेइ ।**
**न य तेण विणा कणगं, तेण र अन्नोन्न पाहन्नं ॥ ५६८७ ॥**

कनकेन विना वज्रं 'न भाति' न शोभते न च 'सङ्ग्रहं' सम्बन्धमुपैति, आश्रयाभावात्; न च 'तेन' वज्रेण विना कनकं शोभते, तेन कारणेन 'र' इति निपातः पादपूरणे उभयोरप्यन्योन्यं प्राधान्यम् । एवमधस्तनसूत्राणां कनकतुल्यानां पञ्चमोद्देशकादिसूत्रस्य[3] च वज्रतुल्यस्य पापप्रतिषेधकत्वात् तुल्यमेव प्राधान्यम् ॥ ५६८७ ॥

अनेन सम्बन्धचतुष्टयेनापतितस्यास्य[4] व्याख्या—देवश्च स्त्रीरूपं विकुर्व्य निर्ग्रन्थं प्रतिगृह्णीयात्, तच्च निर्ग्रन्थो मैथुनप्रतिसेवनप्राप्तो यदि 'स्वादयेद्' अनुमोदयेत् तत आपद्यते चातुर्मासिकं परिहारस्थानमनुद्घातिकम् ॥

एवं द्वितीयसूत्रं देवी स्त्रीरूपं विकुर्व्य निर्ग्रन्थं प्रतिगृह्णीयादित्याद्यपि मन्तव्यम् ॥

तृतीयसूत्रम्—देवी पुरुषस्य रूपं विकुर्व्य निर्ग्रन्थीं प्रतिगृह्णीयात्, तच्च निर्ग्रन्थी स्वादयेद्, मैथुनप्रतिसेवनप्राप्ता आपद्यते चातुर्मासिकमनुद्घातिकं स्थानम् ॥

एवं देवः पुरुषरूपं विकुर्व्य निर्ग्रन्थीं प्रतिगृह्णीयादित्याद्यपि चतुर्थसूत्रं वक्तव्यम्[5] । एष सूत्रचतुष्टयार्थः ॥ अथाद्यसूत्रद्वयं तावद् विवरीषुराह—

**देवे य इत्थिरूवं, काउं गिण्हे तहेव देवी य ।**
**दोसु वि य परिणयाणं, चाउम्मासा भवे गुरुगा ॥ ५६८८ ॥**

देवो देवी वा स्त्रीरूपं कृत्वा निर्ग्रन्थं गृह्णीयात् । ततः किम्? इत्याह—'द्वयोरपि' देव-देवीस्त्रियोः प्रतिसेवने परिणतानां चत्वारो मासा गुरुकाः प्रायश्चित्तं भवेत् ॥ ५६८८ ॥

अथैतयोः सूत्रयोर्विषयसम्भवमाह—

**गच्छगय निग्गए वा, होज्ज तगं तत्थ निग्गमो दुविहो ।**
**उवएस अणुवएसे, सच्छंदेणं इमं तत्थ ॥ ५६८९ ॥**

गच्छगतस्य गच्छनिर्गतस्य वा 'तद्' अनन्तरोक्तं वृत्तान्तजातं भवेत् । तत्र गच्छाद् निर्गमो द्विविधः—उपदेशेन अनुपदेशेन च । अनुपदेशः स्वच्छन्द इति चैकोऽर्थः । तत्र स्वच्छन्देन इदं गच्छाद् निर्गमनमभिधीयते ॥ ५६८९ ॥

**सुत्तं अत्थो य बहू, गहियाइं नवरि मे झरेयव्वं ।**
**गच्छम्मि य वाघायं, नाऊण इमेहिं ठाणेहिं ॥ ५६९० ॥**

---

१ °भ्यः सुवर्णकल्पेभ्यः पञ्चमस्यादिसूत्रचतुष्टयं वज्रकल्पं प्रधा° कां० ॥ २ भाइती ण इय संग° ताभा० ॥ ३ °सूत्रचतुष्टयस्य च कां० ॥ ४ °स्य सूत्रचतुष्टयस्य व्याख्या—देवः चशब्दो वाक्योपन्यासे स्त्रीरूपं कां० ॥ ५ °म् । इह निर्ग्रन्थीसूत्रद्वये यत् परिहारस्थानमिति पदमनुद्घातिकविशेषणतया नोक्तं तद् निर्ग्रन्थीनां परिहारतपो न भवति किन्तु शुद्धतप एवेति ज्ञापनार्थम् । एष कां० ॥

कश्चिद् गृहीतसूत्रार्थश्चिन्तयति—सूत्रमर्थश्च मया 'बहु' प्रभूतौ गृहीतौ, नवरमिदानीं मया पूर्वगृहीतं "झरेयव्वं" ति 'स्मर्तव्यं' परिजितं कर्तव्यम्, गच्छे च स्मरणस्यामीभिः 'स्थानैः' कारणैर्व्याघातं ज्ञात्वा निर्गमने मतिं करोति॥ ५६९० ॥ कानि पुनस्तानि स्थानानि? इत्याह—

**धम्मकह महिड्ढीए, आवास निसीहिया य आलोए।**
**पडिपुच्छ वादि पाहुण, महाण गिलाणे दुलभभिक्खं ॥ ५६९१ ॥**

स धर्मकथालब्धिसम्पन्नस्ततो भूयान् जनः श्रोतुमागच्छतीति धर्मकथया व्याघातः । 'महर्द्धिकः' राजादिर्धर्मश्रवणाय समायाति तस्य विशेषतः कथनीयम्, तदावर्जने भूयसामावर्जनात्। तथा महति गच्छे बहवो निर्गच्छन्त आवश्यिकीं कुर्वन्ति प्रविशन्तो नैषेधिकीं कुर्वन्ति ते सम्यग् निरीक्षणीयाः। चशब्दाद् असङ्खडव्यवशमनादौ वा भूयसी वेला लगेत्। "आलोए" त्ति भिक्षामटित्वा समागतानामन्यसाधूनामालोचयतां यदि परावर्त्यते तत आलोचनाव्याघातः। तथा गच्छे वसतो बहवः प्रतिपृच्छानिमित्तमागच्छन्ति तेषां प्रत्युत्तरदाने व्याघातः। तं च बहुश्रुतं तत्र स्थितं श्रुत्वा वादिनः समागच्छन्ति ततस्तेऽपि निग्रहीतव्याः, अन्यथा प्रवचनोपघातः। तथा "महाणि" त्ति 'महाजने' महति गणे बहवः प्राघूर्णकाः समागच्छन्ति तेषां विश्रामणया पर्युपासनया च व्याघातः। तथा बहवो महति गणे ग्लानास्तदर्थमौषधादिकमानेतव्यम्। दुर्लभं वा तत्र क्षेत्रे भैक्षं तदर्थं चिरमटनीयम्। एवंविधो व्याघातो गच्छे भवतीति सङ्ग्रहगाथासमासार्थः ॥ ५६९१ ॥ साम्प्रतं विस्तरार्थमभिधित्सुर्धर्मकथाद्वारं सुगममित्यनादृत्य महर्द्धिकद्वारं व्याख्याति—तत्र यो राजा राजामात्योऽपरो वा महर्द्धिको धर्मश्रवणायागच्छति तस्यावश्यं विशेषेण च धर्मः कथनीयः। परः प्राह—किं कारणं महर्द्धिकस्य विशेषतो धर्मकथा क्रियते? ननु भगवद्भिरित्थमुक्तम्—"जहा पुन्नस्स कत्थई तहा तुच्छस्स कत्थई" ( आचा० श्रु० १ अ० २ उ० ६ ) अत्रोच्यते—

**कामं जहेव कत्थति, पुन्ने तह चेव कत्थई तुच्छे।**
**वाउलणाय न गिण्हइ, तम्मि य रुट्ठे बहू दोसा ॥ ५६९२ ॥**

'कामम्' अनुमतमिदं यथैव 'पूर्णस्य' महर्द्धिकस्य धर्मः कथ्यते तथैव 'तुच्छस्य' अल्पर्द्धिकस्यापि कथ्यते, परं स महर्द्धिको व्याकुलनातो यथातथा धर्मं कथ्यमानं सम्यग् 'न गृह्णाति' न प्रतिपद्यते रोषं च गच्छति, 'तस्मिंश्च' राजेश्वर-तलवरादिके रुष्टे 'बहवः' निर्विषयाज्ञापनादयो दोषाः, अतोऽवश्यं विशेषेण वा तस्य धर्मः कथनीयः; एवं सूत्रार्थस्मरणव्याघातः। अथवा गुरवो महर्द्धिकाय धर्मं कथयन्ति तदानीमपि तूष्णीकैर्भवितव्यम्, मा भूत् कोलाहलतस्तस्य सम्यग्धर्माप्रतिपत्तिरिति कृत्वा ॥ ५६९२ ॥

आवश्यिकी-नैषेधिकीपदे चशब्दसूचितं चार्थं व्याचष्टे—

**आवासिगा-ऽऽसज-दुपेहियादी, विसीयते चेव सवीरिओ वि।**
**विओसणे वा वि असंखडाणं, आलोयणं वा वि चिरेण देती ॥ ५६९३ ॥**

आवश्यकीकरणे उपलक्षणत्वाद् नैषेधिकीकरणे आसज्जकरणे दुःप्रत्युपेक्षित-दुःप्रमार्जनादिकरणे च 'सवीर्योऽपि' समर्थोऽपि यः प्रमादबहुलतया विषीदति स सम्यग् निरीक्ष्य शिक्ष-

णीयः । अथाकुर्वन्ति च साधूनामुत्थेरन् तेषां व्युपशमने भूयसी वेला लगति । प्रतिक्रमणे वा प्रचुरसाधुसमूहः क्रमेणालोचयन् चिरेणालोचनां ददाति ॥ ५६९३ ॥

मेरं ठवंति थेरा, सीदंते आवि साहति पवत्ती ।
थिरकरण सङ्कहेउं, तवोकिलंते य पुच्छंति ॥ ५६९४ ॥

'स्थविराः' आचार्या यावद् 'मर्यादां' सामाचारीं स्थापयन्ति तावत् चिरीभवति । यो वा कोऽपि सामाचार्यां सीदति तस्य प्रवृत्तिर्यावद् आचार्याणां निवेद्यते तावत् स्वाध्यायपरिमन्थः । अभिनवश्राद्धस्य वा स्थिरीकरणार्थं धर्मः कथनीयः । ये च तपस्विनो विकृष्टतपसा क्लान्तास्ते 'सुखतपः सम्यक्ति भवताम् ?' इति भूयोभूयः प्रष्टव्याः ॥ ५६९४ ॥

आवासिया निसीहिगमकरेंते असारणे तमावज्जे ।
परलोइगं च न कयं, सहायगत्तं उवेहाए ॥ ५६९५ ॥

अत्रावश्यिकी-नैषेधिक्यादिसामाचारीमकुर्वतामाचार्यः सारणां न करोति ततो यत् तद्-करणे प्रायश्चित्तं तद् उपेक्षमाण आचार्य आपद्यते । उपेक्षायां च पारलौकिकं सहायत्वं तेषा-माचार्येण कृतं न भवति । तदकरणाच्च नासौ तत्त्वतस्तेषां गुरुः । तथा चोक्तम्—

अशासितारं च गुरुं, मन्दस्नेहं च बान्धवम् ।
अदातारं च भर्तारं, जनस्थाने निवेशयेत् ॥ ॥ ५६९५ ॥

"आलोए" त्ति पदं व्याख्याति—

सम्मोहो मा दोण्ह वि, वियडिज्जंतम्मि तेण न पढंति ।
पडिपुच्छे पलिमंथो, असंखडं नेव वच्छल्लं ॥ ५६९६ ॥

ये भिक्षाचर्यां गतास्ते आगत्य यावद् आलोचयन्ति तावत् पूर्वागतानां परिवर्तनव्याघातः । अथालोचयतामपि परिवर्तयन्ति तत आचार्या आलोच्यमानं नावधारयन्ति । आलोचकोऽपि सम्यग् हस्तं मात्रकं व्यापारं वा तेन व्याक्षेपेण न स्मरति । एवं 'द्वयेषामपि सम्मोहो मा भूत्' इति कृत्वा 'विकट्यमाने' आलोच्यमाने यन्न पठन्ति एष व्याघातः । "पडिपुच्छ" त्ति द्वारं व्याख्यायते—तस्यान्तिके ये सूत्रार्थप्रतिपृच्छां कुर्वते तेषां प्रत्युत्तरं ददतः स्वाध्यायपरिमन्थः । अथ प्रत्युत्तरं न ददाति ततस्ते रुष्येयुः—'स्तब्धस्त्वम्, कस्त्वामन्तिके प्रक्ष्यिष्यति ?' इत्यादि च जल्पन्ति; ततोऽसङ्खडं भवति । न च प्रतिवचनमप्रयच्छता साधर्मिकवात्सल्यं कृतं भवति ॥ ५६९६ ॥ अथ वादि-प्राघुणक-महाजन-ग्लान-दुर्लभभैक्षद्वाराणि व्याचष्टे—

चिंतेइ वादसत्थे, वादिं पडियरति देति पडिवायं ।
महइ गणे पाहुणगा, वीसामण पज्जुवासणया ॥ ५६९७ ॥
आलोयणा सुणिज्जति, जाव य दिज्जइ गिलाण-बालाणं ।
हिंडंति चिरं अट्ठे, पाओगुभयस्स वा अट्ठा ॥ ५६९८ ॥
पाउग्गोसह-उव्वत्तणादि अतरंति जं च वेज्जस्स ।
किमहिज्जउ खलुभिक्खे, केसवितो भिक्ख-हिंडीहिं ॥ ५६९९ ॥

---

१ खुलभि° भा० ताभा० ॥

वादिनमागच्छन्तं श्रुत्वा वादशास्त्राणि चिन्तयति । तं च वादिनं यावत् प्रतिचरति प्रतिवादं च यावत् तस्य प्रयच्छति तावद् व्याघातः । तथा महति गणे प्राघुणका आगच्छेयुः तेषां विश्रामणा पर्युपासना च कर्तव्या ॥ ५६९७ ॥

आलोचना च यावत् तेषां श्रूयते, यावच्च ग्लान-बालानां दीयते, तथा प्राघुणकादीनां प्रायोग्यस्य उभयस्य–भक्तस्य पानकस्य चार्थाय चिरमेके पर्यटन्ति, 'अन्ये च' निवृत्ता अपि तानागच्छतो यावत् प्रतीक्षन्ते ॥ ५६९८ ॥

'अतरतः' ग्लानस्य प्रायोग्यौषधादिकं यावद् आनयन्ति, उद्वर्तनादिकं वा तस्य कुर्वन्ति, वैद्यस्य वा 'यद्' मज्जनादिकं परिकर्म कुर्वन्ति तावद् व्याघातः । खुलक्षेत्रे[1] वा स्वल्पया भिक्षया बाह्यया च हिण्ड्या चिरं क्लेशितः सन् किमधीताम्? न किञ्चिदित्यर्थः ॥ ५६९९ ॥

ते गंतुमणा बाहिं, आपुच्छंती तहिं तु आयरियं ।
भणिया भणंति भंते!, ण ताव पज्जत्तगा तुब्भे ॥ ५७०० ॥

एतैः कारणैः 'तत्र' गच्छे व्याघातं मत्वा 'ते' गृहीतसूत्रार्थाः साधवो बहिर्गन्तुमनस आचार्यमापृच्छन्ति । तत आचार्येण वारिता दिव्य-मानुष्य-तैरश्चोपसर्गसहने विहारे च न तावद् अद्यापि यूयं पर्याप्ताः । एवं भणितास्ते भणन्ति—भदन्त! युष्मच्चरणप्रसादेनेदृशा भविष्यामः ॥ ५७०० ॥

उप्पण्णे उवसग्गे, दिव्वे माणुस्सए तिरिक्खे य ।
हंदि! असारं नाउं, माणुस्सं जीवलोगं च ॥ ५७०१ ॥

दिव्य-मानुष्य-तैरश्चान् उपसर्गान् उत्पन्नान् सम्यगधिसहिष्याम इत्युपस्कारः । कुतः? इत्याह—'हन्दि' इति हेतूपदर्शने, वयं मानुष्यं जीवलोकं चासारमेव जानीमस्ततस्तद् ज्ञात्वा कथमुपसर्गान् न सहिष्यामः? ॥ ५७०१ ॥

ते निग्गया गुरुकुला, अन्नं गामं कमेण संपत्ता ।
काऊण विदरिसणं, इत्थीरूवेणुवस्सग्गो ॥ ५७०२ ॥

एवमुक्त्वा 'ते' साधवः स्वच्छन्देन गुरुकुलाद् निर्गताः क्रमेणान्यं ग्रामं सम्प्राप्ताः, तत्र चैकस्यां देवकुलिकायां स्थिताः । तेषां मध्ये यो मुख्यः स प्रतिश्रयपालः स्थितः, शेषा भिक्षार्थं प्रविष्टाः । ततः कयाचिद् देवतया 'विदर्शनं' विशेषेण दर्शनीयं रूपं कृत्वा स्त्रीरूपेणोपसर्गः कृतः ॥ ५७०२ ॥ इदमेव सुव्यक्तमाह—

पंता व णं छलिज्जा, नाणादिगुणा व होंतु सिं गच्छे ।
न नियत्तिहिंतऽछलिया, भद्देयर भोग वीमंसा ॥ ५७०३ ॥

सम्यग्दृष्टिरेका देवता चिन्तयति—एते तावद् अनुपदेशेन प्रस्थिताः अतो माऽमून् प्रान्ता देवता छलयेद्, ज्ञानादयो वा गुणाः "सिं" अमीषां गच्छे वसतां भवन्तु इति कृत्वा केनाप्युपसर्गेणाच्छलिताः सन्तो न निवर्तिष्यन्ते इतिबुद्ध्या भद्रिका समागच्छति । इतरा तु प्रान्ता भोगार्थिनी 'विमर्शं वा' परीक्षां कर्तुकामा छलयेत् ॥ ५७०३ ॥

---

१ खुलक्षे° भा० ॥

कथं पुनः स्त्रीरूपेणोपसर्गयेत्? इत्याह—

मिक्ख गय सत्थ चेडी, गुज्झक्खिणि अम्ह साविया कहणं ।
विहवारूवविउव्वण, किइकम्माऽऽलोयणा इणमो ॥ ५७०४ ॥

सा देवता भिक्षां गतेषु साधुषु सार्थं विकुर्व्य तां देवकुलिकां परिक्षिप्यावासिता । ततश्चेटिकारूपं विकुर्व्य प्रतिश्रयमागत्य साधुं वन्दित्वा भणति—'गोज्झक्खिणी' स्वामिनी मदीया श्राविका, सा न जानाति अत्र साधून् स्थितान्, ततोऽहं स्वामिन्याः कथयामि येन सा युष्मान् वन्दितुमायाति । ततः सा निर्गत्य विधवारूपं विकुर्व्य चेटिकाचक्रवालपरिवृता प्रतिश्रयमागत्य 'कृतिकर्म' वन्दनं कृत्वा पर्युपास्ते । ततः साधुना भणिता—कुतः श्राविका समायाता? । ततः सा इमामालोचनां ददाति ॥ ५७०४ ॥

पाडलिपुत्ते जम्मं, साएतगसेट्ठिपुत्तभज्जत्तं ।
पइमरण चेइवंदणछोम्मेण गुरू विसज्जणया ॥ ५७०५ ॥
पव्वज्जाएँ असत्ता, उज्जेणिं भोगकंखिया जामि ।
तत्थ किर बहू साधू, अवि होज्ज परीसहजिय त्था ॥ ५७०६ ॥

पाटलिपुत्रे नगरे मम जन्म समजनि, साकेतवास्तव्यस्य श्रेष्ठिपुत्रस्य च भार्यात्वम्, पतिमरणे च सञ्जाते चैत्यवन्दनच्छद्मना 'गुरुभ्यः' श्वशुरादिभ्य आत्मनो विसर्जनं कृत्वा सम्प्रति प्रव्रज्यायामशक्ता सती उज्जयिन्यां भोगानां काङ्क्षिका गच्छामि । 'तत्र' उज्जयिन्यां किल इति श्रूयते—बहवः साधवः परीषहपराजिताः सन्ति, 'थ' इति निपातः पादपूरणे, अमुनाऽभिप्रायेण निर्गताऽहम्, साम्प्रतं तु युष्मासु दृष्टेषु मदीयं मनो नाग्रतो गन्तुं ददाति ॥ ५७०५ ॥ ५७०६ ॥ ततः—

दूरे मज्झ परिजणो, जोव्वणकंडं चऽतिच्छए एवं ।
पेच्छह विभवं मे इमं, न दाणि रूवं सलाहामि ॥ ५७०७ ॥
पडिरूववयत्थाया, किणा वि मज्झं मणिच्छिया[3] तुब्भे ।
भुंजामु ताव भोए, दीहो कालो तव-गुणाणं ॥ ५७०८ ॥

दूरे तावद् मदीयः परिजनः, 'यौवनकाण्डं च' तारुण्यावसर आवयोरेवमतिक्रामद् वर्तते, पश्यत मदीयम् 'एनम्' एतावत्परिस्पन्दरूपं विभवम्, रूपं पुनरात्मीयं नेदानीमहं श्लाघे प्रत्यक्षोपलभ्यमानत्वान्न तद् वर्णयितुमुचितमित्यर्थः, यूयं च मम प्रतिरूपवयस्थायाः केनापि कारणेनात्यन्तं मनस ईप्सितास्ततो भुञ्जीवहि तावद् भोगान्, तपो-गुणानां तु पालने दीर्घः पश्चादपि कालो वर्तते ॥ ५७०७ ॥ ५७०८ ॥

भणिओ आलिद्धो या, जंघा संफासणाय ऊरूयं ।
अवयासिओ विसण्णो, छट्ठो पुण निप्पकंपो उ ॥ ५७०९ ॥

एवं तया भणितमात्रे एव प्रथमः 'विषण्णः' पराभग्नः, प्रतिसेवितुं परिणत इत्यर्थः ।

---

१ °सु प्रभूतं बलीवर्दादिसार्थं कां० ॥ २ शृण्वन्तु पूज्याः! मदीयं वृत्तान्तम्—पाट° कां० ॥ ३ °या तुब्भे ताभा० ॥ ४ 'भणितमात्र एव' निर्भणितमात्र एव प्रथ° कां० ॥

द्वितीयो भणितोऽपि यदा नेच्छति तदा सुकुमारहस्तैराश्लिष्टस्ततो विषण्णः। तृतीय आश्लिष्टोऽप्यनिच्छन् जङ्घाभ्यां संस्पृष्टो विषण्णः। एवं चतुर्थ ऊरुभ्यां संस्पृष्टो विषण्णः। पञ्चमः 'अवतासितः' बलमोटिकया आलिङ्गितो विषण्णः। षष्ठः पुनः सर्वप्रकारैः क्षोभ्यमानोऽपि निष्प्रकम्पः ॥ ५७०९ ॥ अथ एषु प्रायश्चित्तमाह—

**पढमस्स होइ मूलं, बितिए छेओ य छग्गुरुगमेव ।**
**छल्लहुगा चउगुरुगा, पंचमए छट्ठ सुद्धो उ ॥ ५७१० ॥**

अत्र प्रथमस्य मूलम्, द्वितीयस्य च्छेदः, तृतीयस्य षड्गुरु, चतुर्थस्य षड्लघु, पञ्चमस्य चतुर्गुरु, अत्र च सूत्रनिपातः। षष्ठस्तु शुद्धः ॥ ५७१० ॥

**सव्वेहिँ पगारेहिं, छंदणमाईहिँ छट्ठओ सुद्धो ।**
**तस्स वि न होइ गमणं, असमत्तसुए अदिन्ने य ॥ ५७११ ॥**

सर्वैरपि प्रकारैः छन्दनादिभिर्निष्प्रकम्पत्वात् षष्ठो यद्यपि शुद्धस्तथापि तस्याप्यसमाप्तश्रुतस्य गुरुभिः 'अदत्ते' अननुज्ञाते गणाद् निर्गमनं 'न भवति' न कल्पते ॥ ५७११ ॥

यैः प्रथमादिभिः पञ्चमान्तैर्नाधिसोढं ते भद्रिकया देवतया भणिताः—अहो! भवद्भिः प्रतिज्ञा निर्वाहिता, गर्जित्वा निर्गतानां दृष्टा भवदीयाऽवस्था?, मयैतद् युष्माकमनुशासनाय कृतम् 'मा प्रान्ता देवता छलयिष्यति' इति कृत्वा, ततो नाद्यापि किमपि विनष्टम्, गच्छत भूयोऽपि गच्छम्। एवमुक्त्वा सा प्रतिगतेति ॥

**एए अण्णे य बहू, दोसा अविदिण्णनिग्गमे भणिया ।**
**मुयइ गणममुयंतो, तेहिं लभते गुणा चेमे ॥ ५७१२ ॥**

एते अन्ये च बहवो दोषाः अवितीर्णस्य—अननुज्ञातस्य गणाद् निर्गमे भणिताः। यस्तु गणं न मुञ्चति स तैर्दोषैर्मुच्यते, गुणांश्चामून् लभते ॥ ५७१२ ॥

**नाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दंसणे चरित्ते य ।**
**धन्ना गुरुकुलवासं, आवकहाए न मुंचंति ॥ ५७१३ ॥**

'ज्ञानस्य' अपूर्वश्रुतस्य आभागी भवति, दर्शने च सम्मत्यादिशास्त्रावगाहनादिना चरणे च सारणादिना स्थिरतरो भवति, अत एव 'धन्याः' धर्मधनं लब्धारः शिष्या गुरुकुलवासं 'यावत्कथया' यावज्जीवं न मुञ्चन्ति ॥ ५७१३ ॥ किञ्च—

**भीतावासो रई धम्मे, अणाययणवज्जणा ।**
**निग्गहो य कसायाणं, एयं धीराण सासणं ॥ ५७१४ ॥**

गच्छे 'भीतावासो भवति' आचार्यादिभयभीतैः सदैवाऽऽसितव्यम्, न किमप्यकृत्यं प्रतिसेवितुं लभ्यत इति भावः। 'धर्मे च' वैयावृत्य-स्वाध्यायादिरूपे रतिर्भवति, 'अनायतनस्य च' स्त्रीसंसर्गप्रभृतिकस्य वर्जनं भवति, कषायाणां चोदीर्णानां आचार्यादीनामनुशिष्ट्या 'निग्रहः'

१ °ना-निमन्त्रणा तदादिभिः, आदिशब्दाद् आश्लेषणादिभिर्निष्प्र° कां० ॥ २ स गणममुञ्चन् तैर्दोषैर्मुच्यते, गुणांश्च 'इमान्' वक्ष्यमाणलक्षणान् लभते ॥ ५७१२ ॥ तानेवाह—नाण° कां० ॥ ३ °रूप-प्रवचनप्रभावनादर्शनादिना चर° कां० ॥

विध्यापनं भवति । 'वीराणां' तीर्थकृतामेतदेव 'शासनम्' आज्ञा, यथा—गुरुकुलवासो न मोक्तव्यः ॥ ५७१४ ॥ अपि च—

जइमं साहुसंसग्गिं, न विमोक्खसि मोक्खसि ।
उज्जतो व तवे निच्चं, न होहिसि न होहिसि ॥ ५७१५ ॥

यदि एनां साधुसंसर्गिं 'न विमोक्ष्यसि' न परित्यक्ष्यसि ततः 'मोक्ष्यसि' मुक्तो भविष्यसि । यदि च 'तपसि' अनशनादौ सुखलम्पटतया नोद्यतो भविष्यसि ततोऽव्याबाधसुखी न भविष्यसि ॥ ५७१५ ॥

सच्छंदवत्तिया जेहिं, सग्गुणेहिं जढा जढा ।
अप्पणो ते परेसिं च, निच्चं सुविहिया हिया ॥ ५७१६ ॥

यैः साधुभिः स्वच्छन्दवर्तिता 'जढा' परित्यक्ता । कथम्भूता ? सद्भिः—शोभनैर्ज्ञानादिभिर्गुणैः 'जढा' रहिता, आत्मनः 'परेषां च' षण्णां जीवनिकायानां नित्यं ते सुविहिता हिता इति प्रकटार्थम् ॥ ५७१६ ॥

जेसिं चाऽयं गणे वासो, सज्जणाणुमओ मओ ।
दुहाऽवाऽऽराहियं तेहिं, निव्विकप्पसुहं सुहं ॥ ५७१७ ॥

'येषां च' साधूनाम् 'अयम्' इत्यात्मनाऽनुभूयमानो गणे वासः 'मतः' अभिरुचितः । कथम्भूतः ? सज्जनाः—तीर्थकरादयस्तेषामनुमतः सज्जनानुमतः । 'तैः' साधुभिः 'निर्विकल्पसुखं' निरुपमसौख्यं 'सुखम्' इति सुखेनैव द्विधाऽप्याराधितम्, तद्यथा—श्रमणसुखं निर्वाणसुखं च । अत्र श्रमणसुखं निरुपममित्थं मन्तव्यम्—

नैवास्ति राजराजस्य तत् सुखं नैव देवराजस्य ।
यत् सुखमिहैव साधोर्लोकव्यापाररहितस्य ॥ ( प्रशम० आ० १२८ )

◁ निर्वाणसुखं तु निरुपमं प्रतीतमेवेति ▷ ॥ ५७१७ ॥

नवधम्मस्स हि पाएण, धम्मे न रमती मती ।
वहए सो वि संजुत्तो, गोरिवाविधुरं धुरं ॥ ५७१८ ॥

नवधर्मणो हि प्रायेण 'धर्मे' श्रुत-चारित्ररूपे न रमते मतिः, परं गच्छे वसतस्तस्यापि धर्मे रतिर्भवति । तथा चाह—'सोऽपि' नवधर्मा साधुभिः संयुक्तः संयमधुरामविधुरां वहति । गौरिव द्वितीयेन गवा संयुक्तः 'अविधुरां' अविषमां 'धुरं' शकटभारं वहति, एकस्तु वोढुं न शक्नोति ॥ ५७१८ ॥

एगागिस्स हि चित्ताइं, विचित्ताइं खणे खणे ।

---

१ गुरुकुलवासस्यैव गुणकदम्बकं दर्शयति इत्यवतरणं कां० ॥ २ जइ उज्जतो तवे डे० ॥ ३ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः कां० एव वर्तते ॥ ४ 'नवधर्मणः' अभिनवप्रव्रजितस्य साधोः 'हिः' स्फुटं प्रायेण कां० ॥ ५ °हति । क इव ? 'गौरिव' वृषभ इव, यथाऽसौ द्वितीे° कां० ॥ ६ शक्नोति, एवं साधुरपि एकाकी न संयमधुराधौरेयतामनुभवितुमर्हतीति ॥ ५७१८ ॥ एतदपि कुतः ? इत्याह—एगागिस्स कां० ॥

**उप्पज्जंति वियंते य, वसेवं सज्जणे जणे ॥ ५७१९ ॥**

एकाकिनो हि 'चित्तानि' मनांसि 'विचित्राणि' शुभा-ऽशुभाध्यवसायपरिणतानि क्षणे क्षणे उत्पद्यन्ते व्ययन्ते च, यत एवमतः 'सज्जने' सुसाधुजनसमूहरूपे जने वसेदिति । एते गुणा गच्छे वसतामुक्ताः ॥ ५७१९ ॥

एवं गच्छनिर्गतस्य प्रस्तुतसूत्रसम्भव उक्तः । सम्प्रति गच्छान्तर्गतस्य तमाह—

**अहवा अणिग्गयस्सा, भिक्ख वियारे य वसहि गामे य ।**
**जहिँ ठाणे साइज्जति, चउगुरु बितियम्मि एरिसगो ॥ ५७२० ॥**

'अथवा' इति न केवलं गच्छाद् निर्गतस्य प्रायश्चित्तं किन्तु गच्छादनिर्गतस्यापि भिक्षाचर्यां विचारभूमिं वा गतस्य वसतौ वा तिष्ठतो ग्रामबहिर्वा यत्र स्थाने देवः स्त्रीरूपेण निर्ग्रन्थं गृह्णाति तत्र यद्यसौ स्वादयति तदा तस्यापि चतुर्गुरु । एतावता प्रथमसूत्रं व्याख्यातम् । द्वितीयसूत्रेऽपि यत्र देवी स्त्रीरूपं विकुर्व्य निर्ग्रन्थं गृह्णीयादित्युक्तं तत्राऽपीदृश एव गमः ॥ ५७२० ॥

अथ निर्ग्रन्थीसूत्रद्वयं व्याख्याति—

**एसेव गमो नियमा, निग्गंथीणं पि होइ नायव्वो ।**
**नवरं पुण णाणत्तं, पुव्वं इत्थी ततो पुरिसो ॥ ५७२१ ॥**

एष एव गमो निर्ग्रन्थीनामपि ज्ञातव्यः । नवरमत्र नानात्वम्—पूर्वं "देवी य पुरिसरूवं विउव्वित्ता निग्गंथिं पडिगाहेज्जा" इति स्त्रीसूत्रम्, ततः "देवे य पुरिसरूवं" इत्यादिकं द्वितीयं पुरुषसूत्रम् । अनयोरपि सम्भवो धर्मकथादिभिर्व्याघातैर्गणाद् निर्गमने तथैव मन्तव्यो यावत् ता अप्यार्यिका देवकुलिकायां स्थिताः ॥ ५७२१ ॥ ततः—

**विगुरुव्विऊण रूवं, आगमणं डंबरेण महयाए ।**
**जिण-अज्ज-साहुभत्ती, अज्जपरिच्छा वि य तहेव ॥ ५७२२ ॥**

सम्यग्दृष्टिदेवतायाः पुरुषरूपं विकुर्व्य आगमनम् । ततो महता आडम्बरेण देवकुलिकायाः पार्श्वे सार्थमावास्य मायया श्राद्धवेषं विधाय वन्दनकं विस्तरेण कृत्वा भणति—युष्माभिः काचित् पुराणिका संयती वा विषयपराजिता दृष्टा ? युष्माकं वा यद्यर्थस्ततो भोगान् भुञ्जीमहि, भुञ्जानाश्च जिनचैत्यानामार्यिकाणां साधूनां च भक्तिं करिष्यामस्ततो निस्तरिष्यामः । एवमार्यापरीक्षाऽपि तथैव मन्तव्या यथा निर्ग्रन्थानामुक्ता ॥ ५७२२ ॥

अथ किमर्थं निर्ग्रन्थेषु प्रथमं देवसूत्रं निर्ग्रन्थीषु च प्रथमं देवीसूत्रम् ? इत्याह—

**वीसत्थया सरिसए, सारुप्पं तेण होइ पढमं तु ।**
**पुरिसुत्तरिओ धम्मो, निग्गंथो तेण पढमं तु ॥ ५७२३ ॥**

'सदृशे' स्वपक्षजातौ 'विश्वस्तता' विश्वासो भवति तेन प्रथममुभयोरपि पक्षयोः सारूप्यसूत्रमभिहितम् । 'पुरुषोत्तरो धर्मः' इति कृत्वा च प्रथमं निर्ग्रन्थानां सूत्रद्वयमुक्तम्, ततो

---

१ °क्तः । अथ गच्छा° कां० ॥ २ °मपि सूत्रद्वये ज्ञातव्यो भवति । नवरं पुनरत्र ना° कां० ॥ ३ सम्भवो धर्म° कां० ॥ ४ महइयण ताभा० ॥ ५ °क्ता । क्षुभितानां च तासां प्रायश्चित्तमपि तथैव द्रष्टव्यम् ॥ ५७२२ ॥ कां० ॥

निर्ग्रन्थीनाम् ॥ ५७२३ ॥ एतेषु विशेषतो विराधनामाह—

**खित्ताइ मारणं वा, धम्माओ भंसणं करे पंता ।**
**भद्दाए पडिबंधो, पडिगमणादी व निंतीए ॥ ५७२४ ॥**

या प्रान्तदेवता सा तं साधुं प्रतिसेवनापरिणतं क्षिप्तचित्तादिकं कुर्यात्, मारणं धर्माद् भ्रंशनं वा कुर्वीत । या भद्रा तस्यामसौ प्रतिबन्धं कुर्यात्, निर्गच्छन्त्यां वा तस्यां प्रतिगमनादीनि स विदधीत ॥ ५७२४ ॥ अत्रेदं द्वितीयपदम्—

**बितियं अच्छित्तिकरो, बहुवक्खेवे गणम्मि पुच्छित्ता ।**
**सुत्त-ऽत्थझरणहेतुं, गीतेहिँ समं स निग्गच्छे ॥ ५७२५ ॥**

योऽव्यवच्छित्तिकरो भविष्यति स सूत्रार्थौ गृहीत्वा बहुव्याक्षेपे 'गणे' गच्छे गुरूनापृच्छ्य तेषामुपदेशेन गीतार्थैः साधुभिः समं सूत्रा-ऽर्थस्मरणहेतोर्गणाद् निर्गच्छेत् । एतद् द्वितीयपदमत्र मन्तव्यम् ॥ ५७२५ ॥

**॥ ब्रह्मापायप्रकृतं समाप्तम् ॥**

---

## अ धि क र ण प्र कृ त म्

सूत्रम्—

**भिक्खू य अहिगरणं कट्टु तं अहिगरणं अविओसवित्ता इच्छिज्जा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, कप्पइ तस्स पंचराइंदियं छेयं कट्टु, परिनिव्वविय परिनिव्वविय दोच्चं पि तमेव गणं पडिनिज्जाएअव्वे सिया, जहा वा तस्स गणस्स पत्तियं सिया ५ ॥**

अस्य सम्बन्धमाह—

**एगागी मा[1] गच्छसु, चोइज्जंते असंखडं होज्जा ।**
**ऊणाहिगमारुवणे, अहिगरणं कुज्ज संबंधो ॥ ५७२६ ॥**

एकाकी मा गच्छ इत्येवं नोद्यमानो यदा न प्रतिपद्यते तदाऽसङ्खडं भवेत् । अथवा स निर्ग्रन्थो भूयो गच्छं प्रविशन् ऊनायामधिकायां वाऽऽरोपणायां दीयमानायामधिकरणं कुर्यात् । एष सम्बन्धः ॥ ५७२६ ॥

अनेनायातस्यास्य व्याख्या—भिक्षुः चशब्दाद् आचार्य उपाध्यायो वाऽधिकरणं कृत्वा तदधिकरणमव्यवशमय्य इच्छेद् अन्यं गणमुपसम्पद्य विहर्तुम्, ततः कल्पते 'तस्य' अन्यगणसङ्क्रान्तस्य[2] पञ्चरात्रिन्दिवं छेदं कर्तुम्, ततः 'परिनिर्वाप्य परिनिर्वाप्य' कोमलवचःसलिलसेकेन

---

१ मा पुच्छसु ताभा० ॥ २ °स्य स्वगणसत्केष्वेवापरेषु स्पर्धकेषु प्रविष्टस्य पञ्च° कां० ॥

कषायाग्निसन्तप्तं सर्वतः शीतलीकृत्य द्वितीयमपि वारं तमेव गणं सः 'प्रतिनिर्यातव्यः' प्रेषयितव्यः स्यात् । यथा वा तस्य गणस्य प्रीतिकं स्यात् तथा कर्त्तव्यम् । एष सूत्रार्थः ॥

अथ भाष्यविस्तरः—

सच्चित्तऽचित्त मीसे, वओगत परिहारिए य देसकहा ।
सम्ममणाउट्टंते, अधिकरण ततो समुप्पज्जे ॥ ५७२७ ॥
आभव्वमदेमाणे, गिण्हंते तमेव मग्गमाणे वा ।
सच्चित्तेयरमीसे, वितहापडिवत्तितो कलहो ॥ ५७२८ ॥
विच्चामेलण सुत्ते, देसीभासा पवंचणे चेव ।
अण्णम्मि य वत्तव्वे, हीणाहिय अक्खरे चेव ॥ ५७२९ ॥
परिहारियमठविंते, ठविते अणट्ठाइ णिव्विसंते वा ।
कुच्छितकुले व पविसति, चोदितऽणाउट्टणे कलहो ॥ ५७३० ॥
देसकहापरिकहणे, एके एके व देसरागम्मि ।
मा कर देसकहं वा, को सि तुमं मम त्ति अधिकरणं ॥ ५७३१ ॥
अह-तिरिय-उड्ढकरणे, बंधण णिव्वत्तणा य णिक्खिवणं ।
उवसम-खएण उड्ढं, उदएण भवे अहेकरणं ॥ ५७३२ ॥
जो जस्स उ उवसमती, विज्झवणं तस्स तेण कायव्वं ।
( ग्रन्थाग्रम्—५००० । सर्वग्रन्थाग्रम्—३८८२५ )
जो उ उवेहं कुज्जा, आवज्जति मासियं लहुगं ॥ ५७३३ ॥
लहुओ उ उवेहाए, गुरुओ सो चेव उवहसंतस्स ।
उत्तुयमाणे लहुगा, सहायगत्ते सरिसदोसो ॥ ५७३४ ॥
एसो वि ताव दमयतु, हसति व तस्सोमताइ ओहसणा ।
उत्तरदाणं मा ओसराहि अह होइ उत्तुयणा ॥ ५७३५ ॥
वायाए हत्थेहि व, पाएहि व दंत-लउडमादीहिं ।
जो कुणति सहायत्तं, समाणदोसं तगं बेंति ॥ ५७३६ ॥
परपच्चिया ण किरिया, मोत्तु परट्ठं च जयसु आयट्ठे ।
अवि य उवेहा वुत्ता, गुणो वि दोसायते एवं ॥ ५७३७ ॥
जति परो पडिसेविज्जा, पावियं पडिसेवणं ।
मज्झ मोणं करेंतस्स, के अट्ठे परिहायई ॥ ५७३८ ॥
णागा ! जलवासीया !, सुणेह तस-थावरा ! ।
सरडा जत्थ भंडंति, अभावो परियत्तई ॥ ५७३९ ॥
वणसंड सरे जल-थल-खहचर वीसमण देवता कहणं ।
वारेह सरडुवेक्खण, धाडण गयणास मूरणता ॥ ५७४० ॥
काके मेहो अप्पसो, हत्थी वंसग-चरिय-नाणत्तं ।

साहुपदोसो संसारवड्ढणो साहिकरणस्स ॥ ५७४१ ॥
अतिभणित अभणिते वा, तावो भेदो य जीव चरणे वा ।
रूवसरिसं ण सीलं, जिम्हं व मणे अयसो एवं ॥ ५७४२ ॥
अक्कुट्ठ तालिए वा, पक्खापक्खि कलहम्मि गणभेदो ।
एगतर मयएहिँ व, रायादीसिट्ठे गहणादी ॥ ५७४३ ॥
वचकलहो उ ण पढति, अवच्छलत्ते य दंसणे हाणी ।
जह कोहादिविवड्ढी, तह हाणी होइ चरणे वि ॥ ५७४४ ॥
आगाढे अहिगरणे, उवसम अवकड्ढणा य गुरुवयणं ।
उवसमह कुणह झायं, छड्डणया सागपत्तेहिँ ॥ ५७४५ ॥
जं अज्जियं समीखल्लएहिँ तव-नियम-बंभमइएहिँ ।
तं दाइँ पच्छ नाहिसि, छड्डेंतो सागपत्तेहिँ ॥ ५७४६ ॥
जं अज्जियं चरित्तं, देसूणाए वि पुव्वकोडीए ।
तं पि कसाइयमेत्तो, णासेइ णरो मुहुत्तेणं ॥ ५७४७ ॥
आयरिओ एग न भणे, अह एग णिवारें मासियं लहुगं ।
राग-दोसविमुक्को, सीतघरसमो उ आयरिओ ॥ ५७४८ ॥
वारेति एस एतं, ममं न वारेति पक्खराएणं ।
बाहिरभावं गाढतरगं च मं पेक्खसी एक्कं ॥ ५७४९ ॥

एताः सर्वा अपि गाथा यथा प्रथमोद्देशके (गाथाः २६९३–९७, २६८२, २६९८–९९, २७०४–५, २७०१–२, २७०६–११, २७१३–१७) व्याख्यातास्तथैव द्रष्टव्याः ॥ ५७२७–५७४९ ॥

एवमधिकरणं कृत्वा यः प्रज्ञापितोऽपि नोपशाम्यति स किं करोति ? इत्याह—

खर-फरुस-निट्ठुराइं, अध सो भणिउं अभाणियव्वाइं ।
निग्गमण कलुसहियए, सगणे अट्ठा परगणे वा ॥ ५७५० ॥

अथासौ खर-परुष-निष्ठुराणि अभणितव्यानि वचनानि भणित्वा कलुषितहृदयः स्वगच्छाद् निर्गमनं करोति ततो निर्गतस्य तस्य स्वगणे परगणे च प्रत्येकमष्टौ स्पर्द्धकानि वक्ष्यमाणानि भवन्ति ॥ ५७५० ॥ खर-परुष-निष्ठुरपदानि व्याख्याति—

उच्चं सरोस भणियं, हिंसग-मम्मवयणं खरं तं तू ।
अक्कोस णिरुवचारिं, तमसब्भं णिट्ठुरं होती ॥ ५७५१ ॥

'उच्चं' महता स्वरेण सरोषं यद् भणितं हिंसकं मर्मघट्टनवचनं वा तत् तु खरं मन्तव्यम् । जकारादिकं यद् आक्रोशवचनं यच्च 'निरुपचारि' विनयोपचाररहितं तत् परुषम् । यद् 'असभ्यं' सभाया अयोग्यं 'कोलिकस्त्वम्' इत्यादिकं वचनं तद् निष्ठुरं भण्यते ॥ ५७५१ ॥

ईदृशानि भणित्वा गच्छाद् निर्गतस्याचार्यः प्रायश्चित्तविभागं दर्शयितुकाम इदमाह—

---

१ °शके अधिकरणसूत्रे व्याख्यातास्तथैवात्रापि द्र° कां० ॥

**अट्ठऽट्ठ अद्धमासा, मासा होंतऽट्ठ अट्ठसु पयारो ।**
**वासासु असंचरणं, ण चेव इयरे वि पेसंति ॥ ५७५२ ॥**

स्वगणे यान्याचार्यसत्कानि अष्टौ स्पर्धकानि तेषु पक्षे पक्षे अपरापरस्मिन् स्पर्द्धके संचरतोऽष्टावर्द्धमासा भवन्ति, परगणसत्केष्वप्यष्टसु स्पर्द्धकेषु पक्षे पक्षे संचरतोऽष्टावर्द्धमासाः, एवमुभयेऽपि मीलिता अष्टौ मासा भवन्ति । अष्टसु च ऋतुबद्धमासेषु साधूनां 'प्रचारः' विहारो भवतीति कृत्वा अष्टग्रहणं कृतम् । वर्षासु चतुरो मासान् तस्याधिकरणकारिणः साधोः संचरणं नास्ति, वर्षाकाल इति कृत्वा । 'इतरेऽपि' येषां स्पर्द्धके सङ्क्रान्तस्तेऽपि तं प्रज्ञाप्य वर्षावास इति कृत्वा यतो गणादागतस्तत्र न प्रेषयन्ति । तत्र यानि स्वगणेऽष्टौ स्पर्द्धकानि तेषु सङ्क्रान्तस्य तैः स्वाध्याय-भिक्षा-भोजन-प्रतिक्रमणवेलासु प्रत्येकं सारणा कर्तव्या—आर्य ! उपशमं कुरु । यदि एवं न सारयन्ति ततो मासगुरुकम् ॥ ५७५२ ॥

तस्य पुनरनुपशाम्यत इदं प्रायश्चित्तम्—

**सगणम्मि पंचराइंदियाइँ दस परगणे मणुण्णेसु ।**
**अण्णेसु होइ पणरस, वीसा तु गयस्स ओसण्णे ॥ ५७५३ ॥**

स्वगणस्पर्द्धकेषु सङ्क्रान्तस्यानुपशाम्यतो दिवसे दिवसे पञ्चरात्रिन्दिवच्छेदः । परगणे 'मनोज्ञेषु' साम्भोगिकेषु सङ्क्रान्तस्य दशरात्रिन्दिवः, अन्यसाम्भोगिकेषु पञ्चदशरात्रिन्दिवः । अवसन्नेषु गतस्य विंशतिरात्रिन्दिवच्छेदः ॥ ५७५३ ॥

एवं भिक्षोरुक्तम् । अथोपाध्याया-ऽऽचार्ययोरुच्यते—

**एमेव य होइ गणी, दसदिवसादी उ भिण्णमासंतो ।**
**पण्णरसादी तु गुरू, चतुसु वि ठाणेसु मासंतो ॥ ५७५४ ॥**

एवमेव 'गणिनः' उपाध्यायस्यापि अधिकरणं कृत्वा परगणं सङ्क्रान्तस्य मन्तव्यम् । नवरम्—दशरात्रिन्दिवमादौ कृत्वा भिन्नमासान्तस्तस्य [1]च्छेदः । एवमेव 'गुरोरपि' आचार्यस्य 'चतुर्षु' स्वगण-परगणसाम्भोगिका-ऽन्यसाम्भोगिका-ऽवसन्नेषु पञ्चदशरात्रिन्दिवादिको मासिकान्तश्छेदः ॥ ५७५४ ॥ एतत् पुरुषाणां स्वगणादिस्थानविभागेन प्रायश्चित्तमुक्तम् । अथैतेष्वेव स्थानेषु पुरुषविभागेन प्रायश्चित्तमाह—

**सगणम्मि पंचराइंदियाइँ भिक्खुस्स तद्दिवस छेदो ।**
**दस होंति अहोरत्ता, गणि आयरिए य पण्णरस ॥ ५७५५ ॥**

स्वगणे सङ्क्रान्तस्य भिक्षोस्तद्दिवसादारभ्य दिने दिने पञ्चरात्रिन्दिवच्छेदः । 'गणिनः' उपा-

---

१ च्छेदः । तद्यथा—स(स्व)गणस्पर्धके सङ्क्रान्तस्योपाध्यायस्य दशरात्रिन्दिवः, साम्भोगिकेषु सङ्क्रान्तस्य पञ्च[दशरात्रिन्दिवः, अन्यसाम्भोगिकेषु सङ्क्रान्तस्य विंशति]रात्रिन्दिवः, अवसन्नेषु सङ्क्रान्तस्य भिन्नमासिकच्छेदः । एवमेव 'गुरोरपि' आचार्यस्य 'चतुर्षु' स्वगणस्पर्धक-[परगणसाम्भोगिका-ऽन्य]साम्भोगिका-ऽवसन्नलक्षणेषु स्थानेषु पञ्चदशरात्रिन्दिवादिको मासान्तश्छेदोऽवगन्तव्यः ॥ ५७५४ ॥ एतत् कां० ॥

ध्यायस्य दशरात्रिन्दिवः । आचार्यस्य पञ्चदशरात्रिन्दिवः ॥ ५७५५ ॥

**अण्णगणे भिक्खुस्सा, दसेव राइंदिया भवे छेदो ।**
**पण्णरस अहोरत्ता, गणि आयरिए भवे वीसा ॥ ५७५६ ॥**

अन्यगणे साम्भोगिकेषु सङ्क्रान्तस्य भिक्षोर्दशरात्रिन्दिवच्छेदः, उपाध्यायस्य पञ्चदशरात्रिन्दिवः, आचार्यस्य विंशतिरात्रिन्दिवः । एवमन्यसाम्भोगिकेषु अवसन्नेषु च प्रागुक्तानुसारेण नेयम् ॥ ५७५६ ॥ अथैवं प्रतिदिनं छिद्यमाने पर्याये पक्षेण कियन्तो मासा अमीषां छिद्यन्ते ? इति जिज्ञासायां छेदसङ्कलनामाह—

**अड्ढाइज्जा मासा, पक्खे अट्ठहिँ मासा हवंति वीसं तु ।**
**पंच उ मासा पक्खे, अट्ठहिँ चत्ता उ भिक्खुस्स ॥ ५७५७ ॥**

स्वगणे सङ्क्रान्तस्य भिक्षोः प्रतिदिनं पञ्चकच्छेदेन च्छिद्यमानस्य पर्यायस्य[2] पक्षेण अर्द्धतृतीया मासाश्छिद्यन्ते । तथाहि—पक्षे पञ्चदश दिनानि भवन्ति, तैः पञ्च गुण्यन्ते जाताः पञ्चसप्ततिः, तस्या मासानयनाय त्रिंशता भागे हृतेऽर्द्धतृतीयमासा लभ्यन्ते[3] । स्वगणे चाष्टौ स्पर्द्धकानि, तेषु पक्षे पक्षे सञ्चरतः पञ्चकच्छेदेन विंशतिर्मासाश्छिद्यन्ते । तथाहि—पञ्चदशाष्टभिर्गुणिता जातं विंशं शतम्, तदपि पञ्चभिर्गुणितं जातानि षट् शतानि, तेषां त्रिंशता भागे हृते विंशतिर्मासा लभ्यन्ते । एवमुत्तरत्रापि गुणकार-भागाहारप्रयोगेण स्वबुद्ध्या उपयुज्य मासा आनेतव्याः । परगणे सङ्क्रान्तस्य भिक्षोर्दशकेन च्छेदेन च्छिद्यमानस्य पर्यायस्य पक्षेण पञ्च मासाश्छिद्यन्ते[4], दशकेनैव च्छेदेनाष्टभिः पक्षैश्चत्वारिंशद् मासाश्छिद्यन्ते ॥ ५७५७ ॥

एवं भिक्षोरुक्तम् । उपाध्यायस्य पुनरिदम्—

**पंच उ मासा पक्खे, अट्ठहिँ मासा हवंति चत्ता उ ।**
**अद्धऽट्ठ मास पक्खे, अट्ठहिँ सट्ठिं भवे गणिणो ॥ ५७५८ ॥**

उपाध्यायस्यापि स्वगणे दशकेन च्छेदेन पक्षेण पञ्च मासाः, अष्टभिः पक्षैश्चत्वारिंशद् मासाश्छिद्यन्ते । तस्यैव परगणे पञ्चदशकेन च्छेदेनार्द्धाष्टममासाः पक्षेण च्छिद्यन्ते । परगण एवाष्टभिः पक्षैः षष्टिर्मासा गणिनश्छिद्यन्ते ॥ ५७५८ ॥

**अद्धट्ठ मास पक्खे, अट्ठहिँ मासा हवंति सट्ठिं तु ।**
**दस मासा पक्खेणं, अट्ठहऽसीती उ आयरिए ॥ ५७५९ ॥**

आचार्यस्य स्वगणे सङ्क्रान्तस्य पञ्चदशकेन च्छेदेन च्छिद्यमाने पर्याये पक्षेणार्द्धाष्टमासाः, अष्टभिः पक्षैः षष्टिर्मासाश्छिद्यन्ते । तस्यैव परगणे सङ्क्रान्तस्य विंशेन च्छेदेन पक्षेण दश मासाः, अष्टभिः पक्षैरशीतिर्मासाश्छिद्यन्ते ॥ ५७५९ ॥

---

१ दश अहोरात्राणि भवन्ति । किमुक्तं भवति ?—दशरात्रिन्दिवप्रमाणो दिने दिने भवति च्छेदः । एवमाचार्यस्य दिने दिने पञ्च° कां० ॥ २ °स्य "पक्खे" त्ति विभक्तिव्यत्ययात् पक्षेण कां० ॥ ३ °न्ते । तथाऽष्टभिः पक्षैर्विंशतिमासा भवन्ति, छेदनीया इत्यर्थाद् गम्यते । इयमत्र भावना—स्वगणेऽष्टौ कां० ॥ ४ °न्ते, भावना प्रागुक्तनीत्या कर्त्तव्या ॥ ५७५७ कां० ॥

एवं स्वगणे परगणे च साम्भोगिकेषु सङ्क्रान्तस्य छेदसङ्कलनाऽभिहिता। अन्यसाम्भोगिकेषु अवसन्नेषु च सङ्क्रान्तस्य भिक्षोरुपाध्यायस्याचार्यस्य चानयैव दिशा छेदसङ्कलना कर्तव्या—

एसा विही उ निग्गएँ, सगणे चत्तारि मास उक्कोसा।
चत्तारि परगणम्मि, तेण परं मूल निच्छुभणं ॥ ५७६० ॥

एष विधिर्गच्छाद् निर्गतस्योक्तः। अत्र च स्वगणेऽष्टसु स्पर्द्धकेषु पक्षे पक्षे सञ्चरतश्चत्वारो मासा उत्कर्षतो भवन्ति, परगणेऽप्येवं चत्वारो मासाः, अवसन्नेष्वपि चत्वारो मासाः। ततः परं यदि उपशान्तस्ततो मूलम्। अथ नोपशान्तस्तदा निष्काशनं कर्तव्यम्, लिङ्गमपहरणीयमित्यर्थः ॥ ५७६० ॥

चोएइ राग-दोसे, सगण परगणे इमं तु नाणत्तं।
पंतावण निच्छुभणं, पर-कुलघर घाडिए ण गया ॥ ५७६१ ॥

शिष्यः प्रेरयति—राग-द्वेषिणो यूयम्, यत् स्वगणे स्तोकं छेदप्रायश्चित्तं दत्त परगणे तु प्रभूतम्, एवं हि स्वगणे भवतां रागः परगणे द्वेषः। गुरुराह—इदं छेदनानात्वं कुर्वन्तो वयं न राग-द्वेषिणः। तथा चात्र दृष्टान्तः—

एगस्स गिहिणो चउरो भज्जाओ। ताओ य तेण सरिसे अवराहे पंताविया 'मम गिहाओ नीह' त्ति निच्छूढा। तत्थेगा कम्हिइ परघरम्मि गया। बिइया कुलघरं। तईया 'मज्झ एगसरीरो वयंसो' त्ति तस्स घरं गया। चउरथी निच्छुभंती बारसोहाए लग्गा हम्ममाणी वि न गच्छइ, भणई य—कत्तो वच्चामि? नत्थि मे अन्नो गइविसओ, जइ वि मारेसि तहावि तुमं चेव गई सरणं ति तत्थेव ठिया ॥

इदमेवाह—"पंतावण" इत्यादि। केनापि गृहिणा चतसृणां भार्याणां 'प्रान्तापनं' कुट्टनं कृत्वा गृहाद् निष्काशनं कृतम्। तत्रैका परगृहं द्वितीया कुलगृहं तृतीया 'घाटिकः' मित्रं तद्गृहं गता, चतुर्थी तु न कापि गता ॥

तओ तुट्ठेण चउत्थी घरसामिणी कया। तइयाए घाडियघरं जंतीए सो चेव अणुवत्तितो, विगतरोसेण खरंटिता आणिता य। बिइयाए कुलघरं जंतीए पिउमिहकलं गहियं, गाढतरं रुट्ठेण अन्नेहिं भणिए विगतरोसेण खरंटिता दंडिया य। पढमा 'दूरे नट्ठ त्ति न ताए किंचि पओयणं' महंतेण वा पच्छित्तदंडेण दंडिउं आणिज्जइ। एवं परट्ठाणीया ओसण्णा, कुलघरठाणीया अन्नसंभोइया, घाडियसमा संभोइया, अनिग्गमे सघरसमो सगच्छो। जाव दूरतरं ताव महंततरो दंडो भवइ ॥ ॥ ५७६१ ॥ अथ गच्छादनिर्गतस्य विधिमाह—

गच्छा अणिग्गयस्सा, अणुवसमंतस्सिमो विही होइ।
सज्झाय भिक्ख भत्तट्ठ वासए चउर एक्केक्के ॥ ५७६२ ॥

गच्छादनिर्गतस्यानुपशाम्यतोऽयं विधिर्भवति—सूर्योदयकाले यः स्वाध्यायः क्रियते तदवसरे प्रथममसौ नोद्यते, द्वितीयं भिक्षावतरणवेलायाम्, तृतीयं भक्तार्थनाकाले, चतुर्थं प्रादो-

१ °कः। गाथायां स्त्रीलिङ्गनिर्देशः प्राकृतत्वात्। अत्र च कां०॥ २ °साहोयलमाण डे०॥
३ एवं गच्छान्निर्गतस्य विधिरुक्तः। अथ गच्छा° कां०॥

निकाश्यकवेलायाम् । एवं चतुरो वारानेकैकस्मिन् दिने नोद्यते ॥ ५७६२ ॥

तत्राधिकरणं प्रभाते प्रतिक्रान्तानां स्वाध्यायेऽप्रस्थापिते एवमादौ कारणे उत्पद्येत—

दुप्पडिलेहियमादिसु, चोदिएँ सम्मं तु अपडिवज्जंते ।
न वि पट्ठवेंति उवसम, कालो ण सुद्धो जियं वा सिं ॥ ५७६३ ॥

दुष्प्रत्युपेक्षितं कुर्वन् आदिशब्दाद् अप्रत्युपेक्षमाणोऽसामाचार्या वा प्रत्युपेक्षमाणो नोदितः सम्यग् यदि न प्रतिपद्यते ततोऽधिकरणं भवेत् । उत्पन्ने चाधिकरणे यदि स्वाध्यायेऽप्रस्थापिते स्वयमेवोपशान्तस्ततो लष्टम् । अथ नोपशान्तस्ततो यः प्रस्थापनार्थमुपतिष्ठते स वारणीयः, यथा—तिष्ठतु तावद् यावत् सर्वेऽपि मिलिताः । तत आगतेषु सर्वेषु सूरयो ब्रुवते—आर्य ! उपशाम्य, इमे साधवः स्वाध्यायं न प्रस्थापयन्ति । स वक्रोत्तरं प्रयच्छति—अवश्यं कालो न शुद्धः परिजितं वा एषां साधूनां सूत्रश्रुतं ततो न प्रस्थापयन्ति । एवं भणतो मासगुरु । साधवश्च सर्वेऽपि प्रस्थापयन्ति स्वाध्यायं च कुर्वन्ति ॥ ५७६३ ॥

काले प्रतिक्रान्ते भिक्षावेलायां जातायामिदमाचार्या भणन्ति—

ओतरणे अभत्तट्ठी, ण व वेला अभुंजणे ण जिण्णं सिं ।
ण पडिक्कमंति उवसम, णिरतीयारा णु पव्वाह ॥ ५७६४ ॥

आर्य ! साधवस्त्वदीयेनानुपशमनेन भिक्षां नावतरन्ति । स प्राह—नूनमभक्तार्थिनो न वा भिक्षावेला । एवमुक्ते सर्वेऽप्यवतरन्ति । तस्यानुपशान्तस्य द्वितीयं मासगुरु । भिक्षानिवृत्तेषु साधुषु गुरवो भणन्ति—आर्य ! साधवो न भुञ्जते । स प्राह—नूनं साधूनां न जीर्णम् । एवमुक्ते सर्वेऽपि समुद्दिशन्ति । तस्य पुनस्तृतीयं मासगुरु । भूयोऽपि प्रतिक्रमणवेलायां भणन्ति—आर्य ! साधवो न प्रतिक्रामन्ति, उपशमं कुरु । स वक्रोत्तरं प्रत्याह—'नुः' इति वितर्के, सम्भावयाम्यहम्—निरतीचाराः श्रमणास्तेन न प्रतिक्रामन्ति । एवमुक्ते सर्वेऽपि प्रतिक्रामन्ति । तस्य पुनश्चतुर्गुरुकम् । एवं प्रभातकाले अधिकरणे उत्पन्ने विधिरुक्तः ॥ ५७६४ ॥

अन्नम्मि वि कालम्मि, पढंत हिंडंत मंडली वासे ।
तिन्नि व दोन्नि व मासा, होंति पडिक्कंते गुरुगा उ ॥ ५७६५ ॥

अथान्यस्मिन् कालेऽधिकरणमुत्पन्नम् । कदा ? इत्याह—'पठतां' हीना-ऽधिकादिपठने भिक्षां हिण्डमानानां मण्डल्यां वा समुद्दिशतामावश्यके वा । तत्र यदि द्वितीयवेलायामधिकरणमुत्पन्नं तदा चतुर्थवेलायामनुपशान्तस्य त्रयो गुरुमासाः, तृतीयवेलायामुत्पन्नेऽनुपशान्तस्य द्वौ गुरुमासौ, एवं विभाषा कर्तव्या । अथ 'प्रतिक्रान्ते' प्रतिक्रमणे कृतेऽपि नोपशान्तस्ततश्चतुर्गुरुकाः ॥ ५७६५ ॥

एवं दिवसे दिवसे, चाउक्कालं तु सारणा तस्स ।
जति वारे ण सारेती, गुरुगो गुरुगो तती वारे ॥ ५७६६ ॥

एवमनुपशान्तस्य दिवसे दिवसे 'चतुष्कालं' स्वाध्यायप्रस्थापनादिसमयरूपं तस्य सारणा

---

१ प्राभातिकप्रतिक्रमणानन्तरं प्रतिलेखनाकाले दुष्प्रत्यु॰ कां॰ ॥ २ वा तदा त्रयो वा द्वौ वा मासा भवन्ति, गुरुमासा इत्यर्थः । तत्र यदि कां॰ ॥

कर्तव्या । 'यति' यावतो वारान् आचार्यो न सारयति 'तति' तावतो वारान्[1] मासगुरुकाणि भवन्ति ॥ ५७६६ ॥

**एवं तु अगीतत्थे, गीतत्थे सारिए गुरू सुद्धो ।**
**जति तं गुरू ण सारे, आवत्ती होइ दोण्हं पि ॥ ५७६७ ॥**

एवं दिने दिने सारणाविधिरगीतार्थस्य कर्तव्यः । यस्तु गीतार्थः स यद्येकं दिनं स्वाध्याय-भिक्षा-भक्तार्थना-ऽऽवश्यकलक्षणेषु चतुर्षु स्थानेषु सारितः तदा परतस्तमसारयन्नपि गुरुः शुद्धः । यदि पुनः 'तम्' अगीतार्थं गीतार्थं वा गुरुर्न सारयति ततः 'द्वयोरपि' आचार्यस्यानुपशाम्यतश्च प्रायश्चित्तस्यापत्तिः । अन्ये ब्रुवते—अगीतार्थस्यानुपशाम्यतोऽपि नास्ति प्रायश्चित्तम्, यस्तु गुरुरगीतार्थं न नोदयति तस्य प्रायश्चित्तम् ॥ ५७६७ ॥

**गच्छो य दोन्नि मासे, पक्खे पक्खे इमं परिहवेति ।**
**भत्तट्ठुण सज्झायं, वंदण लावं ततो परेणं ॥ ५७६८ ॥**

एवमनुपशाम्यन्तं तं गच्छो द्वौ मासौ सारयति, इदं पुनः पक्षे पक्षे परिहापयति । तद्यथा—अनुपशान्तस्य पक्षे गते गच्छस्तेन सार्द्धं भक्तार्थनं न करोति, न गृह्णाति वा न वा किमपि तस्य ददातीत्यर्थः । द्वितीये पक्षे गते स्वाध्यायं तेन समं न करोति । तृतीये पक्षे गते वन्दनं न करोति न वा प्रतीच्छति[2] । चतुर्थोऽपि पक्षो यदा गतो भवति ततः परमालापमपि तेन सार्द्धं वर्जयन्ति ॥ ५७६८ ॥

**आयरिय चउरो मासे, संभुंजति चउरो देइ सज्झायं ।**
**वंदण लावं चउरो, तेण परं मूल निच्छुहणा ॥ ५७६९ ॥**

आचार्यः पुनश्चतुरो मासान् सर्वैरपि प्रकारैस्तेन समं सम्भुङ्क्ते ततः परं चतुरो मासान् भक्तार्थनं वर्जयति स्वाध्यायं तु ददाति । ततश्चतुरो मासान् स्वाध्यायं परिहृत्य वन्दना-ऽऽलापौ ददाति[3] । ततः परं वर्षे पूर्णे सांवत्सरिके प्रतिक्रान्ते उपशान्तस्य मूलम्, अनुपशान्तस्य तु गणाद् निष्काशनं कर्तव्यम् ॥ ५७६९ ॥

**एवं बारस मासे, दोसु तवो सेसए भवे छेदो ।**
**परिहायमाण तद्दिवस तवो मूलं पडिकंते ॥ ५७७० ॥**

एवं द्वादशमास्यामप्यनुपशाम्यतः 'द्वयोः' आदिममासयोर्यावद् गच्छेन विसर्जितः तावत् तपः प्रायश्चित्तमेव, 'शेषेषु' दशसु मासेषु पञ्चरात्रिन्दिवच्छेदः यावत् सांवत्सरिकं पर्व प्राप्तं भवति । पर्युषणारात्रौ प्रतिक्रान्तानामधिकरणे उत्पन्ने एष विधिरुक्तः । "परिहायमाण तद्दिवस" त्ति पर्युषणापारणकदिनादेकैकदिवसेन परिहीयमानेन तावद् नेयं यावत् 'तद्दिवसं' पर्युषणादिवस एवाधिकरणमुत्पन्नं तत्र च तपो मूलं वा भवति[4] न च्छेदः । "पडिकंते" त्ति अथ प्रतिक्रमणं कुर्वतामुत्पन्नं ततः सांवत्सरिके कायोत्सर्गे कृते मूलमेव केवलं भवति ॥ ५७७० ॥

---

१ °न् गुरुको गुरुको मासो भवति ॥ ५७६६ कां० ॥ २ °न्दनं तस्य न प्रयच्छति न वा प्रती° कां० ॥ ३ °दाति । "तेण परं" ति विभक्तिव्यत्ययात् ततः कां० ॥ ४ एतदनन्तरम् ग्रन्थाग्रम्—५५०० कां० ॥

एतदेव सुव्यक्तमाह—

**एवं एक्केकदिणे, हवेतु ठवणादिणे वि एमेव ।**
**चेइयवंदण सारे, तम्मि वि काले तिमासगुरू ॥ ५७७१ ॥**

भाद्रपदशुद्धपञ्चम्यां अनुदित आदित्ये यद्यधिकरणमुत्पद्यते ततः पर्युषणायामप्यनुपशान्ते संवत्सरो भवति, षष्ठ्यामुत्पन्ने एकदिवसोनः संवत्सरः, सप्तम्यां दिवसद्वयोनः, एवमेकैकं दिनं हापयित्वा तावद् नेयं यावत् स्थापनादिनं—पर्युषणादिवसः । तत्र चानुदिते रवौ कलहे उत्पन्ने एवमेव नोदना कर्तव्या—प्रथमं स्वाध्यायप्रस्थापनं कर्तुकामैः सारणीयः, ततश्चैत्यवन्दनार्थं गन्तुकामाः सारयेयुः, तत्राप्यनुपशान्ते प्रतिक्रमणवेलायां सारयन्ति । एवं तस्मिन्नपि पर्युषणाकालदिवसे त्रिषु स्वाध्यायप्रस्थापनादिषु स्थानेषु नोदितस्यानुपशान्तस्य त्रीणि मासगुरुकाणि भवन्ति ॥ ५७७१ ॥

**पडिकंते पुण मूलं, पडिकमंते व होज अधिकरणं ।**
**संवच्छरमुस्सग्गे, कयम्मि मूलं न सेसाइं ॥ ५७७२ ॥**

पर्युषणादिने सर्वेषामधिकरणानां व्यवच्छित्तिः कर्तव्येति कृत्वा 'प्रतिक्रान्ते' समाप्ते आवश्यके यदि नोपशान्तस्ततो मूलम् । "पडिकमंते व" त्ति अथ प्रतिक्रमणे प्रारब्धे यावत् सांवत्सरिको महाकायोत्सर्गस्तावद् अधिकरणे कृते मूलमेव केवलम्, न शेषाणि प्रायश्चित्तानि ॥ ५७७२ ॥

**संवच्छरं च रुट्ठं, आयरिओ रक्खए पयत्तेण ।**
**जति णाम उवसमेज्जा, पव्वयरातीसरिसरोसो ॥ ५७७३ ॥**

एवमाचार्यस्तं रुष्टं संवत्सरं प्रयत्नेन रक्षति । किमर्थम्? इत्याह—'यदि नाम' कथञ्चिदुपशाम्येत । अथ संवत्सरेणापि नोपशाम्यति ततः पर्वतराजीसदृशरोषः स मन्तव्यः ॥५७७३॥

तस्य च वर्षादूर्ध्वं को विधिः? इत्याह—

**अण्णे दो आयरिया, एक्केकं वरिसमेत्तमेअस्स ।**
**तेण परं गिहि एसो, बितियपदं रायपव्वइए ॥ ५७७४ ॥**

तं वर्षादूर्ध्वं मूलाचार्यसमीपाद् निर्गतमन्यौ द्वावाचार्यौ क्रमेणैकैकं वर्षमेतेनैव विधिना प्रयत्नेन संरक्षतः, तन्मध्याद् येनोपशमितस्तस्यैवासौ शिष्यः । 'ततः परं' वर्षत्रयादूर्ध्वमेष गृही क्रियते, सङ्घस्तदीयं लिङ्गमपहरतीत्यर्थः । द्वितीयपदे राजप्रव्रजितस्य[3] लिङ्गं प्रस्तारदोषभयान्न ह्रियते । एवं भिक्षोरुक्तम् ॥ ५७७४ ॥

**एमेव गणा-ऽऽयरिए, गच्छम्मि तवो उ तिन्नि पक्खाइं ।**
**दो पक्खा आयरिए, पुच्छा य कुमारदिट्ठंतो ॥ ५७७५ ॥**

एवमेव गणिन आचार्यस्य च मन्तव्यम् । नवरम्—उपाध्यायस्यानुपशाम्यतो गच्छे वसतस्त्रीन् पक्षान् तपः प्रायश्चित्तम्, परतश्छेदः; आचार्यस्यानुपशाम्यतो द्वौ पक्षौ तपः, परतश्छेदः ।

१ ऐदंयुगीनचतुर्थीदिनभाविपर्युषणापर्वापेक्षया पारणकदिने भाद्रपद° कां० ॥ २ °द् अत्रान्तरेऽधिकरणं 'भवेत्' उत्पद्येत ततो यदि तत्क्षणादेव नोपशान्तस्तदा सांवत्सरिके कायोत्सर्गे कृते मूल° कां० ॥ ३ °जपुत्रप्रव्र° भा० ॥

शिष्यः पृच्छति—किं सदृशापराधे विषमं प्रायश्चित्तं प्रयच्छथ राग-द्वेषिणो यूयम्? । आचार्यः प्राह—कुमारदृष्टान्तोऽत्र भवति, स चोत्तरत्राभिधास्यते ॥ ५७७५ ॥

ये ते उपाध्यायस्य त्रयः पक्षास्ते दिवसीकृताः पञ्चचत्वारिंशद्दिवसा भवन्ति, ततः—

पणयाल दिणा गणिणो, चउहा काऊण साहिएक्कारा ।
भत्तट्ठण सज्झाए, वंदण लावे य हावेति ॥ ५७७६ ॥

गणिनः सम्बन्धिनः पञ्चचत्वारिंशद् दिवसाश्चतुर्धा क्रियन्ते, चतुर्भागे च साधिकाः—सपादा एकादश दिवसा भवन्ति । तत्र गच्छ उपाध्यायेन सममेकादश दिनानि भक्तार्थनं करोति, एवं स्वाध्याय-वन्दना-ऽऽलापानपि प्रत्येकमेकादश दिनानि यथाक्रमं करोति, परतस्तु परिहापयति । पञ्चचत्वारिंशद्दिवसानन्तरं चोपाध्यायस्य दशकच्छेदः । आचार्यस्तथैवोपाध्यायमपि चतुर्भिश्चतुर्भिर्मासैर्भक्तार्थनादीनि परिहापयन् संवत्सरं सारयति ॥ ५७७६ ॥

आचार्यस्य द्वौ पक्षौ दिवसीकृतौ त्रिंशद् दिवसा भवन्ति, ततः—

तीस दिणे आयरिए, अद्धट्ठ दिणे य हावणा तत्थ ।
गच्छेण चउपदेहि तु, णिच्छूढे लग्गती छेदो ॥ ५७७७ ॥

त्रिंशद्दिवसाश्चतुर्भागेन विभक्ता अर्द्धाष्टमा दिवसा भवन्ति । तत्र गच्छ आचार्येण सहाऽर्द्धाष्टमानि दिनानि भक्तार्थनं करोति, एवं स्वाध्याय-वन्दना-ऽऽलापानपि यथाक्रममर्द्धाष्टमैर्दिवसैः प्रत्येकं हापयति । ततः परं गच्छेन चतुर्भिरपि—भक्तार्थनादिभिः पदैर्निष्काशित आचार्यः पञ्चदशके च्छेदे लगति ॥ ५७७७ ॥ ततः—

संकंतो अण्णगणं, सगणेण य वज्जितो चतुपदेहिं ।
आयरिओ पुण नवरिं, वंदण-लावेहि णं सारे ॥ ५७७८ ॥

स्वगणेन भक्तार्थनादिभिश्चतुर्भिः पदैर्यदा वर्जितस्तदा अन्यगणं सङ्क्रान्तः । स पुनरन्यगणस्याचार्यः 'नवरं' केवलं वन्दना-ऽऽलापाभ्यां द्वाभ्यां पदाभ्यां सम्भुञ्जानः सारयति यावद् वर्षम् ॥ ५७७८ ॥

सज्झायमाइएहिं, दिणे दिणे सारणा परगणे वि ।
नवरं पुण णाणत्तं, तवो गुरुस्सेतरे छेदो ॥ ५७७९ ॥

परगणेऽपि सङ्क्रान्तस्याचार्यस्य स्वाध्यायादिभिः पदैर्दिने दिने सारणा क्रियते । नवरं परगणे सङ्क्रान्तस्येदं 'नानात्वं' विशेषः—अन्यगणसत्कस्य गुरोरसारयतस्तपः प्रायश्चित्तम्, 'इतरस्य पुनः' अधिकरणकारिण आचार्यस्यानुपशाम्यतश्छेदः ॥ ५७७९ ॥

अत्र परः प्राह—रागद्वेषिणो यूयम्, आचार्यं शीघ्रं छेदं प्रापयथ, उपाध्यायं बहुतरेण कालेन, भिक्षुं ततोऽपि चिरतरेण, एवं हि भिक्षूपाध्याययोर्भवतां रागः आचार्ये द्वेषः । अत्र सूरिः प्रागुद्दिष्टं कुमारदृष्टान्तमाह—

सरिसावराधे दंडो, जुवरण्णो भोगहरण-बंधादी ।
मज्झिम बंध-वहादी, अवचि कण्णादि खिसा वा ॥ ५७८० ॥

एगस्स रन्नो तिन्नि पुत्ता—जेट्ठो मज्झिमो कणिट्ठो य । तेहि य तिहि वि सामन्तिज्जं—

पितरं मारित्ता रज्जं तिहा विभजामो । तं च रन्ना नायं । तत्थ जेट्ठो 'जुवराया तुमं पमाणभूओ कीस एवं करेसि ?' त्ति तस्स भोगहरण-बंधण-ताडणादिया सव्वे दंडप्पगारा कया । मज्झिमो 'एय प्पहाणो' त्ति काउं तस्स भोगहरणं न कयं बंध-वह-खिंसाईया कया । कणीयसो 'एएहिं वियारिउ' त्ति काउं तस्स कण्णविवोडदंडो खिंसादंडो य कओ न भोगहरणाईओ ॥

अक्षरगमनिका—सदृशेऽप्यपराधे युवराजस्य भोगहरण-बन्धनादिको महान् दण्डः कृतः, मध्यमस्य बन्ध-वधादिको न भोगहरणम्, अव्यक्तः—कनिष्ठस्तस्य कर्णामोटिकादिकः खिंसा च कृता । अयमर्थोपनयः—यथा लोके तथा लोकोत्तरेऽप्युत्कृष्ट-मध्यम-जघन्येषु पुरुषवस्तुषु बृहत्तमो लघुर्लघुतरश्च यथाक्रमं दण्डः क्रियते ॥ ५७८० ॥

प्रमाणभूते च पुरुषेऽक्रियासु वर्तमाने एते दोषाः—

**अप्पच्चय वीसत्थत्तणं च लोगगरहा दुरहिगम्मो ।**
**आणाए य परिभवो, णेव भयं तो तिहा दंडो ॥ ५७८१ ॥**

◁ लोकः सकषायमाचार्यं दृष्ट्वा ब्रूयात्— ▷ एत एवाचार्या भणन्ति—अकषायं चारित्रं भवति, स्वयं पुनरित्थं रुष्यन्ति । एवं सर्वेषूपदेशेष्वप्रत्ययो भवति । शेषसाधूनामपि कषायकरणे विश्वस्तता भवति । लोको वा गर्हां कुर्यात्—प्रधान एवामीषां कलहं करोतीति । रोषणश्च गुरुः शिष्याणां प्रतीच्छकानां च दुरधिगमो भवति । रोषणस्य चाज्ञां शिष्याः परिभवन्ति, न च भयं तेषां भवति । अतो वस्तुविशेषकारणात् त्रिधा दण्डः कृतः ॥ ५७८१ ॥

**गच्छम्मि उ पट्ठविए, जम्मि पदे स निग्गतो ततो वितियं ।**
**भिक्खु-गणा-ऽऽयरियाणं, मूलं अणवट्ठ पारंची ॥ ५७८२ ॥**

गच्छे यस्मिन् पदे प्रस्थापिते निर्गतस्ततो द्वितीयं पदं परगणे सङ्क्रान्तः प्राप्नोति । तद्यथा—तपसि प्रस्थापिते यदि निर्गतस्ततश्छेदं प्राप्नोति, छेदे प्रस्थापिते निर्गतस्ततो मूलम् । एवं भिक्षोरुक्तम् । गणावच्छेदिकस्यानवस्थाप्ये आचार्यस्य पाराञ्चिके पर्यवस्यति । अथवा येन भक्तार्थनादिना पदेन गच्छाद् निर्गतस्ततो द्वितीयपदमन्यगणे गतस्य प्रारभ्यते । यथा—गच्छाद् भक्तार्थनपदेन निर्गतस्ततोऽन्यं गणं गतस्य स गणस्तेन समं न भुङ्क्ते स्वाध्यायं पुनः करोति, एवं स्वाध्यायपदेन निर्गतस्य वन्दनकं करोति, वन्दनपदेन निर्गतस्यालापं करोति, आलापपदेन निर्गतस्य परगच्छश्चतुर्भिरपि पदैः परिहारं करोति । "भिक्खु-गणा-ऽऽयरियाणं" इत्यादिना तु त्रयाणामपि अन्त्यप्रायश्चित्तानि गृहीतानि ॥ ५७८२ ॥ द्वितीयपदमाह—

**कारणे अणले दिक्खा, समत्ते अणुसट्ठि तेण कलहो वा ।**
**कारणे सद्दे ठिताणं, कलहो अण्णोण्ण तेणं वा ॥ ५७८३ ॥**

कारणे 'अनलस्य' अयोग्यस्य दीक्षा दत्ता । समाप्ते च तस्मिन् कारणे तस्यानुशिष्टिः क्रियते । तथाऽप्यनिर्गच्छता तेन समं कलहोऽपि कर्तव्यः । कारणे वा शब्दप्रतिबद्धायां वसतौ स्थितास्ततोऽन्योन्यं 'तेन वा' मैथुनशब्दकारिणा समं कलहः क्रियते येन शब्दो न श्रूयेत ॥५७८३॥

**॥ अधिकरणप्रकृतं समाप्तम् ॥**

---

१ ◁ ▷ एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठः कां० एव वर्तते ॥

## सं स्तृ त नि र्वि चि कि त्स प्र कृ त म्

सूत्रम्—

भिक्खू य उग्गयवित्तीए अणत्थमियसंकप्पे [1]संथडिए निव्वितिगिंछे असणं वा ४ पडिग्गाहित्ता आहारं आहारेमाणे अह पच्छा जाणिज्जा—अणुग्गए सूरिए अत्थमिए वा, से जं च मुहे जं च पाणिंसि जं च पडिग्गहए तं विगिंचमाणे वा विसोहेमाणे वा नो अइक्कमइ, तं अप्पणा भुंजमाणे अण्णेसिं वा दलमाणे राईभोयणपडिसेवणप्पत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं १–६ ॥

भिक्खू य उग्गयवित्तीए अणत्थमियसंकप्पे [2]संथडिए वितिगिंछासमावन्ने असणं वा ४ पडिग्गाहित्ता आहारं आहारेमाणे जाव अन्नेसिं वा दलमाणे राईभोयणपडिसेवणप्पत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं २–७ ॥

[3]भिक्खू य उग्गयवित्तीए अणत्थमियसंकप्पे अ[4]संथडिए निव्वितिगिंच्छे असणं वा ४ पडिगाहित्ता आहारं आहारेमाणे जाव अन्नेसिं वा दलमाणे राईभोयणपडिसेवणप्पत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ३–८ ॥

भिक्खू य उग्गयवित्तीए अणत्थमियसंकप्पे असंथडिए वितिगिंच्छासमावन्ने असणं वा ४ पडिगाहित्ता आहारमाहारेमाणे जाव अन्नेसिं वा दलमाणे राई-

१ संघडिए तासू० भा० कां० मो० ले० ॥ २ संघडिए तासू० भा० कां० ॥ ३ भिक्खू य उग्गय० नवरम्—असंथडिए निव्वितिगिं० ३-८ ॥ भिक्खू य उग्गय० नवरम्—असंथडिए वितिगिंछासमाव० ४-९ ॥ चतुर्थसूत्रमिदम् । अस्य सूत्रचतु° मो० ले० डे० ॥ ४ संघडिए भा० कां० ॥

**भोयणपडिसेवणप्पत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ४-९ ॥**

अस्य सूत्रचतुष्टयस्य सम्बन्धमाह—

**[1]अण्णगणं वच्चंतो, परिणिव्ववितो व तं गणं एंतो ।**
**विह संथरेतरे वा, गेण्हे सामाएँ जोगोऽयं ॥ ५७८४ ॥**

अधिकरणं कृत्वाऽनुपशान्तोऽन्यगणं व्रजन् परिनिर्वापितो वा भूयस्तमेव गणं आगच्छन् 'विहे' अध्वनि संस्तरणे इतरस्मिन् वा—असंस्तरणे 'श्यामायां' रजन्यामाहारं गृह्णीयात्[2] । एष 'योगः' सम्बन्धः ॥ ५७८४ ॥

अनेनायातस्यास्य व्याख्या—'भिक्षुः' पूर्ववर्णितः, चशब्दाद् आचार्य उपाध्यायश्च परिगृह्यते, उद्गते आदित्ये वृत्तिः—जीवनोपायो यस्य स उद्गतवृत्तिकः; **पाठान्तरं वा**—"उग्गयमुत्तीए" त्ति, मूर्तिः—शरीरम्, उद्गते रवौ प्रतिश्रयावग्रहाद् बहिः प्रचारवती मूर्तिरस्य इति उद्गतमूर्तिकः, मध्यपदलोपी समासः । अनस्तमिते सूर्ये सङ्कल्पः—भोजनाभिलाषो यस्य सोऽनस्तमितसङ्कल्पः । संस्तृतो नाम—समर्थस्तद्दिवसं पर्याप्तभोजी वा । "निव्वितिगिंछे" त्ति विचिकित्सा—चित्तविप्लुतिः सन्देह इत्येकोऽर्थः, सा निर्गता यस्मात् स निर्विचिकित्सः, उदितोऽनस्तमितो वा रविरित्येवं निश्चयवानित्यर्थः । एवंविधविशेषणयुक्तोऽशनं[3] वा पानं वा खादिमं वा स्वादिमं वा प्रतिगृह्य[4] आहारम् 'आहरन्' भुञ्जानोऽथ पश्चादेवं जानीयात्—अनुद्गतः सूर्योऽस्तमितो वा; एवं विज्ञाय "से" तस्य यच्च मुखे प्रक्षिप्तं यच्च पाणावुत्पादितं यच्च प्रतिग्रहे स्थितं तद् 'विविञ्चन् वा' परिष्ठापयन् 'विशोधयन् वा' निरवयवं कुर्वन् 'नो' नैव भगवतामाज्ञामतिक्रामति । 'तद्' अशनादिकं आत्मना भुञ्जानोऽन्येषां वा ददानो रात्रिभोजनप्रतिसेवनप्राप्त आपद्यते चातुर्मासिकं परिहारस्थानमनुद्घातिकम् ॥

एवमपरमपि सूत्रत्रयं मन्तव्यम् । नवरं द्वितीयसूत्रे—संस्तृतो विचिकित्सासमापन्नश्च यो

---

१ "अण्णगणं वच्चंतो०" इत्येतत् ५७८४ गाथात आरभ्य "एवं वितिगिंछो वी०" इति ५८१५ गाथापर्यन्ता गाथाः **चूर्णौ विशेषचूर्णौ** चापि क्रमभेदेन व्याख्याता विलोक्यन्ते । तथाहि तद्गतः **क्रमः**—अण्णगणं० ५७८४ उग्गयवित्ती० ५७८८ संथडिओ० ५८०७ णिस्संकमणु० ५८०८ एगेव य उदिउ० ५८०९ समिचिंचि० ५८१० अब्भहिम० ५८११ सव्वस्स छड्डण० ५८१३ णातिक्कमती० ५८१४ संथडमसंथडे० ५७८५ सूरे अणुग्गय० ५७८९ अणुदितमण० ५७९० अणुदितमण० ५७९१ तइयाए दो० ५७९२ उग्गयमण० ५७९३ ततियलताए० ५७९४ अत्थंगय० ५७९५ ततिया गवे० ५७९६ अणत्थंगय० ५७९७ मणएसणाए० ५७९८ पढमाए बिति० ५७९९ पंचम छ स्सत्त० ५८०० अणुदितमण० ५७८६ अत्थंगयसंकप्पे० ५७८७ दोण्ह वि कयरो० ५८०१ सुत्तं पडुच्च० ५८१२ गेण्हण गहिए० ५८०२ संलेह पण० ५८०३ एमेव गणा० ५८०४ पंचूण तिभाग० ५८०५ एमेवऽभिक्ख० ५८०६ एवं वितिगिंछो वी० ५८१५ ॥

२ °त् । अत **आद्यसूत्रद्वयं संस्तरणे द्वितीयं पुनरसंस्तरणे रजनीभोजननिषेधकमारभ्यते । अयं 'योगः' सम्बन्धः ॥ ५७८४ ॥ अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य सूत्रचतुष्टयस्य व्याख्या कां०** ॥ ३ °**शनं वा ४ प्रति°** डे० मो० ले० ॥

भुङ्क्ते । विचिकित्सासमापन्नो नाम–'किमुदितोऽनुदितो वा रविः ?' अथवा—'अस्तमितोऽनस्तमितो वा ?' इति सन्देहदोलायमानमानसः । एवं भुञ्जानस्यान्येषां वा ददानस्य चतुर्गुरुकम् ॥

तृतीयसूत्रे—"[1]असंथडिए" त्ति 'असंस्तृतः' अध्वप्रतिपन्नः क्षपको ग्लानो वा भण्यते, सः 'निर्विचिकित्सः' 'नियमादनुद्गतोऽस्तमितो वा रविः' इत्येवं निःसन्देहं जानानो यदि भुङ्क्ते तदापि चतुर्गुरुकम् । शेषं प्रथमसूत्रवत् ॥

चतुर्थसूत्रे—असंस्तृतो विचिकित्सासमापन्नश्च यो भुङ्क्ते स आपद्यते चातुर्मासिकं परिहारस्थानमनुद्घातिकम् । एष सूत्रचतुष्टयार्थः ॥ अथ निर्युक्तिविस्तरः—

**[2]संथडमसंथडे या, निव्वितिगिच्छे तहेव वितिगिच्छे ।**
**काले दव्वे भावे, पच्छित्ते मग्गणा होइ ॥ ५७८५ ॥**

प्रथमं सूत्रं संस्तृते निर्विचिकित्से, द्वितीयं संस्तृते विचिकित्सासमापन्ने, तृतीयमसंस्तृते निर्विचिकित्से, चतुर्थमसंस्तृते विचिकित्सासमापन्ने मन्तव्यम् । तत्र प्रथमसूत्रे तावत् त्रिधा प्रायश्चि[3]त्तमार्गणा भवति—कालतो द्रव्यतो भावतश्च ॥ ५७८५ ॥ तत्र कालतस्तावदाह—

**अणुग्गय मणसंकप्पे, गवेसणे गहण भुंजणे गुरुगा ।**
**अह संकियम्मि भुंजति, दोहि वि लहु उग्गते सुद्धो ॥ ५७८६ ॥**

अनुद्गतः–नाद्याप्युद्गतो रविरित्येवं निःशङ्कितेन मनःसङ्कल्पेन यो भक्त-पानस्य गवेषणं ग्रहणं भोजनं च करोति तस्य चतुर्गुरवः 'द्वाभ्यामपि' तपः-कालाभ्यां गुरुकाः । अथ शङ्कितेन[4] मनःसङ्कल्पेन भुङ्क्ते ततस्त एव चतुर्गुरुका द्वाभ्यामपि लघवः । उद्गतः सूर्य इति निःसन्दिग्धे मनःसङ्कल्पे भुञ्जानः शुद्धः ॥ ५७८६ ॥

**अत्थंगयसंकप्पे, गवेसणे गहणे भुंजणे गुरुगा ।**
**अह संकियम्मि भुंजइ, दोहि वि लहुऽणत्थमिएँ सुद्धो ॥ ५७८७ ॥**

'अस्तङ्गतो रविः' इत्येवंविधेन सङ्कल्पेन गवेषणे ग्रहणे भोजने च चतुर्गुरुकाः तपसा कालेन च गुरवः । अथ 'अस्तङ्गतोऽनस्तङ्गतो वा' इति शङ्किते भुङ्क्ते ततश्चतुर्गुरुकाः 'द्वाभ्यामपि' तपः-कालाभ्यां लघवः । यः पुनरनस्तमितो रविरित्येवं निःसन्दिग्धेन चेतसा भुङ्क्ते स शुद्धः ॥ ५७८७ ॥ अथ "उग्गयवित्ती" इत्यादिपदव्याख्यानमाह—

**उग्गयवित्ती मुत्ती, मणसंकप्पे य होंति आएसा ।**
**एमेव अणत्थमिए, धाए पुण संखडी पुरतो ॥ ५७८८ ॥**

उद्गते रवौ वृत्तिः–वर्तनं यस्य स उद्गतवृत्तिः । पाठान्तरेण 'उद्गतमूर्तिः' इति वा, उद्गते सूर्ये मूर्तिः–शरीरं वृत्तिनिमित्तं बहिः सञ्चारं यस्य स उद्गतमूर्तिः । [5]◁ मनःसङ्कल्पे चामी आदेशा भवन्ति—अनुदितमप्यादित्यं यो ▷ मनःसङ्कल्पेन उदितं मन्यते स भुञ्जानोऽपि न

---

१ "असंथडिए" भा० कां० ॥ २ संघडमसंघडे भा० ॥ ३ °श्चित्ते मार्गणा भवति, तद्यथा—काले द्रव्ये भावे च, कालतो द्रव्यतो भावतश्चेत्यर्थः ॥ ५७८५ कां० ॥ ४ 'शङ्किते' 'किमुद्गतोऽनुद्गतो वा रविः ?' इति शङ्कासमापन्ने मनःसङ्कल्पे भु° कां० ॥ ५ ◁ ▷ एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठः भा० कां० एव वर्तते ॥

दोषभाग् भवति, यः पुनरुदितेऽपि रवौ 'नाद्याप्युदितः' इति चेतसा मन्यमानो भुङ्क्ते स सदोषः । एवमेवानस्तमितेऽपि मन्तव्यम् । किमुक्तं भवति ?—अस्तमितेऽपि रवौ 'नाद्याप्यस्तङ्गतः' इतिबुद्ध्या भुञ्जानोऽपि न प्रायश्चित्ती, अनस्तमितेऽपि च 'अस्तङ्गतः' इत्यभिप्रायेण भुञ्जानः सदोषः । अथवा—"मणसंकप्पे अ होंति आदेस" त्ति अनुदितमनःसङ्कल्पा-ऽस्तमितमनःसङ्कल्पयोः कतरो गुरुतरो लघुतरो वेति चिन्तायां द्वावादेशौ भवतः, तौ चोत्तरत्राभिध्यास्येते (गा० ५८०१) । अनुदितेऽस्तमिते वा कथं ग्रहणं सम्भवति ? इत्याह—"धाते पुण संखडी पुरतो" त्ति ध्रातं सुभिक्षमिति चैकोऽर्थः, तत्र सङ्खडी सम्भवति । सा च द्विधा—पुरःसङ्खडी पश्चात्सङ्खडी च । तत्र पूर्वाह्णे या क्रियते सा पुरःसङ्खडी, अपराह्णे तु क्रियमाणा पश्चात्सङ्खडी । इह पुनरनुदिते रवौ पुरःसङ्खडी, पुनःशब्दग्रहणाद् अस्तमिते पश्चात्सङ्खडीति ॥ ५७८८ ॥

**सूरे अणुग्गतम्मि, अणुदित उदिओ व होति संकप्पो ।**
**एवं अत्थमियम्मि वि, एगतरे होति निस्संको ॥ ५७८९ ॥**

सूर्येऽनुद्गतेऽनुदितसङ्कल्प उदितसङ्कल्पो वा भवेत्, उपलक्षणं चैतत्, उदितेऽप्यनुदित उदित इति वा सङ्कल्पो भवेत् । एवमेवाऽस्तमितेऽपि 'एकतरः' अनस्तमितोऽस्तमितो वा निःशङ्को मनःसङ्कल्पो भवति, उपलक्षणत्वाद् अनस्तमितेऽप्यस्तमितसङ्कल्पोऽनस्तमितसङ्कल्पो वा भवेत् । इहानुदितोदितविषयाऽनस्तमिता-ऽस्तमितविषया च प्रत्येकं षोडशभङ्गी भवति । तद्यथा—अनुदितमनःसङ्कल्पो अनुदितगवेषी अनुदितग्राही अनुदितभोजी, एवं चतुर्भिः पदैः सप्रतिपक्षैर्भङ्गरचनालक्षणेन षोडश भङ्गा रचयितव्याः । रचितेषु च भङ्गेषु यत्र द्वयोर्मध्यपदयोः परस्परं विरोधो दृश्यते मध्यपदेषु वा द्वयोरेकस्मिन् वा उदितो दृष्टो अन्त्यपदेषु पुनरनुदितस्ते भङ्गा विरुध्यमानत्वेन वर्जनीयाः शेषा ग्राह्याः । तथा अनस्तमितसङ्कल्पोऽनस्तमितगवेषी अनस्तमितग्राही अनस्तमितभोजी, एवमपि षोडश भङ्गाः कर्तव्याः । अत्रापि यत्र मध्यमपदेषु परस्परं विरोधो दृश्यते यत्र वा मध्यमपदेषु द्वयोरेकस्मिन् वा अस्तमितो दृष्टोऽन्त्यपदे चानस्तमितस्ते भङ्गा अघटमानकत्वेन वर्जनीयाः शेषा ग्राह्याः ॥ ५७८९ ॥ अनुदितोदिता-ऽस्तमिता-ऽनस्तमितेषु चतुर्ष्वपि स्थानेषु यावन्तो भङ्गा घटमानकास्तत्प्रदर्शनार्थमाह—

**अणुदियमणसंकप्पे, गहण गवेसी य भुंजणे चेव ।**
**उग्गयऽणत्थमिए या, अत्थंपत्ते वि चत्तारि ॥ ५७९० ॥**

अनुदितमनःसङ्कल्पे गवेषण-ग्रहण-भोजनाख्यैस्त्रिभिः पदैर्येऽष्टौ भङ्गास्तेषु 'चत्वारः' प्रथम-द्वितीय-चतुर्था-ऽष्टमभङ्गा घटन्ते, शेषाश्चत्वारोऽघटमानकाः । उद्गतमनःसङ्कल्पेऽप्येत एव चत्वारो घटन्ते न शेषाः । अनस्तमितसङ्कल्पे अस्तंप्राप्तसङ्कल्पेऽपि चैत एव चत्वारो ग्राह्याः, शेषास्तु तृतीय-पञ्चम-षष्ठ-सप्तमा असम्भवित्वाद् वर्जनीयाः ॥ ५७९० ॥

अथैतेषामेव घटमानकभङ्गानां विभागतः प्ररूपणामाह—

**अणुदितमणसंकप्पे, गवेस-गह-भोयणम्मि पढमलता ।**
**बितियाएँ तिसु असुद्धो, उग्गयभोई उ अंतिमओ ॥ ५७९१ ॥**

अनुदितमनःसङ्कल्पोऽनुदितगवेषी अनुदितग्राही अनुदितभोजी १, एषा प्रथमा लता, प्रथमो

भङ्ग इत्यर्थः । द्वितीयस्यां तु लतायां साधुस्त्रिषु पदेषु अविशुद्धः, तद्यथा—अनुदितसङ्कल्पोऽनुदितगवेषी अनुदितग्राही उद्गतभोजी, इयं हि लता सङ्कल्प-गवेषण-ग्रहणपदैस्त्रिभिरशुद्धा उद्गतभोजित्वरूपेणान्त्यपदेन तु शुद्धा ॥ ५७९१ ॥

तइयाएँ दो असुद्धा, गहणे भोती य दोण्णि उ विसुद्धा ।
संकप्पम्मि असुद्धा, तिसु सुद्धा अंतिमलया उ ॥ ५७९२ ॥

तृतीयस्यां लतायां 'द्वे' सङ्कल्प-गवेषणपदे अशुद्धे ग्रहण-भोजनपदे तु द्वे विशुद्धे । तद्यथा—अनुदितसङ्कल्पोऽनुदितगवेषी उदितग्राही उदितभोजी चेति । 'अन्त्यलता नाम' अनुदितसङ्कल्पस्य चरमा लता चतुर्थीत्यर्थः, सा सङ्कल्पपदेऽविशुद्धा शेषैः त्रिभिः पदैः शुद्धा । तद्यथा—अनुदितसङ्कल्प उदितगवेषी उदितग्राही उदितभोजी ॥ ५७९२ ॥ एवमनुदितमनःसङ्कल्पस्य चतस्रो लता उक्ताः । अथोदितमनःसङ्कल्पस्य चतस्रो लता आह—

उग्गयमणसंकप्पे, अणुदिते गवेसी य गहण भोगी य ।
एमेव य वितियलता, सुद्धा आदिम्मि अंते य ॥ ५७९३ ॥
ततियलताएँ गवेसी, होइ असुद्धो उ सेसगा सुद्धा ।
सव्वविसुद्धा उ भवे, चउत्थलतिया उदियचित्ते ॥ ५७९४ ॥

आदित्य उद्गतोऽनुद्गतो वा भवतु स नियमादुद्गतं मन्यत इत्युद्गतमनःसङ्कल्प उच्यते । तस्य प्रथमलता—उद्गतमनःसङ्कल्पोऽनुदितगवेषी अनुदितग्राही अनुदितभोजी १ । एवमेव च द्वितीयलताऽपि द्रष्टव्या, नवरमादिपदे अन्त्यपदे च सा शुद्धा मध्यमे पदद्वयेऽशुद्धा २ ॥ ५७९३ ॥

तृतीयलतायामेकं गवेषणापदमशुद्धम् 'शेषाणि' सङ्कल्प-ग्रहण-भोजनपदानि त्रीण्यपि शुद्धानि ३ । चतुर्थी तु लता सर्वेषु पदेषु शुद्धा ४ । एताश्चतस्रोऽप्युदितचित्तविषया लता भावस्य विशुद्धतया शुद्धाः प्रतिपत्तव्याः । एवमस्तमिता-ऽनस्तमितसङ्कल्पयोरप्यष्टौ लता भवन्ति ॥ ५७९४ ॥ तासामेव विभागमुपदर्शयति—

अत्थंगयसंकप्पे, पढम धरेंतेसि गहण भोगी य ।
दोसंतेसु असुद्धा, वितिया मज्झे भवे सुद्धा ॥ ५७९५ ॥
ततिया गवेसणाए, होति विसुद्धा उ तीसु अविसुद्धा ।
चँत्तारि वि होंति पदा, चउत्थलतियाएँ अत्थमिते ॥ ५७९६ ॥

इहास्तमितमनस्तमितं वा रविं यो नियमादस्तमितं मन्यते सोऽस्तङ्गतसङ्कल्पः, तस्य प्रथमा लता—अस्तमितसङ्कल्पोऽनस्तमितगवेषी अनस्तमितग्राही अनस्तमितभोजी १; अत एवाह—प्रथमायां लतायां "धरेंतेसि" त्ति ध्रियमाणे सूर्ये भक्त-पानस्य एषणं ग्रहणं भोजनं च 'अस्तङ्गतो रविः' इतिबुद्ध्या करोति । द्वितीया तु लता 'द्वयोः' आद्यन्तपदयोरशुद्धा 'मध्ये' गवेषणा-ग्रहणपदयोः शुद्धा २ ॥ ५७९५ ॥

---

१ °द्धः, परं यत उद्गतभोगी अन्त्यपदयुक्तस्ततो निर्दोषः । तद्यथा कां० ॥ २ °त एसी य ताभा० ॥ ३ °या उद्गतमनःसङ्कल्पगोचरा लता कां० ॥ ४ चत्तारि पय असुद्धा, चउत्थ° ताभा० ॥

तृतीया गवेषणायां विशुद्धा 'त्रिषु' शेषेषु सङ्कल्पादिष्वविशुद्धा ३ । चतुर्थलतायां चास्तमितविषयत्वात् चत्वार्यपि पदान्यविशुद्धानि । 'अस्तमितमनःसङ्कल्पः' इति कृत्वा चतस्रोऽप्येता अविशुद्धाः ४ ॥ ५७९६ ॥ अथ विशुद्धलता आह—

**अणत्थंगयसंकप्पे, पढमा एसी य गहण भोगी य ।**
**मण एसि गहण सुद्धा, बितिया अंतम्मि अविसुद्धा ॥ ५७९७ ॥**
**मण एसणाए सुद्धा, ततिया गह-भोयणेसु अविसुद्धा ।**
**संकप्पे नवरि सुद्धा, तिसु वि असुद्धा उ अंतिमिया ॥ ५७९८ ॥**

अस्तमितमनस्तमितं वा सूर्यं यो नियमादनस्तमितं मन्यते तस्य प्रथमा लता, अनस्तमितसङ्कल्पोऽनस्तमितगवेषी अनस्तमितग्राही अनस्तमितभोजी । अत एवाह—"पढमा एसी य गहणे भोगी य" त्ति प्रथमायामनस्तमितैषी अनस्तमितग्रहण-भोजी चेति । द्वितीया तु लता मनःसङ्कल्पैषण-ग्रहणपदेषु त्रिषु विशुद्धा अन्त्यपदे अविशुद्धा ॥ ५७९७ ॥

तृतीयलता मनःसङ्कल्पे एषणे च शुद्धा ग्रहणे भोजने चाविशुद्धा । 'अन्त्या नाम' चतुर्थी लता सा नवरं सङ्कल्पपदे विशुद्धा शेषेषु 'त्रिषु' गवेषण-ग्रहण-भोजनपदेषु अशुद्धा ॥५७९८॥

अत्राष्टास्वप्यविशुद्धलतासु प्रायश्चित्तमाह—

**पढमाए बितियाए, ततिय चउत्थीएँ नवम दसमाए ।**
**एक्कारस बारसीए, लताएँ चउरो अणुग्घाता ॥ ५७९९ ॥**

प्रथमायां द्वितीयस्यां तृतीयस्यां चतुर्थ्यां नवम्यां दशम्यामेकादश्यां द्वादश्यां चेत्यष्टासु लतासु[1] भावस्याविशुद्धतया चत्वारोऽनुद्घाता मासाः ॥ ५७९९ ॥

**पंचम[2] छ स्सत्तमिया, अट्ठमिया तेर चोद्दसमिया य ।**
**पन्नरस सोलसा वि य, लतातो एया विसुद्धाओ ॥ ५८०० ॥**

पञ्चमी षष्ठी सप्तमी अष्टमी त्रयोदशी चतुर्दशी पञ्चदशी षोडशी चेत्यष्टौ लता विशुद्धाः प्रतिपत्तव्याः[3], सर्वत्रापि भावस्य विशुद्धत्वात् ॥ ५८०० ॥ अत्र शिष्यः पृच्छति—

**दोण्ह वि कतरो गुरुओ, अणुग्गतऽत्थमियभुंजमाणाणं ।**
**आदेस दोण्णि काउं, अणुग्गए लहु गुरू इयरे ॥ ५८०१ ॥**

अनुद्गता-ऽस्तमितभुञ्जानयोर्द्वयोर्मध्ये कतरो गुरुतरः—महादोषः ? । सूरिराह—आदेशद्वयं कर्तव्यम् । एके आचार्या ब्रुवते—अनुद्गतभोजिनोऽस्तमितभोजी गुरुतरः । कुतः ? इति चेद् उच्यते—स संक्लिष्टपरिणामः, दिवसतो भुक्त्वा भूयो रजन्याः प्रमुख एव भुङ्क्ते, तदानीं चाविशुध्यमानः कालः; अनुदितभोजी पुनः सकलां रजनीमधिसह्य क्लान्तो भुङ्क्ते, विशुध्यमानश्च तदानीं कालः, अतोऽसौ लघुतरः । अपरे भणन्ति—अस्तमितभोजिनोऽनुदितभोजी गुरुतरः,

---

१ °यणम्मि अवि° ताभा० ॥ २ °सु यथाक्रममाद्यासु चतसृषु अनुदितसङ्कल्पविषयासु अन्त्यासु चतसृषु अस्तमितसङ्कल्पगोचरासु भावस्याविशुद्धतया चत्वारोऽनुद्धाता मासाः प्रायश्चित्तं भवेयुः ॥ ५७९९ ॥ पंचम कां० ॥ ३ °व्याः, आद्यासु चतसृषु उद्गतसङ्कल्पगोचरतया अन्त्यासु पुनरनस्तमितसङ्कल्पविषयतया सर्वत्रा° कां० ॥

यस्मादसौ सर्वां रात्रिमधिसह्य स्तोकं कालं न प्रतीक्षते ततः संक्लिष्टपरिणामः; इतरस्तु चिन्तयति—भूयान् मया कालः सोढव्य अतो भुङ्क्ते, एवमसौ लघुतरः । एवमादेशद्वयं कृत्वा स्थितपक्ष उच्यते—अनुद्गते सूर्ये प्रतिसमयं विशुध्यमानः कालो भवतीति कृत्वाऽनुदितभोजी लघुतरः, 'इतरः पुनः' अस्तमितभोजी स तदानीं प्रतिसमयमविशुध्यमानः कालो भवतीति कृत्वा गुरुतरः ॥ ५८०१ ॥ उक्तं कालनिष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । अथ द्रव्य-भावनिष्पन्नमभिधित्सुराह—

**गेण्हण गहिए आलोयण, नमोक्कारे भुंजणे य संलेहे ।**
**सुद्धो विगिंचमाणो, अविगिंचण सोहि दव्व भावे य ॥ ५८०२ ॥**

अनुदितो वाऽस्तमितो वा रविरेतेषु स्थानेषु ज्ञातो भवेत्—"गेण्हण" त्ति कृते उपयोगे पदभेदे कृते ज्ञातम्, यथा—नाद्याप्युद्गतोऽस्तमितो वा; तदा तत एव निवर्तमानः शुद्धः । अथ ग्रहणं–गवेषणं कुर्वता ज्ञातं तदापि निवर्तमानः शुद्धः । अथ गृहीते ज्ञातं ततो यद् गृहीतं तत् परिष्ठापयन् शुद्धः । अथालोचयता ज्ञातं तदापि विविञ्चन् शुद्धः । अथ भोक्तुकामेन नमस्कारं भणता ज्ञातं ततोऽपि विविञ्चन् शुद्धः । भुञ्जानेन ज्ञातं शेषं परित्यजन् शुद्धः । अथ सर्वस्मिन् भुक्ते संलेखनाकल्पं कुर्वता ज्ञातं तथापि विविञ्चन् 'शुद्धः' न प्रायश्चित्ती । अथ न विविनक्ति ततो द्रव्यतो भावतश्च 'शोधिः' प्रायश्चित्तं भवति ॥ ५८०२ ॥

तत्र द्रव्यनिष्पन्नं तावदाह—

**संलेह पण तिभाए, अवड्ढ दोभाए पंच मोत्तु भिक्खुस्स ।**
**मास चउ छ च लहु-गुरु, अभिक्खगहणे तिसु मूलं ॥ ५८०३ ॥**

'संलेखः' कवलत्रयप्रमाणः तमवशेषमनुद्गतेऽस्तमिते वा ज्ञातेऽपि भुङ्क्ते मासलघु । पञ्च कवलानवशिष्यमाणान् भुङ्क्ते मासगुरु । 'त्रिभागः' दशकवलास्तान् शेषान् भुङ्क्ते चतुर्लघु । 'अपार्धः' पञ्चदश कवलास्तानवशेषान् भुञ्जानस्य चतुर्गुरु । "दोभाग" त्ति द्वौ त्रिभागौ विंशतिः कवलास्तान् भुञ्जानस्य षड्लघु । "पंच मोत्तुं" ति त्रिंशतो मध्यात् पञ्च मुक्त्वा ये शेषाः पञ्चविंशतिः कवलास्तान् यदि भुङ्क्ते तदा षड्गुरु । एवं यथा यथा द्रव्यवृद्धिस्तथा तथा प्रायश्चित्तमपि वर्धते । अभीक्ष्णग्रहणं पुनः पुनरासेवां प्रतीत्य द्वितीयं वारमेवंभुञ्जानस्य मासगुरुकादारब्धं छेदे तिष्ठति । तृतीयं वारं चतुर्लघुकादारभ्य मूलं यावद् नेतव्यम् । एवं ◁ त्रिषु वारेषु मूलं यावत् प्रायश्चित्तं ▷ भिक्षोरुक्तम् ॥ ५८०३ ॥

**एमेव गणा-ऽऽयरिए, अणवट्ठप्पो य होति पारंची ।**
**तम्मि वि सो चेव गमो, भावे पडिलोम वोच्छामि ॥ ५८०४ ॥**

एवमेव गणिनः–उपाध्यायस्याचार्यस्य च चारणिकागमः स एव कर्तव्यः । नवरम्—उपाध्यायस्य प्रथमवारं मासगुरुकादारब्धं छेदे, द्वितीयवारं चतुर्लघुकादारब्धं मूले, तृतीयवारं चतुर्गुरुकादारब्धं अनवस्थाप्ये तिष्ठति । एवमाचार्यस्यापि प्रथमवारं चतुर्लघुकादारब्धं मूले, द्वितीयवारं चतुर्गुरुकादारब्धमनवस्थाप्ये, तृतीयवारं षड्लघुकादारब्धं पाराञ्चिके पर्यवस्यति । गतं द्रव्यनिष्पन्नम् । अथ भावे प्रतिलोमं प्रायश्चित्तं वक्ष्यामि—पूर्वं द्रव्यवृद्धौ प्रायश्चित्त-

---

१ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः भा० नास्ति ॥

वृद्धिरुक्ता, सम्प्रति यथा यथा द्रव्यपरिहाणिस्तथा तथा परिणामसंक्लेशवृद्धिमङ्गीकृत्य प्रायश्चित्तवृद्धिमभिधास्ये ॥ ५८०४ ॥ तामेवाह—

[1]पंचूण तिभागऽद्धे, तिभाग सेसे य पंच मोत्तु संलेहं ।
तम्मि वि सो चेव गमो, णायं पुण पंचहि गतेहिं ॥ ५८०५ ॥

'तत्रापि' भाव[2]प्रायश्चित्ते यो द्रव्यनिष्पन्ने चारणागम उक्तः स एव द्रष्टव्यः । नवरम्— "पंचूण" त्ति पञ्चभिः कवलैरूनायां त्रिंशति शेषाः पञ्चविंशतिः कवला भवन्ति, तत[3]: पञ्चसु कवलेषु गतेषु यदि ज्ञातम् 'अनुदितोऽस्तमितो वा रविः' एवं ज्ञात्वा शेषान् पञ्चविंशतिकवलान् भुञ्जानस्य मासलघु । "तिभाग" त्ति त्रिंशत् त्रिभागेन हीना विंशतिकवलास्तान् भुञ्जानस्य मासगुरु । "अद्धि" त्ति 'अर्द्धं' पञ्चदश कवलास्तान् भुञ्जानस्य चतुर्लघु । 'त्रिभागः' दश लम्बनास्तान् भुञ्जानस्य चतुर्गुरु । त्रिंशतः पञ्च लम्बनान् मुक्त्वा शेषाः पञ्चविंशतिरज्ञाते भुक्ताः, ज्ञाते तु पञ्च शेषान् भुञ्जानस्य षड्लघुकाः । संलेखनाशेषं भुञ्जानस्य षड्गुरवः । इह प्रभूत-प्रभूततरकवलेषु अधिका-ऽधिकतरायामपि तृप्तौ सञ्जातायां शेषं स्तोकं स्तोकतरमपि ज्ञाते सति भुङ्क्ते तत्र परिणामः संक्लिष्टः संक्लिष्टतर इति कृत्वा बहु-बहुतरं प्रायश्चित्तम् ॥ ५८०५ ॥

एमेवऽभिक्खगहणे, भावे ततियम्मि भिक्खुणो मूलं ।
एमेव गणा-ऽऽयरिए, सपया सपदं हसति इक्कं ॥ ५८०६ ॥

एवमेवाभीक्ष्णग्रहणेऽपि भावनिष्पन्नं प्रायश्चित्तं भिक्षोर्द्रष्टव्यम् । नवरम्—द्वितीयवारं मासगुरुकादारब्धं छेदे तिष्ठति, तृतीयवारं चतुर्लघुकादारब्धं मूलं यावद् नेयम् । एवमेव गणिन आचार्यस्य च द्रष्टव्यम् । नवरम्—स्वपदात् स्वपदमेकमुभयोरपि ह्रसति । तत्रोपाध्यायस्य प्रथमवारं मासगुरुकादार[4]ब्धं तृतीयवारायामनवस्थाप्ये, आचार्यस्य प्रथमवारं चतुर्लघुकादारब्धं तृतीयवारायां पाराञ्चिके तिष्ठति ॥ ५८०६ ॥ इह पूर्वमुद्गतवृत्तिपदमनस्तमितसङ्कल्पपदं च व्याख्यातं न शेषाणि संस्तृतादीनि अतस्तानि व्याचष्टे—

संथडिओ संथरेंतो, संतयभोजी व होइ नायव्वो ।
पज्जत्तं अलभंतो, असंथडी छिन्नभत्तो य ॥ ५८०७ ॥

संस्तृतो नाम पर्याप्तं भक्त-पानं लभमानः संस्त[6]रति, अथवा यः 'सन्ततभोजी' दिने दिने पर्याप्तमपर्याप्तं वा भुङ्क्ते स संस्तृतो ज्ञातव्यः । यस्तु पर्याप्तं भक्त-पानं न लभते चतुर्थादिना छिन्नभक्तो वा सोऽसंस्तृतः ॥ ५८०७ ॥ निर्विचिकित्सपदं व्याख्याति—

निस्संकमणुदितोऽतिच्छितो व सूरो त्ति गेण्हती जो उ ।
उदित धरेंते वि हु सो, लग्गति अविसुद्धपरिणामो ॥ ५८०८ ॥

---

१ पणहीण ति° ताभा० ॥ २ °वनिष्पन्ने प्राय° कां० ॥ ३ °तः "पंचहिं गएहिं" ति विभक्तिव्यत्ययात् पञ्चसु कां० ॥ ४ °रब्धं छेदे, द्वितीयवारं चतुर्लघुकादारब्धं [ मूले, तृतीयवारं चतुर्गुरुकादारब्धं ] अनवस्थाप्ये: आचार्यस्य प्रथमवारं चतुर्लघुकादारब्धं मूले, द्वितीयवारं चतुर्गुरुकादारब्धमनवस्थाप्ये, तृतीयवारं षड्लघुकादारब्धं पारा° कां० ॥ ५ °भोगी य हो° ताभा० ॥ ६ °रन् निर्वहन् आस्ते, अथ° कां० ॥

निर्विचिकित्सो नाम निःशङ्कमनुदितोऽतिक्रान्तो वा सूर्य इति मन्यते । एवं यो निःशङ्कितेन चेतसा गृह्णाति स यद्यपि उदिते 'म्रियमाणे वा' अनस्तमिते रवौ गृह्णाति तथाप्यविशुद्धपरिणामतया प्रायश्चित्ते लगति ॥ ५८०८ ॥

**एमेव य उदिउ त्ति व, धरइ त्ति व सोढमुवगतं जस्स ।**
**स विवज्जए विसुद्धो, विसुद्धपरिणामसंजुत्तो ॥ ५८०९ ॥**

एवमेव यस्य 'सोढं' निःसन्दिग्धं चित्ते उपगतम्—यदुतादित्य उदितः 'म्रियते वा' नाद्याप्यस्तमेति स यद्यपि 'विपर्यये' विपर्यासज्ञाने वर्तते तथापि विशुद्धपरिणाम इति कृत्वा 'विशुद्धः' न प्रायश्चित्ती ॥ ५८०९ ॥ अथ यदुक्तं सूत्रे—"अह पुण एवं जाणेज्जा—अणुग्गए सूरिए अत्थमिए व" त्ति तत्रोद्गतमनस्तमितं वा रविं चेतसि कृत्वा गृहीतं पश्चात् पुनर्ज्ञातं यथा—अनुद्गतोऽस्तमितो वा; कथं पुनस्तद् ज्ञातम्? इत्याह—

**समि-चिंचिणिमादीणं, पत्ता पुप्फा य णलिणिमादीणं ।**
**उदय-ऽत्थमणं रविणो, कहिंति विगसंत-मउलिंता ॥ ५८१० ॥**

शमी-चिञ्चिणिकादीनां तरूणां पत्राणि नलिनीप्रभृतीनां च पुष्पाणि विकसन्ति सन्ति रवेरुदयं कथयन्ति । एतान्येव मुकुलयन्ति सन्ति रवेरस्तमयनं कथयन्ति ॥ ५८१० ॥

कथं पुनरादित्य उदितोऽस्तमितो वा न दृश्यते? इत्याह—

**अब्भ-हिम-वास-महिया-महागिरी-राहु-रेणु-रयछण्णो ।**
**मूढदिसस्स व बुद्धी, चंदे गेहे व तेमिरिए ॥ ५८११ ॥**

अभ्रसंस्तृते गगने, हिमनिकरे वा पतति, वर्षेण वा महिकया वा पतन्त्या छादिते, महागिरिणा वा अन्तरिते, राहुणा वा सर्वग्रहणेनोदया-ऽस्तमनयोर्गृहीते रवौ, रेणुः—कटकगमनाद्युत्खाता धूलिः रजः—औत्पादिकं ताभ्यां वा छन्न उदितोऽस्तमितो वा रविर्न ज्ञायते । दिग्मूढो वा कश्चिद् अपरां दिशं पूर्वां मन्यते, स नीचमादित्यं विलोक्य 'उद्गतमात्र आदित्यः' इतिबुद्ध्या भक्त-पानं गृहीत्वा वसतिं प्रविष्टो यावद् भुक्तस्तावदन्धकारं जातम्, ततो जानाति—अस्तमितेऽहं भुक्त इति । अथवा 'गेहे' गृहाभ्यन्तरे कारणजाते दिवा सुप्तः, प्रदोषे चन्द्रे उदिते विबुद्धो विवरेण ज्योत्स्नां प्रविष्टां दृष्ट्वा चिन्तयति—एष आदित्यातपः प्रविष्टः; स च तैमिरिको मन्दं मन्दं पश्यति ततो गृहिणा निमन्त्रितो भुक्तः । एवमादिभिः कारणैरनुदितमुदितं मन्येत उदितं वाऽनुदितम्, अस्तमितमप्यनस्तमितं अनस्तमितमप्यस्तमितम् ॥ ५८११ ॥ ततः—

**सुत्तं पडुच्च गहिते, णातुं इहरा उ सो ण गेण्हंतो ।**
**जो पुण गिण्हति णातुं, तस्सेगट्ठाणगं वडं ॥ ५८१२ ॥**

यद्युद्गतोऽनस्तमितो वा इतिबुद्ध्या सूत्रं प्रतीत्य "उग्गयवित्तीए अणत्थमियसंकप्पे" इति सूत्रप्रामाण्येन गृहीतं पश्चाच्च ज्ञातम् 'अनुद्गतोऽस्तमितो वा रविः' ततो यद् मुखे यच्च पाणौ यच्च प्रतिग्रहे तत् सर्वमपि व्युत्सृजेत् । 'इतरथा' यद्यसौ पूर्वमेवानुदितमस्तमितं वा अज्ञास्यत् ततो नाग्रहीष्यत् । यः पुनरनुद्गतमस्तमितं वा ज्ञात्वा गृह्णाति गृहीत्वा वा भुङ्क्तेऽन्येषां वा ददाति

१ रवौ उदया-ऽस्तमने न ज्ञायेते । तथा रेणुः कां० ॥ २ °ण भुंजइ णा° तामा० ॥

तस्यैकं स्थानकं वर्द्धयेत्, तं प्रतीत्य "तं भुंजमाणे अन्नेसिं वा दलमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं" इत्युत्तरं सूत्रखण्डं वर्धयेदिति भावः ॥ ५८१२ ॥

अथ विवेचन-विशोधनपदे व्याचष्टे—

**सव्वस्स छड्डण विगिंचणा उ मुह-हत्थ-पादछूढस्स ।**
**फुसण धुवणा विसोहण, सकिं व बहुसो व णाणत्तं ॥ ५८१३ ॥**

अनुदितमस्तमितं वा ज्ञात्वा यद् मुखे प्रक्षिप्तं तस्य ज्ञाते सति खेलमल्लके यत् प्रक्षेपणम्, यच्च हस्ते—पाणौ तस्य प्रतिग्रहे, यत् पात्रे—प्रतिग्रहे तस्य स्थण्डिले, एवं सर्वस्यापि यत् परिष्ठापनं सा विवेचना । यत् तु "फुसणं" हस्तेनामर्शनं 'धावनं' कल्पकरणं सा विशोधना । अथवा 'सकृत्' एकशः परिष्ठापन-स्पर्शन-धावनानां करणं विवेचना, एतेषामेव बहुशः करणं विशोधनम् । एतद् विवेचन-विशोधनयोर्नानात्वमुक्तम् ॥ ५८१३ ॥

अथ "नो अइक्कमइ" त्ति पदं व्याख्याति—

**नातिक्कमती आणं, धम्मं मेरं व रातिभत्तं वा ।**
**अत्तट्ठेगागी वा, सय भुंजे सेस देज्जा वी ॥ ५८१४ ॥**

एवं विविञ्चन् विशोधयन् वा तीर्थकृतामाज्ञां नातिक्रामति । अथवा श्रुतधर्मं चारित्रमर्यादां रात्रिभक्तव्रतं वा नातिक्रामति । "तं भुंजमाणे अन्नेसिं वा दलमाणे" त्ति पदद्वयं व्याख्यायते—"अत्तट्ठे" इत्यादि, 'आत्मार्थिकः' आत्मलाभाभिग्रही कारणे वा य एकाकी स स्वयं भुङ्क्ते नान्येषां ददाति । 'शेषः पुनः' अनात्मलाभी अनेकाकी वा स अन्येषामपि दद्यात् स्वयमपि भुञ्जीत ॥ ५८१४ ॥

गतं प्रथमं **संस्तृतनिर्विचिकित्ससूत्रम्** । अथ द्वितीयं **संस्तृतविचिकित्ससूत्रं** व्याख्याति—

**एवं वितिगिच्छो वी, दोहि लहू णवरि ते तु तव-काले ।**
**तस्स पुण हवंति लता, अट्ठ असुद्धा ण इतरातो ॥ ५८१५ ॥**

विचिकित्सते—'किं उदितो रविः ? उत अनुदितः ?' इत्यादि संशयं करोतीति विचिकित्सः, सोऽप्येवमेव वक्तव्यः । नवरम्—यानि तस्य तपोऽर्हाणि प्रायश्चित्तानि तानि तपसा कालेन च लघुकानि । 'तस्य च' विचिकित्सस्य पुनरशुद्धा एव केवला अष्टौ लता भवन्ति न 'इतराः' शुद्धाः, सङ्कल्पस्य शङ्कितत्वेन प्रतिपक्षाभावात् ॥ ५८१५ ॥

कथं पुनरसौ शङ्कां करोति ? इत्याह—

**अणुदिय उदिओ किं नु हु, संकप्पो उभयहा अदिट्ठे उ ।**
**धरति ण व त्ति व सूरो, सो पुण नियमा चउण्हेक्को ॥ ५८१६ ॥**

'उभयथा' उदयकालेऽस्तमनकाले वा अभ्र-हिमादिभिः कारणैरदृष्टे आदित्ये सङ्कल्पो भवति, किमनुदित उदितो वा रविः ? अस्तमनकालेऽपि—सूर्यो ध्रियते न वा ? इति शङ्का भवति । स पुनः सूर्यो नियमादनुदित उदितोऽस्तमितोऽनस्तमितो वा ? इति चतुर्णां विकल्पानामे-

१ °नः' आत्म° कां० ॥ २-३ संस्कृत° भा० ॥ ४ °त्सः, "अच्" (सिद्धहे० ५-१-४९) इत्यनेन अच्प्रत्ययः, सोऽप्ये° कां० ॥ ५ °नामेकैकस्मिन् प्रकारे वर्त्तते न शेषेषु । भङ्गाः कां० ॥

कतरस्मिन् वर्तते । भङ्गाः पुनरत्रेत्थमुच्चारणीयाः—उदयं प्रतीत्य विचिकित्से मनःसङ्कल्पे सति विचिकित्सितगवेषी विचिकित्सितग्राही विचिकित्सितभोजी, एवमष्टौ भङ्गाः; अस्तमनमपि प्रतीत्यैवमेवाष्टौ भङ्गाः । द्वयोरप्यष्टभङ्गयोः प्रथम-द्वितीय-चतुर्था-ऽष्टमा भङ्गा घटमानकत्वाद् ग्राह्याः, शेषाश्चत्वारोऽग्राह्याः ॥ ५८१६ ॥ गतं द्वितीयं **संस्तृतविचिकित्ससूत्रम्** । अथ तृतीयम**संस्तृतनिर्विचिकित्ससूत्रं** व्याचिख्यासुराह—

**तव-गेलन्न-ऽद्धाणे, तिविहो तु असंथडी विहे तिविहो ।**
**तवऽसंथड मीसस्सा, मासादारोवणा इणमो ॥ ५८१७ ॥**

असंस्तृतो नाम षष्ठा-ऽष्टमादिना तपसा क्लान्तो १ ग्लानत्वेन वाऽसमर्थो २ दीर्घाध्वनि वा गच्छन् पर्याप्तं न लभते ३, एष त्रिविधोऽसंस्तृतः । "विहे तिविहो" त्ति 'विहे' अध्वनि योऽसंस्तृतः स त्रिविधः, तद्यथा—अध्वप्रवेशेऽध्वमध्येऽध्वोत्तारे च । तत्र तपोऽसंस्तृतस्य निर्विचिकित्सस्य मासादिका इयमारोपणा भवति । "मीसस्स" त्ति मिश्रो नाम—विचिकित्सा-समापन्नस्तस्यापि मासादिरारोपणा कर्तव्या । सा चोत्तरत्राभिधास्यते । इहापि पूर्वक्रमेण षोडश लताः कर्तव्याः, कालनिष्पन्नं च प्रायश्चित्तं प्राग्वत् ॥ ५८१७ ॥ द्रव्य-भावप्रायश्चित्तयोस्त्वयं विशेषः—तपोऽसंस्तृतो विकृष्टतपःक्लान्तः पारणकेऽनुद्गतेऽस्तमिते वा उदिता-ऽनस्तमितबुद्ध्या भक्त-पानीये भुञ्जानो यदाऽनुद्गतमस्तमितं वा जानाति ततः परं भुञ्जानस्येदं प्रायश्चित्तम्—

**एक-दुग-तिण्णि मासा, चउमासा पंचमास छम्मासा ।**
**सव्वे वि होंति लहुगा, एगुत्तरवड्ढिया जेणं ॥ ५८१८ ॥**

संलेखनाशेषं यदि ज्ञाते भुङ्क्ते तत एकमासिकम् । पञ्च कवलान् समुद्दिशति द्विमासिकम् । दश कवलान् समुद्दिशति त्रैमासिकम् । पञ्चदश कवलान् भुञ्जानस्य चतुर्मासिकम् । विंशतिं भुञ्जानस्य पञ्चमासिकम् । अथ पञ्च कवला विशुद्धभावेन समुद्दिष्टाः शेषान् पञ्चविंशतिकव-लान् ज्ञाते भुङ्क्ते ततः षाण्मासिकम् । एतानि सर्वाण्यपि लघुकानि प्रायश्चित्तानि भवन्ति । कुतः ? इत्याह—येन कारणेनैकोत्तरवृद्ध्या द्व्यादिरूपया अमूनि वर्द्धितानि ॥ ५८१८ ॥

इदमेव व्यनक्ति—

**दुविहा य होइ वुड्ढी, सट्ठाणे चेव होइ परठाणे ।**
**सट्ठाणम्मि उ गुरुगा, परठाणे लहुग गुरुगा वा ॥ ५८१९ ॥**

द्विविधा च भवति वृद्धिः । तद्यथा—स्वस्थानवृद्धिः परस्थानवृद्धिश्च । स्वस्थानवृद्धिर्नियमाद् गुरुका भवति, तथाहि—यदा मासलघुकाद् मासमेव स्वस्थानं सङ्क्रामति तदा नियमाद् मास-गुरुकमेव, एवं द्विमासलघुकाद् द्विमासगुरुकम्, यावत् षण्मासलघुकात् षण्मासगुरुकम् । ◁ परस्थानवृद्धिस्तु विसदृशसङ्ख्याका वृद्धिः, यथा—मासाद् द्वौ मासौ, द्वाभ्यां मासाभ्यां त्रयो मासाः, एवं यावत् पञ्चमासात् षण्मासाः । एषा ▷ परस्थानवृद्धिर्लघुका वा गुरुका वा भवेत् ।

---

१-२ **संस्कृत**° भा० ॥ ३ **असंखडी** डे० । **असंघडी** भा० ॥ ४ °**संखड** डे० । °**संघड** भा० ॥ ५ **असंस्कृतो** भा० ॥ ६ °**संस्कृत**° भा० ॥ ७ °**संस्कृतो** भा० ॥ ८ ◁ ▷ एतच्चिह्नान्त-र्गतः पाठः भा० कां० एव वर्त्तते ॥

तत्र लघुकस्थानादारब्धा लघुका गुरुकस्थानादारब्धा गुरुका भवति । अत्र च मासलघुकादारब्धा अतः सर्वाण्यपि लघूनि द्रष्टव्यानि ॥ ५८१९ ॥

**भिक्खुस्स ततियगहणे, सट्ठाणं होइ दव्वनिप्फन्नं ।**
**भावम्मि उ पडिलोमं, गणि-आयरिए वि एमेव ॥ ५८२० ॥**

भिक्षोर्द्वितीयवारं द्वैमासिकादारब्धं छेदे तिष्ठति, तृतीयवारं ग्रहणे त्रैमासिकादारब्धं 'स्वस्थानं' मूलं यावद् नेयम् । एवं द्रव्यनिष्पन्नं प्रायश्चित्तमुक्तम् । भावनिष्पन्नं पुनरेतदेव प्रतिलोमं मन्तव्यम् । गणिन आचार्यस्यापि द्रव्य-भावयोरुभयोरप्येवमेव प्रायश्चित्तम् । नवरम्—उपाध्यायस्य द्वैमासिकादारब्धं त्रिभिर्वारैरनवस्थाप्ये, आचार्यस्य त्रैमासिकादारब्धं त्रिभिर्वारैः पाराञ्चिके पर्यवस्यति ॥ ५८२० ॥ गतस्तपोऽसंस्तृतः । अथ ग्लानासंस्तृतमाह—

**एमेव य गेलन्ने, पट्ठवणा णवरि तत्थ भिण्णेणं ।**
**चउहि गहणेहिँ सपदं, कास अगीतत्थ सुत्तं तु ॥ ५८२१ ॥**

ग्लानासंस्तृतस्याप्येवमेव प्रायश्चित्तम् । नवरम्—तत्र "भिन्नेणं" ति भिन्नमासात् प्रस्थापना कर्तव्या । प्रथमं वारं पञ्चमासलघुके, द्वितीयं षण्मासलघुके, तृतीयं छेदे, चतुर्थं वारं मूले तिष्ठति । अत एवाह—'चतुर्भिर्ग्रहणैः' अभीक्ष्णसेवारूपैः 'स्वपदं' मूलं भिक्षुः प्राप्नोति । उपाध्यायस्य लघुमासादारब्धं चतुर्भिर्वारैरनवस्थाप्ये, आचार्यस्य द्विमासलघुकादारब्धं चतुर्भिर्वारैः पाराञ्चिके पर्यवस्यति । शिष्यः पृच्छति—कस्यैतत् प्रायश्चित्तम् ? सूरिराह—यद् उक्तं यच्च वक्ष्यमाणम् एतत् सर्वमगीतार्थस्य सूत्रं भवति, प्रस्तुतसूत्रोक्तं प्रायश्चित्तमित्यर्थः । स हि कार्यमकार्यं वा यतनामयतनां वा न जानाति अतस्तस्य प्रायश्चित्तम् ॥ ५८२१ ॥

गतो ग्लानासंस्तृतः । अथाध्वासंस्तृतमाह—

**अद्धाणासंथडिए, पवेस मज्झे तहेव उत्तिण्णे ।**
**मज्झम्मि दसगवुड्ढी, पवेस उत्तिण्णि पणएणं ॥ ५८२२ ॥**

'अध्वनि' मार्गे योऽसंस्तृतः स त्रिविधः । तद्यथा—अध्वनः प्रवेशे मध्ये उत्तारे च । तत्र प्रथमं मध्ये भाव्यते—भिक्षोः संलेखनादिषु षट्सु स्थानेषु दशरात्रिन्दिवमादौ कृत्वा प्रायश्चित्तवृद्धिः कर्तव्या, उपाध्यायस्य पञ्चदशरात्रिन्दिवादिकम्, आचार्यस्य विंशतिरात्रिन्दिवादिकं प्रायश्चित्तम् । भावे एतदेव प्रतिलोमं वक्तव्यम् । अथ प्रवेशे उत्तरणे च भण्यते—"पवेस उत्तिण्ण पणएणं" ति प्रवेशे तथा उत्तरणमुत्तीर्णे तत्र च पञ्चकेन स्थापना क्रियते, संलेखनादिषु षट्सु पदेषु पञ्चरात्रिन्दिवान्यादौ कृत्वा मासलघुकं यावद् नेतव्यमिति भावः । तथा उभयोरपि अष्टभिर्वारैर्मूलं प्राप्नोति, उपाध्यायस्य दशरात्रिन्दिवादिकमष्टमवारायामनवस्थाप्यम्,

१ °संस्कृत° भा० ॥ २ 'तत्र' ग्लानासंस्तृते "भिन्नेणं" ति विभक्तिव्यत्ययाद् भिन्नमासात् प्रस्थापना कर्त्तव्या । ततश्च प्रथमं वारं भिन्नमासादारब्धं पञ्चमासगुरुके, द्वितीयं वारं लघुमासादारब्धं षण्मासलघुके, तृतीयं वारं द्वैमासिकादारब्धं छेदे, चतुर्थं वारं त्रैमासिकादारब्धं मूले तिष्ठति । अत कां० ॥ ३ जानीते अत° भा० डे० ॥ ४ °संस्कृत° भा० ॥ ५ °ऽसंस्कृतः भा० ॥

आचार्यस्य पञ्चदशरात्रिन्दिवादिकं पाराञ्चिकान्तम् । भावे एतदेव प्रतिलोमं प्रायश्चित्तम् ।

शिष्यः पृच्छति—अध्वासंस्तृतो मध्ये क्षिप्रमेव स्वपदं प्रापितः प्रवेशे उत्तरणे च चिरेण तदेतत् कथम् ? अत्रोच्यते—अध्वनः प्रवेशे भयमुत्पद्यते 'कथमध्वानं निस्तरिष्यामि ?' उत्तरणेऽपि बुभुक्षा-तृषादिभिरत्यन्तं क्लान्तः, अत एतौ चिरेण स्वपदं प्रापितौ, अध्वमध्ये पुनर्जितभयो नातिक्लान्तश्च अतः शीघ्रं स्वपदं प्रापितः । अत्रैकैकस्मिन् पदे आज्ञादयो रात्रिभोजनदोषाश्च । अगीतार्थस्य चैतन्मन्तव्यम्, न गीतार्थस्य ॥ ५८२२ ॥ कुतः ? इति चेद् उच्यते—

**उग्गयमणुग्गते वा, गीतत्थो कारणे णऽतिक्कमति ।**
**दूताऽऽहिंड विहारी, ते वि य होंती सपडिवक्खा ॥ ५८२३ ॥**

*गीतार्थः* अध्वप्रवेशादौ कारणे उत्पन्ने उद्गतेऽनुद्गते वा सूर्ये यतनयाऽरक्तोऽद्विष्टो भुञ्जानो भगवतामाज्ञां धर्मं वा नातिक्रामति । ते चाध्वप्रतिपन्नास्त्रिविधाः—द्रवन्त आहिण्डका विहारिणश्च । तत्र द्रवन्तः—ग्रामानुग्रामं गच्छन्तः, आहिण्डकाः—सततपरिभ्रमणशीलाः, विहारिणः—मासं मासेन विहरन्तः । तेऽपि प्रत्येकं सप्रतिपक्षाः ॥ ५८२३ ॥ तद्यथा—

**दूइज्जंता दुविधा, णिक्कारणिगा तहेव कारणिगा ।**
**असिवादी कारणिता, चक्के थूभाईता इतरे ॥ ५८२४ ॥**
**उवदेस अणुवदेसा, दुविहा आहिंडगा मुणेयव्वा ।**
**विहरंता वि य दुविधा, गच्छगता निग्गता चेव ॥ ५८२५ ॥**

द्रवन्तो द्विविधाः—निष्कारणिकाः कारणिकाश्च । तत्राशिवा-ऽवमौदर्य-राजद्विष्टादिभिः कारणैः, उपधेर्लेपस्य वा निमित्तं, गच्छस्य वा बहुगुणतरमिति कृत्वा, आचार्यादीनां वा आगाढे कारणे ये द्रवन्ति ते कारणिकाः । ये पुनरुत्तरापथे धर्मचक्रं मथुरायां देवनिर्मितस्तूप आदिशब्दात् कोशलायां जीवन्तस्वामिप्रतिमा तीर्थकृतां वा जन्मादिभूमय एवमादिदर्शनार्थं द्रवन्तो निष्कारणिकाः ॥ ५८२४ ॥

आहिण्डका अपि द्विधा—उपदेशाहिण्डका अनुपदेशाहिण्डकाश्च । तत्र ये सूत्रा-ऽर्थौ गृहीत्वा भविष्यदाचार्या गुरूणामुपदेशेन त्रिवर्षा-ऽऽचार-भाषोपलम्भनिमित्तमाहिण्डन्ते ते उपदेशाहिण्डकाः, ये तु कौतुकेन देशदर्शनं कुर्वन्ति तेऽनुपदेशाहिण्डकाः । विहरन्तोऽपि द्विविधाः— गच्छगता गच्छनिर्गताश्च । तत्र 'गच्छगताः' गच्छवासिनः ऋतुबद्धे मासं मासेन विहरन्ति । गच्छनिर्गता द्विविधाः—विधिनिर्गता अविधिनिर्गताश्च । विधिनिर्गताश्चतुर्धा—जिनकल्पिकाः प्रतिमाप्रतिपन्ना यथालन्दिकाः शुद्धपारिहारिकाश्चेति । अविधिनिर्गताः सारणादिभिस्त्याजिता एकाकीभूताः ॥ ५८२५ ॥

एतेषां भेदानामिमेऽनुदिता-ऽस्तमितयोः प्रायश्चित्ते लगन्ति—

**निक्कारणिगाऽणुवदेसिगा य लग्गंतऽणुदिय अत्थमिते ।**
**गच्छा विणिग्गता वि हु, लग्गे जति ते करेज्जेवं ॥ ५८२६ ॥**

---

१ °संस्कृतो भा० ॥ २ वा, उपलक्षणत्वाद् अस्तमितेऽनस्तमिते वा सूर्ये कां० ॥ ३ °गा समासेणं । विह° ताभा० ॥ ४ °वन्ति ते इतरे मन्तव्याः । इतरे नाम-निष्का° कां० ॥

निष्कारणिका द्रवन्तो अनुपदेशाहिण्डका अविधिनिर्गताश्चानुदितेऽस्तमिते वा यदि गृह्णन्ति भुञ्जते वा ततः पूर्वोक्तप्रायश्चित्ते लगन्ति । ये तु कारणिका द्रवन्त उपदेशाहिण्डका गच्छगताश्च ते कारणे यतनया गृह्णाना भुञ्जानाश्च शुद्धाः । ये तु गच्छनिर्गता जिनकल्पिकादयस्तेऽपि यद्येवमनुदितेऽस्तमिते वा ग्रहणं कुर्युस्ततो लगन्ति परं ते नियमात् तदानीं न गृह्णन्ति, त्रिकालविषयज्ञानसम्पन्नत्वात् ॥ ५८२६ ॥

अहवा तेसिं ततियं, अप्पत्तो अणुदितो भवे सूरो ।
पत्तो तु पच्छिमं पोरिसिं च अत्थंगतो होति ॥ ५८२७ ॥

अथवाशब्दः प्रकारान्तरवाची । 'तेषां' जिनकल्पिकादीनां तृतीयां पौरुषीमप्राप्तः सूर्योऽनुदितो भण्यते, पश्चिमां च पौरुषीं प्राप्तोऽस्तङ्गत उच्यते । अत एव भक्तं पन्थाश्च तेषां तृतीयपौरुष्यामेव भवति नान्यथा ॥ ५८२७ ॥

गतमसंस्तृतनिर्विचिकित्ससूत्रम् । अथासंस्तृतविचिकित्ससूत्रं व्याचष्टे—

वितिगिच्छ अब्भसंथड, सत्थो उ पहावितो भवे तुरियं ।
अणुकंपयाएँ कोई, भत्तेण निमंतणं कुज्जा ॥ ५८२८ ॥

अभ्रसंस्तृत-हिमानीसम्पातादिभिरदृश्यमाने सूर्ये विचिकित्सा भवति । ते च साधवः सार्थेन अध्वानं प्रतिपन्नाः, अन्तरा चाऽभिमुखोऽपरः सार्थ आगतः, द्वावप्येकस्थाने आवासितौ, अभिमुखागन्तुकसार्थिकश्च कोऽप्यनुकम्पया साधूनां भक्तेन निमन्त्रणं कुर्यात्, यस्मिंश्च सार्थे साधवः स चलितः अतः सूर्योदयवेलायामुदितोऽनुदित इति शङ्कया गृह्णीयुः । इहापि त्रिविधेऽसंस्तृते तथैवाष्टौ लताः । नवरम्—असंस्तृते निर्विचिकित्से तपःप्रायश्चित्तान्युभयगुरुकाणि, असंस्तृते विचिकित्से पुनरुभयलघूनि, शेषं सर्वमपि प्राग्वत् ॥ ५८२८ ॥

॥ संस्तृत-निर्विचिकित्सप्रकृतं समाप्तम् ॥

---

## उ द्गा र प्र कृ त म्

सूत्रम्—

**इह खलु निग्गंथस्स वा निग्गंथीए वा रातो वा वियाले वा सपाणे सभोयणे उग्गाले आगच्छेज्जा, तं विगिंचमाणे वा विसोहेमाणे वा नो अइक्कमइ । तं उग्गिलित्ता पच्चोगिलमाणे राईभोयणपडिसेवणप्पत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं १० ॥**

---

१-२ °संस्कृत° भा० ॥ ३ व्याख्याति कां० ॥ ४ °संखड डे० । °संघड भा० ॥ ५ °संस्कृत° भा० ॥ ६-७ °संस्कृते भा० ॥ ८ असंविचि° कां० विना ॥

अस्य सम्बन्धमाह—

**निसिभोयणं तु पगतं, असंथरंतो बहुं च भोत्तूणं ।**
**उग्गालमुग्गिलिज्जा, कालपमाणा व दव्वं तु ॥ ५८२९ ॥**

निशिभोजनं पूर्वसूत्रे प्रकृतम्, इहापि तदेवाभिधीयते । यद्वाऽसंस्तरन् 'बहु' प्रभूतं भुक्त्वा रजन्यामुद्गारमागतमुद्गिलेत् तन्निषेधार्थमिदं सूत्रम् । अथवा कालप्रमाणमनन्तरसूत्रे उक्तम्, इह तु कालप्रमाणादनन्तरं द्रव्यप्रमाणमुच्यते ॥ ५८२९ ॥

अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य व्याख्या—'इह' अस्मिन् मौनीन्द्रे प्रवचने ग्रामादौ वा वर्तमानस्य 'खलुः' वाक्यालङ्कारे निर्ग्रन्थस्य वा निर्ग्रन्थ्या वा रात्रौ वा विकाले वा सह पानेन सपानः सह भोजनेन सभोजन उद्गार आगच्छेत् । किमुक्तं भवति ?—सिक्थविरहितमेकं पानीयमुद्गारेण सहागच्छति, कूरसिक्थं वा केवलमागच्छति, कदाचिदुभयं वा । 'तम्' उद्गारं 'विविञ्चन् वा' सकृत् परित्यजन् 'विशोधयन् वा' बहुशः परित्यजन् नो आज्ञामतिक्रामति । तमुद्गीर्य 'प्रत्यवगिलन्' भूयोऽप्यास्वादयन् आपद्यते चातुर्मासिकं परिहारस्थानं अनुद्घातिकम् । एष सूत्रार्थः ॥ सम्प्रति **निर्युक्तिविस्तरः**—

**उद्दरे वमित्ता, आतिअणे पणगवुड्ढि जा तीसा ।**
**चत्तारि छ च लहु-गुरु, छेदो मूलं च भिक्खुस्स ॥ ५८३० ॥**

'ऊर्द्धदरे' सुभिक्षे पर्याप्तमशनादिकं भुक्त्वा वमित्वा च यो विशिष्टभक्तलोभेन भूयः प्रत्यापिबति ततो यदि दिवसस्तत एकं लम्बनमादौ कृत्वा यावत् पञ्च लम्बनास्तावद् आपिबतश्चत्वारो लघवः । ततः पञ्चकवृद्धिस्त्रिंशतं यावत् कर्तव्या, तद्यथा—षट् प्रभृति यावद् दश लम्बना एतेषु चतुर्गुरवः, एकादशादिषु पञ्चदशान्तेषु षड्लघवः, षोडशादिषु विंशत्यन्तेषु षड्गुरवः, एकविंशत्यादिषु पञ्चविंशत्यन्तेषु च्छेदः, षड्विंशत्यादिषु त्रिंशदन्तेषु लम्बनेषु प्रत्यवगिल्यमानेषु मूलम् । एवं भिक्षोरुक्तम् ॥ ५८३० ॥

**गणि आयरिए सपदं, एगग्गहणे वि गुरुग आणादी ।**
**मिच्छत्तऽमच्चवडुए, विराहणा तस्स वऽण्णस्स ॥ ५८३१ ॥**

गणी—उपाध्यायस्तस्य चतुर्गुरुकादारब्धं स्वपदमनवस्थाप्यं यावद् नेयम् । आचार्यस्य षड्लघुकादारब्धं स्वपदं पाराञ्चिकं यावद् द्रष्टव्यम् । एवं दिवसत उक्तम् । रात्रौ तु यद्येकमपि सिक्थं 'गृह्णाति' प्रत्यादत्ते ततश्चतुर्गुरु, आज्ञादयश्च दोषाः । मिथ्यात्वं चासावन्येषां जनयति—यथा वादिनस्तथा कारिणो न भवन्त्यमी इति । राजा वा तं ज्ञात्वा भिक्षादीनां प्रतिषेधं कुर्यात्, 'मा वा कोऽप्यमीषां मध्ये प्रव्राजीत' इति वारयेत्, असारं च प्रवचनं मन्येत, अस्थिसरजस्का अप्यमीभिर्वान्तमापिबद्भिर्जिता इति[1] । 'तस्य वा' वान्ताशिनः 'अन्यस्य वा' तं पश्यतो विराधना भवति । **अत्रामात्यबटुकदृष्टान्तः**—

*एगो रंकबडुतो संखडीए मज्जियाकूरं अइप्पमाणं जिमितो । निग्गयस्स य रायमग्गमोगाढस्स हिययमुच्छलं ।* **अमच्चपासायस्स हिट्ठा वमिउमारद्धो, अमच्चेण य वायायणट्ठिएण दिट्ठो ।**

---

१ एतदनन्तरं **ग्रन्थाग्रम्**—६००० कां० ॥

सो य वमित्ता तमाहारमविणट्ठं पासित्ता लोभेण भुंजिउमारद्धो । तं दट्ठूण अमच्चस्स अंगाणि उद्धुसियाइं, उड्डं च जातं । अमच्चो दिणे दिणे जेमणवेलाए समुद्दिसंतो संभरेत्ता उड्डं करेइ । एवं तस्स वग्गुली वाही जातो, तओ मओ । सो वि धिज्जाईओ एवमेव विणट्ठो । जम्हा एते दोसा तम्हा पमाणपत्तं भोत्तव्वं ॥ ॥ ५८३१ ॥

**एवं ताव दिवसतो, रातो सित्थे वि चउगुरू होंति ।**
**उद्दरग्गहणा पुण, अववाते कप्पए ओमे ॥ ५८३२ ॥**

एवं तावत् कवलपञ्चकमादौ कृत्वा पञ्चकवृद्ध्या चतुर्लघुकादिकं प्रायश्चित्तं दिवसत उक्तम् । रात्रावेकसिक्थस्यापि ग्रहणे चतुर्गुरवो भवन्ति । यच्च **निर्युक्तिगाथायाम्** उद्दरग्रहणं कृतं तदेवं ज्ञापयति—अपवादपदे अवमे प्रत्यवगिलनमपि कल्पते ॥ ५८३२ ॥ अत्र शिष्यः प्राह—

**रातो व दिवसतो वा, उग्गाले कत्थ संभवो होज्जा ।**
**गिरिजण्णसंखडीए, अट्ठाहिय तोसलीए वा ॥ ५८३३ ॥**

रात्रौ वा दिवसतो वा कुत्रोद्गारस्य सम्भवो भवेत् ? । सूरिराह—**गिरियज्ञादिषु** सङ्खडीषु **तोसलि**विषये वा अष्टाहिकादिमहिमासु प्रमाणातिरिक्तं भुक्तानामुद्गारः सम्भवति ॥ ५८३३ ॥

तत्र प्रायश्चित्तमभिधित्सुः प्रस्तावनार्थं तावदिदमाह—

**अद्धाणे वत्थव्वा, पत्तमपत्ता य जोअण दुगे य ।**
**पत्ता य संखडिं जे, जतणमजतणाएँ ते दुविहा ॥ ५८३४ ॥**

ते सङ्खडीभोजिनः साधवो द्विविधाः—अध्वप्रतिपन्ना वास्तव्याश्च । तत्र ये वास्तव्यास्ते द्विविधाः—सङ्खड्याः प्रेक्षिणोऽप्रेक्षिणश्च । अध्वप्रतिपन्ना अपि द्विधा—तत्रैव गन्तुकामा अन्यत्र वा गन्तुकामाः । येऽन्यत्र गन्तुकामास्ते द्विधा—प्राप्तभूमिका अप्राप्तभूमिकाश्च । प्राप्तभूमिका नाम—ये सङ्खडीग्रामस्य पार्श्वतो गन्तुकामाः सङ्खडीमभिधार्य अर्धयोजनादागच्छन्ति । अप्राप्तभूमिका नाम—ये योजनाद् योजनद्विकाद् उपलक्षणत्वाद् यावद् द्वादशयोजनेभ्यः सङ्खडीनिमित्तमागताः । ये तत्रैव गन्तुकामाः सङ्खडीग्रामे प्राप्तास्ते 'द्विविधाः' द्विप्रकाराः—यतनाप्राप्ता अयतनाप्राप्ताश्च । ये पदभेदमकुर्वन्तः सूत्रार्थपौरुष्यौ विदधाना आगतास्ते यतनाप्राप्ताः । ये तु सङ्खडीं श्रुत्वा सूत्रार्थौ हापयन्त उत्सुकीभूता आगतास्ते अयतनाप्राप्ताः ॥ ५८३४ ॥

**वत्थव्व जतणपत्ता, एगगमा दो वि होंति णेयव्वा ।**
**अजयण वत्थव्वा वि य, संखडिपेही उ एक्कगमा ॥ ५८३५ ॥**

तत्र ये वास्तव्याः सङ्खड्यप्रलोकिनो ये च तत्रैव गन्तुकामा यतनाप्राप्ताः एते द्वयेऽपि प्रायश्चित्तचारणिकायामेकगमा भवन्ति ज्ञातव्याः । ये तु तत्रैव गन्तुकामा अयतनाप्राप्ताः ये च वास्तव्याः सङ्खडीप्रलोकिनः एते द्वयेऽपि चारणिकायामेकगमा भवन्ति ॥ ५८३५ ॥

"पत्ता य सङ्खडिं जे" ( गा० ५८३४ ) इति पदं व्याख्याति—

**तत्थेव गंतुकामा, वोलेउमणा व तं उवरिएणं ।**
**पदभेद अजयणाए, पडिच्छ उव्वत्त सुतभंगे ॥ ५८३६ ॥**

यत्र ग्रामे सङ्खडिस्तत्रैव ये गन्तुकामाः ये वा तस्य ग्रामस्योपरि वोलयितुमनसस्ते यदि

स्वभावगतेः पदभेदं कुर्वन्ति, एकद्व्यादीनि वा दिनानि प्रतीक्षन्ते, अवेलायामुद्वर्तन्ते वा, सूत्रार्थपौरुषीभङ्गेन वा प्राप्ता भवन्ति तदाऽयतनाप्राप्ताः । इतरथा यतनाप्राप्ताः ॥ ५८३६ ॥

प्राप्तभूमिकान् अप्राप्तभूमिकांश्च व्याख्याति—

**संखडिमभिधारेंता, दुगाउया पत्तभूमिगा होंति ।**
**जोयणमाई अप्पत्तभूमिया बारस उ जाव ॥ ५८३७ ॥**

सङ्खडिग्रामपार्श्वतो ये गन्तुकामास्ते यदि सङ्खडीमभिधार्य गव्यूतद्वयादागच्छन्ति तदा प्राप्तभूमिका भवन्ति । ये पुनर्योजनाद् योजनद्वयाद् यावद् द्वादशयोजनेभ्य आगच्छन्ति ते सर्वेऽप्राप्तभूमिकाः ॥ ५८३७ ॥[3]

**खेत्तंतो खेत्तबहिया, अप्पत्ता बाहि जोयण दुगे य ।**
**चत्तारि अट्ठ बारसऽजग्ग सुव विगिंचणाऽऽदियणा ॥ ५८३८ ॥**

सङ्खडीं श्रुत्वा क्षेत्रान्तः क्षेत्रबहिर्वा आगच्छेयुः । ये क्षेत्रान्तः सार्धकोशद्वयादागच्छन्ति ते प्राप्तभूमिकाः । ये पुनः क्षेत्रबहिः योजनाद् योजनद्वयात् चतुर्योजनादष्टयोजनाद् यावद् द्वादशयोजनादागच्छन्ति तेऽप्राप्तभूमिकाः । एते सर्वेऽपि सङ्खड्यामतिमात्रं भुक्त्वा प्रदोषे ◁ "जेंग" त्ति अकारप्रश्लेषाद् ▷ न जाग्रति, "सुव" त्ति वैरात्रिककालवेलायामपि 'स्वपन्ति' नोत्तिष्ठन्ते, "विगिंचण" त्ति उद्गारमुद्गीर्य परित्यजन्ति, "आइयण" त्ति तमेव 'आपिबन्ति' प्रत्यवगिलन्ति ॥ ५८३८ ॥ एतेषु चतुर्षु पदेषु इयमारोपणा—

**वत्थव्व जयणपत्ता, सुद्धा पणगं च भिण्णमासो य ।**
**तव-कालेहिँ विसिट्ठा, अजतणमादी वि उ विसिट्ठा ॥ ५८३९ ॥**

सङ्खड्यप्रलोकिनो वास्तव्या यतनया प्राप्ताश्चागन्तुकाः सङ्खड्यां यावद् द्रवं भुक्त्वा प्रादोषिकीं पौरुषीं न कुर्वन्ति 'मा न जरिष्यति' इति कृत्वा तत आचार्यानापृच्छय स्वपन्तः शुद्धाः । त एव यदि वैरात्रिकं स्वाध्यायं न कुर्वन्ति तदा पञ्चरात्रिन्दिवानि तपोलघूनि कालगुरूणि । अथोद्गार आगतस्तं च यदि विविञ्चन्ति ततो भिन्नमासस्तपोगुरुः काललघुः । अथ तमुद्गारमापिबन्ति ततो मासलघु तपसा कालेन च गुरुकम् । येऽयतनाप्राप्ता ये च वास्तव्याः सङ्खडिप्रलोकिनः एते द्वयेऽपि सङ्खड्यां भुक्त्वा प्रादोषिकं स्वाध्यायं न कुर्वन्ति मासलघु द्वाभ्यामपि लघुकम् । वैरात्रिकं स्वाध्यायं न कुर्वन्ति मासलघु कालगुरुकम् । उद्गारमागतं परित्यजन्ति मासलघु तपोगुरुकम् । उद्गारं प्रत्यवगिलन्ति मासगुरु तपसा कालेन च गुरुकम् ॥ ५८३९ ॥ अत एवाह—

**तिसु लहुओ गुरु एगो, तीसु य गुरुओ उ चउलहू अंते ।**

---

१ °धार्य द्विगव्यूतादाग° भा० कां० ॥ २ सर्वेऽपि अप्रा° भा० ॥ ३ इदमेव सविशेषमाह इत्यवतरणं कां० ॥ ४ ◁ ▷ एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठः कां० एव वर्तते ॥ ५ °म् । एवं तपः-कालाभ्यां विशिष्टानि पञ्चकादीनि प्रायश्चित्तानि यथाक्रमं मन्तव्यानि । "अजयणमाई वि उ" त्ति येऽयत° कां० ॥ ६ °म् । अत एवाह—"विसिट्ठ" त्ति 'एते' मासलघु-मासगुरुलक्षणे प्रायश्चित्ते तपः-कालाभ्यां विशिष्टे कर्त्तव्ये ॥ ५८३९ ॥ अनन्तरोक्तमेव प्रायश्चित्तं समर्थयन्नभिनवं च प्रतिपादयन्नाह—तिसु कां० ॥

**तिसु चउलहुगा चउगुरु, तिसु चउगुरु छल्लहू अंते ॥ ५८४० ॥**
**तिसु छल्लहुगा छग्गुरु, तिसु छग्गुरुगा य अंतिमे छेदो ।**
**छेदादी पारंची, बारसगादीसु त चउक्कं ॥ ५८४१ ॥**

'त्रिषु स्थानेषु' प्रादोषिकस्वाध्याय-वैरात्रिकाकरणोद्गारविवेचनरूपेषु लघुको मासः, 'एकस्मिन्' चतुर्थे प्रत्यवगिलनाख्ये स्थाने मासगुरु । येऽन्यत्र गन्तुकामाः प्राप्तभूमिकाः सङ्खडिहेतोरर्द्धयोजनादागतास्तेषां प्रादोषिकस्वाध्यायाकरणादिषु त्रिषु स्थानेषु मासगुरु, अन्त्यस्थाने चतुर्लघु । येऽप्राप्तभूमिकाः सङ्खडिनिमित्तं योजनादागतास्तेषां प्रादोषिकादिषु त्रिषु पदेषु चतुर्लघु, अन्त्यपदे चतुर्गुरु । ये तु योजनद्वयादायातास्तेषामादिपदेषु त्रिषु चतुर्गुरु, अन्त्यपदे षड्लघु ॥ ५८४० ॥

ये योजनचतुष्टयादागतास्तेषां त्रिष्वाद्यपदेषु षड्लघु, अन्त्यपदे षड्गुरु । ये योजनाष्टकादागतास्तेषां त्रिषु षड्गुरु, अन्त्यपदे च्छेदः । ये द्वादशयोजनादागतास्ते प्रादोषिकं स्वाध्यायं न कुर्वन्ति च्छेदः, आदिशब्दाद् वैरात्रिकमकुर्वतां मूलम्, उद्गारं विविञ्चतामनवस्थाप्यम्, प्रत्यापिबतां पाराञ्चिकम् । "बारसगादीसु य चउक्कं" ति प्रतीपक्रमेण यानि द्वादशयोजनप्रभृतीनि स्थानानि तेषु सर्वेष्वपि प्रत्येकं प्रत्येकं प्रादोषिकादिचतुष्कं मन्तव्यम् । चतुर्ष्वपि पदेषु तपोर्हाणि प्रायश्चित्तानि प्राग्वत् तपः-कालविशेषितानि कर्तव्यानि ॥ ५८४१ ॥

अस्यैवार्थस्य सुखावबोधार्थमिमां प्रस्तारचनामाह—

**खेत्तंतो खेत्तबहिया, अप्पत्ता बाहि जोयण दुगे य ।**
**चत्तारि अट्ठ बारसऽजग्ग सुव विगिंचणाऽऽदियणा ॥ ५८४२ ॥**

इहोर्द्धाधःक्रमेणाष्टौ गृहाणि स्थापनीयानि, तिर्यक् पुनश्चत्वारि, एवं द्वात्रिंशद् गृहकाणि कर्तव्यानि । प्रथमगृहाष्टकपङ्क्त्यामधोऽध एतेऽष्टौ पुरुषविभागा लेखितव्याः—ये तत्रैव गन्तुकामा यतनाप्राप्ता ये च वास्तव्या यतनाकारिण एष एकः पुरुषविभागः १ । ये तु तत्रैव गन्तुकामा एवायतनया प्राप्ता वास्तव्याश्चायतनाकारिण एष द्वितीयः २ । ये तु अन्यत्र गन्तुकामास्ते क्षेत्रान्तः क्षेत्रबहिर्वा आगता भवेयुः । ये क्षेत्रान्तस्ते प्राप्तभूमिका उच्यन्ते एष तृतीयः ३ । ये तु क्षेत्रबहिस्तेऽप्राप्तभूमिका उच्यन्ते, ते च योजनादागताः स एष चतुर्थः पुरुषविभागः ४ । योजनद्वयादागताः पञ्चमः ५ । चतुर्योजनादागताः षष्ठः ६ । अष्टयोजनादायाताः सप्तमः ७ । द्वादशयोजनादागता अष्टमः ८ । उपरितनतिर्यगायातचतुष्कपङ्क्त्या उपरिक्रमेणामी चत्वारो विभागा लेखितव्याः—प्रदोषेऽजागरणं १ वैरात्रिकस्वाध्यायवेलायां स्वपनम् २ उद्गारविवेचनम् ३ उद्गारप्रत्यवगिलनम् ४ ॥ ५८४२ ॥

आदिमचतुष्कपङ्क्त्यां द्वितीयगृहादमूनि प्रायश्चित्तानि क्रमेण स्थापयितव्यानि—

**पणगं च भिण्णमासो, मासो लहुओ उ पढमतो सुद्धो ।**
**मासो तव-कालगुरू, दोहि वि लहुओ अ गुरुओ य ॥ ५८४३ ॥**

१ येऽयतनाप्राप्तास्तत्रैव गन्तुकामा ये च सङ्खडिप्रेक्षिणो वास्तव्यास्तेषां 'त्रिषु स्थानेषु' कां० ॥ २ °व्यानि । कानि पुनस्तानि ? इत्यत आह—पणगं कां० ॥

**लहुओ गुरुओ मासो, चउरो लहुगा य होंति गुरुगा य ।**
**छम्मासा लहु-गुरुगा, छेदो मूलं तह दुगं च ॥ ५८४४ ॥**

द्वितीयगृहे पञ्चकम्, तृतीयगृहे भिन्नमासः, चतुर्थे मासलघु । 'प्रथमगृहे शुद्धः, चतुर्थे तु पदे मासः तपसा कालेन च गुरुकः । यत्र चादिपदेऽपि प्रायश्चित्तं भवति तत्र द्वाभ्यामपि लघुकम्, मध्यपदयोर्द्वयोरपि यथासङ्ख्यं तपसा कालेन च गुरुकम् ॥ ५८४३ ॥

द्वितीयादिचतुर्षु गृहपङ्क्तयः सर्वा अमुना प्रायश्चित्तेन पूरयितव्याः—

द्वितीयस्यां पङ्क्तौ त्रिषु गृहेषु लघुमासः, चतुर्थे गुरुमासः । तृतीयस्यां त्रिषु गुरुमासः, चतुर्थे चतुर्लघु । चतुर्थ्यां त्रिषु चतुर्लघु, चतुर्थे चतुर्गुरु । पञ्चम्यां त्रिषु चतुर्गुरु, चतुर्थे षड्लघु । षष्ठ्यां त्रिषु षड्लघु, चतुर्थे षड्गुरु । सप्तम्यां त्रिषु षड्गुरु, चतुर्थे छेदः । अष्टम्यां पङ्क्तौ चतुर्षु गृहेषु च्छेद-मूला-ऽनवस्थाप्य-पाराञ्चिकानि ॥ ५८४४ ॥ तथा चाह—

**जह भणिय चउत्थस्स य, तह इयरस्स पढमे मुणेयव्वं ।**
**पत्ताण होइ भतणा, जे जतणा जं तु वत्थव्वे ॥ ५८४५ ॥**

यथा पूर्वस्यां पङ्क्तौ चतुर्थे स्थाने भणितम्, गाथायां सप्तम्यर्थे षष्ठी, तथा 'इतरस्याः' अग्रेतन्याः पङ्क्तेः प्रथमेषु त्रिषु स्थानेषु प्रायश्चित्तं ज्ञातव्यम्, अन्त्यपदे पुनस्ततोऽग्रेतनम् । यथा— यतनाप्राप्ता येऽध्वप्रपन्ना ये च वास्तव्या यतनाकारिणः तेषां चतुर्थे स्थाने मासलघुरूपं 'यत्तु' यत् पुनः प्रायश्चित्तमुक्तं तदेव तेषामेवायतनावतामाद्येषु त्रिषु स्थानेषु भवति, अन्त्यपदे तु मासगुरुकमिति । एवं प्रासभूमिकादिष्वपि 'भजना' प्रायश्चित्तरचना विज्ञेया । नवरम्— अन्त्यपङ्क्त्यां छेद-मूला-ऽनवस्थाप्य-पाराञ्चिकानि भवन्ति ॥ ५८४५ ॥

**एएण सुत्त न गतं, सुत्तनिवाते इमे तु आदेसा ।**
**लोही अ ओम पुण्णा, केइ पमाणं इमं बेंति ॥ ५८४६ ॥**

एतत् सर्वमपि प्रसङ्गतो विनेयानुग्रहार्थमुक्तम्, नैतेन सूत्रं गतम् । यत्र च सूत्रस्य निपातो भवति तत्रामी आदेशा भवन्ति—"लोही अ ओम पुण्ण" त्ति गुरुर्भणति—गुणकारित्वाद् अवमं भोक्तव्यं यथोद्गारो नागच्छति । तथा चात्र **लोही—कवल्ली** तद्दृष्टान्तः—

यथा कवल्यां यद्यवमं स्वप्रमाणान्न्यूनमाद्रध्यते ततोऽन्तरन्तः उद्वर्तते, उपरिमुखं न निर्गच्छति; अथ 'पूर्णा' आकण्ठं भृता तत उद्वर्तिता सर्वमपि परित्यजति, अग्निमपि विध्यापयति । एवमेव यद्यवममाह्रियते ततो वातः शरीरान्तः सुखेनैव प्रविचरति, प्रविचरिते च तस्मिन्नुद्गारो नायाति; अथातिमात्रं समुद्दिश्यते ततोऽन्तर्वायुपूरप्रेरित उद्गार आगच्छति ॥

तस्मादवममेव भोक्तव्यम् । केचित् पुनराचार्यदेश्याः 'इदं' वक्ष्यमाणं प्रमाणं ब्रुवते तत्रानन्तरोक्तं **कवल्लीदृष्टान्तं** भावयति ॥ ५८४६ ॥

**अतिभुत्ते उग्गालो, तेणोमं भुंज जण्ण उग्गिलसि ।**

---

१ °तुप्कगृह° भा० कां० ॥ २ °म् । गाथायाम "इयरस्स" त्ति पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात् । अन्त्य° कां० ॥ ३ °न्ति । इह पङ्क्तीनां स्थापना स्वयमेवानन्तरप्रदर्शितनीत्या कर्तव्या ॥ ५८४५ ॥ एएण कां० ॥ ४ °च्छति, जठराग्निविध्यापनं च समुपजायते । तस्मा° कां० ॥

**छड्डिज्जति अतिपुण्णा, तत्ता लोही ण पुण ओमा ॥ ५८४७ ॥**

गतार्था ॥ ५८४७ ॥ नैगमपक्षाश्रिताः पुनराचार्यदेशीया[1] इत्थं वदन्ति—

**तत्तऽत्थमिते गंधे, गलग पडिगते तहा अणाभोए ।**
**एते ण होंति दोण्णि वि, मुहणिग्गत णातुमोगिलणा ॥ ५८४८ ॥**

एको नैगमपक्षाश्रितो भणति—तप्ते कविल्ले बिन्दुः पतितो यथा तत्क्षणादेव नश्यति तथा यद् भुक्तमात्रं जीर्यति ईदृशमवममाहरणीयम् । एवमपरः—अस्तमिते रवौ यद् [2]जीर्यते । तृतीयः—गन्धेन रहितः सहितो वा यथोद्गारं [3]एति । चतुर्थः—गलकं यावदुद्गारं आगम्य 'अनाभोगेन' अजानत एव 'प्रतिगच्छति' भूयः प्रविशति ईदृशं समुद्दिश्यताम् । गुरुराह—एते द्वयेऽपि प्रकारा न भवन्ति । द्वये नाम—ये प्रथम-द्वितीया[4] दिवाऽप्युद्गारं प्रतिषेधयन्ति ये च तृतीय-चतुर्था रात्रावुद्गारमनुमन्यते एते द्वयेऽपि न घटन्ते, किन्तु[5] येनाऽऽवश्यकयोगानां न हानिस्तावदाहारयितव्यम् । मुखनिर्गतं चोद्गारं ज्ञात्वा यः प्रत्यवगिलति तत्र सूत्रनिपातः ॥ ५८४८ ॥ [6]एनां सङ्ग्रहगाथां विवरीषुराह—

**भणति जति ऊणमेवं, तत्तकवल्ले य बिंदुणासणता ।**
**बितिओ न संथरेवं, तं भुंजसु सूरे जं जिज्जे ॥ ५८४९ ॥**
**निग्गंधो उग्गालो, ततिए गंधो उ एति ण उ सित्थं ।**
**अविजाणंत चउत्थे, पविसति गलगं तु जो पप्प ॥ ५८५० ॥**

एको नैगमनयाश्रितो भणति—यदूनं भोक्तव्यं ततस्तप्ते कवल्ले प्रक्षिप्तस्योदकबिन्दोस्तत्कालमेव यथा नशनं भवति तथा यद् भुक्तमात्रमेव जीर्यति ईदृशं भोक्तव्यम् । द्वितीयः प्राह—'एवम्' ईदृशे भुक्ते न संस्तरति तस्मात् तदीदृशं भुङ्क्ष्व यत् सूर्येऽस्तमयति जीर्यते ॥५८४९॥

गन्धे द्वावादेशौ । एको भणति—सूर्यास्तमने जीर्णे आहारे रात्रावसंस्तरणं भवति तस्मादीदृशं भुङ्क्ष्व येनास्तमितेऽपि 'निर्गन्धः' अन्नगन्धरहित उद्गार एति । द्वितीयः प्राह—यदि गन्ध उद्गारस्य 'एति' आगच्छति ततः आगच्छतु यथा सिक्थं नागच्छति तथा भुङ्क्ष्वाम् । एतौ द्वावप्येक एव तृतीय आदेशः । चतुर्थो भणति—ससिक्थ उद्गारो गलकं प्राप्याविजानत एव यावद् भूयः प्रविशति तावद् भुङ्क्ष्वाम् । एते चत्वारोऽप्यनादेशाः ॥५८५०॥ तथा चाह—

**पढम-बितिए दिया वी, उग्गालो णत्थि किं पुण निसाए ।**
**गंधे य पडिगते या, ते पुण दो वी अणाएसा ॥ ५८५१ ॥**

प्रथम-द्वितीययोरादेशयोर्दिवाऽप्युद्गारो नास्ति किं पुनर्निशायाम्? इत्यतस्तावनादेशौ । यस्तृतीयो गन्धादेशो यश्च चतुर्थ उद्गारस्य गलके प्रतिगमनादेशः एतौ द्वावपि सूत्रार्थाभिप्रायबहिर्भूतत्वादनादेशौ ॥ ५८५१ ॥ कः पुनरादेशः? इत्याह—

---

१ °या आहारे इत्थं प्रमाणं वदन्ति । कथम्? इत्यत आह—तत्तऽत्थ° कां० ॥ २ जीर्यते तावन्मात्रं भुज्यताम् । तृतीयो वक्ति—गन्धेन कां० ॥ ३ एति तथा भोक्तव्यम् । चतुर्थो ब्रूते—गल° कां० ॥ ४ °या आचार्या दिवा° कां० ॥ ५ °न्तु यावता भुक्तेनाऽऽव° कां० ॥ ६ अथैनां निर्युक्तिगाथां कां० ॥

**पडुपन्नऽणागते वा, संजमजोगाण जेण परिहाणी ।**
**ण वि जायति तं जाणसु, साहुस्स पमाणमाहारे ॥ ५८५२ ॥**

'प्रत्युत्पन्ने' वर्तमानेऽनागते वा काले 'येन' यावता भुक्तेन 'संयमयोगानां' प्रत्युपेक्षणादीनां परिहाणिर्न जायते तदाहारस्य प्रमाणं साधोर्जानीहि ॥ ५८५२ ॥

**एवं पमाणजुत्तं, अतिरेगं वा वि भुंजमाणस्स ।**
**वायादीखोभेण व, एज्जाहि कहंचि उग्गालो ॥ ५८५३ ॥**

एवंविधं प्रमाणयुक्तं कारणे वाऽतिरिक्तमपि आहारं भुञ्जानस्य वातादिक्षोभेण वा कथञ्चिदुद्गार आगच्छेत् ॥ ५८५३ ॥ ततः किम् ? इत्यत आह—

**जो पुण सभोयणं तं, दवं व णाऊण णिग्गतं गिलति ।**
**तहियं सुत्तनिवाओ, तत्थाऽऽएसा इमे होंति ॥ ५८५४ ॥**

पुनःशब्दो विशेषणे, स चैतद् विशिनष्टि—यः 'तम्' उद्गारमागतं परित्यजति तस्य न प्रायश्चित्तम् । यस्तु 'तम्' उद्गारं सभोजनमच्छं वा द्रवमागतं ज्ञात्वा मुखाद् निर्गतं गिलति तत्र 'सूत्रनिपातः' प्रस्तुतसूत्रस्यावतारः । तत्र चेमे आदेशाः[1] भवन्ति ॥ ५८५४ ॥

**अच्छे ससित्थ चव्विय, मुहणिग्गतकवल भरियहत्थे य ।**
**अंजलि पडिते दिट्ठे, मासादारोवणा चरिमं ॥ ५८५५ ॥**

अच्छं द्रवमागतं यदि परेणादृष्टमापिबति ततो मासलघु, अथ दृष्टं ततो मासगुरु । ससिक्थमागतं परेणादृष्टमाददानस्य मासगुरु, दृष्टे चतुर्लघु । अथ तं ससिक्थमदृष्टं चर्वयति ततश्चतुर्लघु, दृष्टे चतुर्गुरु । मुखाद् निर्गतं कवलमेकहस्तेन प्रतीप्यादृष्टमापिबति चतुर्गुरु, दृष्टे षड्लघु । अथैकं हस्तपुटं भरितमदृष्टमापिबति ततः षड्लघु, दृष्टे षड्गुरु । अथाञ्जलिं भरितमदृष्टमापिबति षड्गुरु, दृष्टे च्छेदः । अञ्जलिं भृत्वा यद् अन्यद् भूमौ पतितं तदपि अदृष्टमापिबति च्छेदः, दृष्टे मूलम् । एवं भिक्षोरुक्तम् । उपाध्यायस्य मासगुरुकादारब्धमनवस्थाप्ये तिष्ठति । आचार्यस्य चतुर्लघुकादारब्धं चरमे तिष्ठति । एवं मासादिका चरमं यावदारोपणा मन्तव्या ॥ ५८५५ ॥ प्रकारान्तरेण प्रायश्चित्तमाह—

**दिय रातो लहु-गुरुगा, बितियं रयणसहितेण दिट्ठंतो ।**
**अद्धाणसीसए वा, सत्थो व पहावितो तुरियं ॥ ५८५६ ॥**

अथवा ससिक्थमसिक्थं वा दृष्टमदृष्टं वा दिवा प्रत्यवगिलतश्चतुर्लघु, रात्रौ चतुर्गुरु । द्वितीयपदमत्र भवति—कारणे वान्तमप्यापिबेद् न च प्रायश्चित्तमाप्नुयात् । तत्र च **रत्नसहितवणिजा** दृष्टान्तः कर्तव्यः । कथं पुनरिदं सम्भवति ? इत्याह—**अध्वशीर्षके** मनोज्ञं भक्तं भुक्तं तच्च वान्तम् अन्यच्च न लभ्यते, सार्थो वा त्वरितं प्रधावितः, ततस्तदेव सुगन्धिद्रव्येण वासयित्वा भुङ्क्ते ॥ ५८५६ ॥ अथ **रत्नसहितवणिग्दृष्टान्तमाह**—

**जल-थलपहेसु रयणाणुवज्जणं तेण अडविपवंते ।**

---

१ इत्याह भा० ॥ २ °ण तं अच्छं वा, दवं ताभा० ॥ ३ 'आदेशाः' प्रायश्चित्तप्रकाराः भवन्ति ॥ ५८५४ ॥ के पुनस्ते ? इत्याह—अच्छे कां० ॥

निक्खणण फुट्टपत्थर, मा मे रयणे हर पलावो ॥ ५८५७ ॥
घेत्तूण णिसि पलायण, अडवी मडदेहभावितं तिसितो ।
पिबिउ रयणाण भागी, जातो सयणं समागम्म ॥ ५८५८ ॥

जहा एगो वणिओ कहिंचि जलपहेण कहिंचि थलपहेण महता किलेसेण सतसहस्समोल्लाइं पंच रयणाइं उवज्जिणित्ता परदेसे पच्छा सदेसं पत्थितो। तत्थ य अंतरा पच्चंतविसए एगा अडवी सबर-पुलिंद-चोराकिन्ना । सो चिंतेति—कहमविग्घेण नित्थरिज्जामि ? त्ति । ते रयणे एक्कम्मि विजणे पदेसे निक्खणति, अन्ने फुट्टपत्थरे घेत्तुं उम्मत्तगवेसं करेति, चोराकुलं च अडविं पवज्जइ, तक्करे एज्जमाणे पासित्ता भणेति—अहं सागरदत्तो नाम रयणवाणिओ, मा मे ढुक्कह, मा मे रयणे हरीहह। सो पलवंतो चोरेहिं गहितो पुच्छितो—कतरे ते रयणा?। सो फुट्टपत्थरे दंसेति। चोरेहिं नातं—केणावि एयस्स रयणा हरिता तेण उम्मत्तगो जातो । मुक्को य। एवं तेण तण-पत्त-पुप्फ-फल-कंद-मूलाहारेण सा अडवी पंथो य आगम-गमं करेंतेण जाहे भाविता ताहे ते रयणे निसाए घेत्तुं अडविं पवन्नो। जाहे अडवीए बहुमज्झदेसभागं गतो ताहे तण्हाए पारब्भमाणो एगम्मि सिलातलकुंडे गवयादिमइयदेहभावितं विवन्न-गंध-रसं उदगं दट्ठुं चिंतेति—जति एयं नातियामि तो मे रयणोवज्जणं सव्वं निरत्थयं कामभोगाण य अणाभागी भवामि । ताहे तं पिबित्ता अडविं निच्छिण्णो, सयण-धण-कामभोगाण य सव्वेसिं आभागी जाओ ॥

अक्षरगमनिका—कस्यापि वणिजो जल-स्थलपथयो रत्नानामुपार्जनं कृत्वा 'प्रत्यन्तविषयेऽटव्यां बहवः स्तेनाः सन्ति' इति कृत्वा रत्नानां क्वचित् प्रदेशे निखननं स्फुटितप्रस्तराणां च ग्रहणम् । 'मा मदीयानि रत्नानि हरत' इति प्रलापेन च भावयित्वा निशि रात्रौ रत्नानि गृहीत्वा पलायनम्। अटव्यां तृषितो मृतदेहभावितं जलं पीत्वा स्वजनवर्गं समागम्य रत्नानामाभागी जातः ॥ ५८५७ ॥ ५८५८ ॥ एष दृष्टान्तः, अयमर्थोपनयः—

वणियत्थाणी साहू, रतणत्थाणी वता तु पंचेव ।
उदयसरिसं च वंतं, तमादितु रक्खते ताणि ॥ ५८५९ ॥

वणिक्स्थानीयाः साधवः, रत्नस्थानीयानि पञ्च महाव्रतानि, तुशब्दस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात् तस्करस्थानीया उपसर्गाः अटवीस्थानीया द्रव्यापदादय इत्यपि द्रष्टव्यम्, मृतोदकसदृशं वान्तम्, तत् कारणे आपिबन् 'तानि' महाव्रतान्यात्मानं च रक्षति ॥ ५८५९ ॥

कथं पुनरापिबेद् ? इत्याह—

दियरातो अण्ण गिण्हति, असति तुरंते व सत्थे तं चेव ।
णिसि लिंगेणऽण्णं वा, तं चेव सुगंधदव्वं वा ॥ ५८६० ॥

अध्वशीर्षके मनोज्ञं भुक्तं परं वान्तं ततो दिवा रात्रौ वाऽन्यद् गृह्णाति । अलभ्यमाने वा 'निशि' रात्रावन्यलिङ्गेनान्यद् गृह्णाति । तस्याप्यभावे सार्थे वा त्वरमाणे 'तदेव' वान्तं गृहीत्वा चातुर्जातकादिना सुगन्धिद्रव्येण वासयित्वा भुङ्क्ते, न कश्चिद् दोषः ॥ ५८६० ॥

॥ उद्गारप्रकृतं समाप्तम् ॥

---

१ °ह्णाति । तस्याप्यसति तदेवोपादत्ते । अथवा स्वलिङ्गेनालभ्यमाने "लिंगेण" त्ति परलिङ्गेन 'निशि' रात्रा° कां० ॥

## आ हा र वि धि प्र कृ त म्

सूत्रम्—

**निग्गंथस्स य गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठस्स अंतोपडिग्गहंसि पाणाणि वा बीयाणि वा रए वा परियावज्जेज्जा, तं च संचाएइ विगिंचित्तए वा विसोहित्तए वा तं पुव्वामेव लाइया विसोहिया विसोहिया ततो संजतामेव भुंजेज्ज वा पिबेज्ज वा। तं च नो संचाएइ विगिंचित्तए वा विसोहित्तए वा तं नो अप्पणा भुंजेज्जा नो अन्नेसिं दावए, एगंते बहुफासुए पएसे पडिलेहित्ता पमज्जित्ता परिट्ठवियव्वे सिया ११ ॥**

अस्य सम्बन्धमाह—

वंतादियणं रत्तिं, णिवारितं दिवसतो वि अत्थेणं ।
वंतमणेसियगहणं, सिया उ पडिवक्खओ सुत्तं ॥ ५८६१ ॥

रात्रौ वान्तापानं पूर्वसूत्रे निवारितम्, दिवसतोऽपि अर्थेन निवारितम्। अनेषणीयग्रहणमपि साधुभिर्वान्तमेव, अतस्तदिह प्रतिषिध्यते। "सिया उ पडिवक्खओ सुत्तं" ति 'स्याद्' भजनया प्रतिपक्षतो वा एतत् सूत्रं भवति अप्रतिपक्षतो वा। तत्र प्रतिपक्षतो यथा—पूर्वसूत्रे रात्रौ वान्तापानं निवारितम्, इदं तु दिवाऽनेषणीयं वान्तं निवार्यते। अप्रतिपक्षतो यथा—पूर्वसूत्रे वान्तं न वर्तते प्रत्यापातुमित्युक्तम्, इहाप्यनेषणीयं वान्तं न वर्तते ग्रहीतुमित्युच्यते ॥५८६१॥

अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य व्याख्या—निर्ग्रन्थस्य गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया अनुप्रविष्टस्यान्तःप्रतिग्रहे प्राणा वा बीजानि वा रजो वा परि—समन्तादापतेयुः। 'तच्च' प्राणादिकं यदि शक्नोति विवेक्तुं वा विशोधयितुं वा ततः 'तत्' प्राणादिजातादिकं 'लात्वा' हस्तेन गृहीत्वा 'विशोध्य विशोध्य' सर्वथैवापनीय ततः 'संयत एव' प्रयत्नपर एव भुञ्जीत वा पिबेद्वा। तच्च न शक्नोति विवेक्तुं वा विशोधयितुं वा तद् नात्मना भुञ्जीत न वाऽन्येषां दद्यात्, किन्तु एकान्ते बहुप्राशुके प्रदेशे प्रत्युपेक्ष्य प्रमृज्य परिष्ठापयितव्यं स्यादिति सूत्रार्थः ॥

अथ भाष्यकृद् विषमपदानि विवृणोति—

**पाणग्गहणेण तसा, गहिया बीएहि सव्व वणकाओ ।**
**रतगहणा होंति मही, तेऊ व ण सो चिरट्ठाई ॥ ५८६२ ॥**

---

१ 'अर्थेन' निर्युक्तिविस्तरादिना तथैव निवा° कां० ॥ २ °धुभिः प्रव्रज्याभावकानैर्वान्त° कां० ॥ ३ 'प्रत्युपेक्ष्य' चक्षुषा निरीक्ष्य 'प्रमृज्य' रजोहरणादिना प्रतिलेख्य परि° कां० ॥

इह प्राणग्रहणेन त्रसाः गृहीताः । बीजग्रहणेन तु सर्वोऽपि वनस्पतिकायः सूचितः । रजोग्रहणेन च 'मही' पृथिवीकायो गृहीतः, तेजःकायो वा, परं स चिरस्थायी न भवतीति कृत्वा विवेचनादिकं तत्र न घटते ॥ ५८६२ ॥

**ते पुण आणिज्जंते, पडेज्ज पुव्विं व संसिया दव्वे ।**
**आगंतु तुब्भवा वा, आगंतूहिं तिमं सुत्तं ॥ ५८६३ ॥**

'ते पुनः' त्रसादय आनीयमाने वा भक्ते पतेयुः, पूर्वं वा तत्र 'द्रव्ये' भक्त-पाने 'संश्रिताः' स्थिताः । ते च द्विविधाः—आगन्तुकास्तदुद्भवा वा । तत्रागन्तुकत्रसादिविषयम् इदं प्रस्तुतसूत्रं मन्तव्यम् ॥ ५८६३ ॥

अथ के तदुद्भवाः ? के वा आगन्तुका भवेयुः ? इत्याह—

**रसता पणतो व सिया, होज्ज अणागंतुगा ण पुण सेसा ।**
**एमेव य आगंतू, पणगविवज्जा भवे दुविहा ॥ ५८६४ ॥**

ये 'रसजाः' तक्र-दधि-तीमनादिरसोत्पन्नाः कृम्यादयस्त्रसा यश्च पनकः स्यात् एते 'अनागन्तुकाः' तदुद्भवा भवन्ति, न पुनः 'शेषाः' पृथिवीकायादयः । एवमेव च ये पनकविवर्जाः 'द्विविधाः' त्रसाः स्थावराश्च जीवाः ते सर्वेऽप्यागन्तुकाः सम्भवन्ति ॥ ५८६४ ॥

**सुत्तम्मि कड्डियम्मि, जयणा गहणं तु पडिओ दट्ठव्वो ।**
**लहुओ अपेक्खणम्मि, आणादि विराहणा दुविहा ॥ ५८६५ ॥**

एवं सूत्रमुच्चार्य पदच्छेदं कृत्वा य एषं सूत्रार्थो भणितः एतत् सूत्रमाकर्षितमिति भण्यते । एवं सूत्रे आकर्षिते सति **निर्युक्तिविस्तर** उच्यते—तेन साधुना यतनया भक्त-पानस्य ग्रहणं कर्तव्यम् । का पुनर्यतना ? इत्याह—पूर्वमेव गृहस्थहस्तगतः पिण्डो निरीक्षणीयः, यदि शुद्धस्ततो गृह्यते । एवं यतनया गृहीतोऽपि प्रतिग्रहे पतितो द्रष्टव्यः । यदि न प्रेक्षते ततो लघुको मासः, आज्ञादयश्च दोषाः । विराधना च द्विविधा—तत्र संयमे त्रसादय उष्णे वा द्रवे वा पतिता विराध्यन्ते, आत्मविराधना तु मक्षिकादिसम्मिश्रे भुक्ते वल्गुलीव्याधिर्मरणं वा भवेत् । तस्मात् प्रथममेव प्रतिग्रहपतितः पिण्डो द्रष्टव्यः ॥ ५८६५ ॥

**अहिगारो असंसत्ते, संकप्पादी तु देस संसत्ते ।**
**संसज्जिमं तु तहियं, ओदण-सत्तू-दधि-दवाई ॥ ५८६६ ॥**

अत एव यस्मिन् देशे त्रसप्राणादिभिः संसक्तं भक्त-पानं न भवति तत्रासंसक्तेऽधिकारः, तस्मिन्नेव देशे विहरणीयमिति भावः । यस्तु संसक्ते देशे सङ्कल्पादीनि पदानि करोति तस्य

---

१ 'त्रसाः' द्वीन्द्रियादयो गृही° कां० ॥ २ °म्, तेषामेव प्रकृतसूत्रोक्तस्य विवेचनादेर्घटमानकत्वात् ॥ ५८६३ ॥ कां० ॥ ३ °वन्ति, न पुनः पनकः, तस्य तदुद्भवस्यैव सम्भवात् ॥ ५८६४ ॥ तदेवं कृता विषमपदव्याख्या भाष्यकृता, सम्प्रति निर्युक्तिविस्तरस्यावसरः, तथा चाह—सुत्तम्मि कां० ॥ ४ °ष विषमपदव्याख्यारूपः सूत्रा° कां० ॥ ५ 'द्रष्टव्यः' परीक्षणीयः, किमयं त्रसादिसंसक्तः ? उत न ? इति । यद्येवं परीक्षणम्-अवलोकनं न करोति ततो लघुको कां० ॥

प्रायश्चित्तम्, तच्चोत्तरत्र वक्ष्यते। तत्र च 'संसजिमं' संसक्तियोग्यमोदन-सक्तु-दधि-द्रवादिकं द्रव्यं मन्तव्यम् ॥ ५८६६ ॥ अथ संसक्तदेशे सङ्कल्पादिषु प्रायश्चित्तमाह—

संकप्पे पयभिंदण, पंथे पत्ते तहेव आवण्णे।
चत्तारि छच्च लहु गुरु, सट्ठाणं चेव आवण्णे ॥ ५८६७ ॥

यस्मिन् विषये भक्तादिकं प्राणिभिः संसज्यते तत्र 'सङ्कल्पं' गमनाभिप्रायं करोति चतुर्लघु, पदभेदं करोति चतुर्गुरु, संसक्तविषयस्य पन्थानं गच्छतः षड्लघु, तं देशं प्राप्तस्य षड्गुरु। तथैव द्वीन्द्रियादेः सङ्घट्टनादिकमापन्नस्य स्वस्थानप्रायश्चित्तम्। तद्यथा—द्वीन्द्रियं सङ्घट्टयति चतुर्लघु, परितापयति चतुर्गुरु, अपद्रावयति षड्लघु, त्रीन्द्रियाणां सङ्घट्टनादिषु पदेषु चतुर्गुरुकादारब्धं षड्गुरुके तिष्ठति, चतुरिन्द्रियाणां सङ्घट्टनादिषु षड्लघुकादिकं छेदान्तमिति ॥ ५८६७ ॥[1]

असिवादिएहिं तु तहिं पविट्ठा, संसज्जिमाइं परिवज्जयंति।
भूइट्ठसंसज्जिमदव्वलंभे, गेण्हंतुवाएण इमेण जुत्ता ॥ ५८६८ ॥

अथाशिवादिभिः कारणैः 'तत्र' संसक्तदेशे प्रविष्टास्ततः 'संसजिमानि'[2] सक्तु-दधिप्रभृतीनि द्रव्याणि परिवर्जयन्ति। अथ 'भूयिष्ठानि' प्रभूततराणि संसजिमद्रव्याणि लभ्यन्ते[3] ततोऽमुनोपायेन 'युक्ताः' प्रयत्नपरा गृह्णन्ति ॥ ५८६८ ॥[4]

गमणाऽऽगमणे गहणे, पत्ते पडिए य होति पडिलेहा।
अगहिय दिट्ठ विवज्जण, अह गिण्हइ जं तमावज्जे ॥ ५८६९ ॥

भिक्षार्थं[5] दायको मध्ये गमनं कुर्वन् कीटिका मण्डूकीप्रभृतिजन्तुसंसक्तायां भूमौ मा विराधनां कुर्यादिति सम्यग् निरीक्षणीयः। एवमागमने[6] भिक्षाया हस्तेन ग्रहणे च विलोकनीयः। प्राप्ते च दायके तदीयहस्तगतः पिण्डः प्रत्युपेक्षणीयः। पात्रे च पतितैः[7] प्रत्युपेक्षितव्यः। ततो यद्यगृहीते त्रसादिकं प्राणजातं पश्यति ततस्तस्मिन् दृष्टे विवर्जयति, न गृह्णातीत्यर्थः। अथ गृह्णाति ततो येन द्वीन्द्रियादिना संसक्तं गृह्णाति तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तमापद्यते ॥ ५८६९ ॥

अथ पुनरेवं न प्रत्युपेक्षते तत इमे दोषाः—

पाणाइ संजमम्मि, आता भयमच्छि कंटग विसं वा।
मूइंग-मच्छि-विच्छुग-गोवालियमाइया उभए ॥ ५८७० ॥

संयमे[8] त्रसप्राण-पनकादयो विराध्यन्ते। आत्मविराधनायां मृतमक्षिकासम्मिश्रे भुक्ते वल्गुलीव्याधिः, ततश्च क्रमेण मरणं भवेत्, कण्टको वा विषं वा समागच्छेत्। उभयविराधनायां 'मुइङ्गाः' पिपीलिका मक्षिका-वृश्चिक-गोपालिकादयो वा भवन्ति। गोपालिका—अहिलोडिकाख्यो जीवविशेषः। एते हि जीवा भक्तेन सह भुक्ताः संयमोपघातमात्मनश्च मेधाद्युपघातं कुर्वन्ति ॥५८७०॥

---

१ अथात्रैव द्वितीयपदमाह इत्यवतरणं कां० ॥ २ 'संसजिमानि' संसक्तियोग्यानि सक्तु° कां० ॥ ३ °न्ते नेतराणि ततो कां० ॥ ४ कथम्? इति अत आह इत्यवतरणं कां० ॥ ५ भक्तार्थं डे० ॥ ६ °म् 'आगमने' आगमनं कुर्वन् 'ग्रहणे च' भिक्षां हस्ते गृह्णानो दायको विलो° कां० ॥ ७ °तितस्य पिण्डस्य प्रत्युपेक्षणा कर्त्तव्या भवति। ततो य° कां० ॥ ८ 'संयमे' संयमविराधनायां चिन्त्यमानायामप्रत्युपेक्षिते भक्त-पाने गृहीते 'प्राणाः' त्रस° कां० ॥

**पवयणघातिं व सिया, तं वियडं पिसियमट्ठजातं वा ।**
**आदाण किलेसऽयसे, दिट्ठंतो सेट्ठिकब्बट्ठे ॥ ५८७१ ॥**

प्रवचनोपघाति वा स्यात् तद् विकटम्, पिशितं वा तत् 'स्याद्' भवेत्, 'अर्थजातं वा' सुवर्ण-सङ्कलिका-मुद्रिकादिकं कश्चिदनुकम्पया प्रत्यनीकतया वा दद्यात्, ततः पतितं पिण्डं प्रत्युपेक्षेत । तच्चाप्रत्युपेक्ष्य गृहीतं मन्दधर्मणः कस्याप्युत्प्रव्रजितुकामस्य 'आदानम्' आजीविकाकारणं भवति, तद् आदायोत्प्रव्रजतीत्यर्थः । अर्थजाते च गृहीते साधूनां रक्षणादिको महान् परिक्लेशोऽयशो वा भवेत् । तथा चात्र "सिट्ठिकब्बट्ठे" त्ति राज्यपदोपविष्टकल्पस्थकोपलक्षितस्य काष्ठश्रेष्ठिनो दृष्टान्तः, स च आवश्यकटीकातो मन्तव्यः ( पत्र ) ॥ ५८७१ ॥

**तम्हा खलु दट्ठव्वो, सुक्खग्गहणं अगिण्हणे लहुगा ।**
**आणादिणो य दोसा, विराहणा जा भणिय पुव्विं ॥ ५८७२ ॥**

यत एते दोषास्तस्मात् 'खलु' नियमात् पात्रकपतितः पिण्डो द्रष्टव्यः । संसक्ते च देशे शुष्कस्य कूरस्य पृथग्मात्रके ग्रहणं कार्यम् । अथ पृथग् न गृह्णाति ततश्चतुर्लघु आज्ञादयश्च दोषाः, विराधना च द्विधा संयमा-ऽऽत्मविषया या 'पूर्वम्' अनन्तरमेव भणिता ॥ ५८७२ ॥

इदमेव भावयति—

**संसज्जिमम्मि देसे, मत्तग सुक्ख पडिलेहणा उवरिं ।**
**एवं ताव अणुण्हे, उण्हे कुसणं च उवरिं तु ॥ ५८७३ ॥**

संसजिमे देशे यः शुष्कः पौद्गलिकोऽनुष्णो लभ्यते स मात्रके गृहीत्वा प्रत्युपेक्ष्य यद्यसंसक्तस्तदा प्रतिग्रहोपरि प्रक्षिप्यते । एवं तावदनुष्णे विधिरुक्तः । यः पुनरुष्णः कूरः कुसणं वा तद् नियमादसंसक्तमिति कृत्वा प्रतिग्रहस्यैवोपरि गृह्यते ॥ ५८७३ ॥

**गुरुमादीण व जोग्गं, एगम्मितरम्मि पेहिउं उवरिं ।**
**दोसु वि संसत्तेसुं, दुल्लह पुव्वेतरं पच्छा ॥ ५८७४ ॥**

गुरु-ग्लानादीनां वा योग्यमेकस्मिन् मात्रके गृह्यते, 'इतरस्मिन्' द्वितीये मात्रके संसक्तं प्रत्युपेक्ष्य पतिग्रहोपरि प्रक्षिप्यते । एवं तावद् यत्रैकं भक्तं पानकं वा संसक्तं[1] तत्र विधिरुक्तः । यत्र तु द्वे अपि—भक्त-पानके संसक्ते भवतः तत्र[2] यद् भक्तं पानकं वा दुर्लभं तत् पूर्वं गृह्णन्ति 'इतरत्' सुलभं पश्चाद् गृह्णन्ति ॥ ५८७४ ॥

**एसा विही तु दिट्ठे, आउट्टियगेण्हणे तु जं जत्थ ।**
**अणभोगगह विगिंचण, खिप्पमविविंचति य जं जत्थ ॥ ५८७५ ॥**

एष विधिः दृष्टे[3] गृह्यमाणे भणितः । अथाकुट्टिकया[4] संसक्तं गृह्णाति ततो यद् यत्र द्वीन्द्रियपरितापनादिकं करोति तत् तत्र प्राप्नोति[5] । अथानाभोगेन संसक्तं गृहीतं ततः क्षिप्रमेव

१ °सक्तं सम्भवति तत्र कां० ॥ २ तत्र द्वयोरपि संसक्तयोः सम्भवतोर्मध्ये यद् कां० ॥ ३ 'दृष्टे' प्रत्युपेक्षिते पिण्डे गृह्य° कां० ॥ ४ °याऽप्रत्युपेक्षितं संसक्तमेव भक्त-पानं गृ° कां० ॥ ५ °ति, प्रायश्चित्तमित्यर्थः । अथा° कां० ॥

विवेचनम्। अथ क्षिप्रं न विविनक्ति ततो यावत् परिष्ठापयति तावद् यत्र यद् विनाशमश्नुते तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् ॥ ५८७५ ॥ कः पुनः क्षिप्रकालः ? इत्याह—

**सत्त पदा गम्मंते, जावति कालेण तं भवे खिप्पं।**
**कीरंति व तालाओ, अदुयमविलंबितं सत्ता ॥ ५८७६ ॥**

यावता कालेन सप्त पदानि गम्यन्ते तत् क्षिप्रं मन्तव्यम्। यावता वा कालेनाद्रुतमविलम्बितं सप्त तालाः क्रियन्ते तावान् कालविशेषः क्षिप्रम् ॥ ५८७६ ॥

**तम्हा विविंचितव्वं, आसन्ने वसहि दूर जयणाए।**
**सागारिय उण्ह ठिए, पमज्जणा सत्तुग दवे य ॥ ५८७७ ॥**

तस्मात् तद् जन्तुसंसक्तमनन्तरोक्तक्षिप्रकालमध्य एव विवेचनीयम्। यदि च वसतिरासन्ना ततस्तत्र गत्वा परित्यक्तव्यम्। अथ दूरे वसतिः ततः शून्यगृहादिषु यतनया परिष्ठापयति। अथ सागारिके पश्यति उष्णे वा भूभागे 'स्थितो वा' ऊर्द्धस्थितः परिष्ठापयति ततो वक्ष्यमाणं प्रायश्चित्तम्। यत्र च परिष्ठाप्यते तत्र प्रमार्जना कर्तव्या। एवमोदनस्य विधिरुक्तः। सक्तूनां द्रवस्य चैवमेवाल्पसागारिके प्रमृज्य छायायां परिष्ठापनं विधेयम् ॥ ५८७७ ॥ इदमेव व्याचष्टे—

**जावइ काले वसहिं, उवेति जति ताव ते ण विद्दंति।**
**तं पि अणुण्हमदवं तो, गंतूणमुवस्सए एडे ॥ ५८७८ ॥**

यावता कालेन वसतिमुपैति तावता कालेन यदि 'ते' प्राणिनः 'न विद्रान्ति' न विनश्यन्ति तदा तद् वसतिं नीयते। तदप्यनुष्णमद्रवं च यदि भवति ततः प्रतिश्रयं नेतव्यम्। किमुक्तं भवति ?—यदि उष्णः कूरो द्रवं वा संसक्तं ततः प्रतिश्रयं न नीयते, मा यावत् प्रतिश्रयं नीयते तावत् प्राणजातीया उष्णे द्रवे वा मरिष्यन्तीति कृत्वा। अथानुष्णमद्रवं च तत उपाश्रये गत्वा 'एडयेत्' परिष्ठापयेत्। यत् पुनरुष्णं द्रवं वा तत् तत्रैव शून्यगृहादौ परिष्ठापनीयम्। अथ दूरे वसतिस्ततोऽनुष्णमपि शून्यगृहादिषु परिष्ठापयितव्यम् ॥ ५८७८ ॥

**सुण्णघरादीणऽसती, दूरे कोण वतिअंतरीभूतो।**
**उकुडु पमज्ज छाया, वति-कोणादीसु विक्खिरणं ॥ ५८७९ ॥**

अथ शून्यगृहादीनि न सन्ति ततो दूरे एकान्तं गत्वा यत्र कोणस्थितो वृत्याऽन्तरितीभूतो वा सागारिको न पश्यति तत्रोत्कुटको भूत्वा प्रमृज्य छायायां वृतेः कोणके प्रक्षिपति, आदिग्रहणेन वृतेर्मध्येऽपि विकिरति, परिष्ठापयतीत्यर्थः। एवमोदनस्य सक्तूनां द्रवस्य वा परिष्ठापनं कर्तव्यम् ॥ ५८७९ ॥

**सागारिय उण्ह ठिए, अपमज्जंते य मासियं लहुगं।**
**वोच्छेदुड्डाहादी, सागारिय सेसए काया ॥ ५८८० ॥**

अथ सागारिके उष्णे वा प्रदेशे भूत्वा 'स्थितो वा' ऊर्द्धीभूतोऽप्रमार्ज्य वा परिष्ठापयति

---

१ 'चनीयम्। अथ भा० कां० ॥ २ 'यत्र' भक्ते पानके वा 'यत्' प्राणजातं विना° कां० ॥ ३ इमामेव निर्युक्तिगाथां व्या° कां० ॥ ४ 'द्रवं प्रतिश्रयश्च प्रत्यासन्नस्तत उपा° कां० ॥ ५ विकरणं करोति, परि° कां० ॥

ततश्चतुर्ष्वपि लघुमासिकम् । सागारिके च पश्यति यदि भक्तं परिष्ठाप्यते तदा स भक्त-पानदानव्यवच्छेदमुड्डाहादिकं वा कुर्यात्[1] । 'शेषे तु' उष्णादित्रये परिष्ठापयतः पृथिव्यादिकाया विराध्यन्ते ॥ ५८८० ॥

**इइ ओअण सत्तुविही, सत्तू तद्दिणकतादि जा तिण्णि ।**
**वीसुं वीसुं गहणं, चतुरादिदिणाइ एगत्थ ॥ ५८८१ ॥**

'इति' एवमोदनस्य संसक्तस्य विधिरुक्तः । अथ सक्तूनां संसक्तानां विधिरुच्यते—यत्र सक्तवः संसक्ता लभ्यन्ते तत्र नैव गृह्यन्ते । अथ न संस्तरन्ति ततस्तद्दिवसकृतान् सक्तून् गृह्णन्ति । आदिशब्दात् तैरप्यसंस्तरन्तो [3]द्वितीय-तृतीयदिनकृतानपि सक्तून् गृह्णन्ति, ते पुनः पृथक् पृथग् गृह्यन्ते । चतुर्दिवसकृतादयस्तु सर्वेऽप्येकत्र गृह्यन्ते तेषामयं प्रत्युपेक्षणाविधिः—रजस्त्राणमधः प्रस्तीर्य तस्योपरि पात्रकबन्धं कृत्वा तत्र सक्तवः प्रकीर्यन्ते, तत ऊर्द्धमुखं पात्रकबन्धं कृत्वा एकस्मिन् पार्श्वे नीत्वा यास्तत्र ऊरणिका लग्नास्ता उद्धृत्य कर्परे प्रक्षिप्यन्ते, एवं प्रत्युपेक्ष्य भूयोऽपि तथैव प्रत्युपेक्षन्ते ॥ ५८८१ ॥ ततः—

**नव पेहातो अदिट्ठे, दिट्ठे अण्णाओं होंति नव चेव ।**
**एवं नवगा तिण्णी, तेण परं संथरे उज्झे ॥ ५८८२ ॥**

नववाराः प्रत्युपेक्षणां कृत्वा यदि प्राणजातीया न दृष्टास्ततो भोक्तव्यास्ते सक्तवः, अथ दृष्टास्ततो भूयोऽप्यन्या नववारा प्रत्युपेक्षणा भवति, तथापि यदि दृष्टास्ततः पुनरपि नववाराः प्रत्युपेक्षन्ते[4] । ततो यद्येवं त्रिभिर्नवकैः शुद्धास्ततो भुञ्जताम् । अथ न शुद्धास्तदा ततः परं 'उज्झेत्' परिष्ठापयेत् । अथासंस्तरणं ततस्तावत् प्रत्युपेक्षन्ते यावत् शुद्धीभवन्ति ॥ ५८८२ ॥

प्राणजातीयानां च परिष्ठापने विधिरयम्—

**आगरमादी असती, कप्परमादीसु सत्तुए उरणी ।**
**पिंडमलेवाडाण य, कातूण दवं तु नत्थेव ॥ ५८८३ ॥**

या ऊरणिकाः प्रत्युपेक्षमाणेन दृष्टास्ता आकरादिषु परिष्ठापनीयाः । इह घरट्टादिसमीपे प्रभूता यत्र तुषा भवन्ति स आकर उच्यते[5] । तस्याभावे कर्परादिषु स्तोकान् सक्तून् प्रक्षिप्य तत्रोरणिकाः स्थापयित्वा बहिरनाबाधे प्रदेशे स्थाप्यन्ते । यदि च द्रवभाजनं नास्ति ततो ये सक्तवः शुद्धा अलेपकृताश्च ते 'पिण्डं कृत्वा' भाजनस्यैकपार्श्वे चम्पयित्वा तत्रैव च द्रवं 'कृत्वा' गृहीत्वा भुञ्जते ॥ ५८८३ ॥ यत्र च काञ्जिकं संसज्यते तत्रायं विधिः—

**आयामु संसट्ठुसिणोदगं वा, गिण्हंति वा णिव्वुत[6] चाउलोदं ।**

---

१ °ष्ठापयति तदा भा० कां० ॥ २ °त्—अहो ! अमी श्रमणका मत्ताः यदेवं दुर्लभमाहारं गृहीत्वा छर्दयन्तीति । 'शेषे तु' कां० ॥ ३ द्वितीयदिवसकृतान् यावत् त्रयो दिवसा येषां सञ्जाताः तृतीयदिवसकृता इत्यर्थः तानपि गृह्णन्ति, तेषां पुनः 'विष्वग् विष्वग्' पृथक् पृथग् ग्रहणं कर्त्तव्यम् । चतुर्दिवस° कां० ॥ ४ °न्ते । एवं त्रीणि नवकानि प्रत्युपेक्षणानां भवन्ति । ततो यद्येवं कां० ॥ ५ °ते, आदिशब्दादन्यस्याप्येवंविधस्य परिग्रहः । तस्या° कां० ॥ ६ °व्वुड चाउलोदगं । गिह° ताभा० ॥

**गिहत्थभाणेसु व पेहिऊणं, मत्ते व सोहेत्तुवरिं छुभंति ॥ ५८८४ ॥**

ऑयामं संसृष्टपानकमुष्णोदकं वा 'निर्वृतं वा' प्रासुकीभूतं 'चाउलोदकं' तण्डुलधावनं गृह्णन्ति । एतेषामभावे तदेव काञ्जिकं गृहस्थभाजनेषु प्रत्युपेक्ष्य मात्रके वा शोधयित्वा यदसंसक्तं तदा प्रतिग्रहोपरि प्रक्षिपन्ति ॥ ५८८४ ॥ द्वितीयपदमाह—

**बिइयपद अपेक्खणं तू, गेलण्ण-ऽद्धाण-ओममादीसु ।**
**तं चेव सुक्खगहणे, दुल्लभ दव दोसु वी जयणा ॥ ५८८५ ॥**

द्वितीयपदे ग्लाना-ऽध्वा-ऽवमादिषु कारणेषु 'अप्रेक्षणं' पिण्डस्याप्रत्युपेक्षणमपि कुर्यात् । 'तदेव च' ग्लानत्वादिकं द्वितीयपदं 'शुष्कस्य' ओदनस्य ग्रहणे मन्तव्यम् । दुर्लभं वा द्रवं पश्चान्न लभ्यते ततः पूर्वं तद् गृहीतमिति कृत्वा नास्ति तद् भाजनं यत्र पृथक् शुष्कं गृह्यते । "दोसु वी जयण" त्ति 'द्वयोरपि' अप्रत्युपेक्षणा-शुष्कग्रहणयोरेषा यतना कर्तव्या । एषे सङ्ग्रहगाथासमासार्थः ॥ ५८८५ ॥ साम्प्रतमेनामेव विवृणोति—

**अच्चाउर सम्मूढो, वेलाऽतिकमति सीयलं होइ ।**
**असढो गिण्हण गहिते, सुज्झेज अपेक्खमाणो वि ॥ ५८८६ ॥**

कश्चिदतीव 'आतुरत्वेन' ग्लानत्वेन 'सम्मूढः' सम्मोहं—समुद्धातमुपगतस्ततो यावत् प्रत्युपेक्षते तावद् वेलाऽतिक्रामति शीतलं वा तावता कालेन भवति, तत एवम् 'अशठः' विशुद्धभावो गृह्णानो वा गृहीते वा पिण्डे प्रत्युपेक्षणामकुर्वाणोऽपि 'शुध्येत' प्रायश्चित्तभाग् न भवेत् ॥५८८६॥[5]

**ओमाणपेल्लितो वेलऽतिकमो चलिउमिच्छति भयं वा ।**
**एवंविहे अपेहा, ओमे सतिकाल ओमाणे ॥ ५८८७ ॥**

अध्वनि वा गच्छतां सार्थः 'अवमानप्रेरितः' प्रभूतभिक्षाचराकीर्णः, यावच्च प्रत्युपेक्षते तावद् वेलातिक्रमो भवति, स च सार्थश्चलितुमिच्छति, पृष्ठतो गच्छतां च भयम्, तत एवंविधे कारणेऽप्रेक्षा, प्रत्युपेक्षामन्तरेणापि पिण्डं गृह्णीयादित्यर्थः । अवमे च प्रत्युपेक्षमाणानां 'सत्कालः' भिक्षाया देशकालः स्फिटति सूर्यो वाऽस्तमेति अवमानं वा—भिक्षाचराकीर्णं ततोऽप्रत्युपेक्षितमपि गृह्णीयात् ॥ ५८८७ ॥ परम्—

**तो कुज्जा उवओगं, पाणे दट्ठूण तं परिहरेज्जा ।**
**कुज्जा ण वा वि पेहं, सुज्झइ अतिसंभमा सो तु ॥ ५८८८ ॥**

यदि अनन्तरोक्तकारणैः प्रत्युपेक्षणं न भवति तत उपयोगं कुर्यात् । कृते चोपयोगे यदि प्राणिनः पश्यति ततस्तान् दृष्ट्वा 'तद्' भक्त-पानं परिहरेत् । अथवा अत्यातुरः 'प्रेक्षाम्' उपयोगमपि च कुर्याद् वा न वा । अनुपयुञ्जानोऽपि चातिसम्भ्रमादसौ साधुः शुध्यति । यच्चाधस्तादुक्तं

---

१ 'आयामम्' अवस्रावणं संसृष्टपानकं-गोरसभाजनधावनम् उष्णोदकं वा-उद्वृत्तत्रिदण्डं 'निर्वृ° कां० ॥ २ अथात्रैव द्विती° कां० ॥ ३ शुष्कम्-ओदनं गृह्यते, अतस्तन्मध्य एव तद् गृह्णीयात् । "दोसु कां० ॥ ४ °ष निर्युक्तिगाथा° कां० ॥ ५ भावितं ग्लानत्वे द्वितीयपदम् । अथाऽध्वा-ऽवमयोस्तदेव भावयति इत्यवतरणं कां० ॥ ६ 'प्रेक्षां' प्रत्युपेक्षणाम् उप° कां० ॥

"संसक्तः शुष्कौदनः पृथग् गृह्यते" ( गा० ५८७२ ) तत्राप्येतेष्वेव ग्लाना-ऽध्वा-ऽवमेषु कारणेषु द्वितीयपदं मन्तव्यम् ॥ ५८८८ ॥ तथा चाह—

**वीसुं घेप्पइ अतरंतगस्स बितिए दवं तु सोहेति ।**
**तेण उ असुक्खगहणं, तं पि य उण्हेयरे पेहे ॥ ५८८९ ॥**

'अतरन्तगस्य' ग्लानस्य योग्यं 'विष्वग्' एकस्मिन् मात्रके गृह्यते, द्वितीये च मात्रके द्रवं शोधयति, ततो यत्र शुष्कौदनः पृथग् गृह्यते तत् तृतीयं मात्रकं नास्तीति कृत्वा शुष्कमार्द्रं वा एकत्रैव प्रतिग्रहे गृह्णीयात् । ग्लानस्यापि यद् ओदन-द्वितीयाङ्गादिकमेकस्मिन् मात्रके गृह्णाति तदपि उष्णं ग्रहीतव्यम् । 'इतरत् तु' शीतलं मत्युपेक्षेत, यदि असंसक्तं ततो गृह्णीयादन्यथा तु नेति भावः ॥ ५८८९ ॥

**अद्धाणे ओमे वा, तहेव वेलातिवातियं णातुं ।**
**दुल्लभदवे व मा सिं, धोवण-पियणा ण होहिंति ॥ ५८९० ॥**

अध्वनि वाऽवमौदर्ये वा वेलाया अतिपातम्—अतिक्रमं ज्ञात्वा तथैव शुष्कं विष्वग् न गृह्णीयात् । दुर्लभं वा तत्र ग्रामे द्रवं—पानकं ततो मा "सिं" एषां साधूनां भाजनधावन-पाने न भविष्यत इति कृत्वा पूर्वं मात्रके द्रवं गृहीतं ततो नास्ति भाजनं यत्र शुष्कं पृथग् गृह्यते अत एकत्रैव गृह्णीयात् ॥ ५८९० ॥ उक्तमोदनविषयं द्वितीयपदम् । अथ पानकविषयमाह—

**आउट्टिय संसत्ते, देसे गेलण्णऽद्धाण कक्खडे अखिप्पं ।**
**इयराणि य अद्धाणे, कारण गहिते य जतणाए ॥ ५८९१ ॥**

यथा कारणे 'आकुट्टिकया' जानन्तोऽपि संसक्ते देशे गच्छन्ति तथा तत्र गताः सन्तः संसक्तमपि पानकं गृह्णन्ति । गृहीत्वा च ग्लानत्वेऽध्वनि 'कर्कशे वा' अवमे क्षिप्रं न परित्यजेयुरपि । तथाहि—ग्लानत्वे यावत् संसक्तं परिष्ठापयन्ति तावद् ग्लानस्य वेलातिक्रमो भवति, अध्वनि सार्थात् परिभ्रश्यन्ति, अवमौदर्ये भिक्षाकालः स्फिटति, ततो न क्षिप्रं परित्यजेयुः । 'इतराणि च' सागारिकस्य पश्यतः परिष्ठापनम् इत्यादीनि यानि पूर्वप्रतिषिद्धानि तान्यप्यध्वनि वर्तमानः कुर्यात् । एष कारणे यतनया गृहीतस्य संसक्तस्य विवेचने विधिरवगन्तव्य इति सङ्ग्रहगाथासमासार्थः ॥ ५८९१ ॥ अथैनामेव विवृणोति—

**आउट्टि गमण संसत्त गिण्हणं न य विगिंचए खिप्पं ।**
**ओम गिलाणे वेला, विहम्मि सत्थो वइक्कमइ ॥ ५८९२ ॥**

यथाऽऽकुट्टिकया संसक्तदेशे गमनं तथा तत्र गतः संसक्तमपि गृह्णीयात् न च क्षिप्रं 'विविञ्च्यात्' परिष्ठापयेत् । कुतः ? इत्याह—अवमे भिक्षाकालः स्फिटति, ग्लान्ये वा ग्लानस्य वेलाऽतिक्रमेत्, 'विहे' अध्वनि सार्थो व्यतिक्रामति, ततः क्षिप्रं न परित्यजेत् ॥ ५८९२ ॥

---

१ °स्तीति, तेन कारणेन अशुष्कस्य–आर्द्रस्य तुशब्दात् शुष्कसार्धम् ओदनस्य एकत्रैव प्रतिग्रहे ग्रहणं कर्त्तव्यम् । ग्लान° कां० ॥ २ 'शुष्कम्' ओदनं वि° कां० ॥ ३ अवमौदर्या-पर्यायो "अखिप्पं" ति क्षिप्रं कां० ॥ ४ °तः उपगे वा भूभागे ऊर्ध्वस्थितस्य वा यत् परिष्ठापनं तल्लक्षणानि त्रीणि स्थानानि यानि कां० ॥ ५ इति निर्युक्तिगाथा° कां० ॥

**असिवादी संसत्ते, संकप्पादी पदा तु जह सुज्झे ।**
**संसट्ठ सत्तु चाउल, संसत्तऽसती तहा गहणं ॥ ५८९३ ॥**

अशिवादिभिः कारणैर्यथा संसक्ते देशे सङ्कल्पादीनि पदानि कुर्वाणोऽपि शुध्यति तथा तत्र गतो यदि असंसक्तं पानकं न लभते ततः संसृष्टपानकं तन्दुलोदकं वा संसक्तं सक्तून् वा संसक्तान् तथैव गृह्णीयात् ॥ ५८९३ ॥ तेषां पुनः गृहीतानामयं विधिः—

**ओवग्गहियं चीरं, गालणहेउं घणं तु गेण्हंति ।**
**तह वि य असुज्झमाणे, असती अद्धाणजयणा उ ॥ ५८९४ ॥**

औपग्रहिकं 'घनं' निश्छिद्रं चीवरं तेषां संसक्तपानकानां गालनाहेतोर्गृह्णन्ति । 'तथापि' तेनापि गाल्यमानं यदि न शुध्यति न वा तण्डुलधावनादिकमपि लभ्यते, ततो या प्रथमोद्देशकेऽध्वनि गच्छतां "तुवरे फले य रुक्खे०" ( गा० २९२२ ) इत्यादिना पानकयतना भणिता सा कर्तव्या ॥ ५८९४ ॥ अथ दधिविषयं विधिमाह—

**संसत्त गोरसस्सा, ण गालणं णेव होइ परिभोगो ।**
**कोडिदुग-लिंगमादी, तहिँ जयणा णो य संसत्तं ॥ ५८९५ ॥**

यदि क्वापि संसक्तो गोरसो लभ्यते ततस्तस्य न गालनं न वा परिभोगः कर्तव्यः, किन्तु "कोडिदुग-लिंगमाइ" त्ति कोटिद्वयेन—विशोधिकोट्या अविशोधिकोट्या च भक्त-पानग्रहणे यतितव्यं यावदाधाकर्मापि गृह्यते, अन्यलिङ्गमपि कृत्वा भक्त-पानमुत्पाद्यते, न पुनः संसक्तो गोरसो ग्रहीतव्यः ॥ ५८९५ ॥

अथ "इयराणि य" ( गा० ५८९१ ) इत्यादिपश्चार्द्धं व्याचष्टे—

**सागारिय सव्वत्तो, णत्थि य छाया विहम्मि दूरे वा ।**
**वेला सत्थो व चले, ण णिसीय-पमज्जणे कुज्जा ॥ ५८९६ ॥**

अध्वनि गच्छतां सर्वतोऽपि सागारिकम्, छाया च तत्र नास्ति, अस्ति वा परं दूरे, तत्र च गच्छतां वेलाऽतिक्रामति, सार्थो वा चलति, तत्र उष्णेऽपि भूभागे परिष्ठापयेत् । यत्र चोपविशतः सागारिकं शङ्कादयो वा दोषाः अशुचिकं वा स्थानं तत्र निषदन-प्रमार्जने अपि न कुर्यात् ॥ ५८९६ ॥

## ॥ आहारविधिप्रकृतं समाप्तम् ॥

---

१ तत एवमसंसक्तस्य पानकस्यासति संसक्तमपि संसृष्टपानकं तन्दुलोदकं वा संसक्तान् वा सक्तून् तथैव गृह्णीयात् । इह पानकाधिकारे सक्तुग्रहणं संसक्तत्वसाम्यात् प्रसङ्गायातमिति कृत्वा न दुष्टम् ॥ ५८९३ ॥ तेषां पुनः संसक्तपानकानां गृही° कां० ॥ २ °भ्यते, तत एवमशुध्यति 'असति वा' अविद्यमाने पानकजाते प्राप्यमाणे इत्यर्थः प्रथमो° कां० ॥ ३ °भागे सागारिकस्य पश्यतोऽपि परि° कां० ॥

## पा न क वि धि प्र कृ त म्

सूत्रम्—

**निग्गंथस्स य गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठस्स अंतोपडिग्गहगंसि दगे वा दगरए वा दगफुसिए वा परियावज्जेज्जा, से य उसिणे भोयणजाते भोत्तव्वे सिया; से य सीए भोयणजाते तं नो अप्पणा भुंजेज्जा, नो अन्नेसिं दावए, एगंते बहुफासुए पदेसे परिट्ठवेयव्वे सिया १२ ॥**

अस्य सम्बन्धमाह—

**आहारविही वुत्तो, अयमण्णो पाणगस्स आरंभो ।**
**कायचउक्काऽऽहारे, कायचउक्कं च पाणम्मि ॥ ५८९७ ॥**

आहारविधिः पूर्वसूत्रे उक्तः, अयं पुनरन्यः पानकस्य विधिप्रतिपादनाय सूत्रारम्भः क्रियते । तथा आहारेऽनन्तरसूत्रे प्राणग्रहणेन त्रसा बीजग्रहणेन वनस्पतिकायाः रजोग्रहणेन पृथिव्यग्निकायौ गृहीताविति कायचतुष्कमुक्तम् । इहापि पानके कायचतुष्कमुच्यते—तत्र शीतोदकमप्कायः, उष्णोदकमग्निकायः, नालिकेरपानकादिकं वनस्पतिकायः, दुग्धं त्रसकायः । एवं चत्वारोऽपि काया अत्रापि सम्भवन्तीति ॥ ५८९७ ॥ अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य व्याख्या—

निर्ग्रन्थस्य गृहपतिकुलं पिण्डपानप्रतिज्ञया प्रविष्टस्यान्तःप्रतिग्रहे भक्त-पानमध्ये 'दकं वा' प्रभूताप्कायरूपं 'दकरजो वा' उदकबिन्दुः 'दकस्पर्शितं वा' उदकशीकराः पर्यापतेयुः । तच्चोष्णं भोजनजातं ततो भोक्तव्यं स्यात् । अथ शीतं तद् भोजनजातं ततस्तन्नात्मना भुञ्जीत, नान्येषां दद्यात्, एकान्ते बहुप्राशुके प्रदेशे परिष्ठापयितव्यं स्यादिति सूत्रार्थः ॥ अथ भाष्यम्—

**परिमाणे नाणत्तं, दगबिंदुं दगरयं वियाणाहि ।**
**सीभरओ दगफुसितं, सेसं तु दगं दव खरं वा ॥ ५८९८ ॥**

दकरजःप्रभृतीनां परिमाणकृतं नानात्वम् । तथाहि—यस्तावद् दकबिन्दुस्तं दकरजो विजानीहि । ये तु 'सीभराः' पानीयेऽन्यत्र प्रक्षिप्यमाणे उदकसीकरा आगत्य प्रपतन्ति ते दकस्पर्शितम् । 'शेषं तु' यत् प्रभूतमुदकं तद् दकमिति भण्यते । तच्च द्रवं वा खरं वा भवति इति विषमपदव्याख्यानं भाष्यकृता कृतम् ॥ ५८९८ ॥ सम्प्रति **निर्युक्तिविस्तरः**—

**एमेव बितियसुत्ते, पलोगणा गिण्हणे य गहिते य ।**
**अणभोगा अणुकंपा, पंतत्ता वा देगं देज्जा ॥ ५८९९ ॥**

अधस्तनाहारसूत्रादिदं द्वितीयसूत्रमुच्यते । तत्र द्वितीयसूत्रेऽप्येवमेव विधिर्द्रष्टव्यः[3] । ग्रहणे

१ °पा, पडिणीता वा दगं कां० ॥ २ दवं दे° ताभा० ॥ ३ °व्यः । कथम्? इति अत आह—उदकस्य ग्रहणे कां० ॥

गृहीते च पानके 'प्रलोकना' प्रत्युपेक्षणा पिण्डस्येव मन्तव्या । तच्च उदकं त्रिभिः कारणैर्दद्यात् । तद्यथा—"अणभोगा" इत्यादि । अनाभोगेन काचिदगारी एकत्रैव काञ्जिकं पानीयं चास्तीति कृत्वा 'काञ्जिकं दास्यामि' इति बुद्ध्या विस्मृतिवशाज्जलं दद्यात् । अनुकम्पया वा ग्रीष्मसमये तृषाक्रान्तं साधुं दृष्ट्वा 'शीतलं जलं पिबेद्' इति बुद्ध्या काचिदुदकं दद्यात् । प्रान्ततया प्रत्यनीकतया वा काचिद् भिक्षुकाद्युपासिका 'एतेषामुदकं न कल्पते अतो व्रतभङ्गं करोमि' इति बुद्ध्या साधूनामुदकं दद्यात् ॥ ५८९९ ॥ अथात्रैव विधिमाह—

**सुद्धम्मि य गहियम्मी, पच्छा णाते विगिंचए विहिणा ।**
**मीसे परूविते उण्ह-सीतसंजोग चउभंगो ॥ ५९०० ॥**

यदि तदुदकं 'शुद्धे' रिक्ते प्रतिग्रहे गृहीतं 'पश्चाच्च' ग्रहणानन्तरं ज्ञातम् यथा—उदकमिदम्; ततः 'विधिना' वक्ष्यमाणेन 'विविञ्च्यात्' परिष्ठापयेत् । "मीसे" त्ति मिश्रं नाम—यत्र प्रतिग्रहे पूर्वमन्यद् द्रवं गृहीतं पश्चाच्च पानीयं पतितम् एतद् मिश्रमुच्यते, तत्र 'मिश्रे' उष्ण-शीतसंयोगे चतुर्भङ्ग्याः प्ररूपणा कर्तव्या ॥ ५९०० ॥

तत्र रिक्ते प्रतिग्रहे यद् गृहीतं तस्यायं परिष्ठापनाविधिः—

**तत्थेव भायणम्मी, अलब्भमाणे व आगरसमीवे ।**
**सपडिग्गहं विगिंचइ, अपरिस्सव उल्लभाणे वा ॥ ५९०१ ॥**

यतो भाजनादविरतिकया दत्तं तत्रैव तदुदकं प्रक्षिपति । अथ सा तत्र प्रक्षेप्तुं न ददाति तत एवमलभ्यमाने सा पृच्छयते—कुतस्त्वयेदमानीतम् ? । ततो यस्मात् कूप-सरःप्रभृतेराकरादानीतं तस्य समीपे गत्वा **परिष्ठापनिकानिर्युक्ति**भणितेन ( गा० ४ आव० हारि० टीका पत्र ६१९-२० ) विधिना परिष्ठापयेत् । अथवा सप्रतिग्रहमपि क्षीरद्रुमस्य च्छायायामेकान्ते[1] स्थापयति । अथ प्रतिग्रहोऽन्यो न विद्यते ततो यद् अपरिश्रावि घटादिकमार्द्रं जलभावितं भाजनं तत्र प्रक्षिपति ॥ ५९०१ ॥ अथ पूर्वमन्यद्रव्ये गृहीते पतितं तत इयं चतुर्भङ्गी—

**दव्वं तु उण्हसीतं, सीउण्हं चेव दो वि उण्हाइं ।**
**दुण्णि वि सीताइँ चाउलोद तह चंदण घते य ॥ ५९०२ ॥**

इह द्रव्यं चतुर्धा, तद्यथा—किञ्चिदुष्णं शीतपरिणामम् १ अपरं शीतमुष्णपरिणामम् २ अन्यदुष्णमुष्णपरिणामम् ३ अपरं शीतं शीतपरिणामम् ४ । अथासन्नत्वात् प्रथमं चतुर्थभङ्गं व्याख्याति—"चाउलोद" इत्यादि । तण्डुलोदक-चन्दन-घृतादीनि द्रव्याणि 'शीतानि' शीतपरिणामानि ॥ ५९०२ ॥ तृतीयभङ्गमाह—

**आयाम अंबकंजिय, जति उसिणाणुसिण तो विवागे वी ।**
**उसिणोदग-पेज्जाती, उसिणा वि तणुं गता सीता ॥ ५९०३ ॥**

१ °न्ते 'विविनक्ति' परिष्ठापयति कां० ॥ २ °था—"उण्हसीयं" ति "सूचनात् सूत्रम्" इति कृत्वा किञ्चि° कां० ॥ ३ °म् ४ । इह तृतीयभङ्गे स्वभावपरिणामलक्षणे द्वे अपि वस्तुनी उष्णे, चतुर्थभङ्गे तु द्वे अपि शीते । अथा° कां० ॥ ४ शीतस्वभावानि शीतपरिणामानि भवन्तीति चतुर्थो भङ्गः ॥५९०२॥ अथ प्रथम-तृतीयभङ्गावाह कां० ॥ ५ °णा उसिण ताभा० ॥

आयामा-ऽम्लकाञ्जिकादीनि द्रव्याणि यदुष्णानि ततो 'विपाके' परिणामेऽपि तान्युष्णान्येव भवन्तीति कृत्वा तृतीयो भङ्गः । यानि पुनरुष्णोदक-पेयादीनि द्रव्याणि तान्युष्णान्यपि 'तनुं' शरीरं गतानि शीतानि भवन्तीत्यनेन प्रथमो भङ्गो व्याख्यातः ॥ ५९०३ ॥

अथ द्वितीयभङ्गं व्याचष्टे—

सुत्ताइ अंबकंजिय-घणोदसी-तेल्ल-लोण-गुलमादी ।
सीता वि होंति उसिणा, दुहतो उण्हा व ते होंति ॥ ५९०४ ॥

सुत्तं—मदिरास्तोलः देशविशेषप्रसिद्धो वा कश्चिद् द्रव्यविशेषः, तदादीनि यानि द्रव्याणि, यच्च अम्लं काञ्जिकम्, अम्ला च घनविकृतिः, अम्लं च उदश्वित्—तक्रम्, यच्च तैलं लवणं गुडो वा, एवमादीनि द्रव्याणि शीतान्यपि परिणामत उष्णानि भवन्तीति द्वितीयभङ्गेऽवतरन्ति । अथ तान्युष्णानि ततः 'उष्णानि' उष्णपरिणामानीति तृतीये भङ्गे प्रतिपत्तव्यानीति ॥ ५९०४ ॥ आह कतिविधः पुनः परिणामः? इति उच्यते—

परिणामो खलु दुविहो, कायगतो बाहिरो य दव्वाणं ।
सीओसिणत्तणं पि य, आगंतु तदुब्भवं तेसिं ॥ ५९०५ ॥

द्रव्याणां परिणामः द्विविधः—कायगतो बाह्यश्च । तत्र कायेन- शरीरेणाहारितानां द्रव्याणां यः शीतादिकः परिणामः स कायगतः, यः पुनरनाहारितानां स बाह्यः । स च बाह्यः परिणामः शीतो वा स्यादुष्णो वा । तदपि च शीतोष्णत्वं द्रव्याणां द्विधा—आगन्तुकं तदुद्भवं च ॥ ५९०५ ॥ उभयमपि व्याचष्टे—

साभाविया व परिणामिया व सीतादतो तु दव्वाणं ।
असरिससमागमेण उ, णियमा परिणामतो तेसिं ॥ ५९०६ ॥

स्वाभाविका वा परिणामिका वा शीतादयः पर्याया द्रव्याणां भवन्ति । तत्र स्वाभाविका यथा—हिमं स्वभावशीतलम्, तापोदकं स्वभावादेवोष्णम् । परिणामिकास्तु पर्याया द्रव्यान्तरादिबाह्यकारणजनिताः, तथा चाह—"असरिस" इत्यादि, असदृशेन वस्तुना सह यः समागमः—मीलकस्तेन नियमात् 'तेषां' द्रव्याणां 'परिणामः' पर्यायान्तरगमनं भवति, यथा—उदकादेः शीतलस्याप्यग्नितापेन आदित्यरश्मितापेन वा उष्णतागमनम् ॥ ५९०६ ॥

एतदेव सुव्यक्तमाह—

सीया वि होंति उसिणा, उसिणा वि य सीयगं पुणरुवेंति ।
दव्वंतरसंजोगं, कालसभावं च आसज्ज ॥ ५९०७ ॥

द्रव्यान्तरेण—अग्नि-जलादिना संयोगं—सम्बन्धं कालस्य च—ग्रीष्म-हेमन्तादेः स्वभावमासाद्य शीतान्यपि द्रव्याण्युष्णानि भवन्ति उष्णान्यपि च शीततां पुनरुपयान्ति ॥ ५९०७ ॥

एष आगन्तुकः परिणामो मन्तव्यः । अयं पुनस्तदुद्भवः—

तावोदगं तु उसिणं, सीया मीसा य सेसगा आवो ।

---

१ °हतो उण्हा ताभा० ॥ २ "उदसी तक्कं" इति चूर्णौ विशेषचूर्णौ च ॥ ३ °कं राजगृह नगरभावि स्वभा° कां० ॥ ४ पुण भवंति ताभा० ॥

**एमेव सेसगाइं, रूवीदव्वाइँ सव्वाइं ॥ ५९०८ ॥**

तापोदकं स्वभावादेवोष्णम्, 'शेषा आपः' अप्कायद्रव्याणि शीतानि 'मिश्राणि वा' शीतोष्णोभयस्वभावानि मन्तव्यानि । एवमेव 'शेषाणि' अप्कायविरहितानि यानि सर्वाण्यपि रूपिद्रव्याणि तानि कानिचिदुष्णानि यथा अग्निः, कानिचित् शीतानि यथा हिमम्, कानिचित् तु शीतोष्णानि यथा पृथिवी ॥ ५९०८ ॥

**एएण सुत्त न गतं, जो कायगताण होइ परिणामो ।**
**सीतोदमिस्सियम्मि उ, दव्वम्मि उ मग्गणा होति ॥ ५९०९ ॥**

य एष 'कायगतानाम्' आहारितानां द्रव्याणां परिणाम उक्तो नैतेन सूत्रं गतम्, किन्तु[1] 'शीतोदकमिश्रितेन' सचित्तोदकमिश्रेण द्रव्येणेहाधिकारः । तत्र चेयं मार्गणा भवति ॥५९०९॥[2]

**दुहतो थोवं एक्केक्कएण अंतम्मि दोहि वी बहुगं ।**
**भावुगमभावुगं पि य, फासादिविसेसितं जाणे ॥ ५९१० ॥**

इह पूर्वगृहीते द्रव्ये यदा शीतोदकं पतति तदा इयं चतुर्भङ्गी—"दुहतो थोवं" ति स्तोके स्तोकं पतितमिति प्रथमो भङ्गः । "एक्केक्कएण" त्ति स्तोके बहुकं पतितमिति द्वितीयः, बहुनि स्तोकं पतितमिति तृतीयः । "अंतम्मि दोहि वी बहुगं" ति बहुनि बहु पतितमिति चतुर्थः । यद् द्रव्यं पतति यत्र वा पतति तद् भावुकमभावुकं वा स्पर्शादिविशेषितं जानीयात् । किमुक्तं भवति ?— स्पर्श-रस-गन्धैरुत्कटतया यद् अपराणि द्रव्याणि स्वस्पर्शादिभिर्भावयति—परिणामयति तद् भावुकम्, तद्विपरीतमभावुकम् । ये च स्तोक-बहुपदाभ्यां चत्वारो भङ्गाः कृतास्तेषु प्रत्येकममी चत्वारो भङ्गा भवन्ति—उष्णे उष्णं पतितम् १ उष्णे शीतं पतितम् २ शीते उष्णं पतितम् ३ शीते ( ग्रन्थाग्रम्—६००० । सर्वग्रन्थाग्रम्—३९८२५ ) शीतं पतितम् ४ ॥ ५९१० ॥

एतेषु विधिमाह—

**चरमे विगिंचियव्वं, दोसु तु मज्झिल्ल पडिगॅ भयणा उ ।**
**खिप्पं विविंचियव्वं, मायविमुक्केण समणेणं ॥ ५९११ ॥**

चरमं नाम—यत् शीते शीतं पतितम् तत् पुनः स्तोके वा स्तोकं पतितं बहुके वा बहुकं पतितं भवेद् उभयमपि क्षिप्रं 'विवेक्तव्यं' परिष्ठापयितव्यम् । 'द्वयोस्तु मध्यमयोः भङ्गयोः' 'उष्णे शीतं पतितम्, शीते उष्णं पतितम्' इतिलक्षणयोर्वक्ष्यमाणा भजना भवति । यः पुनरुष्णे उष्णं पतितमिति प्रथमो भङ्गः तत्र तत्क्षणादेव सचित्तभावो नापगच्छतीति कृत्वा क्षिप्रमेव मायाविमुक्तेन श्रमणेन तद् विवेचनीयम् । मायाविमुक्तग्रहणेनेदं ज्ञापयति—शीघ्रं परिष्ठापयितुकामोऽपि यावत् स्थण्डिलं गच्छति तावत् तद् अचित्तीभूतं ततः परिभुङ्क्ते न परिष्ठापयति । अथ मातृस्थानेन मन्दं मन्दं गच्छति चिन्तयति च—तिष्ठतु तावत् पश्चात् परिणतं परिभोक्ष्ये; एवं मायां कुर्वतः स्थण्डिलादर्वाक् परिणतमपि न कल्पते ॥ ५९११ ॥

अथ मध्यमभङ्गद्वये भजनामाह[3]—

---

१ °न्तु विनेयव्युत्पादनार्थमिदं सर्वं व्याख्यातम् । अत्र तु 'शीतो' कां० ॥ २ तामेव दर्शयति इत्यवतरणं कां० ॥ ३ °जनां व्याख्यानयन्नाह कां० ॥

**थोवं बहुम्मि पडियं, उसिणे सीतोदगं ण उज्झंती ।**
**हंदि हु जाव विगिंचति, भावेज्जति ताव तं तेणं ॥ ५९१२ ॥**

बहुके पूर्वगृहीते स्तोकं पतितमित्यत्र यदि उष्णे बहुनि शीतोदकं स्तोकं पतितं तदा नोज्झन्ति । कुतः ? इत्याह—'हन्दि' इत्युपप्रदर्शने, यावद् विविनक्ति तावत् 'तत्' स्तोकं शीतोदकं 'तेन' बहुकेनोष्णेन 'भाव्यते' परिणतं क्रियते, ततः परिभोक्तव्यं तदिति भावः ॥५९१२॥

**जं पुण दुहतो उसिणं, सममतिरेगं व तक्खणा चेव ।**
**मज्झिल्लभंगएसुं, चिरं पि चिट्ठे बहुं छूढं ॥ ५९१३ ॥**

यत् पुनर्द्विधाऽप्युष्णम्–उष्णे उष्णं पतितमित्यर्थः तत् परिणामतः परस्परं 'समं' तुल्यं भवेद् 'अतिरिक्तं वा' द्वयोरेकतरमधिकतरं तत्रापि तत्क्षणादेव सचित्तभावो नापगच्छतीति[1] वाक्यशेषः । यौ तु मध्यमौ द्वौ भङ्गौ 'उष्णे शीतं पतितम्, शीते वा उष्णं पतितम्' इतिलक्षणौ तयोः स्तोके बहु प्रक्षिप्तं चिरमपि सचित्तं तिष्ठेत्, ततस्तदपि क्षिप्रं चिरेण वा विवेचनीयम् ॥ ५९१३ ॥ अथोदकस्यैव परिणमनलक्षणमाह—

**वण्ण-रस-गंध-फासा, जह दव्वे जम्मि उक्कडा होंति ।**
**तह तह चिरं न चिट्ठइ, असुभेसु सुभेसु कालेणं ॥ ५९१४ ॥**

यस्मिन् द्रव्ये यथा यथा[2] वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शा उत्कटा उत्कटतरा भवन्ति तथा तथा तेन द्रव्येण सह मिश्रितमुदकं चिरं न तिष्ठति, क्षिप्रं क्षिप्रतरं परिणमतीति भावः । किमविशेषेण ? न इत्याह—येऽशुभा वर्णादय उत्कटास्तेष्वेव क्षिप्रं परिणमति, ये तु शुभा वर्णादयस्तेषूत्कटेषु कालेन परिणमति, चिरादित्यर्थः ॥ ५९१४ ॥ अत्रेदं निदर्शनम्—

**जो चंदणे कडुरसो, संसट्ठजले य दूसणा जा तु ।**
**सा खलु दगस्स सत्थं, फासो उ उवग्गहं कुणति ॥ ५९१५ ॥**

इह तण्डुलोदकं चन्दनेन[3] क्वापि मिश्रितं तत्र च चन्दनस्य यः कटुको रसः स तण्डुलोदकस्य शस्त्रं परं यत्तदीयः स्पर्शः शीतलः स जलस्योपग्रहं करोतीति कृत्वा चिरेण तत् परिणमति । एवं संसृष्टजलस्यापि या 'दूषणा' अम्लरसता सा उदकस्य शस्त्रं स्पर्शस्तु शीतलत्वादुपग्रहकारी अतश्चिरेण परिणमति ॥ ५९१५ ॥

**घयकिट्ट-विस्सगंधा, दगसत्थं मधुर-सीतलं ण घतं ।**
**कालंतरमुप्पण्णा, अंबिलया चाउलोदस्स ॥ ५९१६ ॥**

घृतस्य सम्बन्धी यः किट्टो यश्च विस्रो गन्धः तावुदकस्य शस्त्रम्, यत् तु रसेन मधुरं स्पर्शेन च शीतलं घृतं तद् उपग्रहं करोतीति शस्त्रं न भवति, अतश्चिरात् परिणमति ।

---

१ °त्ति अतः परिष्ठापनीयं तदिति वाक्य° कां० । "दुहतो णाम पुव्वगहितं पि उसिणं जं पि पडितं तं पि उसिणं, तं परिणामतो तुल्लं अतिरेगं वा एगतरं तम्मिखेव क्षणे न सचित्तभावो व्यपगच्छति इति वाक्यशेषः, ताधे सिग्घं चेव विगिंचिज्जति ।" इति **चूर्णौ विशेषचूर्णौ** च ॥ २ द्रव्ये "जह" त्ति उत्तरत्र "तह तह" त्ति वीप्सायाः निर्देशादिहापि वीप्सा द्रष्टव्या, ततोऽयमर्थः—यथा यथा कां० ॥ ३ °न 'चन्दने' षष्ठीसप्तम्योरर्थं प्रत्यभेदात् चन्द° कां० ॥

तथा कुक्कुसैः—अतिगुलिकैस्तण्डुलोदकस्याम्लता या कालान्तरेणोत्पन्ना साऽप्युदकस्य शस्त्रं भवति ॥ ५९१६ ॥

अब्वुकंते जति चाउलोदए छुब्भते जलं अण्णं ।
दोण्णि वि चिरपरिणामा, भवंति एमेव सेसा वि ॥ ५९१७ ॥

'अव्युत्क्रान्ते' अपरिणते तण्डुलोदके यद् 'अन्यद्' अपरं सचित्तं जलं प्रक्षिप्यते ततो द्वे अप्युदके चिरपरिणामे भवतः । 'शेषाण्यपि' यानि संसृष्टपानक-फलपानकादीनि तेष्वपि सचित्तोदकं यदि प्रक्षिप्यते ततः 'एवमेव' तान्यपि चिरात् परिणमन्तीति ॥ ५९१७ ॥

अथ द्वितीयपदमाह—

थंडिल्लस्स अलंभे, अद्धाणोम असिवे गिलाणे वा ।
सुद्धा अविविंचंता, आउट्टिय गिण्हमाणा वा ॥ ५९१८ ॥

स्थण्डिलस्यालाभेऽपरिणतपानकमपरिष्ठापयन्तोऽपि शुद्धाः । अध्वा-ऽवमा-ऽशिव-ग्लानत्वेषु वा कारणेषु पानकस्य दुर्लभतायाम् 'अविविञ्चन्तः' अपरिष्ठापयन्तः 'आकुट्टिकया वा' जानन्तोऽपि गृह्णन्तः शुद्धाः ॥ ५९१८ ॥

॥ पानकविधिप्रकृतं समाप्तम् ॥

---

## ब्र ह्म र क्षा प्र कृ त म्

सूत्रम्—

निग्गंथीए रातो वा वियाले वा उच्चारं वा पासवणं वा विगिंचमाणीए वा विसोहेमाणीए वा अन्नयरे पसुजातीए वा पक्खिजातीए वा अन्नयरं इंदियजायं परामुसेज्जा, तं च निग्गंथी साइज्जेज्जा, हत्थकम्मपडिसेवणप्पत्ता आवज्जइ मासियं अणुग्घाइयं १३ ॥

निग्गंथीए रातो वा वियाले वा उच्चारं वा पासवणं वा विगिंचमाणीए वा विसोहेमाणीए वा अन्नयरे पसुजातीए वा पक्खिजातीए वा अन्नयरंसि सोयंसि ओगाहिज्जा, तं च निग्गंथी साइज्जेज्जा, मेहुणप-

१ "कुकुसा–अभिमलिता तसिंचएण तंदुलोदयस्स अंबिलत्तं चिरेण कालेण उप्पन्नं" इति चूर्णौ ॥ "कुक्कुसो–अभिकुलिओ तस्स केरएणं तंदुलोययस्स अबिलत्तं चिरेण कालेण उप्पन्नं" इति विशेषचूर्णौ । २ °थीए य रा° कां० । एतदनुसारेणैव कां० टीका, दृश्यतां पत्रं १५६१ टिप्पणी १ ॥

**डिसेवणप्पत्ता आवज्जइ चाउम्मासियं अणुग्घा-**
**इयं १४ ॥**

अस्य सूत्रद्वयस्य सम्बन्धमाह—

**पढमिल्लुग-ततियाणं, चरितो अत्थो वताण रक्खट्ठा ।**
**मेहुणरक्खट्ठा पुण, इंदिय सोए य दो सुत्ता ॥ ५९१९ ॥**

'प्रथम-तृतीययोर्व्रतयोः' प्राणातिपाता-ऽदत्तादानविरतिलक्षणयो रक्षणार्थं तीर्थकरानुज्ञात-शीतोदकपरिभोगे तयोर्भङ्गो मा भूदिति कृत्वा पूर्वसूत्रस्यार्थः 'चरितः' गतः, भणित इत्यर्थः । सम्प्रति तु मैथुनव्रतरक्षणार्थमिन्द्रियविषय-श्रोतोविषये द्वे सूत्रे आरभ्येते ॥ ५९१९ ॥

अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य व्याख्या—निर्ग्रन्थ्याः रात्रौ वा विकाले वा उच्चारं वा प्रश्रवणं वा विविञ्चन्त्या वा विशोधयन्त्या वा अन्यतरः 'पशुजातीयो वा' वानरादिकः 'पक्षिजातीयो वा' मयूरादिकोऽन्यतरदिन्द्रियजातं 'परामृशेत्' स्पृशेत्, सा च निर्ग्रन्थी तं च स्पर्शं 'स्वादयेत्' 'सुन्दरोऽस्य स्पर्शः' इत्यनुमन्येत, हस्तकर्मप्रतिसेवनप्राप्ता आपद्यते मासिकमनुद्घातिकं स्थानम् । इह निर्ग्रन्थीनां परिहारतपो न भवतीति कृत्वा "परिहारट्ठाणं" ति पदं न पठनीयम् ॥

एवं द्वितीयसूत्रमपि व्याख्येयम् । नवरम्—अन्यतरस्मिन् 'श्रोतसि' योन्यादौ वानरादिरवगाहेत, सा च मैथुनप्रतिसेवनप्राप्ता यदि स्वादयेत् ततश्चतुर्गुरुकमिति सूत्रार्थः ॥

अथ भाष्यविस्तरः—

**वानर छगला हरिणा, सुणगादीया य पसुगणा होंति ।**
**बरहिण चासा हंसा, कुक्कुडग-सुगादिणो पक्खी ॥ ५९२० ॥**

वानराः छगला हरिणाः शुनकादयश्च पशुगणाः भवन्ति । बर्हिणश्चापा हंसाः कुक्कुट-शुकादयश्च पक्षिण उच्यन्ते ॥ ५९२० ॥

**जहियं तु अणाययणा, पासवणुच्चार तहिं पडिकुट्ठं ।**
**लहुगो य होइ मासो, आणादि सती कुलघरे वा ॥ ५९२१ ॥**

यत्रैते पशुजातीयाः पक्षिजातीयाश्च प्राणिनः सम्भवन्ति तद् अनायतनमुच्यते, तत्र निर्ग्रन्थीनामवस्थानं प्रश्रवणोच्चारपरिष्ठापनं च पतिकृष्टम् । यदि कुर्वन्ति तदा लघुमासः, आज्ञादयश्च दोषाः । "सई कुलघरे व" त्ति भुक्तभोगिन्याश्च स्मृतिकरणं कुलगृहे वा भूयस्तासां बान्धवादिभिर्नयनं क्रियते ॥ ५९२१ ॥ इदमेव व्याचष्टे—

**भुत्ता-ऽभुत्तविभासा, तस्सेवी काति कुलघरे आसि ।**
**बंधव तप्पक्खी वा, दट्ठूणं लयंति लज्जाए ॥ ५९२२ ॥**

---

१ °शीतनदीयजीवादत्त-शीतो° कां० ॥ २ °स्य सूत्रद्वयस्य व्याख्या—निर्ग्रन्थ्याः चशब्दो वाक्योपन्यासे रात्रौ कां० ॥ ३ तत आपद्यते चातुर्मासिकमनुद्घातिकम्, चतुर्गुरुकमित्यर्थः ॥ अथ कां० ॥ ४ °ड-सुयमादि° ताभा० ॥ ५ °ण णयंति ताभा० कां० ॥

भुक्ता-ऽभुक्तविभाषा, भुक्तभोगिन्याः स्मृतिकरणमभुक्तभोगिन्याश्च कौतुकमुत्पद्येतेत्यर्थः । तथा "तस्सेवि" त्ति गृहवासे तैः—पशुजातीयादिभिः प्रतिसेविता काचित् कुलगृहे आसीत् सा तान् दृष्ट्वा स्मृतपूर्वरता प्रतिगमनादीनि कुर्यात् । यद्वा तासां बान्धवास्तत्पाक्षिका वा सुहृदस्तादृशेऽनायतने स्थितां तामार्यिकां दृष्ट्वा लज्जया भूयः स्वगृहमानयन्ति ॥ ५९२२ ॥ किञ्च—

**आलिंगणादिगा वा, अणिहुय-मादीसु वा निसेविज्जा ।**
**एरिसगाण पवेसो, ण होति अंतेपुरेसुं पि ॥ ५९२३ ॥**

ते पशुजातीयादयस्तां संयतीमालिङ्गेयुः, सा वा संयती तानालिङ्गेत्, एवमालिङ्गनादयो दोषा भवेयुः । अपि च—एते वानरादयः स्वभावादेवानिभृताः—कन्दर्पबहुला मायिनश्च भवन्ति ततस्तैरनिभृत-मायिभिः सा कदाचिदात्मानं निषेवयेत् । ईदृशानां च पशु-पक्षिजातीयानां प्रवेशो राज्ञोऽन्तःपुरेष्वपि 'न भवति' न दीयते । कारणे पुनरन्यस्या वसतेरभावे तत्रापि तिष्ठेयुः ॥ ५९२३ ॥

**कारणें गमणे वि तहिं, विविंचमाणीएँ आगतो लिहेज्जा ।**
**गुरुगो य होति मासो, आणाति मती तु स च्चेव ॥ ५९२४ ॥**

कारणे तत्रापि स्थितानामुच्चारभूमौ प्रश्रवणभूमौ वा गत्वा 'विविञ्चन्त्याः' परिष्ठापयन्त्या वानरादिः समागच्छेत्, आगतश्च तामालिङ्गेत्, सा च यदि 'लिह्यात्' तं स्पर्शं स्वादयेत् ततो गुरुमासः आज्ञादयश्च दोषाः, स्मृतिश्च सा चैव पूर्वोक्ता भवति ॥ ५९२४ ॥

अथ न स्वादयति ततः सा शुद्धा, यतना चेयं तत्र कर्तव्या—

**वंदेण दंडहत्था, निग्गंतुं आयरंति पडिचरणं ।**
**पविसंते वारिंति य, दिवा वि ण उ काइयं एक्का ॥ ५९२५ ॥**

'वृन्देन' द्वि-त्र्यादिव्रतिनीसमुदायेन दण्डकहस्ता निर्गच्छन्ति, निर्गत्य च कायिकादिकमाचरन्ति, वानरादीनां च प्रतिचरणं कुर्वन्ति । ये तत्राभिद्रवन्ति तान् दण्डकेन ताडयन्ति, प्रतिश्रये च प्रविशतो निवारयन्ति । दिवाऽपि च कायिकाभूमिम् 'एका' एकाकिनी न गच्छति ॥ ५९२५ ॥ व्याख्यातमिन्द्रियसूत्रम् । सम्प्रति श्रोतःसूत्रं व्याचष्टे—

**एवं तु इंदिएहिं, सोते लहुगा य परिणए गुरुगा ।**
**बितियपद कारणम्मि, इंदिय सोए य आगाढे ॥ ५९२६ ॥**

एवं तावद् इन्द्रियसूत्रे प्रायश्चित्तं विधिश्चोक्तः । यत्र तु पशुजातीयादयः श्रोतोऽवगाहनं कुर्वन्ति तत्र तिष्ठन्तीनां चतुर्लघु । तेषु श्रोतोऽवगाहनं कुर्वाणेषु यदि सा सुन्दरमिदमिति परिणता ततश्चतुर्गुरु । द्वितीयपदे आगाढे कारणे इन्द्रिये श्रोतसि च परामर्शं स्वादयेदपि । इदमुत्तरत्र भावयिष्यते ॥ ५९२६ ॥ कारणे एकाकिन्यास्तिष्ठन्त्यास्तावदियं यतना—

**गिहिणिस्सा एगागी, ताहिँ समं णिंति रत्तिमुभयस्सा ।**

१ °या कर्त्तव्या, ईदृशेऽनायतने स्थिताया भुक्तभोगिन्याः स्मृतिकरणम् अभुक्तभोगिन्याश्च कौतुकमुत्पद्येतेत्यादि विस्तरेण वक्तव्यमित्यर्थः । तथा कां० ॥ २ तादृशे उपाश्रये स्थिता सती 'वृन्दे' कां० ॥

**दंडगसारक्खणया, वारिंति दिवा य पेल्लंते ॥ ५९२७ ॥**

गृहस्थनिश्रया कारणे काचिदेकाकिनी वसन्ती 'ताभिः' अविरतिकाभिः समं रात्रौ 'उभयस्य' प्रश्रवणोच्चारस्य व्युत्सर्जनार्थं निर्गच्छति, निर्यन्ती च वानरादीनभिद्रवतो दण्डकेन संरक्षति, दिवा च प्रतिश्रयं 'प्रेरयतः' प्रविशतो निवारयति ॥ ५९२७ ॥ अथागाढकारणं व्याचष्टे—

**अड्डाण सद्द आलिंगणादिपाकम्मऽतिच्छिता संती ।**
**अचित्त बिंब अणिहुत, कुलघर सड्डादिगे चेव ॥ ५९२८ ॥**

कस्याश्चिदार्यिकायाः सनिमित्तोऽनिमित्तो वा मोहोद्भवः सञ्जातस्ततो निर्विकृतिकादिकायां मोहचिकित्सायां कृतायामपि यदा न तिष्ठति तदाऽस्थाने शब्दप्रतिबद्धायां वसतौ सा स्थापनीया । ततो यत्राविरतिकानामालिङ्गनादिकं क्रियमाणं दृश्यते तत्र स्थाप्यते । तथाऽप्यनुपरते मोहे पादकर्म करोति । तदप्यतिकान्ता सती यद् 'अचित्तं बिम्बं' कुण्डशिखादिकं तेन प्रतिसेवयति । तथाऽप्यतिष्ठति योऽनिभृतस्तेनास्थानादिकं सर्वमपि कृत्वा ततः कुलगृहे भगिन्या भ्रातृजायाया वा आलिङ्गनादिकं क्रियमाणं प्रेक्षते । तदभावे श्राद्धिकायाः, तदभावे यथाभद्रिकाया अपि प्रेक्षते । प्रथममिन्द्रिये, पश्चात् श्रोतस्यपि यतनयेति ॥ ५९२८ ॥

सूत्रम्—

**नो कप्पइ निग्गंथीए एगाणियाए गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा, बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा, एवं गामाणुगामं वा दूइज्जित्तए वा वासावासं वा वत्थए १५ ॥**

एवं यावदेकपार्श्वशायिसूत्रं तावत् सर्वाण्यपि सूत्राण्युच्चारयितव्यानि ॥ अथामीषां सूत्राणां सम्बन्धमाह—

**बंभवयरक्खणट्ठा, एगधिगारा तु होंतिमे सुत्ता ।**
**जा एगपाससायी, विसेसतो संजतीवग्गे ॥ ५९२९ ॥**

ब्रह्मव्रतरक्षणार्थमनन्तरं सूत्रद्वयमुक्तम्, अमून्यपि सूत्राणि यावदेकपार्श्वशायिसूत्रं तावत् सर्वाण्यपि 'एकाधिकाराणि' तस्यैव ब्रह्मव्रतस्य रक्षणार्थमभिधीयन्ते । "विसेसओ संजई-वग्गे" त्ति एतेषु सूत्रेषु किञ्चिद् निर्ग्रन्थानामपि सम्भवति, यथा—**एकाकिसूत्रम्**; परं विशेषतः **संयतीवर्गमधिकृत्यामूनि** सर्वाण्यपि द्रष्टव्यानि ॥ ५९२९ ॥

---

१ °**गेहे य** कां० ॥ २ "जाधे ण ठाति ताहे ढोंढसिवेण" इति **चूर्णौ** । "जाहे ण ठाइ ताहे फुंफसिवेण" इति **विशेषचूर्णौ** ॥ ३ °**याः आदिशब्दात् तद**° कां० ॥ ४ °**कुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्ख**° कां० । एतत्पाठानुसारेणैव कां० टीका, दृश्यतां पत्रं १५६४ टिप्पणी १ ॥ ५ °**पार्थाधिकारवन्ति भवन्ति । किञ्च—"विसे**° कां० ॥ ६ **एकपार्श्वशायिसूत्र**° कां० ॥

अनेन सम्बन्धेनायातानाममीषां प्रथमसूत्रस्य तावद् व्याख्या—नो कल्पते निर्ग्रन्थ्या एकाकिन्या गृहपतिकुलं[1] पिण्डपातप्रतिज्ञया निष्क्रमितुं वा प्रवेष्टुं वा, बहिर्विचारभूमौ वा विहारभूमौ वा निष्क्रमितुं वा प्रवेष्टुं वा, ग्रामानुग्रामं वा 'द्रोतुं' विहर्तुं वर्षावासं वा वस्तुमिति सूत्रार्थः ॥ सम्प्रति निर्युक्तिविस्तरः—

एगागी वच्चंती, अप्पा त महव्वता परिचत्ता ।
लहु गुरु लहुगा गुरुगा, भिक्ख वियारे वसहि गामे ॥ ५९३० ॥

एकाकिनी निर्ग्रन्थी यदि भिक्षादौ व्रजति तत आत्मा महाव्रतानि च तया परित्यक्तानि भवन्ति, स्तेनाद्युपद्रवसम्भवात् । अतो भिक्षायामेकाकिन्या गच्छन्त्या लघुमासः, बहिर्विचारभूमौ[2] गच्छन्त्यां गुरुमासः, ऋतुबद्धे वर्षावासे वा वसतिं एकाकिनी गृह्णाति चतुर्लघु, ग्रामानुग्राममेकाकिनी द्रवति चतुर्गुरु ॥ ५९३० ॥ इदमविशेषितं प्रायश्चित्तमुक्तम् । अथ विशेषितमाह—

मासादी जा गुरुगा, थेरी-खुड्डी-विमज्झ-तरुणीणं ।
तव-कालविसिट्ठा वा, चउसुं पि चउण्ह मासाई ॥ ५९३१ ॥

स्थविराया[3] एकाकिन्या भिक्षादौ व्रजन्त्या मासलघु, क्षुल्लिकाया मासगुरु, विमध्यमायाश्चतुर्लघु, तरुण्याश्चतुर्गुरु । अथवा[4] स्थविरा यदि एकाकिनी भिक्षायां याति ततो मासलघु तपसा कालेन च लघुकम्, बहिर्विचारभूमौ विहारभूमौ वा याति मासलघु कालेन गुरुकम्, वसतिं गृह्णाति मासलघु तपसा गुरुकम्, ग्रामानुग्रामं द्रवति मासलघु तपसा कालेन च गुरुकम् । क्षुल्लिकाया एवमेव चतुर्षु स्थानेषु चत्वारि मासगुरूणि तपः-कालविशेषितानि कर्तव्यानि । विमध्यमायाश्चतुर्षु स्थानेषु चत्वारि चतुर्लघूनि तपः-कालविशेषितानि । तरुण्याः स्थानचतुष्टयेऽपि तथैव तपः-कालविशेषितानि चत्वारि चतुर्गुरूणि ॥ ५९३१ ॥ अथ दोषानाह—

अच्छंती वेगागी, किं[5] ण्हु हु दोसे ण इत्थिगा पावे ।
आमोसग-तरुणेहिं, किं पुण पंथम्मि संका य ॥ ५९३२ ॥

किमेकाकिनी[6] स्त्री प्रतिश्रये तिष्ठन्ती दोषान् न प्राप्नोति येनैवं भिक्षाटनादिकमेवैकाकिन्याः प्रतिषिध्यते ? इति शिष्येण पृष्टे सूरिराह—तत्रापि तिष्ठन्ती प्राप्नोत्येव दोषान् परम् आमोषकाः—स्तेनास्तरुणाः—युवानस्तैः कृता एकाकिन्याः पथि गच्छन्त्या भूयांसो दोषाः, शङ्का च तत्र भवति—अवश्यमेषा दुःशीला येनैकाकिनी गच्छति ॥ ५९३२ ॥ किञ्च—

एगाणियाएँ दोसा, साणे तरुणे तहेव पडिणीए ।
भिक्खऽविसोहि महव्वत, तम्हा सबितिज्जियागमणं ॥ ५९३३ ॥

---

१ °कुलं भक्ताय वा पानाय वा निष्क° कां० ॥ २ °भूमौ उपलक्षणत्वाद् विहारभूमौ च गच्छ° कां० ॥ ३ स्थविरा-क्षुल्लिका-विमध्यमा-तरुणीनां यथाक्रमं मासलघुकमादौ कृत्वा चतुर्गुरुकं यावत् प्रायश्चित्तम् । तद्यथा—स्थविराया कां० ॥ ४ अथवा 'चतसृणामपि' स्थविराप्रभृतीनां 'चतुर्ष्वपि' भिक्षागमनादिषु यथाक्रमं तपः-कालविशिष्टानि मासलघुप्रभृतीनि प्रायश्चित्तम् । तद्यथा—स्थविरा यदि कां० ॥ ५ किं नु हु कां० । एतत्पाठानुसारेणैव कां० टीका, दृश्यतां टिप्पणी ६ ॥ ६ 'नुः' इति वितर्के, 'हुः' इति निश्चये । किमे° कां० ॥

एकाकिन्या भिक्षामटन्त्या एते दोषा भवन्ति—श्वानः समागत्य दशेत्, तरुणो वा कश्चिदुपसर्गयेत्, प्रत्यनीको वा हन्यात्, गृहत्रयादानीतायां भिक्षायामनुपयुज्य गृह्यमाणायामेषणाविशुद्धिर्न भवति, कोष्टक-विण्टलप्रयोगादिना च महाव्रतानि विराध्यन्ते । यत एते दोषाः अतः सद्वितीयया निर्ग्रन्थ्या भिक्षादौ गमनं कर्तव्यम् ॥ ५९३३ ॥ द्वितीयपदमाह—

**असिवादि मीससत्थे, इत्थी पुरिसे य पूतिते लिंगे ।**
**एसा उ पंथ जयणा, भाविय वसही य भिक्खा य ॥ ५९३४ ॥**

अशिवादिभिः कारणैः कदाचिदेकाकिन्यपि भवेत् तत्रेयं यतना—ग्रामान्तरं गच्छन्ती[1] स्त्रीसार्थेन सह व्रजति, तदभावे पुरुषमिश्रेण स्त्रीसार्थेन, तदप्राप्तौ सम्बन्धिपुरुषसार्थेन व्रजति, अथवा यत् तत्र परिव्राजकादिलिङ्गं पूजितं तद् विधाय गच्छति । एषा पथि गच्छतां यतना भणिता । ग्रामे च प्राप्ता यानि साधुभावितानि कुलानि तेषु वसतिं गृह्णाति, भिक्षामपि तेष्वेव कुलेषु पर्यटति ॥ ५९३४ ॥

सूत्रम्—

**नो कप्पइ निग्गंथीए अचेलियाए हुंतए १६ ॥**

नो कल्पते निर्ग्रन्थ्याः 'अचेलिकायाः' वस्त्ररहिताया भवितुम् । एष सूत्रार्थः ॥ अथ भाष्यम्—

**वुत्तो अचेलधम्मो, इति काइ अचेलगत्तणं ववसे ।**
**जिणकप्पो वऽज्जाणं, निवारिओ होइ एवं तु ॥ ५९३५ ॥**

अचेलको धर्मो भगवता प्रोक्त इति परिभाव्य काचिदार्यिका अचेलकत्वं 'व्यवस्येत्' कर्तुमभिलषेत्, अतस्तन्निषेधार्थमिदं सूत्रं कृतम् । अचेलकत्वप्रतिषेधेन आर्याणां जिनकल्पोऽपि 'एवम्' अनेनैव सूत्रेण निवारितो मन्तव्यः ॥ ५९३५ ॥ कुतः ? इत्याह—

**अजियम्मि साहसम्मी, इत्थी ण चए अचेलिया होउं ।**
**साहसमन्नं पि करे, तेणेव अइप्पसंगेण ॥ ५९३६ ॥**
**कुलडा वि ताव णेच्छति, अचेलयं किमु सई कुले जाया ।**
**धिक्कारधुक्कियाणं, तित्थुच्छेओ दुलभ वित्ती ॥ ५९३७ ॥**

'साध्वसे' भये तरुणादिकृतोपसर्गसमुत्थेऽजिते सति अचेलिका भवितुं 'स्त्री' निर्ग्रन्थी न शक्नुयात् । अथ भवति ततः 'तेनैव अतिप्रसङ्गेन' अचेलतालक्षणेन 'अन्यदपि' चतुर्थसेवादिकं साहसं कुर्यात् ॥ ५९३६ ॥ तथा—

कुलटाऽपि तावद् नेच्छत्यचेलताम् किं पुनः कुले जाता 'सती' साध्वी ? । अचेलतामतिपन्नानां चार्यिकाणां 'धिक्कारथुक्कितानां'[2] लोकापवादजुगुप्सितानां तीर्थोच्छेदो दुर्लभा च वृत्तिर्भवति, न कोऽपि प्रव्रजति न वा भक्त-पानादिकं ददातीत्यर्थः ॥ ५९३७ ॥

**गुरुगा अचेलिगाणं, समलं च दुगंछियं गरहियं च ।**

---

१ °न्ती सा कारणतः एकाकिनी प्रथमतः स्त्रीसार्थे° कां० ॥ २ °रधुक्कि° कां० । °रमुक्कि° भा० तादी० ताभा० ॥ ३ °रधुक्कि° कां० । °रमुक्कि° भा० तादी० ॥

**होइ परपत्थणिज्जा, बिइयं अद्धाणमाईसु ॥ ५९३८ ॥**

अत एव यद्यार्यिका अचेलिका भवन्ति ततस्तासां चतुर्गुरुकाः आज्ञादयश्च दोषाः । तथा चेलरहितां संयतीं 'समलां' मलदिग्धदेहां दृष्ट्वा लोकः 'जुगुप्सितं' जुगुप्सां कुर्यात्—आः ! कष्टम्, इहलोके एवेदृश्यवस्था परलोके तु पापतरा भविष्यति, 'गर्हितं च' गर्हां प्रवचनस्य कुर्यात्—असारं सर्वमेतद् दर्शनमिति । अचेलिका च परस्य प्रार्थनीया भवति । अत्र द्वितीयपदमध्वादिषु विविक्तानां मन्तव्यम् ॥ ५९३८ ॥ अपि च—

**पुणरावत्ति निवारण, उदिण्णमोहो व दट्ठु पेल्लेज्जा ।**
**पडिबंधो गमणाई, डिंडियदोसा य निगिणाए ॥ ५९३९ ॥**

अचेलामार्यां दृष्ट्वा प्रव्रज्याभिमुखानामपि कुलस्त्रीणां पुनरावृत्तिर्भवति, प्रव्रज्यां न गृह्णीयुरित्यर्थः । अन्यो वा कश्चिद् निवारणं कुर्यात्—किमेतासां कापालिनीनां समीपे प्रव्रजितेन ? इति । यद्वा कश्चिदुदीर्णमोहस्तामप्रावृतां दृष्ट्वा कर्मगुरुकतया प्रेरयेत् । साऽपि तत्रैव प्रतिबन्धं कुर्यात् प्रतिगमनादीनि वा विदध्यात् । 'डिण्डिमदोषाश्च' गर्भोत्पत्तिप्रभृतयो भवेयुः । यत एते नग्नाया दोषा अतोऽचेलया न भवितव्यम् । द्वितीयपदे संयत्योऽध्वनि स्तेनैर्विविक्तास्ततो न किमपि वस्त्रं भवेत्, आदिशब्दात् क्षिप्तचित्ता यक्षाविष्टा वा वस्त्राणि परित्यजेत्, एवमचेलाऽपि भवतीति ॥ ५९३९ ॥

सूत्रम्—

## नो कप्पइ निग्गंथीए अपाइयाए हुंतए १७ ॥

नो कल्पते निर्ग्रन्थ्याः 'अपात्रायाः' पात्ररहिताया भवितुमिति सूत्रार्थः ॥ अथ भाष्यम्—

**गोणे साणे व्व वने, ओभावण खिंसणा कुलघरे य ।**
**णीसट्ठ खइयलज्जा, सुण्हाए होंति दिट्ठंतो ॥ ५९४० ॥**

पात्रकमन्तरेण यत्र तत्र समुद्देष्टनीयम् ततो लोको ब्रूयात्—यथा गौर्यत्रैव चारिं प्राप्नोति तत्रैवालज्जश्चरति, यथा वा श्वानो यत्रैव स्वल्पमप्याहारं लभते तत्रैव निस्त्रपो भुङ्क्ते, एवमेता अपि गो-श्वानसदृश्यो यत्रैव प्राप्नुवन्ति तत्रैव लोकस्य पुरतः समुद्दिशन्ति, अहो ! अमूभिर्गोव्रतं श्वानव्रतं वा प्रतिपन्नम्; एवमपभ्राजना भवति । "खिंसणा कुलघरे य" त्ति तास्तथाभुञ्जाना दृष्ट्वा तदीयकुलगृहे गत्वा लोकः खिंसां कुर्यात्, यथा—युष्मदीया दुहितरः स्नुषा वा याः पूर्वं चन्द्र-सूर्यकिरणैरप्यस्पृष्टगात्रास्ताः साम्प्रतं सर्वलोकपुरतो गा इव चरन्त्यो हिण्डन्ते । एवमुक्ते ते भूयस्ताः स्वगृहमानयन्ति । "नीसट्ठं" अत्यर्थं च 'खादितं' भक्षणं लोकस्य पुरतः कुर्वाणास्तु लोको ब्रूयात्—अहो ! बहुभक्षका अमूः, स्त्रीणां च लज्जा विभूषणं सा चैतासां नास्तीति । अत्र च लज्जायां स्नुषादृष्टान्तो भवति । स च द्विधा—प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च ॥ ५९४० ॥

प्रशस्तं तावदाह—

**उच्चासणम्मि सुण्हा, ण णिसीयइ ण वि य भासए उच्चं ।**
**णेव पगासे भुंजइ, गूहइ वि य णाम अप्पाणं ॥ ५९४१ ॥**

---

१ °मनं-भूयो गृहवासाश्रयणं तद् आदिशब्दात् पार्श्वस्थादिगमनं वा विद° कां० ॥

यथा 'स्नुषा' वधूरुच्चे आसने न निषीदति, नापि 'उच्चं' महता शब्देन भाषते, न च प्रकाशे भूभागे भुङ्क्ते, आत्मीयं च नाम 'गूहति' न प्रकटयति, एवं संयतीभिरपि भवितव्यम् ॥५९४१॥

**अप्रशस्तस्नुषादृष्टान्तः** पुनरयम्—

**अहवा महापदाणि, सुण्हा ससुरो य इक्कमेक्कस्स ।**
**दलमाणाणि विणासं, लज्जाणासेण पावंती ॥ ५९४२ ॥**

'अथवा' प्रकारान्तरेण **स्नुषादृष्टान्तः** क्रियते—'महापदानि' विकृष्टतराणि पदानि स्नुषा श्वसुरश्चैकैकस्य परस्परं प्रयच्छन्तौ यथा लज्जानाशेन विनाशं प्राप्नुतः तथा संयत्यपि निर्लज्जा विनश्यति इत्यक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्—

एगस्स धिज्जाइयस्स भज्जाए मयाए पुत्तेण से अट्ठियाणि 'माय' त्ति काउं **गंगं** नीयाणि । इयरेहिं सुण्हा-ससुरेहिं हास खिड्डाइयं करेंतेहिं निलज्जत्तणओ निस्सेणिं आरुहित्ता अभिप्पाय-पुव्वगं विगिट्ठतराइं पयाइं देंतेहिं एक्कमेक्कस्स सागारियं पडुप्पाइयं । दो वि विणट्ठाइं । **एवं** निलज्जाए विणासो हुज्जा ॥ ५९४२ ॥ द्वितीयपदमाह—

**पायासइ तेणहिए, झामिय वूढे व सावयभए वा ।**
**बोहिभए खित्ताइ व, अपाइया हुज्ज बिइयपदे ॥ ५९४३ ॥**

पात्रस्याभावे, स्तेनकेन वा हृतेऽग्निना वा ध्यामिते दकपूरेण वा व्यूढे पात्रे, श्वापदभये बोधिकभये वा शीघ्रं पात्राणि परित्यज्य नष्टा सती, क्षिप्तचित्ता वा आदिशब्दाद् यक्षाविष्टा वा 'अपात्रिका' पात्ररहिता द्वितीयपदे भवेत् ॥ ५९४३ ॥

सूत्रम्—

**नो कप्पइ निग्गंथीए वोसट्ठकाइयाए हुंतए १८ ॥**

नो कल्पते निर्ग्रन्थ्याः 'व्युत्सृष्टकायिकायाः' परित्यक्तदेहाया भवितुमिति सूत्रार्थः ॥

अत्र भाष्यम्—

**वोसट्ठकाय पेल्लण-तरुणाई गहण दोस ते चेव ।**
**दव्वावइ अगणिम्मि य, सावयभय बोहिए बितियं ॥ ५९४४ ॥**

व्युत्सृष्टकायिका नाम—'दिव्याद्युपसर्गा मया सोढव्याः' इत्यभिग्रहं गृहीत्वा शरीरं व्युत्सृज्य समयप्रसिद्धेनाभिनवकायोत्सर्गेण स्थिता, तथास्थितायाश्चोदीर्णमोहप्रेरण-तरुणग्रहणादयस्त एव दोषा मन्तव्याः । द्वितीयपदे तु द्रव्यापदि अग्निसम्भ्रमे श्वापदभये बोधिकभये वा गाढतरे उपस्थिते व्युत्सृष्टकायाऽपि भवेत् ॥ ५९४४ ॥

सूत्रम्—

**नो कप्पइ निग्गंथीए बहिया गामस्स वा जाव सन्निवेसस्स वा उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय पगिज्झिय**

---

१ °यपदमत्र भवति, किं पुनस्तत् ? इत्याह—द्रव्यापदि समुत्पन्नायाम् अग्नि° कां० ॥

**सूराभिमुहीए एगपाइयाए ठिच्चा आयावणाए आयावित्तए।**

**कप्पइ से उवस्सयस्स अंतोवगडाए संघाडिपडिबद्धाए पलंबियबाहियाए समतलपाइयाए ठिच्चा आयावणाए आयावित्तए १९ ॥**

नो कल्पते निर्ग्रन्थ्या बहिर्ग्रामस्य वा यावत् सन्निवेशस्य वा 'ऊर्द्धम्' ऊर्द्धाभिमुखौ बाहू 'प्रगृह्य प्रगृह्य' प्रकर्षेण गृहीत्वा कृत्वेत्यर्थः सूर्याभिमुख्याः 'एकपादिकायाः' एकं पादमूर्द्धमाकुञ्चयापरमेकं पादं भुवि कृतवत्या एवंविधायाः स्थित्वा आतापनयाऽऽतापयितुम्। किन्तु—कल्पते "से" तस्या उपाश्रयस्यान्तर्वगडायां प्रलम्बितबाहायाः समतलपादिकायाः स्थित्वा आतापनया आतापयितुमिति सूत्रार्थः ॥ अथ भाष्यम्—

आयावणा य तिविहा, उक्कोसा मज्झिमा जहण्णा य।
उक्कोसा उ णिवण्णा, णिसण्ण मज्झा ठिय जहण्णा ॥ ५९४५ ॥

आतापना त्रिविधा—उत्कृष्टा मध्यमा जघन्या च। तत्रोत्कृष्टा निपन्ना, निपन्नः—शयितो यां करोतीत्यर्थः[3]। मध्यमा निषण्णस्य। जघन्या "ठिय" त्ति ऊर्द्धस्थितस्य ॥ ५९४५ ॥

पुनरेकैका त्रिविधा—

तिविहा होइ निवण्णा, ओमंत्थिय पास तइयमुत्ताणा।
उक्कोसुक्कोसा उक्कोसमज्झिमा उक्कोसगजहण्णा ॥ ५९४६ ॥

या निपन्नस्योत्कृष्टातापना सा त्रिविधा भवति—उत्कृष्टोत्कृष्टा उत्कृष्टमध्यमा उत्कृष्टजघन्या च। तत्र यद् अवाङ्मुखं निपत्य आतापना क्रियते सा उत्कृष्टोत्कृष्टा। या तु पार्श्वतः शयानैः क्रियते सा उत्कृष्टमध्यमा। या पुनरुत्तानशयनेन विधीयते सा 'तृतीया' उत्कृष्टजघन्या ॥५९४६॥

मज्झुक्कोसा दुहओ, वि मज्झिमा मज्झिमाजहण्णा य।
अहमुक्कोसाऽहममज्झिमा य अहमाहमा चरिमा ॥ ५९४७ ॥

१ वा, यावत्करणात् खेटस्य वा कर्बटस्य वा मडम्बस्य वा इत्यादिपरिग्रहः, 'ऊर्द्धम्' कां० ॥ २ उपाश्रयस्य 'अन्तर्वगडायां' वगडा नाम-पाटकस्तस्याभ्यन्तरे 'सङ्घाटीप्रतिबद्धायाः' सङ्घाटीग्रहणेनावग्रहानन्तकादीनामपि साध्वीयोग्यानां समुचितोपकरणानां परिग्रहः, तैः प्रतिबद्धा सुप्रावृता या सा सङ्घाटीप्रतिबद्धा तस्याः, तथा प्रलम्बिते—लम्बमाने बाहे—बाहू यस्याः सा प्रलम्बितबाहा तस्याः, तथा समतलौ च तौ पादौ च समतलपादौ अस्या स्त इति समतलपादिका तस्याः समतलपादिकायाः, एवंविधाया आर्यिकायाः "ठिच्च" त्ति 'स्थित्वा' ऊर्द्धस्थानेनावस्थायाऽऽतापनया आतापयितुमिति सूत्रार्थः कां० ॥ ३ °त्यर्थः। "णिसन्न मज्झ" त्ति मध्यमा निषण्णः, उपविष्टः सन् यां करोतीत्यर्थः। "ठिय जहन्न" त्ति स्थितस्य-ऊर्द्धस्थितस्य या आतापना सा जघन्या ॥ ५९४५ ॥ पुन° कां० ॥ ४ ओमंथिय कां० ॥

निषण्णस्य या मध्यमातापना सा त्रिधा—मध्यमोत्कृष्टा "दुहओ वि मज्झिम" त्ति मध्यममध्यमा मध्यमजघन्या च । ऊर्द्धस्थितस्य या जघन्या साऽपि त्रिधा—अधमोत्कृष्टा अधममध्यमा अधमाधमा च चरिमेति । अधमशब्दो जघन्यवाचकोऽत्र द्रष्टव्यः ॥ ५९४७ ॥

[1]एतासामिदं स्वरूपम्—

**पलियंक अद्ध उक्कुडुग, मो य तिविहा उ मज्झिमा होइ ।**
**तइया उ हत्थिसुंडेगपाद समपादिगा चेव ॥ ५९४८ ॥**

मध्यमोत्कृष्टा पर्यङ्कासनसंस्थिता, मध्यममध्यमा अर्द्धपर्यङ्का, मध्यमजघन्या उत्कटिका । [2]क्वचिदादर्शे पूर्वार्द्धमित्थं दृश्यते—"गोदोहुकड पलियंक मो उ तिविहा उ मज्झिमा होइ" त्ति, तत्र मध्यमोत्कृष्टा गोदोहिका, मध्यममध्यमा उत्कटिका, मध्यमजघन्या पर्यङ्कासनरूपा । मोशब्दः[3] पादपूरणे । एषा त्रिविधा मध्यमा भवति । या तु 'तृतीया' स्थितस्य जघन्योत्कृष्टादिभेदात् त्रिधा भणिता सा जघन्योत्कृष्टा 'हस्तिशुण्डिका' पुताभ्यामुपविष्टस्यैकपादोत्पाटनरूपा, जघन्यमध्यमा 'एकपादिका' उत्थितस्यैकपादेनावस्थानम् , जघन्यजघन्या 'समपादिका' समतलाभ्यां पादाभ्यां स्थित्वा यद् ऊर्द्धस्थितैराताप्यते ॥ ५९४८ ॥

कथं पुनः शयितस्योत्कृष्टातापना भवति ? इति उच्यते—

**सव्वंगिओ पतावो, पताविया घम्मरस्सिणा भूमी ।**
**ण य कमइ तत्थ वाओ, विस्सामो णेव गत्ताणं ॥ ५९४९ ॥**

भूमौ निपन्नस्य सर्वाङ्गीणः 'प्रतापः' प्रकर्षेण तापो लगति, घर्मरश्मिना च भूमिः प्रकर्षेण—अत्यन्तं तापिता, न च 'तत्र' भूमौ वायुः 'क्रमते' प्रचरति, न च 'गात्राणाम्' अङ्गानां विश्रामो भवति, अतो निपन्नस्योत्कृष्टातापना मन्तव्या ॥ ५९४९ ॥

अथामूषां मध्यादार्यिकाणां काऽऽतापना कर्तुं कल्पते ? इत्यत आह—

**एयासि णवण्हं पी, अणुणाया संजईण अंतिल्ला ।**
**सेसा नाणुन्नाया, अट्ठ तु आतावणा तासिं ॥ ५९५० ॥**

एतासां नवानामप्यातापनानां मध्याद् 'अन्तिमा' समपादिकारूया आतापना संयतीनामनुज्ञाता । 'शेषाः' अष्टावातापनास्तासां नानुज्ञाताः ॥ ५९५० ॥

कीदृशे पुनः स्थाने ता आतापयन्ति ? इति उच्यते—

**पालीहिँ जत्थ दीसइ, जत्थ य सइरं[4] विसंति न जुवाणा ।**
**उग्गहमादिसु सज्जा, आयावयते तहिं अज्जा ॥ ५९५१ ॥**

यत्र प्रतिश्रयपालिकाभिः संयतीभिरातापयन्ती दृश्यते, यत्र च 'स्वैरं' स्वच्छन्दं युवानो न प्रविशन्ति तत्र स्थानेऽवग्रहा-ऽनन्तकादिभिः सङ्घाटिकान्तैरुपकरणैः 'सज्जा' आयुक्ता आर्यिका प्रलम्बितबाहुयुगला आतापयति ॥ ५९५१ ॥

---

१ एतासां यथाक्रममिदं कां० ॥ २ चूर्णिकृता विशेषचूर्णिकृता चैष एव पाठ आदृतोऽस्ति । तथाहि—"मज्झिमुक्कोसा मज्झिममज्झिमा मज्झिमजहन्ना गोदोहिया उक्कुडुगा पलियंका यथासङ्ख्यम्" इति ॥ ३ °ब्द उभयोरपि पाठयोः पाद° कां० ॥ ४ सइरं वयंति ण जुवाणा ताभा० ॥

किमर्थमवग्रहानन्तकादिसञ्ज्ञा ? इति चेद् अत आह—

मुच्छाएँ निवडिताए, वातेण समुद्धुते व संवरणे ।
गोतरमजयणदोसा, जे वुत्ता ते उ पाविज्जा ॥ ५९५२ ॥

तस्या आतापयन्त्याः खरतरातपसम्पर्कपरितापितायाः कदाचिद् मूर्च्छा सञ्जायेत तया च निपतितायाः, वातेन वा 'संवरणे' प्रावरणे समुद्धूते, अवग्रहानन्तकादिभिर्विना गोचरचर्यामयतनया प्रविष्टाया ये दोषास्तृतीयोद्देशके उक्तास्तान् प्राप्नुयात्, अतस्तैः प्रावृता आतापयेत् ॥ ५९५२ ॥

सूत्रम्—

**नो कप्पइ निग्गंथीए ठाणाययाए हुंतए २० ॥**
**नो कप्पइ निग्गंथीए पडिमट्ठाइयाए हुंतए २१ ॥**
**एवं नेसज्जियाए २२ उक्कुडुगासणियाए २३ वीरासणियाए २४ दंडासणियाए २५ लगंडसाइयाए २६ ओमंथियाए २७ उत्ताणियाए २८ अंबखुज्जियाए २९ एगपासियाए ३० ॥**

[3]नोकल्पते निर्ग्रन्थ्याः स्थानायताया भवितुम्। एवं प्रतिमास्थायिन्या नैषधिकाया उत्कटिकासनिकाया वीरासनिकाया दण्डासनिकाया लगण्डशायिन्या अवाङ्मुखाया उत्तानिकाया आम्रकुब्जिकाया एकपार्श्वशायिन्या इति सूत्राक्षरसंस्कारः ॥

अत्र भाष्यकारो विषमपदानि व्याख्यानयति—

उद्धट्ठाणं ठाणायतं तु पडिमाउ होंति मासाई ।
पंचेव णिसिज्जाओ, तासि विभासा उ कायव्वा ॥ ५९५३ ॥
वीरासणं तु सीहासणे व जह मुक्कजण्णुक णिविट्ठो ।
दंडे लगंड उवमा, आयत खुज्जाय दुण्हं पि ॥ ५९५४ ॥

स्थानायतं नाम ऊर्द्ध्वस्थानरूपमायतं स्थानं तद् यस्यामस्ति सा स्थानायतिका । केचित्तु "ठाणाइयाए" इति पठन्ति, तत्रायमर्थः—सर्वेषां निषदनादीनां स्थानानां आदिभूतमूर्द्ध्वस्थानम्, अतः स्थानानामादौ गच्छतीति व्युत्पत्त्या स्थानादिगं तद् उच्यते, तद्योगाद् आर्यिकाऽपि स्थानादिगेति व्यपदिश्यते । प्रतिमाः मासिक्यादिकाः तासु तिष्ठतीति प्रतिमास्थायिनी ।

---

१ मुच्छाए विवडियाले, वातेण समुड्डिते व ताभा० ॥ २ "सुत्तं—"णो कप्पइ णिग्गंथीए ठाणायतियाए होयए । एवं सव्वे सुत्ता उच्चारेयव्वा जाव उत्ताणगाइयाए ॥" इति चूर्णौ विशेषचूर्णौ च ॥ ३ एवमेतान्येकादश सूत्राणि । सम्बन्धः प्रागुक्त एव । अथामीषां व्याख्या— नो कल्पते कां० ॥ ४ "नानां यद् आदिभूतं स्थानम्, ऊर्द्ध्वस्थानमित्यर्थः, "उड्ढ निसीय तुयट्टण, ठाणं तिविहं तु होइ नायव्वं ।" ( ओघनि० भा० गा० १५२ ) इति वचनात्, अतः स्थानाना° कां० ॥

"नेसज्जियाय" त्ति निषद्याः पञ्चैव भवन्ति तासां विभाषा कर्तव्या । सा चेयम्—निषद्या नाम—उपवेशनविशेषाः, ताः पञ्चविधाः, तद्यथा—समपादयुता गोनिषद्यिका हस्तिशुण्डिका पर्यङ्काऽर्धपर्यङ्का चेति । तत्र यस्यां समौ पादौ पुतौ च स्पृशतः सा समपादयुता, यस्यां तु गौरिवोपवेशनं सा गोनिषद्यिका, यत्र पुताभ्यामुपविश्यैकं पादमुत्पाटयति सा हस्तिशुण्डिका, पर्यङ्का प्रतीता, अर्धपर्यङ्का यस्यामेकं जानुमुत्पाटयति । एवंविधया निषद्यया चरतीति नैषद्यिकी । उत्कटिकासनं तु सुगमत्वाद् भाष्यकृता न व्याख्यातम् ॥ ५९५३ ॥[1]

वीरासनं नाम यथा सिंहासने उपविष्टो भून्यस्तपाद आस्ते तथा तस्यापनयने कृतेऽपि सिंहासन इव निविष्टो मुक्तजानुक इव निरालम्बनेऽपि यद् आस्ते । दुष्करं चैतद्, अत एव वीरस्य—साहसिकस्यासनं वीरासनमित्युच्यते, तद् अस्या अस्तीति वीरासनिका । तथा दण्डासनिका-लगण्डशायिकापदद्वये यथाक्रमं दण्डस्य लगण्डस्य चायत-कुब्जताभ्यामुपमा कर्तव्या । तद्यथा—दण्डस्येवायतं—पादप्रसारणेन दीर्घं यद् आसनं तद् दण्डासनम्, तद् अस्या अस्तीति दण्डासनिका । लगण्डं किल—दुःसंस्थितं काष्ठम्, तद्वत् कुब्जतया मस्तक-पार्ष्णिकानां भुवि लगनेन पृष्ठस्य चालगनेनेत्यर्थः, या तथाविधाभिग्रहविशेषेण शेते सा लगण्डशायिनी । अवाङ्मुखादीनि तु पदानि सुगमत्वाद् न व्याख्यातानीति द्रष्टव्यम् । एते सर्वेऽप्यभिग्रहविशेषाः संयतीनां प्रतिषिद्धाः ॥ ५९५४ ॥

एतान् प्रतिपद्यमानानां दोषानाह—

**जोणीखुब्भण पेल्लण, गुरुगा भुत्ताण होइ सइकरणं ।**
**गुरुगा सवेंटगम्मी, कारणे गहणं व धरणं वा ॥ ५९५५ ॥**

ऊर्द्ध्वस्थानादौ स्थानविशेषे स्थिताया आर्यिकाया योनेः क्षोभो भवेत्, तरुणा वा तथास्थितां दृष्ट्वा 'प्रेरयेयुः' प्रतिसेवेरन् । अत एवैतानभिग्रहान् प्रतिपद्यमानायास्तस्याश्चतुर्गुरु । भुक्तभोगिनीनां च येन कारणेन स्मृतिकरणमितरासां कौतुकं च जायेते । तथा वक्ष्यमाणसूत्रे प्रतिषेधयिष्यमाणं सवेण्टकं तुम्बकं यदि निर्ग्रन्थी गृह्णाति तदा चतुर्गुरु, स्मृतिकरणादयश्च त एव दोषाः । कारणे तु तस्यापि ग्रहणं धारणं चानुज्ञातम् । एतच्चाप्रस्तुतमपि लाघवार्थं स्मृतिकरणादिदोषसाम्यादत्र **भाष्यकृता**ऽभिहितमिति सम्भावयामः, अन्यथा वा सुधिया परिभाव्यम् ॥ ५९५५ ॥

**वीरासण गोदोही, मुत्तुं सव्वे वि ताण कप्पंति ।**
**ते पुण पडुच्च चेट्ठं, सुत्ता उ अभिग्गहं पप्पा ॥ ५९५६ ॥**

अनन्तरोक्तासनानां मध्याद् वीरासनं गोदोहिकासनं च मुक्त्वा शेषाण्यूर्द्ध्वस्थानादीनि सर्वाण्यपि तासां कल्पन्ते । आह—सूत्रे तान्यपि प्रतिषिद्धानि तत् कथमनुज्ञायन्ते ? इत्याह—'तानि पुनः' शेषाणि स्थानानि चेष्टां प्रतीत्य कल्पन्ते, न पुनरभिग्रहविशेषम्; सूत्राणि पुनरभिग्रहं 'प्राप्य' प्रतीत्य प्रवृत्तानि, तत इदमुक्तं भवति—अभिग्रहविशेषादूर्द्ध्व-

---

१ **वीरासनादीनि तु पदानि विवृणोति** इत्यवतरणं कां० ॥ २ °**यते अतो न ग्राह्या एतेऽभिग्रहा आर्यिकयेति । तथा वक्ष्य**° कां० ॥

स्थानादीनि संयतीनां न कल्पन्ते, सामान्यतः पुनरावश्यकादिवेलायां यानि क्रियन्ते तानि कल्पन्त एव ॥ ५९५६ ॥ परः प्राह—ननु चाभिग्रहादिरूपं तपः कर्मनिर्जरणार्थमुक्तम् ततः किमेवं संयतीनां तत् प्रतिषिध्यते ? उच्यते—

तवो सो उ अणुण्णाओ, जेण सेसं न लुप्पति ।
अकामियं पि पेल्लिज्जा, वारिओ तेणऽभिग्गहो ॥ ५९५७ ॥

तपस्तदेव भगवद्भिरनुज्ञातं येन 'शेषं' ब्रह्मचर्यादिकं गुणकदम्बकं न लुप्यते । कथं पुनः शेषं लुप्यते ? इत्याह—"अकामियं" इत्यादि, दण्डायतादिस्थानस्थितामार्यिकां दृष्ट्वा कश्चिदुदीर्णकर्मा ताम् 'अकामिकाम्' अनिच्छन्तीमपि 'प्रेरयेत्' प्रतिसेवेत । तेन कारणेन वारित एतादृशस्तासामभिग्रहः ॥ ५९५७ ॥ किञ्च—

जे य दंसादओ पाणा, जे य संसप्पगा भुवि ।
चिट्ठुस्सग्गट्ठिया ता वि, महंति जह संजया ॥ ५९५८ ॥

इह द्विधा कायोत्सर्गः—चेष्टायामभिभवे च । तत्राभिभवकायोत्सर्गस्तासां प्रतिषिद्ध इति कृत्वाऽभिधीयते—ये च दंश-मशकादयः प्राणिनो ये च भुवि 'संसर्पकाः' सञ्चरणशीला उन्दुर-कीटकादयस्तैः कृतानुपद्रवान् यथा संयताः सहन्ते तथा 'ता अपि' आर्यिकाश्चेष्टाकायोत्सर्गस्थिता आवश्यकादिवेलायां सम्यक् सहन्ते, तत एवं ता अपि कर्मनिर्जरां कुर्वन्ति ॥ ५९५८ ॥ आह—यदि उदीर्णकर्मणा तरुणादिना प्रेर्यमाणाऽपि सा संयती न स्वादयति ततः किमिति येनाभिग्रहविशेषेण बहुतरा कर्मनिर्जरा भवति स वार्यते ? उच्यते—

वसिज्जा बंभचेरंसी, भुज्जमाणी तु कादि तु ।
तहावि तं न पूयंति, थेरा अयसभीरुणो ॥ ५९५९ ॥

यद्यपि 'काचिद्' आर्यिका धृति-बलयुक्ता 'भुज्यमाना' प्रतिसेव्यमानाऽपि भावतो ब्रह्मचर्ये वसेत् तथापि 'स्थविराः' गौतमादयः सूरयः प्रवचनायशःप्रवादभीरवस्ता न पूजयन्ति, न प्रशंसन्तीत्यर्थः ॥ ५९५९ ॥ किञ्च—

तिव्वाभिग्गहसंजुत्ता, थाण-मोणा-ऽऽसणे रता ।
जहा मुज्झंति जयओ, एगा-ऽणेगविहारिणो ॥ ५९६० ॥
लज्जं बंभं च तित्थं च, रक्खंतीओ तवोरता ।
गच्छे चेव विसुज्झंती, तहा अणसणादिहिं ॥ ५९६१ ॥

तीव्रैः—द्रव्यादिविषयैरभिग्रहैः संयुक्ताः, स्थान-मौना-ऽऽसनविशेषेषु रताः, 'एका-ऽनेकविहारिणः' केचिद् एकाकिविहारिणो जिनकल्पिकादय इत्यर्थः, केचिच्चानेकविहारिणः स्थविरकल्पिका इत्यर्थः, एवंविधा यतयो यथा शुध्यन्ति तथा निर्ग्रन्थ्योऽपि लज्जां ब्रह्मचर्यं तीर्थं च सूत्रोक्तविधिना रक्षन्त्यः 'तपोरताः' स्वाध्यायादितपःकर्मपरायणा गच्छ एव वसन्त्योऽनश-

१ °ध्यते ? किं तासां कर्मनिर्जरया न कार्यम् ? उच्य° कां० ॥ २ च । उभयोरपि स्वरूपमिदम्—सो उस्सग्गो दुविहो, चेट्ठाए अभिभवे य नायव्वो । भिक्खायरियाइ पढमो, उवसग्गऽभिजुंजणे बीओ ॥ ( आव० निर्यु० गा० १४५२ ) तत्राभि° कां० ॥

नादिभिर्यथोचितैस्तपोभिः शुध्यन्ति, न तीव्रैरभिग्रहैः ॥ ५९६० ॥ ५९६१ ॥ अपि च—

**जो वि दड्ढिंधणो हुआ, इत्थिचिंधो तु केवली ।**
**वसते सो वि गच्छम्मी, किमु त्थीवेदसिंधणा ॥ ५९६२ ॥**

योऽपि 'दग्धेन्धनः' भस्मसात्कृतवेदमोहनीयकर्मा 'स्त्रीचिह्नः' बहिःस्त्रीलक्षणलक्षितः केवली भवति सोऽपि गच्छवासे वसति किं पुनर्या संयती स्त्रीवेदेन सेन्धना ?, सा सुतरां गच्छे वसेदिति भावः ॥ ५९६२ ॥

यदप्युक्तम्—'यदि न स्वादयति ततः को नाम तस्या अभिग्रहग्रहणे दोषः ?' तदप्ययुक्तम्, प्रतिसेव्यमानाया आस्वादनस्य यादृच्छिकत्वात् । कथम् ? इति चेद् उच्यते—

**अलायं घट्टियं ज्झाई, फुंफुगा हसहसायई ।**
**कोवितो वड्डती वाही, इत्थीवेदे वि सो गमो ॥ ५९६३ ॥**

'अलातम्' उल्मुकं 'घट्टितं' चालितं सद् यथा 'ध्यायति' प्रज्वलति, यथा वा फुम्फुका घट्टिता 'हसहसायति' भृशं दीप्यते, यथा वा व्याधिरपथ्यासेवनादिना कोपितो वर्धते, स्त्रीवेदस्यापि स एव गमो मन्तव्यः, सोऽपि घट्टितः प्रज्वलतीत्यर्थः । अतो यादृच्छिकमास्वादनमिति ॥५९६३॥ आह—संयतीनां प्रतिषिद्धा अमी अभिग्रहाः परं संयतानां का वार्ता ? अत्रोच्यते—

**कारणमकारणम्मि य, गीयत्थम्मि य तहा अगीयम्मि ।**
**एए सव्वे वि पए, संजयपक्खे विभासिज्जा ॥ ५९६४ ॥**

यानि एतानि व्युत्सृष्टकायिकत्वादीनि पदान्युक्तानि तानि 'कारणे' सिंहादिभिरभिभूतस्य देवताकम्पननिमित्तं वा गीतार्थस्यागीतार्थस्य वा कल्पन्ते । अकारणे पुनरगीतार्थस्य न कल्पन्ते, गीतार्थस्य तु निष्कारणेऽपि निर्जरानिमित्तं कल्पन्ते । अचेलत्वादिकमपि गीतार्थस्य जिनकल्पं प्रतिपद्यमानस्य कल्पते । एवं संयतपक्षे 'एतानि' अचेलतादीनि सर्वाण्यपि पदानि विभाषयेत् ॥ ५९६४ ॥

सूत्रम्—

## नो कप्पइ निग्गंथीणं आकुंचणपट्टगं धारित्तए वा परिहरित्तए वा । कप्पइ निग्गंथाणं आकुंचणपट्टगं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ३१ ॥

एवं यावद् दारुदण्डकसूत्रम् ॥ अथामीषां सूत्राणां सम्बन्धमाह—

**बंभवयपालणट्ठा, तहेव पट्टाइया उ समणीणं ।**
**बिइयपदेण जईणं, पीढग-फलए विवज्जित्ता ॥ ५९६५ ॥**

---

१ °भिः भगवद्वचनप्रामाण्यादेव 'शुध्यन्ति' कर्ममलापगमतो निर्मलीभवन्ति न तीव्रै' कां० ॥ २ °कत्व-ग्रामादिबहिःप्रवेशातापनाप्रदानप्रभृतीनि पदान्युक्तानि तानि 'कारणे' सिंहादिभिरभिभूतस्य तदुत्थोपद्रवप्रशमननिमित्तं वा कां० ॥ ३ 'विभाषयेत्' यथासम्भवं प्रतिपादयेत् ॥ ५९६४ ॥ कां० ॥

यथा ब्रह्मव्रतपालनार्थमचेलत्वादीनि न कल्पन्ते तथा ब्रह्मचर्यरक्षणार्थमेव श्रमणीनां पट्टादयोऽपि दारुदण्डकान्ता[1] न कल्पन्ते। द्वितीयपदे तु यतीनां कल्पन्ते परं पीठ-फलकानि वर्जयित्वा, तानि साधूनामपवादमन्तरेणापि कल्पन्त एवेत्यर्थः । अत एतेषां सूत्राणामारम्भः ॥ ५९६५॥

अनेन सम्बन्धेनायातानाममीषां[2] प्रथमसूत्रस्य व्याख्या—नो कल्पते निर्ग्रन्थीनाम् 'आकुञ्चनपट्टं' पर्यस्तिकापट्टं धारयितुं वा परिहर्तुं वा । कल्पते निर्ग्रन्थानामाकुञ्चनपट्टं धारयितुं वा परिहर्तुं वेति सूत्रार्थः ॥ अथ भाष्यम्—

**गव्वो अवाउडत्तं, अणुवधि पलिमंथु सत्थुपरिवाओ ।**
**पट्टमजालिय दोसा, गिलाणियाए उ जयणाए ॥ ५९६६ ॥**

[3]पर्यस्तिकापट्टं परिदधानामार्यिकां दृष्ट्वा लोको ब्रूयात्—अहो ! अस्याः कियान् गर्वो यदेवं महेलाऽपि भवन्ती पर्यस्तिकां करोति । अपावृता वा पर्यस्तिकां कुर्वाणा भवेत् । "अणुवहि" त्ति य उपकारे वर्तते स उपधिरुच्यते, स च तासामुपकारं नायातीति कृत्वाऽनुपधिः । उभयकालं प्रत्युपेक्षमाणे च तस्मिन् सूत्रार्थपरिमन्थः । शास्तुश्च—तीर्थकृतः परिवादः, यथा—नूनमसर्वज्ञोऽसौ येनैतासां[4] पर्यस्तिकापट्टो न प्रतिषिद्धः । द्वितीयपदे या संयती स्थविरा ग्लाना वा तया 'यतनया' अल्पसागारिके पर्यस्तिकापट्टः परिधातव्यः, उपरि चान्यत् प्रावरणीयम् । कारणे च गृह्यमाणो यः 'अजालिकः' जालरहितः स ग्रहीतव्यः, जालसदृशे तु शुषिरदोषाः । एवं निर्ग्रन्थानामप्यकारणे पर्यस्तिकां कुर्वाणानां चतुर्लघु गर्वादयश्च त एव दोषाः ॥ ५९६६ ॥

कारणे पुनरयं विधिः—

**थेरे व गिलाणे वा, सुत्तं काउमुवरिं तु पाउरणं ।**
**सावस्सए व वेट्टो, पुव्वकतमसारिए वाए ॥ ५९६७ ॥**

सूत्रपौरुषीम् उपलक्षणत्वाद् अर्थपौरुषीं च 'कर्तुं' शिष्याणां दातुमित्यर्थः स्थविरो ग्लानो वा वाचनाचार्यः पर्यस्तिकां कृत्वा उपरि प्रावृणुयात् । उत्तरार्द्धं पश्चाद् व्याख्यास्यते ॥

स च पर्यस्तिकापट्टः कीदृशः ? इत्याह—

**फलो अचित्तो अह आविओ वा, चउरंगुलं वित्थडो असंधिमो अ ।**
**विस्सामहेउं तु सरीरगस्सा, दोसा अवट्टंभगया ण एवं ॥ ५९६८ ॥**

---

१ °न्ता वक्ष्यमाणाः पदार्थाः न कल्पन्ते । यतीनां तु ते पट्टादयः "बिइयपदेण" त्ति विभक्तिव्यत्ययात् द्वितीयपदे प्राप्ते सति कल्पन्ते परं पीठ° कां० ॥ २ °मीषां सूत्राणां मध्यात् प्रथमसूत्रस्य तावद् व्याख्या—नो कल्पते निर्ग्रन्थीनाम् 'आकुञ्चनपट्टः' पर्यस्तिकापट्टः, कोऽर्थः ? सूत्रे नपुंसकत्वनिर्देशः प्राकृतत्वात्, सः 'धारयितुं वा' स्वसत्तायां स्थापयितुं 'परिहर्तुं वा' परिभोक्तुम्, न कल्पते इति सम्बन्धः ॥ इत्थं निर्ग्रन्थीविषयं निषेधसूत्रमभिधाय सम्प्रति निर्ग्रन्थविषयं विधिसूत्रमाह—"कप्पइ" इत्यादि, कल्पते निर्ग्रन्थाना° कां० ॥ ३ निर्ग्रन्थी यदि पर्यस्तिकापट्टं गृह्णाति परिभुङ्क्ते वा तदा चतुर्गुरुकाः । तथा पर्य° कां० ॥ ४ °सां तुच्छस्वभावानामपि पर्यस्तिकापट्टो न प्रतिषिद्धः । द्वितीयपदे या संयती ग्लानिका तुशब्दस्यानुक्तसमुच्चयार्थतया स्थविरा वा तया कां० ॥

फलाद् जातः फौलः सौत्रिक इत्यर्थः, 'अचित्रः' अकर्बुरः । अथ सौत्रिको न प्राप्यते तत आविको वा । स च चतुरङ्गुलं 'विस्तृतः' पृथुलः 'असन्धिमश्च' अपान्तराले सन्धिरहितः, एवंविधः पर्यस्तिकापट्टः शरीरस्य विश्रामहेतोर्गृह्यते । ये चावष्टम्भगताः "संचरकुंथुद्देहिय" ( ओघनिर्यु० गा० ३२३ ) इत्यादिका दोषास्तेऽपि 'एवम्' आकुञ्चनपट्टे परिधीयमाने न भवन्ति ॥ ५९६८ ॥

सूत्रम्—

**नो कप्पइ निग्गंथीणं सावस्सगंसि आसणंसि आसइत्तए वा तुयट्टित्तए वा ।**

**कप्पइ निग्गंथाणं सावस्सयंसि आसणंसि आसइत्तए वा तुट्टियत्तए वा ३२ ॥**

सावश्रयं नाम—यस्य पृष्ठतोऽवष्टम्भो भवति एवंविधे आसने निर्ग्रन्थीनां नो कल्पते आसितुं वा त्वग्वर्तितुं वा । कल्पते निर्ग्रन्थानां सावश्रये आसने आसितुं वा त्वग्वर्तितुं वा । निर्ग्रन्थ्यस्तु तादृशे आसने यदि उपविशन्ति शेरते वा तदा त एव गर्वादयो दोषाश्चतुर्गुरु च प्रायश्चित्तम् । द्वितीयपदेऽल्पसागारिके स्थविरा ग्लाना वा उपविशेत् । निर्ग्रन्थानामपि न कल्पते । यदि उपविशन्ति तदा चतुर्लघु । सूत्रं तु कारणिकम् ॥ तदेव कारणमाह—

"सावस्सए" इत्यादि पश्चार्द्धम् । यो वृद्ध आचार्यः सः 'पूर्वकृते' गृहस्थैः स्वार्थं निष्पादिते सावश्रयेऽप्यासने उपविष्टः 'असागारिके' एकान्ते 'वाचयेत्' विनेयानां वाचनां दद्यात् ॥ ५९६७ ॥

सूत्रम्—

**नो कप्पइ निग्गंथीणं सविसाणंसि पीढंसि वा फलगंसि वा आसइत्तए वा तुयट्टित्तए वा ।**

**कप्पइ निग्गंथाणं सविसाणंसि पीढंसि वा फलगंसि वा आसइत्तए वा तुयत्तिट्टए वा ३३ ॥**

सविषाणं नाम—यथा कपाटस्योभयतः शृङ्गे भवतः एवं यत्र मिसिकादौ पीठे फलके वा विषाणं—शृङ्गं भवति तत्र निर्ग्रन्थीनामासितुं वा शयितुं वा न कल्पते । निर्ग्रन्थानां तु कल्पते । निर्ग्रन्थ्यस्तु सविषाणे पीठे फलके वा यद्युपविशन्ति शेरते वा तदा चतुर्गुरु आज्ञादयश्च दोषाः ॥ तथा—

---

१ फाल्यः इति चूर्णौ विशेषचूर्णौ च ॥ २ एतदनन्तरम् ग्रन्थाग्रम्—७००० कां० ॥ ३ °मपि सावश्रये आसितुं न क° कां० ॥ ४ °सने सिंहासनापरपर्याये "बिट्ठो" त्ति उप° कां० ॥ ५ भा० विनाऽन्यत्र—वा त्वग्वर्त्तितुं वा न कां० ॥

**सविसाणे उड्डाहो, पाकम्मादी य तो पडिकुट्टं ।**
**थेरीए वासासुं, कप्पइ छिण्णे विसाणम्मि ॥ ५९६९ ॥**

सविषाणे आसने उपविशन्त्यामार्यिकायामुड्डाहो भवति, पादकर्मादयश्च दोषाः सम्भवन्ति, ततः प्रतिकुष्टं तत्रोपवेशनमिति गम्यते । द्वितीयपदे वर्षासु पीठ-फलकदुर्लभतायां सविषाणमपि गृह्यते, तस्य च विषाणं छित्त्वा परिष्ठाप्यते । एवं छिन्ने विषाणे स्थविराया अन्यस्या वा कल्पते ॥ ५९६९ ॥

**जं तु न लब्भइ छेत्तुं, तं थेरीणं दलंति सविसाणं ।**
**छायंति य से दंडं, पाउंछण मट्टियाए वा ॥ ५९७० ॥**

यत् 'तु' पुनश्छेत्तुं न लभ्यते ततः सविषाणमपि तदासनं स्थविरसाध्वीनां साधवः प्रयच्छन्ति, तदीयं च दण्डं पादप्रोञ्छनेन घनं छादयन्ति, तेन वेष्टयित्वा स्थूलतरं कुर्वन्तीत्यर्थः; मृत्तिकया वा परिवेष्टयन्ति । निर्ग्रन्थानां सविषाणमपि कल्पते ॥ ५९७० ॥ कुतः ? इत्याह—

**समणाण उ ते दोसा, न होंति तेण तु दुवे अणुण्णाया ।**
**पीढं आसणहेउं, फलगं पुण होइ सेज्जट्ठा ॥ ५९७१ ॥**

श्रमणानां पुनः 'ते' पादकर्मादयो दोषा न भवन्ति ततः 'द्वे अपि' पीठ-फलके सविषाणे अप्यनुज्ञाते । तत्र पीठमासनहेतोः फलकं पुनः 'शय्यार्थं' शयननिमित्तं वर्षासु गृह्यते ॥ ५९७१ ॥ अथ किमर्थं वर्षासु तत्रोपवेशनं शयनं वा क्रियते ? इत्याह—

**कुच्छण आय दयट्ठा, उज्झायगमरिस-वायरक्खट्ठा ।**
**पाणा सीतल दीहा, रक्खट्ठा होइ फलगं तु ॥ ५९७२ ॥**

आर्द्रायां भूमौ स्थाप्यमानाया निषद्यायाः कोथनं भवति, शीतलायां च भूमावुपविशतां धान्यं न जीर्यति ततो ग्लानत्वेन आत्मविराधना, 'दयार्थं च' जीवदयानिमित्तं वर्षासु भूमौ नोपवेष्टव्यम्, "उज्झायगं" ति भूमेरार्द्रभावेन मलिनीभूतस्योपधेर्जुगुप्सनीयता स्यात्, अर्शांसि वा क्षुभ्येयुः, वातो वाऽधिकतरं प्रकुप्येत्, तत एतेषां रक्षार्थं पीठकं ग्रहीतव्यम् । तथा शीतलायां भूमौ बहवः कुन्थु-पनकप्रभृतयः प्राणिनः सम्मूर्च्छेयुः ततो भूमौ शयानानां तेषां विराधना भवति, दीर्घजातीया वा भूमेर्निर्गत्य दशेयुः, उपलक्षणमिदम्, तेनोपधिकोथनाऽजीर्णतादयोऽपि दोषा भवन्ति, एतेषां रक्षार्थं वर्षासु फलकं गृह्यते ॥ ५९७२ ॥

सूत्रम्—

**नो कप्पइ निग्गंथीणं सवेंटगं लाउयं धारित्तए वा परिहरित्तए वा । कप्पइ निग्गंथाणं सवेंटगं लाउयं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ३४ ॥**

---

१ 'प्रतिकुष्टं' प्रतिषिद्धं संयतीनामनेन सूत्रेण सविषाणस्यासनस्य ग्रहणमिति गम्य° कां० ॥

अस्य व्याख्या सुगमा । नवरम्—'सवेण्टकं' नालयुक्तं अलाबुकं तद् निर्ग्रन्थीनां न कल्पते । निर्ग्रन्थानां तु कल्पते ॥ अत्र भाष्यम्—

**ते चेव सवेंटम्मि, दोसा पादम्मि जे तु सविसाणे ।**
**अइरेग अपडिलेहा, बिइय गिलाणोसहट्ठवणा ॥ ५९७३ ॥**

त एव 'सवृन्तेऽपि' सनालेऽपि अलाबुमये पात्रे दोषा मन्तव्या ये सविषाणे आसने पादकर्मादय उक्ताः । द्वितीयपदे तु धारयेदपि । तत्राध्वनि घृतं वा तैलं वा सुखेनैवापरिगलदुह्यते, ग्लानाया वा योग्यं तत्रौषधं प्रक्षिप्तमास्ते । तच्च सवृन्तकं प्रवर्तिनी स्वयं सारयति । निर्ग्रन्थानामपि निष्कारणे न कल्पते । यदि धारयन्ति ततोऽतिरिक्तोपकरणदोषः, सवृन्तके च प्रत्युपेक्षणा न शुध्यति । द्वितीयपदे ग्लानस्य योग्यमौषधं तत्र स्थापनीयमिति कृत्वा ग्रहीतव्यम् ॥ ५९७३ ॥

सूत्रम्—

**नो कप्पइ निग्गंथीणं सवेंटियं पादकेसरियं धारित्तए वा परिहरित्तए वा । कप्पइ निग्गंथाणं सवेंटियं पादकेसरियं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ३५ ॥**

नो कल्पते निर्ग्रन्थीनां सवृन्तिका पादकेसरिका धारयितुं वा परिहर्तुं वा । कल्पते निर्ग्रन्थानां सवृन्तिका पादकेसरिका धारयितुं वा परिहर्तुं वा ॥ अथ केयं सवृन्ता पादकेसरिका? इत्याह—

**लाउयपमाणदंडे, पडिलेहणिया उ अग्गए बद्धा ।**
**सा केसरिया भन्नइ, सनालए पायपेहट्ठा ॥ ५९७४ ॥**

यत्राभिनवसङ्कटमुखे अलाबुनि हस्तो न माति तस्यालाबुनो यद् उच्चत्वं तत्प्रमाणो दण्डः क्रियते, तस्याग्रभागे बद्धा या प्रत्युपेक्षणिका सा पादकेसरिका सवृन्ता भण्यते । सा च कारणगृहीतस्य सनालस्य पात्रस्य प्रत्युपेक्षणार्थं गृह्यते । तां यदि निर्ग्रन्थ्यो गृह्णन्ति तदा चतुर्गुरु, सैव च प्रतिसेवनादिका विराधना । निर्ग्रन्थानामप्युत्सर्गतो न कल्पते । द्वितीयपदे सनालमलाबुकं तया प्रत्युपेक्ष्य ततो मुखं क्रियते ॥ ५९७४ ॥

सूत्रम्—

**नो कप्पइ निग्गंथीणं दारुदंडयं पायपुंछणं धारित्तए वा परिहरित्तए वा । कप्पइ निग्गंथाणं दारुदंडयं जाव परिहरित्तए वा ३६ ॥**

---

१ तत्र सनाले तुम्बकेऽध्वनि घृतं वा तैलं वा सुखेनैव वृन्तं हस्तेन गृहीत्वा भूमावपरि° कां० ॥ २ "पादकेसरिया णाम डहरयं चीरं । असइए चीराणं दारुए बज्झति" इति चूर्णौ ॥ ३ वा । सूत्रे च द्वितीयानिर्देशः प्राकृतत्वात् प्रथमार्थे द्रष्टव्यः ॥ अथ केयं कां० ॥ ४ °यते, एतदर्थं साऽपि ग्रहीतव्या ॥ ५९७४ ॥ कां० ॥ ५ °डयं पायपुंछणं धारित्तए वा परि° कां० ॥

अस्य व्याख्या—यत्र दारुमयस्य दण्डस्याग्रभागे ऊर्णिका दशिका बध्यन्ते तद् दारुदण्डकं पादप्रोञ्छनमुच्यते । तद् निर्ग्रन्थीनां न कल्पते, निर्ग्रन्थानां तु कल्पते ॥ अत्र भाष्यम्—

ते चेव दारुदंडे, पाउंछणगम्मि जे सनालम्मि ।
दुण्ह वि कारणगहणे, चप्पडए दंडए कुज्जा ॥ ५९७५ ॥

ये सनाले पात्रे दोषा उक्तास्त एव दारुदण्डकेऽपि पादप्रोञ्छनके भवन्ति । 'द्वयोरपि च' सनालपात्र-दारुदण्डकयोः कारणे निर्ग्रन्थीनामपि ग्रहणं भवति । तत्र च ग्रहणे कृते 'चप्पडकान्' चतुष्पलान् दण्डकान् कुर्यात् ॥ ५९७५ ॥

॥ ब्रह्मरक्षाप्रकृतं समाप्तम् ॥

---

## मो क प्र कृ त म्

सूत्रम्—

**नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अन्नमन्नस्स मोयं आइयत्तए वा आइमित्तए वा, नन्नत्थ[2] गाढाऽगाढेसु रोगायंकेसु ३७ ॥**

अस्य सम्बन्धमाह—

बंभवयपालणट्ठा, गतोऽहिगारो तु एगपक्खम्मि ।
तस्सेव पालणट्ठा, मोयाऽऽरंभो दुपक्खे वी ॥ ५९७६ ॥

ब्रह्मव्रतपालनार्थमेकस्मिन्—संयतीलक्षणे पक्षे पूर्वसूत्रेषु योऽधिकारः स गतः, समर्थित इत्यर्थः । सम्प्रति तु 'तस्यैव' ब्रह्मव्रतस्य पालनार्थं 'द्विपक्षेऽपि' संयत-संयतीपक्षद्वयविषये मोकसूत्रारम्भः क्रियते ॥ ५९७६ ॥

अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य व्याख्या—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा 'अन्योन्यस्य' परस्परस्य मोकमापातुं वा आचमितुं वा । किं सर्वथैव ? न इत्याह[3]—गाढाः—अहि-विष-विसूचिकादयः अगाढाश्च—ज्वरादयो रोगातङ्कास्तेभ्योऽन्यत्र न कल्पते, तेषु[4] तु कल्पत इत्यर्थः । एष सूत्रार्थः ॥ सम्प्रति निर्युक्तिविस्तरः—

मोएण अण्णमण्णस्स आयमणे चउगुरुं च आणाई ।
मिच्छत्ते उड्डाहो, विराहणा भावसंबंधो ॥ ५९७७ ॥

'अन्योन्यस्य' संयतः संयतीनां मोकेन संयती वा संयतानां मोकेन निशाकल्प इति कृत्वा रात्रौ यद्याचमति तदा चतुर्गुरु, आज्ञादयश्च दोषाः, मिथ्यात्वं च भवेद् न यथावादी

---

१ पात्रे पादकर्मकरणादयो दोषा कां० ॥ २ °त्थ आगाढा-ऽणागा° कां० । एतत्पाठानुसारेणैव कां० टीका, दृश्यतां टिप्पणी १ ॥ ३ °ह—आगाढाः—अहि-विष-विसूचिकादयः अनागाढाश्च—ज्वरा° कां० ॥ ४ °षु तु मोकमापातुमाचमितुं वा परस्परस्य कल्प° कां० ॥

तथाकारीति कृत्वा । यद्वा कश्चिदभिनवधर्मा तद् निरीक्ष्य मिथ्यात्वं गच्छेत्—अहो ! अमी समला इति । उड्डाहश्च भोगिनी-घाटिकादिज्ञापने भवति । विराधना च संयमस्यात्मनो वा भवति । तत्र संयमविराधना तेन स्पर्शेनैकतरस्य भावसम्बन्धो भवेत्, ततश्च प्रतिगमनादयो दोषाः । आत्मविराधना तु "चिंतेइ दट्ठुमिच्छइ" (गा० २२५८) इत्यादिक्रमेण ज्वर-दाहादिका ॥ ५९७७ ॥ किञ्च—

दिवसं पि ता ण कप्पइ, किमु णिसि मोएण अण्णमण्णस्स ।
इत्थंगते किमण्णं, ण करेज अकिच्चपडिसेवं ॥ ५९७८ ॥

दिवसेऽपि तावन्न कल्पते अन्योन्यस्य मोकेनाऽऽचमितुं किं पुनः 'निशि' रात्रौ ? । 'इत्थङ्गते हि' परस्परं मोकाचमनेऽपि कृते किं नाम तदकृत्यमस्ति यस्य प्रतिसेवां न कुर्याताम् ? ॥ ५९७८ ॥

वुत्तुं पि ता गरहितं, किं पुण घेत्तुं जें कर बिलाओ वा ।
घासपइट्ठो गोणो, दुरक्खओ सस्सअब्भासे ॥ ५९७९ ॥

वक्तुमपि तावदेतद् मोकाचमनं गर्हितं किं पुनः संयत्याः करात् 'बिलाद् वा' भगादित्यर्थः मोकं ग्रहीतुम् ? । अपि च घासः—चारी तस्याश्चरणार्थं गौः प्रविष्टः सन् 'सस्याभ्यासे' धान्यमूले चरन् दूरक्षो भवति, धान्यमदन् दुःखेन रक्ष्यत इत्यर्थः, एवमयमपि संयत्या मोकेनाचमन् प्रसङ्गतः शेषामपि क्रियां कुर्वन् न वारयितुं शक्य इति भावः ॥ ५९७९ ॥

दिवसओ सपक्खे लहुगा, अद्धाणाऽऽगाढ गच्छ जयणाए ।
रत्तिं च दोहिँ लहुगा, बिइयं आगाढ जयणाए ॥ ५९८० ॥

दिवसतः 'सपक्षेऽपि' संयतः संयतानां संयती वा संयतीनां मोकेन यदि आचमति तदा चतुर्लघु । शैक्षाणां तदवलोकनादन्यथाभावो भवेत् । गृहस्थ-परतीर्थिकाश्चोड्डाहं कुर्युः ॥ कथम् ? इत्याह—

अट्ठिसरक्खा वि जिया, लोए णत्थेरिसऽन्नधम्मेसु ।
सरिसेण सरिससोही, कीरइ कत्थाइ सोहेज्जा ॥ ५९८१ ॥

अहो ! अमीभिः श्रमणकैरेवं मोकेनाचमद्भिरस्थिसरजस्का अपि जिताः, अस्मिंल्लोकेऽन्ये बहवो धर्मा विद्यन्ते परं कुत्रापि ईदृशं शौचं न दृष्टम् । सदृशेन च सदृशस्य या शोधिः क्रियते सा किं कुत्रचित् 'शोधयेत्' शुद्धं कुर्यात् ? अशुचिना धाव्यमानमशुचि न शुध्यतीति भावः ॥ ५९८१ ॥

द्वितीयपदे अध्वनि वर्तमानस्य गच्छस्यापरस्मिन् वा आगाढे कारणे यतनया दिवा स्वपक्षमोकेनाचमेत् । अथ रात्रौ निष्कारणे मोकेनाचमति ततश्चतुर्लघु 'द्वाभ्यामपि' तपः-कालाभ्यां

१ °विकामविषयवशादशकानुभवनम् ॥ ५९७७ ॥ कां० ॥ २ °स्य साधु-साध्वीनां परस्परस्य मोके° कां० ॥ ३ °वां तौ साधु-साध्वीजनौ न कु° कां० ॥ ४ °लाईहिं । घास तामा० ॥ ५ °म् ? । "जे" इति पादपूरणे । अपि कां० ॥ ६ °शुचि कथं नु नाम शुध्य° कां० ॥ ७ °रणे वक्ष्यमाणलक्षणे यत° कां० ॥

लघु। "रत्तिं दवे वि लहुग" त्ति पाठान्तरम्, तत्र रात्रौ द्रवं-पानकमाचमनार्थं यदि परिवासयति ततश्चतुर्लघु, सञ्चय-पनकसम्मूर्च्छनादयश्चानेकविधा दोषाः। आह च बृहद्भाष्यकृत्—

रत्तिं दवपरिवासे, लहुगा दोसा हवंतऽणेगविहा। इति।

द्वितीयपदे आगाढे कारणे यतनया[1] रात्रावपि मोकेनाचमेद् द्रवं वा परिवासयेत् ॥५९८०॥ तत्राध्वनि द्वितीयपदं व्याचष्टे—

निच्छुभई सत्थाओ, भत्तं वारेइ तक्करदुगं वा।
फासु दवं च न लब्भइ, सा वि य उच्छिट्ठविज्जा उ ॥ ५९८२ ॥

यदि अध्वनि प्रतिपन्नं गच्छं प्रत्यनीकसार्थवाहादिः सार्थाद् निष्काशयति, भक्तं वा वारयति, यद्वा 'तस्करद्विकम्' उपधि-शरीरस्तेनद्वयमुपद्रोतुमिच्छति; तत्र कस्यापि साधोराभिचारुका विद्या समस्ति यया परिजपितया स आवर्त्यते, स च साधुस्तदानीं संज्ञालेपकृत्युतः, प्राशुकं च द्रवं तत्र न लभ्यते, साऽपि चोच्छिष्टविद्या, ततो मोकेनाचम्य तां परिजपेत् ॥ ५९८२ ॥ अथागाढपदं व्याख्याति—

अक्कुडे व दुक्खे, अप्पा वा वेदणा खवे आउं।
तत्थ वि सु च्चेव गमो, उच्छिट्ठगमंत-विज्जाऽऽसु ॥ ५९८३ ॥

अत्युत्कटं वा शूलादिकं दुःखं कस्याप्युत्पन्नम्, 'अल्पा वा वेदना' सर्पदशनादिरूपा सञ्जाता या शीघ्रमायुः क्षिपेत्, ततस्तत्रापि स एव गमो मन्तव्यः, प्राशुकद्रवाभावे मोकेनाचमेदित्यर्थः। तत उच्छिष्टं मन्त्रं विद्यां वा परिजप्य तं साधुं आशु-शीघ्रं प्रगुणं कुर्यात् ॥ ५९८३ ॥

अत्र यतनामाह—

मत्तग मोयाऽऽयमणं, अभिगएँ आइण्ण एस निसिकप्पो।
संफासुड्डाहादी, अमोयमत्ते भवे दोसा ॥ ५९८४ ॥

कायिकामात्रके मोकं गृहीत्वा तेनाचमनं कर्तव्यम्, 'अभिगतस्य' गीतार्थस्याचीर्णमेतत्, एष च निशाकल्प उच्यते, पानकाभावेन रात्रावेव प्रायः क्रियमाणत्वात्। अथ मोकमात्रकं विना मोकं स्वपक्षसागारिकाद् गृह्णन्ति ततः संस्पर्शोड्डाहादयो दोषाः। एवं रात्रौ मोकेनाचमनीयम्, न पुनस्तदर्थं द्रवं स्थापनीयम्। द्वितीयपदे स्थापयेदपि ॥५९८४॥ कथम्? इत्याह—

पिट्टं को वि य सेहो जइ सरई मा व हुज्ज से सण्णा।
जयणाएँ ठवेंति दवं, दोसा य भवे निरोहम्मि ॥ ५९८५ ॥

यदि कोऽपि शैक्षः पिट्टं सरति, अतीव व्युत्सर्जनं करोतीत्यर्थः। स चाद्यापि मोकाचमनेनाभावित इति कृत्वा तदर्थं यतनया द्रवं स्थापयन्ति। सामान्यतो वा मा 'तस्य' शैक्षस्य रजन्यामकस्माद् व्युत्सर्जनं भवेद् इति कृत्वा द्रवं स्थापयन्ति। अथ न स्थाप्यते ततः स रात्रौ संज्ञासम्भवे पानकाभावे[2] निरोधं कुर्यात्, निरोधे च परिताप[3]-मरणादयो दोषा भवेयुः ॥५९८५॥

---

१ °या वक्ष्यमाणलक्षणया रात्रा° कां० ॥ २ °भावे संज्ञाया वेगस्य निरोधं कां० ॥ ३ °प-महादुःख-मर° कां० ॥

एवं तावदाचमने भणितम् । अथापिबतो दोषानाह—

मोयं तु अन्नमन्नस्स, आयमणे चउगुरुं च आणाई ।
मिच्छत्ते उड्डाहो, विराहणा देविदिट्ठंतो ॥ ५९८६ ॥

अन्योन्यस्य[1] मोकं यदि आपिबति तदा चतुर्गुरु, आज्ञादयश्च दोषाः, मिथ्यात्वं च सागारिकादिस्तदवलोक्य गच्छेत्, उड्डाहो वा भवेत्, विराधना च संयमस्यात्मनो वा भवति । तत्र च देवीदृष्टान्तः ॥ ५९८६ ॥ तमेवाह—

दीहे ओसह[2]भावित, मोयं देवीय पज्जिओ राया ।
आसाय पुच्छ कह[3]णं, पडिसेवा मुच्छिओ गलितं ॥ ५९८७ ॥
अह रन्ना तूरंते, सुं[4]क्कग्गहणं तु पुच्छणा विज्जे ।
जइ सुक्कमत्थि जीवइ, खीरेण य पज्जिओ न मओ ॥ ५९८८ ॥

एगो राया महाविसेणं अहिणा खइओ । विज्जेण भणियं—जइ परं मोयं आइयइ तो न मरइ । तओ देवीतणयं ओसहेहिं वासेऊण दिन्नं । तेण थोवावसेसं आसाइयं । तओ पउणो पुच्छइ—किं ओसहं ? । तेहिं कहियं । सो राया तेण वसीकओ दिया रत्तिं च पडिसेविउमारद्धो । देवीए नायं—'मओ होहिइ' त्ति सुक्कं कप्पासेण सारवियं । अवसाणे नीसहो जाओ मरिउमारद्धो । विज्जेण भणियं—जइ एयस्स चेव सुक्कं अत्थि तो जीवइ । तीए भणियं—अत्थि । खीरेण समं कढेउं दिन्नं । पउणो जाओ ॥

अथाक्षरगमनिका—'दीर्घेण' अहिना भक्षितो राजा । देव्याः सम्बन्धि मोकमौषधभावितं पायितः । तत आस्वादे ज्ञाते पृच्छा कृता । ततः कथनम् । ततो[5] दिवा रात्रौ च प्रतिसेवां मूर्च्छितः करोति । प्रभूतं च शुक्रं गलितम् ॥

'अथ' अनन्तरं राज्ञि मरणाय त्वरमाणे देव्या शुक्रग्रहणम् । वैद्यस्य च पृच्छा—यदि शुक्रमस्ति ततो जीवति । एवं कथिते क्षीरेण समं तदेव शुक्रं पायितस्ततो न मृतः । एवमेव संयत्याः मोकेन पीतेन साधुरपि वशीक्रियेत, वशीकृतश्चावभाषेत, प्रतिगमनादीनि वा कुर्यात्, तस्माद् नाऽऽपातव्यम् । कारणे पुनराचमनमापानं वा कुर्यात् ॥ ५९८७ ॥ ५९८८ ॥

तथा चाह—

सुत्तेणेवऽववाओ, आयमइ पियेज्ज वा वि आगाढे ।
आयमण आमय अणामए य पियणं तु रोगम्मि ॥ ५९८९ ॥

सूत्रेणैवापवादो दर्श्यते—"आगाढे[6] रोगातङ्के आचमेत् आपिबेद्वा" इति यदुक्तं सूत्रे तत्र 'आचमनं' निर्लेपनम् 'आमये' रोगे 'अनामये च' निशाकल्पे[7] भवति ? पानं तु रोग एव

१ 'अन्योन्यस्य' साधुः संयत्याः संयती च साधोः सत्कं मोकं कां० ॥ २ ओसहरक्खिं, मोयं ताभा० कां० । चूर्णिकृता विशेषचूर्णिकृता चायमेव पाठ आदृतोऽस्ति । तथाहि—"ओसहरक्खियं देवीअ तणयं मोयं दिन्नं" इति ॥ ३ °हणं, अइसेवा ताभा० । एतत्पाठानुसारेणैव भा० कां० टीका, दृश्यतां टिप्पणी ५ ॥ ४ सुक्कट्ठवणं तु ताभा० ॥ ५ ततः 'अतिसेवां' दिवा भा० कां० ॥ ६ °गाढे उपलक्षणत्वात् अनागाढे च रोगा° कां० ॥ ७ °ल्पे मन्त्रपरिजपनादौ वा प्रागुक्ततुल्यो भव° कां० ॥

सम्भवति नान्यथा ॥ ५९८९ ॥ तत्रायं विधिः—

**दीहाइयणे गमणं, सागारिय पुच्छिए य अइगमणं ।**
**तासि सगारजुयाणं, कप्पइ गमणं जहिं च भयं ॥ ५९९० ॥**

[2]दीर्घेण कस्यापि साधोः अदने—भक्षणे कृते स्वपक्षमोकाभावे संयतीप्रतिश्रये गमनम् । ततस्तासां सागारिके पृष्टे सति 'अतिगमनं' प्रवेशः कर्तव्यः । अथ संयत्याः सर्पदशनं जातं ततस्तासां सागारिकयुक्तानां साधुवसतौ गमनं कल्पते । यत्र च भयं तत्र दीपको ग्रहीतव्य इति वाक्यशेषः । एषं[3] सङ्ग्रहगाथासमासार्थः ॥ ५९९० ॥ साम्प्रतमेनामेव विवृणोति—

**निद्धं भुत्ता उववासिया व वोसिरितमत्तगा वा वि ।**
**सागारियाइसहिया, सभए दीवेण य ससद्दा ॥ ५९९१ ॥**

अहिना भक्षितः साधुः स्वपक्ष एव साधूनां मोकं पाय्यते । अथ तेषां नास्ति मोकम्, कुतः ? इत्याह—स्निग्धमाहारं तद्दिवसं भुक्ता उपवासिका वा ततो नास्ति मोकम्; अथवा व्युत्सृष्टमात्रकास्ते, तत्क्षण एव मोकं व्युत्सृष्टमपरं च नास्तीति भावः, ततो निर्ग्रन्थीनां प्रतिश्रये गन्तव्यम् । यदि निर्भयं तत एवमेव गम्यते । अथ सभयं ततः सागारिकादिना केनचिद् द्वितीयेन दीपकेन च सहिताः सशब्दा गच्छन्ति । ततः संयतीवसतिं प्रविशन्तो यदि नैषेधिकीं कुर्वन्ति ततश्चतुर्गुरु ॥ ५९९१ ॥ तथा—

**तुसिणीए चउगुरुगा, मिच्छत्ते सारियस्स वा संका ।**
**पडिबुद्धबोहियासु व, सागारिय कज्जदीवणया ॥ ५९९२ ॥**

तूष्णीका अपि यदि प्रविशन्ति तदा चतुर्गुरु । मिथ्यात्वं वा कश्चित् तूष्णीभावेन प्रविशतो दृष्ट्वा गच्छेत् । सागारिकस्य वा शङ्का भवति—किमत्र कारणं यदेवममी अवेलायामागताः ? इति, 'स्तेना अमी' इति वा मन्यमानो ग्रहणा-ऽऽकर्षणादिकं कुर्याद् आहन्याद्वा । ततस्तूष्णीकैरपि न प्रवेष्टव्यं किन्तु प्रथमं सागारिक उत्थापनीयः, ततस्तेन प्रतिबुद्धेन—उत्थितेन बोधितासु संयतीषु सागारिकस्य कार्यदीपना कर्तव्या—एकः साधुरहिना दष्टः, इह चौषधं स्थापितमस्ति तदर्थं वयमागताः ॥ ५९९२ ॥ ततः प्रवर्तिनीं भणन्ति—

**मोयं ति देइ गणिणी, थोवं चिय ओसहं लहुं णेहा ।**
**मा मग्गेज्ज सगारो, पडिसेहे वा वि वुच्छेओ ॥ ५९९३ ॥**

अहिदष्टस्यौषधं मोकमिति प्रयच्छत । ततः 'गणिनी' प्रवर्तिनी यतनया मोकं गृहीत्वा साधूनां ददाति भणति च—स्तोकमेवेदमौषधमेतावदेवासीत्, नातः परमन्यदस्तीत्यर्थः, अतः 'लघु' शीघ्रं नयत । किमर्थमित्थं कथयति ? इत्याह—मा सागारिकः 'ममापि एतदौषधं प्रयच्छत' इत्येवं मार्गयेत् । यदा तु 'नास्त्यतः परम्' इति प्रतिषेधः कृतस्तदा व्यवच्छेदः कृतो भवति, न भूयो मार्गयतीत्यर्थः ॥ ५९९३ ॥

**न वि ते कहंति अप्पुणो, खइओ ण वि ताव एव अप्पुईए ।**

---

१ °च्छिऊण अइ° ताभा० ॥ २ 'दीर्घेण' सर्पेण रात्रौ कस्यापि कां० ॥ ३ °ष निर्युक्तिगाथा° कां० ॥

घेत्तुं णयणं खिप्पं, ते वि य वसहिं सयमुवेंति ॥ ५९९४ ॥

ते साधवो न कथयन्ति, यथा—अमुकः साधुरहिना खादितः । ता अप्यार्यिका न कथयन्ति, यथा—एतन्मोकममुकस्याः सत्कमिति । गृहीत्वा च क्षिप्रं नयनं कर्तव्यम् । पूर्वोक्तेन च विधिना ते 'स्वकाम्' आत्मीयां वसतिम् उपयान्ति ॥ ५९९४ ॥ आह—'यदि अमुकः साधुर्दष्टः, अमुकस्या वा मोकमिदम्' इति कथ्यते ततः को दोषः ? इत्याह—

जायति सिणेहो एवं, भिण्णरहस्सत्तया य वीसंभो ।

तम्हा न कहेयव्वं, को व गुणो होइ कहिएणं ॥ ५९९५ ॥

एवं कथ्यमाने तयोः स्नेहो जायते, भिन्नरहस्यता च भवति, रहस्ये च भिन्ने विश्रम्भो भवति । यत एते दोषास्तस्माद् न कथयितव्यम् । को वा गुणस्तेन कथितेन भवति ? न कोऽपीत्यर्थः ॥ ५९९५ ॥ यदा संयती दीर्घजातीयेन दष्टा भवति तदाऽयं विधिः—

सागारिसहिय नियमा, दीवगहत्था वए जईनिलयं ।

सागारियं तु बोहे, सो वि जई स एव य विही उ ॥ ५९९६ ॥

आर्यिका नियमात् 'सागारिकसहिताः' शय्यातरसहायाः समग्रे च दीपकहस्ता यतीनां निलयं व्रजेयुः । स च संयतीसागारिक इतरं संयतसागारिकं बोधयति । सोऽपि प्रतिबुद्धः साधून् बोधयति । अत्रापि स एव विधिर्मोकदाने द्रष्टव्यः ॥ ५९९६ ॥

॥ मोकप्रकृतं समाप्तम् ॥

---

प रि वा सि त प्र कृ त म्

सूत्रम्—

**नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पारियासियस्स आहारस्स जाव तयप्पमाणमित्तमवि भूइप्पमाणमित्तमवि बिंदुप्पमाणमित्तमवि आहारं आहारित्तए, नन्नत्थ आगाढेसु रोगायंकेसु ३८ ॥**

अस्य सूत्रस्य सम्बन्धमाह—

उदिओऽयमणाहारो, इमं तु सुत्तं पडुच्च आहारं ।

अत्थे वा निसि मोयं, पिज्जति सेसं पि मा एवं ॥ ५९९७ ॥

'अयं' मोकलक्षणोऽनाहारः पूर्वसूत्रे 'उदितः' भणितः, इदं तु सूत्रं आहारं प्रतीत्यारभ्यते । अर्थतो वा 'निशि मोकं पीयते' इत्युक्तम् अतः 'शेषमपि' आहारादिकमेवं मा रात्रौ आहारयेदिति प्रस्तुतं सूत्रमारभ्यते ॥ ५९९७ ॥

---

१ °मवि तोयबिंदुप्प° कां० विना । एतत्पाठानुसारेणैव कां० विना टीका, दृश्यतां पत्रं १५८४ टिप्पणी १ ॥ २ °त्थ आगाढा-ऽणागाढे° कां० । एतत्पाठानुसारेणैव कां० टीका, दृश्यतां पत्रं १५८४ टिप्पणी २ ॥ ३ 'अर्थे' अर्थतो वाक्यात् सूत्रतोऽपि 'निशि कां० ॥

अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य व्याख्या—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा 'परिवासितस्य' रजन्यां स्थापितस्याहारस्य मध्यात् त्वक्प्रमाणमात्रमपि भूतिप्रमाणमात्रमपि बिन्दुप्रमाणमात्रमपि यावदाहारमाहर्तुम् । इह त्वक्प्रमाणमात्रं नाम—तिलतुषत्रिभागमात्रम् तच्चाशनस्य घटते, भूतिप्रमाणमात्रं सक्तुकादीनां नेयम्, बिन्दुप्रमाणमात्रं पानकस्य । इदमेवापवदति—आगाढेभ्यो रोगा-ऽऽतङ्केभ्योऽन्यत्र न कल्पते, तेषु पुनः कल्पते इति सूत्रार्थः ॥ अथ निर्युक्तिविस्तरः—

परिवासियआहारस्स मग्गणा आहारो को भवे अणाहारो ।
आहारो एगंगिओ, चउव्विहो जं वऽतीइ तहिं ॥ ५९९८ ॥

परिवासितस्याहारस्य 'मार्गणा' विचारणा कर्तव्या । तत्र शिष्यः प्राह—वयं तावदेतदेव न जानीमः—को नामाहारः ? को वाऽनाहारः ? इति । सूरिराह—'एकाङ्गिकः' शुद्ध एव यः क्षुधां शमयति स आहारो मन्तव्यः । स चाशनादिकश्चतुर्विधः, यद्वा तत्राहारेऽन्यद् लवणादिकं 'अतियाति' प्रविशति तदप्याहारो मन्तव्यः ॥ ५९९८ ॥

अथैकाङ्गिकं चतुर्विधमाहारं व्याचष्टे—

कूरो नासेइ छुहं, एगंगी[3] तक्क-उदग-मज्जाई ।
खाइमे फल-मंसाई, साइमे महु-फाणियाईणि ॥ ५९९९ ॥

अशने कूरः 'एकाङ्गिकः' शुद्ध एव क्षुधं नाशयति । पाने तक्रोदक-मद्यादिकमेकाङ्गिकमपि तृषं नाशयति आहारकार्यं च करोति । खादिमे फल-मांसादिकं स्वादिमे मधु-फाणितादीनि केवलान्यप्याहारकार्यं कुर्वन्ति ॥ ५९९९ ॥ "जं वऽईइ तहिं" ति पदं व्याख्याति—

जं पुण खुहापसमणे, असमत्थेगंगि होइ लोणाई ।
तं पि य होताऽऽहारो, आहारजुयं व विजुतं वा ॥ ६००० ॥

यत् पुनरेकाङ्गिकं क्षुधाप्रशमनेऽसमर्थं परमाहारे उपयुज्यते तदप्याहारेण संयुक्तमसंयुक्तं वा आहारो भवति । तच्च लवणादिकम् । तत्राशने लवण-हिङ्गु-जीरकादिकमुपयुज्यते ॥ ६००० ॥

उदए कप्पूराई, फलि सुत्ताईणि सिंगबेर गुले ।
न य ताणि खविंति खुहं, उवगारित्ता उ आहारो ॥ ६००१ ॥

उदके कर्पूरादिकमुपयुज्यते, आम्रादिफलेषु सुत्तादीनि द्रव्याणि, 'शृङ्गबेरे च' शुण्ठ्यां गुल उपयुज्यते । न चैतानि कर्पूरादीनि क्षुधां क्षपयन्ति, परमुपकारित्वादाहार उच्यते । शेषः सर्वोऽप्यनाहारः ॥ ६००१ ॥

अहवा जं भुक्खत्तो, कद्दमउवमाइ पक्खिवइ कोट्ठे ।
सव्वो सो आहारो, ओसहमाई पुणो भइतो ॥ ६००२ ॥

अथवा बुभुक्षया आर्तः यत् कर्दमोपमया मृदादिकं कोष्ठे प्रक्षिपति । कर्दमोपमा नाम—

"अपि कर्दमपिण्डानां, कुर्यात् कुक्षिं निरन्तरम् ।"

स सर्वोऽप्याहार उच्यते । औषधादिकं पुनः 'भक्तं' विकल्पितम्, किञ्चिदाहारः किञ्चिदना-

१ °मपि तोयबिन्दु° कां० विना ॥ २ °दति—आगाढा-ऽनागाढेभ्यो रो° कां० ॥ ३ पगागी पाणगं तु मज्जाई ताभा० ॥

नाहार इत्यर्थः । तत्र शर्करादिकमौषधमाहारः, सर्पदष्टादेर्मृत्तिकादिकमौषधमनाहारः ॥६००२॥

जं वा भुक्खत्तस्स उ, संकसमाणस्स देइ अस्सातं ।
सव्वो सो आहारो, अकामऽणिट्ठं चऽणाहारो ॥ ६००३ ॥

यद् वा द्रव्यं बुभुक्षार्त्तस्य 'सङ्कषतः' ग्रसमानस्य कवलप्रक्षेपं कुर्वत इत्यर्थः 'आस्वादं' रसनाह्लादकं स्वादं प्रयच्छति स सर्व आहारः । यत् पुनः 'अकामम्' अभ्यवहरामीत्येवमनभिलषणीयम् 'अनिष्टं च' जिह्वाया अरुच्यम् ईदृशं सर्वमनाहारो भण्यते ॥ ६००३ ॥

तच्चानाहारिममिदम्—

अणहारो मोय छल्ली, मूलं च फलं च होतऽणाहारो ।
सेस तय-भूइ-तोयं बिंदुम्मि व चउगुरू आणा ॥ ६००४ ॥

'मोकं' कायिकी 'छल्ली' निम्बादित्वग् 'मूलं च' पञ्चमूलादिकं 'फलं च' आमलक-हरीतक-बिभीतकादिकम्, एतत् सर्वमनाहारो भवतीति चूर्णिः । निशीथचूर्णौ तु—"या निम्बादीनां 'छल्ली' त्वग् यच्च तेषामेव निम्बोलिकादिकं फलं यच्च तेषामेव मूलम्, एवमादिकं सर्वमप्यनाहारः" इति व्याख्यातम् । "सेसं" ति 'शेषम्' आहारः । तस्याहारस्य परिवासितस्य यदि तिलतुषत्वग्मात्रमप्याहरति, सक्तुकादीनां शुष्कचूर्णानामेकस्यामङ्गुलौ यावती भूतिमात्रा लगति तावन्मात्रमपि यदि अश्नाति, तोयस्य—पानस्य बिन्दुमात्रमपि यद्यापिबति तदा चतुर्गुरु, आज्ञा च तीर्थकृतां कोपिता भवति ॥ ६००४ ॥ एते चापरे दोषाः—

मिच्छत्ता-ऽसंचइए, विराहणा सत्तु पाणजाईओ ।
सम्मुच्छणा य तक्कण, दवे य दोसा इमे होंति ॥ ६००५ ॥

अशनादि परिवास्यमानं दृष्ट्वा शैक्षोऽन्यो वा मिथ्यात्वं गच्छेत्, उड्डाहं वा कुर्यात्—अहो ! अमी असञ्चयिकाः । परिवासिते तु संयमा-ऽऽत्मविराधना भवति । सक्तुकादिषु धार्यमाणेषु ऊरणिकादयः प्राणजातयः सम्मूर्च्छन्ति, पूपलिकादिषु लालादिसम्मूर्च्छना च भवति, उन्दरो वा तत्र 'तर्कणम्' अभिलाषं कुर्वन् पार्श्वतः परिभ्रमन् मार्जारादिना भक्ष्यते, एवमादिका संयमविराधना । आत्मविराधना तु तत्राशनादौ लालाविषः सर्पो लालां मुञ्चेत्, स्वविषो वा जिघ्रन् निःश्वासेन विषीकुर्यात्, उन्दरो वा लालां मुञ्चेत् । द्रवे चाहारे एते वक्ष्यमाणा दोषा भवन्ति ॥ ६००५ ॥ अथ "मिच्छत्तमसंचइय" त्ति पदं व्याख्याति—

सेह गिहिणा व दिट्ठे, मिच्छत्तं कहमसंचया समणा ।
संचयमिणं करेंती, अण्णत्थ वि नूण एमेव ॥ ६००६ ॥

शैक्षेण गृहिणा वा केनापि तत्राशनादौ परिवासिते दृष्टे मिथ्यात्वं भवेत्—एवंविधं सञ्चयं

---

१ भुंजंतस्सा, संकममाण° ताभा० ॥ २ मूल कट्ठ फलं ताभा० ॥ ३ °नां कटुकवृक्षाणां 'छल्ली' कां० ॥ ४ °वति । अत एव प्रथमतो रजन्यामाहारः परिवासयितुमपि न कल्पते ॥ ६००४ ॥ यदि परिवासयति तत एते दोषाः—मिच्छ° कां० ॥ ५ °नादिकं रजन्यां परि° कां० ॥ ६ °वति । तत्र संयमविराधना भाव्यते—सक्तु° कां० ॥ ७ °हारे रात्रौ परिवास्यमाने एते कां० ॥

ये कुर्वन्ति कथं ते श्रमणा असंयता भवन्ति ? । यथा "[1]सर्वस्माद् रात्रिभोजनाद् विरमणम्" इत्यभिग्रहं गृहीत्वा लुम्पन्ति तथा 'नून'मिति वितर्कयाम्यहम्—'अन्यत्रापि' प्राणिवधादावेव-मेव समाचरन्ति ॥ ६००६ ॥ अथ 'द्रवे दोषा अमी भवन्ति' इति पदं व्याचष्टे—

निद्धे दवे पणीए, आवज्जण पाण तक्कणा झरणा ।
आहारे दिट्ठ दोसा, कप्पइ तम्हा अणाहारो ॥ ६००७ ॥

इह वक्ष्यमाणे अभ्यञ्जनसूत्रे भणितं यद् घृतादिकं तैल-वसावर्जितं अद्रवं भवति तदेव स्निग्धमुच्यते । यत् तु सौवीरद्रवादिकं अलेपकृतं यच्च दुग्ध-तैल-वसा-द्रवघृतादिकं लेपकृतं तदुभयमपि द्रवमित्युच्यते ॥ तथा चाह[2]—

सुत्तभणियं तु निद्धं, तं चिय अदवं सिया अतिल्ल-वसं ।
सोवीरग-दुद्धाई, दवं अलेवाड लेवाडं ॥ ६००८ ॥

व्याख्यातार्था ॥ ६००८ ॥ प्रणीतं नाम—गूढस्नेहं घृतपूरादिकं आर्द्रखाद्यकम्, यद्वा बहिः स्नेहेन म्रक्षितं मण्डकादि अपरं वा स्नेहावगाढं कुसणादि प्रणीतमुच्यते । तथा चाह—

गूढसिणेहं उल्लं, तु खज्जगं मक्खियं व जं बाहिं ।
नेहागाढं कुसणं, तु एवमाई पणीयं तु ॥ ६००९ ॥

गतार्था ॥ ६००९ ॥

एवंविधे स्निग्धे द्रवे प्रणीते च रात्रौ स्थापिते कीटिका[3]दयः प्राणजातीया आपद्यन्ते, पतन्तीत्यर्थः, तत्र गृहकोलिकादितर्कणपरम्परा वक्तव्या । "झरणा य" त्ति स्यन्दमाने भाज-नेऽधस्तात् प्राणजातीयाः सम्पतन्ति । परः प्राह—नन्वेते दोषा आहारे दृष्टास्तस्मादनाहारः परिवासयितुं कल्पते ॥ ६००७ ॥ सूरिराह—

अणहारो वि न कप्पइ, दोसा ते चेव जे भणिय पुव्विं ।
तद्दिवसं जयणाए, बिइयं आगाढ संविग्गे ॥ ६०१० ॥

[4]अनाहारोऽपि न कल्पते स्थापयितुम् । यदि स्थापयति ततश्चतुर्लघु, 'त एव च[5]' विराधनादयो दोषा ये 'पूर्वम्' आहारे भणिताः, तस्मादनाहारमपि न स्थापयेत् । यदा[6] प्रयोजनं तदा तद्दिवसं बिभीतक-हरीतकादिकं मार्ग्यते । अथ न लभ्यते, दिने दिने मार्गयन्तो वा गर्हितास्ततो यत-नया यथा अगीतार्था न पश्यन्ति तथा द्वितीयपदमाश्रित्यागाढे कारणे संविग्नो गीतार्थः स्थापयति, घनचीरेण चर्मणा वा दर्दरयति, पार्श्वतः क्षारेणावगुण्डयति, उभयकालं प्रमार्ज-यति ॥ ६०१० ॥

जह कारणे अणहारो, उ कप्पई तह भवेज्ज इयरो वी ।
वोच्छिण्णम्मि मडंबे, बिइयं अद्धाणमाईसु ॥ ६०११ ॥

यथा कारणेऽनाहारः स्थापयितुं कल्पते तथा 'इतरोऽपि' आहारोऽपि कारणे कल्पते

---

१ "छट्ठे भंते ! वए उवट्ठिओ मि सव्वाओ राइभोयणाओ वेरमणं" इति हि पाक्षिकसूत्रवचनम् ॥ २ °ह-बृहद्भाष्यकृत्—सुत्त° कां० ॥ ३ °का-मक्षिकादयः कां० ॥ ४ न केवलमाहारः अना° कां० ॥ ५ च संयमा-ऽऽत्मविरा° कां० ॥ ६ °दा ग्लानादिप्रयो° कां० ॥

स्थापयितुम् । कथम् ? इत्याह—व्यवच्छिन्ने मडम्बे कारणे स्थिताः सन्तो द्वितीयपदं सेवन्ते । तथाहि—तत्र पिप्पल्यादिकं दुर्लभम् प्रत्यासन्नं ग्रामादिकं च तत्र नास्ति ततः परिवासयेदपि । यथा कारणे पिप्पल्यादिकं स्थापयन्ति तथा द्वितीयपदेऽशनाद्यपि स्थापयेत् । "अद्धाणमादीसु" त्ति अध्वप्रपन्नाः सन्तोऽध्वकल्पं स्थापयेयुः, आदिशब्दात् प्रतिपन्नोत्तमार्थस्य ग्लानस्य वा योग्यं पानकादिकं स्थापयेत् ॥ ६०११ ॥ व्यवच्छिन्नमडम्बपदं व्याख्याति—

> वुच्छिण्णम्मि मडंबे, सहसरुगुप्पायउवसमनिमित्तं ।
> दिट्ठत्थाई तं चिय, गिण्हंती तिविह भेसज्जं ॥ ६०१२ ॥

व्यवच्छिन्ने मडम्बे वर्तमानानां सहसा शूल-विष-विसूचिकादिका रुगुत्पद्येत तस्योपशमनिमित्तं दृष्टार्थाः—गीतार्था आदिशब्दात् संविग्नादिगुणयुक्तास्तेऽनागतमेव तदेव द्रव्यं गृह्णन्ति येनोपशमो भवति । तच्च भैषजद्रव्यं 'त्रिविधम्' वात-पित्त-श्लेष्मभैषजभेदात् त्रिप्रकारं ज्ञेयम् ॥ ६०१२ ॥

सूत्रम्—

**नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पारियासिएणं आलेवणजाएणं आलिंपित्तए वा विलिंपित्तए वा, नन्नत्थ आगाढेहिं रोगायंकेहिं ३९ ॥**

एवं म्रक्षणसूत्रमप्युच्चारणीयम् । अस्य सम्बन्धमाह—

> जइ भुत्तुं पडिसिद्धो, परिवासे मा हु को वि मक्खट्ठा ।
> वुत्तो वा पक्खेवे, आहारो इमं तु लेवम्मि ॥ ६०१३ ॥

यदि परिवासित आहारो भोक्तुं प्रतिषिद्धस्ततः मा कश्चिद् म्रक्षणार्थं परिवासयेदिति प्रस्तुतसूत्रमारभ्यते । यद्वा पूर्वसूत्रे "पक्खेव" त्ति मुखप्रक्षेपणद्वारेणाहार उक्तः, इदं तु सूत्रमालेपविषयं प्रोच्यते ॥ ६०१३ ॥

> अब्भिंतरमालेवो, वुत्तो सुत्तं इमं तु बज्झम्मि ।
> अहवा सो पक्खेवो, लोमाहारे इमं सुत्तं ॥ ६०१४ ॥

अथवा आभ्यन्तरः 'आलेपः' आहारलक्षणः पूर्वसूत्रे उक्तः, इदं तु सूत्रं बाह्यालेपविषयमुच्यते । अथवा 'सः' पूर्वसूत्रोक्तः प्रक्षेपाहारः, इदं तु सूत्रं लोमाहारविषयमारभ्यते ॥६०१४॥

एभिः सम्बन्धैरायातस्यास्य व्याख्या—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा परिवासितेनालेपनजातेन 'आलेपयितुं वा' ईषल्लेपयितुं 'विलेपयितुं वा' विशेषेण लेपयितुम्, नान्य-

---

१ °कमर्धतृतीययोजनानन्तरे तत्र कां० ॥ २ °व्रता-प्रियधर्मतादिगुण° कां० ॥ ३ °गाढाऽणागाढेहिं कां० । एतत्पाठानुसारेण कां० टीका, दृश्यतां टिप्पणी ६ ॥ ४ °स्य सूत्रद्वयस्य सम्ब° कां० ॥ ५ इदं त्वगालेप° कां० ॥ ६ °तुं व्रणादिकमिति गम्यते, 'विलेपयितुं वा' विशेषेण लेपयितुम्, नान्यत्रागाढा-ऽनागाढेभ्यो रोगा-ऽऽतङ्केभ्य इति सूत्रार्थः ॥ अथ भाष्यकारश्चालना-प्रत्यवस्थानलक्षणं व्याख्याद्वयं दर्शयन्नाह—मक्खे° कां० ॥

आगाढेभ्यो रोगातङ्केभ्य इति सूत्रार्थः ॥ अथ भाष्यम्—

**मक्खेऊणं लिप्पइ, एस कमो होति वणतिगिच्छाए ।**
**जइ ते ण तं पमाणं, मा कुण किरियं सरीरस्स ॥ ६०१५ ॥**

परः प्राह—ननु व्रणचिकित्सायां पूर्वं व्रणो म्रक्षित्वा ततः पिण्डीप्रदानेन आलिप्यते, एष क्रमः, ततः प्रथमं म्रक्षणसूत्रमुक्त्वा पश्चादालेपनसूत्रं भणितुमुचितमिति भावः । यदि चैतद् 'ते' तव न प्रमाणं ततो मा शरीरस्य क्रियां कार्षीरिति ॥ ६०१५ ॥ सूरिराह—

**आलेवणेण पउणइ, जो उ वणो मक्खणेण किं तत्थ ।**
**होहिइ वणो व मा मे, आलेवो दिज्जई समणं ॥ ६०१६ ॥**

नायमेकान्तः यद् अवश्यं व्रणे म्रक्षणमालेपनं च द्वयमपि भवति, किन्तु कुत्रचिदेकतरं कुत्राऽप्युभयम्, ततो यः किल व्रण आलेपेन प्रगुणीभवति तत्र किं म्रक्षणेन कार्यम्? न किञ्चिदित्यर्थः । यद्वा मा मे व्रणो भविष्यति इति कृत्वा प्रथममेवालेपः 'शमनम्' औषधं दीयते ॥ ६०१६ ॥ किञ्च—

**अच्चाउरे उ कज्जे, करिंति जहलाभ कत्थ परिवाडी ।**
**अणुपुव्वि संतविभवे, जुज्जइ न उ सव्वजाईसु ॥ ६०१७ ॥**

'अत्यातुरे' आगाढे कार्ये यथालाभं आलेपो म्रक्षणं वा यः प्रथमं लभ्यते तेनैव चिकित्सां कुर्वन्ति[1] । कुत्र नाम 'परिपाटिः' क्रमो विद्यते? । इदमेव व्यनक्ति—यः 'सद्विभवः' विद्यमानविभूतिस्तत्र चिकित्सायां क्रियमाणायां 'आनुपूर्वी' चिकित्साशास्त्रभणिता परिपाटिः 'युज्यते' घटते, न पुनः सर्वजातिषु, अतः किमत्र क्रमनिरीक्षणेन? इति ॥ ६०१७ ॥[2]

**सुत्तम्मि कड्डियम्मि, आलेव ठविंति चउलहू होंति ।**
**आणाइणो य दोसा, विराहणा इमेहिँ ठाणेहिं ॥ ६०१८ ॥**

सूत्रार्थकथनेन सूत्रे आकृष्टे सति निर्युक्तिविस्तर उच्यते—यदि आलेपं रात्रौ स्थापयति तदा चतुर्लघु, आज्ञादयश्च दोषाः, विराधना चामीभिः स्थानैर्भवति ॥ ६०१८ ॥[3]

**निद्धे दवे पणीए, आवज्जण पाण तक्कणा झरणा ।**
**आयंक विवच्चासे, सेसे लहुगा य गुरुगा य ॥ ६०१९ ॥**

[4]स्निग्धे द्रवे प्रणीते आलेपे स्थापिते प्राणिनामापतनं तर्कणं 'क्षरणं च' तस्य द्रवादेः स्यन्दनं भवति । अत्र दोषभावना प्राग्वत् । 'आतङ्के च' रोगे विपर्यासेन क्रियाकरणे वक्ष्यमाणं प्रायश्चित्तम् । "सेसि" त्ति आगाढा-ऽनागाढकारणमन्तरेण यदि परिवासयति ततः प्राशुकादौ स्थाप्यमाने चतुर्लघु, अप्राशुकादौ चतुर्गुरु ॥ ६०१९ ॥ इदमेव व्याचष्टे—

---

१ °न्ति आयुर्वेदविदः । कुत्र कां० ॥ २ प्रदर्शितावाक्षेप-परिहारौ भाष्यकृता । सम्प्रति निर्युक्तिविस्तरः इत्यवतरणं कां० ॥ ३ तान्येव दर्शयति इत्यवतरणं कां० ॥ ४ स्निग्धं द्रवं प्रणीतं च त्रयमप्यनन्तरसूत्रे व्याख्यातम् । एवंविधे त्रिविधेऽपि आलेपे स्थापिते 'प्राणिनां' मक्षिकाप्रभृतीनामापतनं 'तर्कणं च' गृहकोलिकादीनां तान् प्रति अभिलाषः 'क्षरणं च' तस्य द्रवादेः भाजनात् स्यन्दनं कां० ॥

ति चिय संचयदोसा, तयाविसे लाल छिवण लिहणं वा ।
अंबीभूयं बिइए, उज्झमणुज्झंति जे दोसा ॥ ६०२० ॥

त एव सञ्चयादयो दोषा[1] मन्तव्याः, त्वग्विषः सर्पः स्पृशेत्, लालाविषो वा जिह्वया लेहनं कुर्यात्, द्वितीये च दिनेऽम्लीभूतं तदुज्झ्यते, अनुज्झतो वा [2]ये दोषास्तान् प्राप्नोति ॥६०२०॥

यत एते दोषास्ततः—

दिवसे दिवसे गहणं, पिट्ठमपिट्ठे य होइ जयणाए ।
आगाढे निक्खिवणं, अपिट्ठ पिट्ठे य जयणाए ॥ ६०२१ ॥

यदा ग्लानार्थमालेपेन प्रयोजनं भवति तदा दिवसे दिवसे ग्रहणं विधेयम् । तत्र प्रथमं पिष्टस्य पश्चादपिष्टस्यापि यतनया ग्रहणं कर्तव्यं भवति । आगाढे च ग्लानत्वे आलेपस्य निक्षेपणं' परिवासनमपि कुर्यात्, तदप्यपिष्टस्य पिष्टस्य वा यतनया कर्तव्यम् ॥ ६०२१ ॥

अथातश्चव्यत्यासं व्याख्याति—

आगाढे अणागाढं, अणगाढे वा वि कुणइ आगाढं ।
एवं तु विवच्चासं, कुणइ व वाए कफतिगिच्छं ॥ ६०२२ ॥

आगाढे ग्लानत्वेऽनागाढां क्रियां करोति चतुर्गुरु । अनागाढे वा आगाढां करोति चतुर्लघु । यद्वा वाते चिकित्सनीये कफचिकित्सां करोति, ◁ [3]उपलक्षणमिदम्, तेन कफे चिकित्सनीये वातं चिकित्सते इत्याद्यपि द्रष्टव्यम् । ▷ एष विपर्यासो मन्तव्यः ॥ ६०२२ ॥

अथ "सेसे लहुगा य गुरुगा य" ( गा० ६०१९ ) त्ति पदं व्याचष्टे—

अगिलाणो खलु सेसो, दव्वाईतिविहआवइजढो वा ।
पच्छित्ते मग्गणया, परिवासिंतस्सिमा तस्स ॥ ६०२३ ॥

'शेषो नाम' य आगाढोऽनागाढो वा ग्लानो न भवति, यो वा द्रव्य-क्षेत्र-कालपद्भेदात् त्रिविधया आपदा 'जढः' मुक्तः[4] स शेष उच्यते । तस्य परिवासयत इयं प्रायश्चित्तमार्गणा ॥६०२३॥

फासुगमफासुगे वा, अचित्त चित्ते परित्तऽणंते वा ।
असिणेह सिणेहगए, अणहाराऽऽहार लहु-गुरुगा ॥ ६०२४ ॥

प्राशुकं स्थापयति चतुर्लघु, अप्राशुकं स्थापयति चतुर्गुरु । अचित्ते स्थाप्यमाने चतुर्लघु, सचित्ते चतुर्गुरु । परीत्ते चतुर्लघु, अनन्ते चतुर्गुरु । अस्नेहे चतुर्लघु, 'स्नेहगते' स्नेहावगाढे चतुर्गुरु । अनाहारे चतुर्लघु, आहारे चतुर्गुरु ॥ ६०२४ ॥

सूत्रम्—

**नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पारियासिएणं तिल्लेण वा घएण वा नवणीएण वा वसाए वा**

---

१ °षाः पूर्वसूत्रोक्ताः मन्तव्याः । तथा त्वग्विषः सर्पः स्पृशेत् । "स्पृशः फास-फंस-फरिस-छिव-छिहा°" इत्यादि ( सिद्धहे० ८-४-१८२ ) वचनात् स्पृशः छिवादेशः । लाला° कां० ॥ २ ये संयमा-ऽऽत्मविराधनासमुत्था दोषा कां० ॥ ३ ◁ ▷ एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठः कां० एव वर्तते ॥ ४ °वा मुक्त इत्युक्तम् । तस्य चाग्लानस्य त्रिविधापन्मुक्तस्य च रात्रौ परि° कां० ॥

**गायं अब्भंगित्तए वा मक्खित्तए वा; नन्नत्थ आगा-
ढेहिं रोगायंकेहिं ४० ॥**

अस्य सम्बन्धमाह—

**ससिणेहो असिणेहो, दिज्जइ मक्खित्तु वा तगं देंति ।**
**सव्वो वा णालिप्पइ, दुहतो वा मक्खणे सूया ॥ ६०२५ ॥**

आलेपः सस्नेहोऽस्नेहो वा दीयते, ततो यथा स्नेहेन म्रक्षणं क्रियते न वा तथाऽनेनाभिधीयते। यद्वा व्रणं म्रक्षित्वा 'तकम्' अनन्तरसूत्रोक्तमालेपं प्रयच्छन्ति । न वा सर्वोऽपि व्रण आलेप्यते । द्विधा वा म्रक्षणे सूचा कृता, व्रणोऽपि म्रक्ष्यते आलेपोऽपि म्रक्षितुं दीयत इति भावः ॥६०२५॥

अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य व्याख्या—नो कल्पते परिवासितेन तैलेन वा घृतेन वा नवनीतेन वा वसया वा गात्रम् 'अभ्यङ्क्तुं वा' बहुकेन तैलादिना 'म्रक्षितुं वा' स्वल्पेन तैलादिना, नान्यत्र गाढागाढेभ्यो रोगातङ्केभ्यः, तान् मुक्त्वा न कल्पते । दोषाश्चात्र त एव सञ्चयादयो मन्तव्याः ॥ आह—यद्येवं परिवासितेन न कल्पते म्रक्षितुं ततस्तद्दिवसानीतेन कल्पिष्यते ? सूरिराह—

**तद्दिवसमक्खणम्मिं, लहुओ मासो उ होइ बोधव्वो ।**
**आणाइणो विराहण, धूलि सरक्खे य तसपाणा ॥ ६०२६ ॥**

तद्दिवसानीतेनापि यदि म्रक्षयति तदा लघुमासः आज्ञादयश्च दोषाः, विराधना च संयमस्य भवति । तथाहि—म्रक्षिते गात्रे धूलिर्लगति, 'सरजस्को वा' सचित्तरजोरूपो वातेनोद्धूतो लगति, तेन चीवराणि मलिनीक्रियन्ते, तेषां धावने संयमविराधना, स्नेहगन्धेन वा त्रसप्राणिनो लगन्ति तेषां विराधना भवेत् ॥ ६०२६ ॥

**धुवणा-ऽधुवणे दोसा, निसिभत्तं उप्पिलावणं चेव ।**
**बउसत्त समुइ तलिया, उव्वट्टणमाइ पलिमंथो ॥ ६०२७ ॥**

स्नेहेन मलिनीकृतानां चीवराणां गात्राणां वा धावना-ऽधावनयोरुभयोरपि दोषाः, तथाहि—यदि न धाव्यन्ते तदा निशिभक्तम्, अथ धाव्यन्ते ततः प्राणिनामुत्प्लावना भवेत्, उपकरण-शरीरयोर्बकुशत्वं च भवति । "समुइ" त्ति स एव हेवाको लगति । म्रक्षिते च गात्रे पादयोर्मा धूली लगिष्यतीति कृत्वा तलिकाः पिनह्यति, तत्र गर्वो निर्मार्दवतेत्यादयो ( गा० ३८५६ ) दोषाः । यावच्च गात्रस्योद्वर्तनादिकं करोति तावत् सूत्रार्थपरिमन्थो भवति ॥ ६०२७ ॥

---

१ आगाढाणागाढे° कां० ॥ २ व्रणस्यालेपः सस्नेहोऽस्नेहो वा दीयते । तत्र यथाऽस्नेहो दातव्यस्तथा पूर्वसूत्रे उक्तम् । सस्नेहे त्वालेपे दातव्ये यथा स्नेहेन म्रक्षणं क्रियते न वा तथाऽनेन सूत्रेण विधिरभिधीयते । यद्वा व्रणं म्रक्षित्वा 'तकम्' अनन्तरसूत्रोक्तमालेपं प्रयच्छन्ति, अतोऽपि म्रक्षणसूत्रमवश्यं वक्तव्यम् । न वा सर्वोऽपि व्रण आलेप्यते किन्तु कोऽपि केवलं म्रक्ष्यत एवेति म्रक्षणसूत्रमारभ्यते । द्विधा वा म्रक्षणे सूचा कां० ॥ ३ °न्यत्रागाढा-ऽनागाढे° कां० ॥ ४ यदि भगवत्प्रतिषिद्धमिति कृत्वा धावनं न करोति तदा निशि° कां० ॥

**तद्दिवसभक्खणेण उ, दिट्ठा दोसा जहा उ भक्खिज्जा ।**
**अद्धाणेणुव्वाए, वाय अरुग कच्छु जयणाए ॥ ६०२८ ॥**

तद्दिवसभक्षणेन जनिता एते दोषा दृष्टाः । द्वितीयपदे यथा भक्षयेत् तथाऽभिधीयते— अध्वगमनेनातीव 'उद्वातः' परिश्रान्तः, वातेन वा कटी गृहीता, 'अरुः' व्रणं तद्वा शरीरे जातम्, 'कच्छुः' पामा तया वा कोऽपि गृहीतस्ततो यतनया भक्षयेदपि ॥६०२८॥ तामेवाह—

**सन्नाईकयकज्जो, थुविउं भक्खेउ अच्छए अंतो ।**
**परिपीय गोमयाई, उव्वट्टुण धोव्वणा जयणा ॥ ६०२९ ॥**

संज्ञागमनम् आदिशब्दाद् भिक्षागमनादिकं च कार्यं कृतं येन स संज्ञादिकृतकार्यः, सर्वाणि बहिर्गमनकार्याणि समाप्येत्यर्थः । स यावन्मात्रं गात्रं भक्षणीयं तावन्मात्रमेव धावित्वा प्रक्षाल्य ततो भक्षयति । भक्षयित्वा च प्रतिश्रयस्यान्तः तावदास्ते यावत् तेन गात्रेण तत् तैलादिकं भक्षणं परिपीतं भवति । ततो गोमयादिना तस्योद्वर्तनं कृत्वा यतनया यथा प्राणिनां प्लावना न भवति तथा धावनं कार्यम् ॥ ६०२९ ॥

**जह कारणे तद्दिवसं, तु कप्पई तह भवेज्ज इयरं पि ।**
**आयरियवाहि वसभेहि पुच्छिए विज्ज संदेसो ॥ ६०३० ॥**

यथा कारणे तद्दिवसानीतं भक्षणं कल्पते तथा 'इतरदपि' परिवासितं भक्षणं कारणे कल्पते । कथम् ? इति चेद् अत आह—आचार्यस्य कोऽपि व्याधिरुत्पन्नः, ततो वृषभैर्वैद्यः पूर्वोक्तेन विधिना प्रष्टव्यः । तेन च पृष्टेन 'सन्देशः' उपदेशो दत्तो भवेत्, यथा—शतपाकादीनि तैलानि यदि भवन्ति ततश्चिकित्सा क्रियते ॥ ६०३० ॥ ततः किं कर्तव्यम् ? इत्याह—

**सयपाग सहस्सं वा, सयसहस्सं व हंस-मरुतेल्लं ।**
**दूराओ वि य असई, परिवासिज्जा जयं धीरे ॥ ६०३१ ॥**

शतपाकं नाम तैलं तद् उच्यते यद् औषधानां शतेन पच्यते, यद्वा एकेनाप्यौषधेन शतवाराः पक्वम् । एवं सहस्रपाकं शतसहस्रपाकं च मन्तव्यम् । हंसपाकं नाम हंसेन—औषधसम्भारभृतेन यत् तैलं पच्यते । मरुतैलं—मरुदेशे पर्वतादुत्पद्यते । एवंविधानि दुर्लभद्रव्याणि प्रथमं तद्दैवसिकानि मार्गणीयानि । अथ दिने दिने न लभ्यन्ते ततः पञ्चकपरिहाण्या चतुर्गुरुमासो दूरादप्यानीय 'धीरः' गीतार्थो 'यतनया' अल्पसागारिके स्थाने मदनचीरेण वेष्टयित्वा परिवासयेत् ॥ ६०३१ ॥ इदमेव सुव्यक्तमाह—

**एयाणि भक्खणट्ठा, पियणट्ठा एव पतिदिणालंभे ।**
**पणहाणीए जइउं, चउगुरुपत्तो अदोमाओ ॥ ६०३२ ॥**

'एतानि' शतपाकादीनि तैलानि भक्षणार्थं पानार्थं वा प्रतिदिनं यदि न लभ्यन्ते ततः पञ्चकपरिहाण्या यतित्वा चतुर्गुरुकं यदा प्राप्तो भवति तदा परिवासयन्नपि 'अदोषः' न प्रायश्चित्तभाक् । सर्वथैवालाभे गुरूणां हेतोरात्मनाऽपि यतनया पचन्ति ॥ ६०३२ ॥

**॥ परिवासितप्रकृतं समाप्तम् ॥**

---

१ °भ् । एवा जयतो भक्खा ॥६०२९॥ जह कां० ॥ २ अदोसाय तामा० । अदोसो उ भा० ॥

## व्य व हा र प्र कृ त म्

सूत्रम्—

**परिहारकप्पट्ठिए भिक्खू बहिया थेराण वेयावडियाए गच्छेज्जा, से य आहच्च अइक्कमिज्जा, तं च थेरा जाणिज्जा अप्पणो आगमेणं अन्नेसिं वा अंतिए सुच्चा, ततो पच्छा तस्स अहालहुसए नाम ववहारे पट्ठवेयव्वे सिया ४१ ॥**

अस्य सम्बन्धमाह—

**निक्कारणपडिसेवी, अजयणकारी व कारणे साहू ।**
**अदुवा चिअत्तकिच्चे, परिहारं पाउणे जोगो ॥ ६०३३ ॥**

निष्कारणे गात्रप्रक्षणादिकं प्रतिसेवितुं शीलमस्येति निष्कारणप्रतिसेवी सः, तथा कारणे वा यो 'अयतनाकारी' पूर्वोक्तयतनां विना गात्रप्रक्षणविधायी साधुः, अथवा यः 'त्यक्तकृत्यः' नीरुग्भूतोऽपि तदेव प्रक्षणादिकमुपजीवति स परिहारतपः प्राप्नुयादिति 'योगः' सम्बन्धः ॥ ६०३३ ॥

अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य व्याख्या—परिहारकल्पस्थितो भिक्षुः 'बहिः' अन्यत्र नगरादौ 'स्थविराणाम्' आचार्याणामादेशेन वैयावृत्यार्थं गच्छेत् । किमुक्तं भवति ?—अन्यस्मिन् गच्छे केषाञ्चिदाचार्याणां वादी नास्तिकादिक उपस्थितः, तेषां च नास्ति वादलब्धिसम्पन्नः, ततस्ते येषामाचार्याणां स परिहारिकस्तेषामन्तिके सङ्घाटकं प्रेषयन्ति, स च सङ्घाटको ब्रूते—वादिनं कमपि मुत्कलयत । एवमुक्ते ते आचार्याः परिहारिकं परवादिनिग्रहक्षमं मत्वा तत्र प्रेषयन्ति । ततस्तदादेशादसौ परिहारतपो वहमान एव तत्र गच्छेत् । इदं च महत् प्रवचनस्य वैयावृत्यं यद् अग्लान्या परवादिनिग्रहणम्, ततस्तदर्थं गतः 'सः' परिहारिकः "आहच्च" कदाचिद् 'अतिक्रामेत्' पादधावनादिकं प्रतिसेवेत, 'तच्च' प्रतिसेवनं 'स्थविराः' मौलाचार्या आत्मनः 'आगमेन' अवध्याद्यतिशयज्ञानेनान्येषां वाऽन्तिके श्रुत्वा जानीयुः । 'ततः पश्चात्' तत्परिज्ञानानन्तरं 'तस्य' परिहारिकस्य 'यथालघुस्वको नाम' स्तोकप्रायश्चित्तरूपो व्यवहारः प्रस्थापयितव्यः स्यादिति सूत्रार्थः ॥ अथ भाष्यम्—

**परिहारिओ य गच्छे, आसण्णे गच्छ वाइणा कज्जं ।**
**आगमणं तहिँ गमणं, कारण पडिसेवणा वाए ॥ ६०३४ ॥**

परिहारिकः क्वापि गच्छे विद्यते, कचिच्चासन्नेऽन्यगच्छे वादिना कार्यमुत्पन्नम्, ततः 'तत्र' गच्छे 'आगमनम्' अन्यगच्छात् सङ्घाटक आगतः, तेन च 'वादी प्रेष्यताम्' इत्युक्ते गुरोरादेशात् परिहारतपोवहमानस्यैव तस्य तत्र गमनम्, तत्र गतेन तेन परवादी राजसभास-

मक्षं निष्पिष्टप्रश्न-व्याकरणः कृतः, ततः प्रवचनस्य महती प्रभावना समजनि, तेन च वादस्य कारणेऽमूनि प्रतिसेवितानि भवेयुः ॥ ६०३४ ॥

**पाया व दंता व सिया उ धोया, वा-बुद्धिहेतुं व पणीयभत्तं ।**
**तं वातिगं वा मइ-सत्तहेउं, सभाजयट्ठा सिचयं व सुक्कं ॥ ६०३५ ॥**

पादौ वा दन्ता वा प्रवचनजुगुप्सापरिहारार्थं धौताः 'स्युः' भवेयुः । 'प्रणीतभक्तं वा' घृत-दुग्धादिकं "वा-बुद्धिहेतुं व" त्ति वाग्धेतोर्बुद्धिहेतोश्च भुक्तं भवेत्, "घृतेन वर्धते मेधा" इत्यादिवचनात् । 'वातिकं नाम' विकटं तद्वा मतिहेतोः सत्त्वहेतोर्वा सेवितं भवेत् । मतिर्नाम—परवाद्युपन्यस्तस्य साधनस्यापूर्वापूर्वदूषणोद्धारमको ज्ञानविशेषः, सत्त्वं—प्रभूत-प्रभूततरभाषणे प्रवर्द्धमान आन्तर उत्साहविशेषः । सभाजयार्थं वा शुक्लं 'सिचयं' वस्त्रं प्रावृतं भवेत्, "जिता वस्त्रवता सभा" इति वचनात् ॥ ६०३५ ॥

**थेरा पुण जाणंती, आगमओ अहव अण्णओ सुच्चा ।**
**परिसाए मज्झम्मि, पट्ठवणा होइ पच्छित्ते ॥ ६०३६ ॥**

एवमादिकं तेन प्रतिसेवितं 'स्थविराः' सूरयः पुनरागमतो जानीयुः, अथवा अन्यतः श्रुत्वा, ततस्तस्य भूयः समागतस्य पर्षन्मध्ये प्रायश्चित्तस्य प्रस्थापना कर्तव्या भवति ॥ ६०३६ ॥

इदमेव व्याचष्टे—

**नव-दस-चउदस-ओही-मणनाणी केवली य आगमिउं ।**
**सो चेवऽण्णो उ भवे, तदणुचरो वा वि उवगो वा ॥ ६०३७ ॥**

ये स्थविरा नवपूर्विणो दशपूर्विणश्चतुर्दशपूर्विणोऽवधिज्ञानिनो मनःपर्यायज्ञानिनः केवलज्ञानिनो वा ते 'आगम्य' अतिशयेन ज्ञात्वा प्रायश्चित्तं दद्युः । अन्यो नाम 'स एव' परिहारिकस्तन्मुखादालोचनाद्वारेण श्रुत्वा, यद्वा ये तस्य—परिहारिकस्यानुचराः—सहायाः प्रेषितास्तैः कथितम्; 'उवको नाम' अन्यः कोऽपि तिर्यगापतितो मिलितः, तेषां गच्छसत्को न भवतीत्यर्थः, तेन वा कथितम्, यथा—एतेनामुकं पादधावनादिकं प्रतिसेवितम् ॥ ६०३७ ॥ ततः—

**तेसिं पच्चयहेउं, जे पेसविया सुयं व तं जेहिं ।**
**भयहेउ सेसगाण य, इमा उ आरोवणारयणा ॥ ६०३८ ॥**

ये तेन सार्द्धं प्रेषिता यैर्वाऽप्रेषितैरपि प्रतिसेवनं श्रुतं 'तेषाम्' उभयेषामप्यपरिणामकानां प्रत्ययहेतोः 'शेषाणां च' अतिपरिणामिकानां भयोत्पादनहेतोरियम् 'आरोपणारचना' व्यवहारप्रस्थापना सूरिभिः कर्तव्या ॥ ६०३८ ॥

**गुरुओ गुरुअतराओ, अहागुरूओ य होइ ववहारो ।**
**लहुओ लहुयतराओ, अहालहू होइ ववहारो ॥ ६०३९ ॥**
**लहुसो लहुसतराओ, अहालहूसो अ होइ ववहारो ।**
**एतेसिं पच्छित्तं, वुच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥ ६०४० ॥**

व्यवहारस्त्रिविधः, तद्यथा—गुरुको लघुको लघुस्वकश्च । तत्र यो गुरुकः स त्रिविधः,

---

**१ धोया, बुद्धीय हेतुं** ताभा० ॥ २ 'तु । 'तदिति' लोकप्रसिद्धं 'वातिकं नाम' कां० ॥

तद्यथा—गुरुको गुरुतरको यथागुरुकश्च । लघुकोऽपि त्रिविधः, तद्यथा—लघुर्लघुतरो यथालघुश्च । लघुस्वकोऽपि त्रिविधः, तद्यथा—लघुस्वको लघुस्वतरको यथालघुस्वकश्च । एतेषां व्यवहाराणां 'यथानुपूर्व्या' यथोक्तपरिपाट्या प्रायश्चित्तं वक्ष्यामि । किमुक्तं भवति ?—एतेषु व्यवहारेषु समुपस्थितेषु यथापरिपाट्या प्रायश्चित्तपरिमाणमभिधास्ये ॥ ६०३९ ॥ ६०४० ॥

यथाप्रतिज्ञातमेव करोति—

गुरुगो य होइ मासो, गुरुगतरागो भवे चउम्मासो ।
अहगुरुगो छम्मासो, गुरुगे पक्खम्मि पडिवत्ती ॥ ६०४१ ॥

गुरुको नाम व्यवहारः 'मासः' मासपरिमाणः, गुरुके व्यवहारे समापतिते मास एकः प्रायश्चित्तं दातव्य इति भावः । एवं गुरुतरको भवति 'चतुर्मासः' चतुर्मासपरिमाणः । यथागुरुकः 'षण्मासः' षण्मासपरिमाणः । एषा 'गुरुकपक्षे' गुरुकव्यवहारे त्रिविधे यथाक्रमं प्रायश्चित्तप्रतिपत्तिः ॥ ६०४१ ॥ सम्प्रति लघुक-लघुस्वकव्यवहारविषयं प्रायश्चित्तपरिमाणमाह—

तीसा य पण्णवीसा, वीसा वि य होइ लहुयपक्खम्मि ।
पन्नरस दस य पंच य, अहालहुसगम्मि सुद्धो वा ॥ ६०४२ ॥

लघुको व्यवहारस्त्रिंशद्दिवसपरिमाणः, एवं लघुतरकः पञ्चविंशतिदिनमानः, यथालघुको विंशतिदिनमानः, एषा लघुकव्यवहारे त्रिविधे यथाक्रमं प्रायश्चित्तप्रतिपत्तिः । लघुस्वको व्यवहारः पञ्चदशदिवसप्रायश्चित्तपरिमाणः, एवं लघुस्वतरको दशदिवसमानः, यथालघुस्वकः 'पञ्चदिवसानि' पञ्चदिवसप्रायश्चित्तपरिमाणः । यद्वा यथालघुस्वके व्यवहारे 'शुद्धः' न प्रायश्चित्तभाक् ॥ ६०४२ ॥ अथ कं व्यवहारं केन तपसा पूरयति ? इति प्रतिपादनार्थमाह—

गुरुगं च अट्ठमं खलु, गुरुगतरागं च होइ दसमं तु ।
अहगुरुग दुवालसमं, गुरुगे पक्खम्मि पडिवत्ती ॥ ६०४३ ॥

गुरुकं व्यवहारं मासपरिमाणमष्टमं कुर्वन् पूरयति । किमुक्तं भवति ?—गुरुकं व्यवहारं मासपरिमाणमष्टमेन वहति । तथा गुरुकतरकं चतुर्मासप्रमाणं व्यवहारं दशमं कुर्वन् पूरयति, दशमेन वहतीत्यर्थः । यथागुरुकं षण्मासप्रमाणं 'द्वादशं कुर्वन्' द्वादशेन वहन् पूरयति । एषा 'गुरुकपक्षे' गुरुव्यवहारपूरणविषये तपःप्रतिपत्तिः ॥ ६०४३ ॥

छट्ठं च चउत्थं वा, आयंबिल एगठाण पुरिमड्ढं ।
निव्वीयं दायव्वं, अहालहुसगम्मि सुद्धो वा ॥ ६०४४ ॥

लघुकं व्यवहारं त्रिंशद्दिनपरिमाणं षष्ठं कुर्वन् पूरयति, लघुतरकं पञ्चविंशतिदिवसपरिमाणं व्यवहारं चतुर्थं कुर्वन्, यथालघुकं व्यवहारं विंशतिदिवसमानमाचाम्लं कुर्वन् पूरयति । एषा लघुकत्रिविधव्यवहारपूरणे तपःप्रतिपत्तिः । तथा लघुस्वकव्यवहारं पञ्चदशदिवसपरिमाणमेकस्थानकं कुर्वन् पूरयति, लघुस्वतरकं व्यवहारं दशदिवसपरिमाणं पूर्वार्द्धं कुर्वन्, यथालघुस्वकव्यवहारं पञ्चदिनप्रमाणं निर्विकृतिकं कुर्वन् पूरयति । एतेषु गुरुतरादिषु व्यवहारेष्वनेनैव क्रमेण तपो दातव्यम् । यदि वा यथालघुस्वके व्यवहारे प्रस्थापयितव्ये स प्रतिपन्नपरिहारस्तपः-

१ एतदनन्तरम्—ग्रन्थाग्रम्—७५०० इति कां० ॥

प्रायश्चित्त एवमेवालोचनाप्रदानमात्रतः शुद्धः क्रियते, कारणे यतनया प्रतिसेवनात् ॥६०४४॥

एवं प्रस्तारं रचयित्वा सूरयो भणन्ति—

जं इत्थं तुह रोयइ, इमे व गिण्हाहि अंतिमे पंच ।
इत्थं व भमाडेउं, जं अक्कमते तगं वहइ ॥ ६०४५ ॥

यद् 'अत्र' अमीषां प्रायश्चित्तानां मध्ये तव रोचते तद् गृहाण, अमूनि वाऽन्तिमानि पञ्च-रात्रिन्दिवानि गृहाण । एवमुक्ते स यथालघुस्वकं प्रायश्चित्तं गृह्णाति । अथवा हस्तं भ्रामयित्वा यत् प्रायश्चित्तं गुरव आक्रामन्ति तकद् गृह्णाति ॥ ६०४५ ॥ सूरयश्चेदं तं प्रति भणन्ति—

उब्भावियं पवयणं, थोवं ते तेण मा पुणो कासि ।
अइपरिणएसु अन्नं, बेइ वहंतो तगं एयं ॥ ६०४६ ॥

त्वया परवादिनं निगृह्णता प्रवचनमुद्भावितं तेन स्तोकं ते प्रायश्चित्तं दत्तम्, मा पुनर्भूयोऽप्येवं कार्षीः । अथातिपरिणता अपरिणताश्च चिन्तयेयुः—'एष तावद् एतावन्मात्रेण मुक्तः' इति ततो यदि तस्य 'अन्यद्' अपरं प्राचीनं तपोऽपूर्णं तदा तदेव वहमानोऽतिपरिणामिकादीनां पुरतो गुरून् भणति—एतत् प्रायश्चित्तं युष्माभिर्दत्तं वहामीति ॥ ६०४६ ॥

॥ व्यवहारप्रकृतं समाप्तम् ॥

---

## पु ला क भ क्त प्र कृ त म्

सूत्रम्—

**निग्गंथीए य गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठाए अन्नयरे पुलागभत्ते पडिग्गाहिए सिया, सा य संथरिज्जा, कप्पइ से तद्दिवसं तेणेव भत्तट्ठेणं पज्जोसवित्तए, नो से कप्पइ दुच्चं पि गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए पविसित्तए; सा य नो संथरेज्जा, एवं से कप्पइ दुच्चं पि गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए पविसित्तए ४२ ॥**

अस्य सम्बन्धमाह—

उत्तरियपच्चयट्ठा, सुत्तमिणं मा हु हुज्ज बहिभावो ।
जससारक्खणमुभए, सुत्तारंभो उ वइणीए ॥ ६०४७ ॥

---

१ अपरिणयस्स अन्नं ताभा० । एतदनुसारेणैव चूर्णिः । दृश्यतां टिप्पणी २ ॥ २ अथातिपरिणताश्चिन्त° मो० ले० । "जति य अपरिणामया चिंतेज्जा—एस एत्तिलएणं मुक्को" इत्यादि चूर्णौ । "अतिपरिणया चिंतेज्जा—एस एत्तिलएणं मुक्को" इत्यादि विशेषचूर्णौ ॥

लोकोत्तरिकाणाम्—अपरिणामका-ऽतिपरिणामकानां प्रत्ययार्थं सूत्रमिदमनन्तरमुक्तम्, मा तेषां बहिर्भावो भवेदिति कृत्वा । अयं तु व्रतिनीविषयः प्रस्तुतसूत्रस्यारम्भः 'उभये' लोके लोकोत्तरे च यशःसंरक्षणार्थं क्रियते ॥ ६०४७ ॥

अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य व्याख्या—निर्ग्रन्थ्या गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञयाऽनुप्रविष्टया 'अन्यतरद्' धान्य-गन्ध-रसपुलाकानां वल्ल-विकट-दुग्धादिरूपाणामेकतरं पुलाकभक्तं प्रतिगृहीतं स्यात्, सा च तेनैव भुक्तेन 'संस्तरेत्' दुर्भिक्षाद्यभावाद् निर्वहेत्, ततः कल्पते तस्यास्तद्दिवसं तेनैव भक्तार्थेन 'पर्युषितुं' निर्वाहयितुम् । नो "से" तस्याः कल्पते द्वितीयमपि वारं गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया प्रवेष्टुम् । अथ सा न संस्तरेत् ततः कल्पते तस्या द्वितीयमपि वारं गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया प्रवेष्टुमिति सूत्रार्थः ॥

अथ निर्युक्ति-भाष्यविस्तरः—

**तिविहं होइ पुलागं, धण्णे गंधे य रसपुलाए य[3] ।**
**चउगुरुगाऽऽयरियाई, समणीणुद्दरग्गहणे ॥ ६०४८ ॥**

त्रिविधं पुलाकं भवति, तद्यथा—धान्यपुलाकं गन्धपुलाकं रसपुलाकं चेति । एतत् सूत्रमाचार्यः प्रवर्तिन्या न कथयति चतुर्गुरु, आदिशब्दात् प्रवर्तिनी निर्ग्रन्थीनां न कथयति चतुर्गुरु, निर्ग्रन्थ्यो न प्रतिशृण्वन्ति मासलघु । श्रमणीनामपि ऊर्द्धदरे—सुभिक्षे पुलाकं गृह्णतीनां चतुर्गुरु ॥ ६०४८ ॥ अथ त्रीण्यपि धान्यपुलाकादीनि व्याचष्टे—

**निप्फावाई धन्ना, गंधे वाइग-पलंडु-लसुणाई ।**
**खीरं तु रसपुलाओ, चिंचिणि-दक्खारसाईया ॥ ६०४९ ॥**

निष्पावाः—वल्लास्तदादीनि धान्यानि धान्यपुलाकम् । तथा वाइगं—विकटं पलाण्डु-लशुने च—प्रतीते तदादीनि यान्युत्कटगन्धानि द्रव्याणि तद् गन्धपुलाकम् । यत् पुनः क्षीरं यो वा चिञ्चिणिकायाः—अम्लिकाया रसो द्राक्षारसो वा आदिशब्दाद् अपरमपि यद् भुक्तमतिसारयति तत् सर्वमपि रसपुलाकम् ॥ ६०४९ ॥ अथ किमर्थमेतानि पुलाकान्युच्यन्ते ? इत्याह—

**आहारिया असारा, करेंति वा संजमाउ णिस्सारं ।**
**निस्सारं व पवयणं, दट्ठुं तस्सेविणिं विंति ॥ ६०५० ॥**

इह पुलाकमसारमुच्यते, तत आहारितानि सन्ति वल्लादीनि यतोऽसाराणि ततः पुलाकानि भण्यन्ते । 'संयमाद्वा' संयममङ्गीकृत्य यतः क्षीरादीनि निःसारां साध्वीं कुर्वन्ति ततस्तान्यपि पुलाकानि । प्रवचनं वा निःसारं यतः 'तत्सेविनीं' तेषां—विकटादीनां सेवनशीलां संयतीं दृष्ट्वा जना ब्रुवते ततस्तानि पुलाकानि उच्यन्ते ॥ ६०५० ॥ एषु दोषानाह—

**आणाइणो य दोसा, विराहणा मज्जगंध मय खिंसा ।**
**निरोहेण व गेलण्णं, पडिगमणाईणि लज्जाए ॥ ६०५१ ॥**

---

१ "उत्तरिय" त्ति पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद् लोको° कां० ॥ २ °त्तम् 'इदम्' परिहारिकविषयमनन्तर° कां० ॥ ३ य । उद्दरे निग्गंथीण गेण्हणे चउगुरु आयरियमादी ॥ ताभा० ॥ ४ °स्याशङ्क्याह कां० ॥

एषां त्रयाणामपि पुलाकानां ग्रहणे आज्ञादयो दोषाः, विराधना च संयमा-ऽऽत्मविषया भवति । तथा गन्धपुलाके पीते सति मद्यगन्धमाघ्राय मदविह्वलां वा तां दृष्ट्वा लोकः खिंसां कुर्यात् । धान्यपुलाके पुनराहारिते वायुकायः प्रभूतो निर्गच्छति, ततो यदि भिक्षार्थं प्रविष्टा तस्य निरोधं करोति तदा ग्लानत्वं भवेत्, अथ वायुकायं करोति तत उड्डाहो भवेत्, उड्डाहिता च लज्जया प्रतिगमनादीनि कुर्यात् । एवं रसपुलाकेऽपि क्षीरादौ पीते भिक्षां प्रविष्टा यदि संज्ञामागच्छन्तीं निरुणद्धि ततो ग्लानत्वम्, अथ न निरुणद्धि ततो व्युत्सृजन्ती केनापि दृष्टा लज्जया प्रतिगमनादीनि कुर्यात् ॥ ६०५१ ॥ किञ्च—

**वसहीए वि गरहिया, किमु इत्थी बहुजणम्मि सक्खीवा ।**
**लाहुक्कं पिल्लणया, लज्जानासो पसंगो य ॥ ६०५२ ॥**

'स्त्री' निर्ग्रन्थी 'सक्षीबा' मद्यमदयुक्ता वसतावपि वसन्ती गर्हिता किं पुनर्बहुजने पर्यटन्ती ? । तथाहि—तां मदविह्वलां आपतन्तीं प्रपतन्तीं आलमालानि च प्रलपन्तीं दृष्ट्वा लोकः प्रवचनस्य "लाहुक्कं" लाघवं कुर्यात्—अहो ! मत्तवालपाखण्डमिदमित्यादि । मदेन चाचेतना सञ्जाता सती प्रार्थनीया सा भवति । तत उद्भ्रामकादयस्तस्याः 'प्रेरणां' प्रतिसेवनां कुर्युः । मदवशेन च यदपि तदपि प्रलपन्त्या लज्जानाशो भवेत् । ततश्च प्रतिसेवनादावपि प्रसङ्गः स्यात् ॥ ६०५२ ॥

**घुम्मइ गई सदिट्ठी, जहा य रत्ता सि लोयण-कवोला ।**
**अरहइ एस पुताई, णिसेवई सज्झए गेहे ॥ ६०५३ ॥**

तां तथामदभावितां दृष्ट्वा लोको ब्रूयात्—यथाऽस्या गतिः 'सदृष्टिः' दृष्टियुक्ता घूर्णते, यथा चास्या लोचन-कपोला रक्ता दृश्यन्ते तथा नूनमर्हत्येषा 'पुताकी' देशीवचनत्वाद् उद्भ्रामिका ईदृशीं विडम्बनामनुभवितुम् या 'सध्वजगेहानि' कल्पपालगृहाणि निषेवते ॥ ६०५३ ॥

त्रिविधेऽपि पुलाके यथायोगममी दोषाः—

**छक्कायाण विराहण, वाउभय-निसग्गओ अवन्नो य ।**
**उज्झावणमुज्झंती, सइ असइ दवम्मि उड्डाहो ॥ ६०५४ ॥**

मदविह्वला षण्णामपि कायानां विराधनां कुर्यात् । धान्यपुलाकेन क्षीरेण वा भुक्तेन वायुकाय उभयं च–संज्ञा-कायिकीरूपं समागच्छेत्, ततो भिक्षां हिण्डमाना यदि तेषां निसर्गं करोति ततः प्रवचनस्यावर्णो भवेत्, परावग्रहे वा व्युत्सृष्टं पुरीषादिकमवग्रहस्वामिनस्तस्याः पार्श्वाद् उज्झापयन्ति स्वयमेव वा ते गृहस्था उज्झन्ति । "सइ असइ दवम्मि उड्डाहु" त्ति अस्ति द्रवं परं कलुषं स्तोकं वा नास्ति वा मूलत एव द्रवं तत उभयथाऽपि प्रवचनस्योड्डाहो

---

१ अत्र क्षीबो मत्त इति यद्यप्येकार्थौ शब्दौ तथाप्यत्र क्षीबशब्दो भावप्रधानतया मदपर्यायः, ततोऽयमर्थः—'स्त्री' कां० ॥ २ °ला । रत्त त्ति एस खुत्ता, णिसेवई ताभा० ॥ ३ °हानि' ध्वजः–कल्पपालस्तेन सहितानि गृहा° कां० । "सज्झया कल्लालगिहा" इति चूर्णौ विशेषचूर्णौ च ॥ ४ गन्धपुलाके पीते सति मदविह्वला सा निर्ग्रन्थी षण्णामपि कायानां विराधनां कुर्यात् । वल्लादिरूपधान्यपुलाकेन क्षीरेण वा भुक्तेन यथाक्रमं वायु° कां० ॥ ५ तत एवं संज्ञाव्युत्सर्गानन्तरं सति असति वा द्रवे उभ° कां० ॥

भवेत् ॥ ६०५४ ॥[1]

**हिज्जो अह सक्खीवा, आसि ण्हं संखवाइभज्जा वा ।**
**भग्गा व णाए सुविही, दुद्दिट्ठ कुलम्मि गरहा य ॥ ६०५५ ॥**

'ह्यः' कल्ये अन्यस्मिन् दिने, 'अथ' इति उपप्रदर्शने, इयं 'सक्षीबा' मद्यमदयुक्ता आसीत् । "ण्हं" इति वाक्यालङ्कारे । एवं गन्धपुलाकं भुक्तवतीं संयतीं जना उपहसन्ति[2] । वायुकायशब्दं च श्रुत्वा ब्रवीरन्—अहो ! इयं शङ्खवादकस्य भार्या पूर्वमासीत्; यद्वा भग्नाऽनया इत्थं वायुकायेनाश्रान्तं पूरयन्त्या "सुविही" अङ्गणमण्डपिका एवं प्रपञ्चयेयुः । "दुद्दिट्ठ कुलम्मि गरिहा य" त्ति दुर्दृष्टधर्माणो अमी, कुलगृहं चैताभिरात्मीयं मलिनीकृतम्, एवं गर्हा भवति । ततश्च प्रतिगमनादयो दोषाः ॥ ६०५५ ॥ यत एवमतः—

**जहिँ एरिसो आहारो, तहिँ गमणे पुव्ववण्णिया दोसा ।**
**गहणं च अणाभोए, ओमे तहकारणेण गया ॥ ६०५६ ॥**

यत्र विषये 'ईदृशः' पुलाक आहारो लभ्यते तत्र निर्ग्रन्थीभिर्नैव गन्तव्यम् । यदि गच्छन्ति तदा त एव पूर्ववर्णिता दोषाः । [3]अथावमा-ऽशिवादिभिः कारणैर्गता भवेयुः, तत्र चानाभोगेन पुलाकभक्तस्य ग्रहणं भवेत् ॥ ६०५६ ॥ ततः किम् ? इत्याह—

**गहियमणाभोएणं, वाइग वज्जं तु सेस वा भुंजे ।**
**भिच्छुप्पियं तु भुत्तुं, जा गंधो ता न हिंडंती ॥ ६०५७ ॥**

यदि अनाभोगेन पुलाकं गृहीतं भवति तदा "वाइगं" विकटं तद् वर्जयित्वा [4]शेषं 'वा' विभाषया भुञ्जीरन् । किमुक्तं भवति ?—यदि तदपर्याप्तमन्यच्च भक्तं लभ्यते तदा न भुञ्जते किन्तु तत् परिष्ठाप्यान्यद् भक्तं गृह्णन्ति; अथ पर्याप्तं तदा भुञ्जते, भुक्त्वा च तेनैव भक्तार्थेन पर्युषयन्ति; विकटं तु सर्वथैव न भोक्तव्यम् । भिक्षुप्रियं नाम—पलाण्डु तत् पुनर्भुक्त्वा यावत् तदीयो गन्ध आगच्छति तावद् न हिण्डन्ते ॥ ६०५७ ॥[5]

**कारणगमणे वि तहिं, पुव्वं घेत्तूण पच्छ तं चेव ।**
**हिण्डण पिल्लण बिइए, ओमे तह पाहुणट्ठा वा ॥ ६०५८ ॥**

[6]अवमादिकारणैर्गतानामपि मद्य-पलाण्डु-लशुनान्येकान्तेन प्रतिषिद्धानि । अथ पूर्वमनाभोगादिना गृहीतं ततस्तद् गृहीत्वा पश्चात् तदेव भुक्त्वा तेनैव भक्तार्थेन तद्दिवसमासते न भूयो भिक्षामटन्ते । द्वितीयपदे द्वितीयमपि वारं भिक्षार्थं प्रविशेत् । 'अवमं' दुर्भिक्षं तत्र पर्याप्तं न लभ्यते प्राघुणिका वा संयत्यः समायातास्ततो भूयोऽपि भिक्षाहिण्डनं कुर्वाणानामियं यतना— "पिल्लण" त्ति धान्यपुलाके आहारिते यदि वायुकाय आगच्छेत् तत्रैकं पुनः पार्श्वं प्रेर्य वायु-

---

१ किञ्च इत्यवतरणं कां० ॥ २ °न्ति । धान्यपुलाकं च भुक्तवत्यास्तस्या वायु° कां० ॥ ३ अथ 'अवमे' दुर्भिक्षे "तहकारणेण" त्ति तथारूपेणान्येन वा अशिवादिना कारणेन गता कां० ॥ ४ 'शेषं' धान्यपुलाकादिकं 'वा' इति विभा° कां० ॥ ५ इदमेव सविशेषमाह इत्यवतरणं कां० ॥ ६ 'तत्र' तादृशेऽवमादिकारणैर्गमने सञ्जातेऽपि मद्य-पलाण्डु-लशुनादीनि गन्धपुलाकान्येकान्तेन कां० ॥

कायं निसृजन्ति । उपलक्षणमिदम्, तेन[1] यदा संज्ञासम्भवस्तदा यदि अन्यासां संयतीनामासन्ना वसतिस्तदा तत्र गन्तव्यम् । तदभावे भाविताया: श्राद्धिकायाः पुरोहडादौ व्युत्सर्जनीयम् ॥ ६०५८ ॥[2]

**एसेव गमो नियमा, तिविह पुलागम्मि होइ समणाणं ।**
**नवरं पुण णाणत्तं, होइ गिलाणस्स वइयाए ॥ ६०५९ ॥**

एष एव 'गमः' प्रकारो नियमात् त्रिविधेऽपि पुलाके श्रमणानामपि भवति । नवरं पुनरत्र नानात्वम्[3]—ग्लानस्य दुग्धादिकमानेतुं व्रजिकायां साधवो गच्छेयुः, तत्र च गताः संस्तरन्त आत्मयोग्यं रसपुलाकं न गृह्णन्ति, अथ न संस्तरन्ति ततः क्षीरादिकं भुक्त्वा न भूयो भिक्षामटन्ति । कारणे तु भूयोऽप्यटन्तस्तथैव यतनां कुर्वन्ति ॥ ६०५९ ॥

**॥ पुलाकभक्तप्रकृतं समाप्तम् ॥**

## ॥ इति श्रीकल्पाध्ययनटीकायां पञ्चमोद्देशकः समाप्तः ॥

श्रीमच्चूर्णिवचांसि तन्तव इह ज्ञेयास्तथा सद्गुरो-
राम्नायो नलकस्तुरी बुधजनोपास्त्युद्भवा चातुरी ।
इत्येतैर्वितताने साधकतमैः श्रीपञ्चमोद्देशके,[4]
जाड्यापोहपटीयसीमहमिमामच्छिद्रटीकापटीम् ॥

---

१ °न रसपुलाके भुक्ते सति यदा कां० ॥ २ अथ निर्ग्रन्थानाममुमेव विधिमतिदिशन्नाह इत्यवतरणं कां० ॥ ३ नानात्वं भवति—तेषां त्रिविधमपि पुलाकं गृह्णतां चतुर्लघुकाः प्रायश्चित्तम्, निर्ग्रन्थीनां तु चतुर्गुरुकमुक्तमिति विशेषः । तथा द्वितीयपदे ग्लानस्य कां० ॥ ४ इत्येते रचिताऽत्र साधकतमैः श्रीपञ्चमोद्देशके, जाड्यापोहपटीयसी स्व-परयोरर्थाय टीकापटी कां० ॥

# श्रीआत्मानन्द-जैनग्रन्थरत्नमालायामद्यावधि मुद्रितानां ग्रन्थानां सूची।

| ग्रन्थनाम. | | मूल्यम्. |
|---|---|---|
| × १ समवसरणस्तवः | सावचूरिकः | ०— १—० |
| × २ क्षुल्लकभवावलि-प्रकरणम् | सावचूरिकम् | ०— १—० |
| × ३ लोकनालिद्वात्रिंशिका | सटीका | ०— २—० |
| × ४ योनिस्तवः | सावचूरिकः | ०— १—० |
| × ५ कालसप्ततिका-प्रकरणम् | सावचूरिकम् | ०— १—६ |
| × ६ देहस्थितिस्तवः | सावचूरिकः | ०— १—० |
| × ७ सिद्धदण्डिका | सावचूरिका | ०— १—० |
| × ८ कायस्थितिस्तवः | सटीकः | ०— २—० |
| × ९ भावप्रकरणं | सटीकम् | ०— २—० |
| ×१० नवतत्त्वप्रकरणं | भाष्यटीकोपेतम् | ०—१२—० |
| ×११ विचारपञ्चाशिका | सटीका | ०— २—० |
| ×१२ बन्धषट्त्रिंशिका | सटीका | ०— २—० |
| ×१३ परमाणुखण्डषट्त्रिंशिका पुद्गलषट्त्रिंशिका निगोदषट्त्रिंशिका च | सटीका | ०— ३—० |
| ×१४ श्रावकव्रतभङ्ग-प्रकरणम् | सावचूरिकम् | ०— २—० |
| ×१५ देववन्दनादिभाष्य-त्रयं | सावचूरिकम् | ०— ५—० |
| ×१६ सिद्धपञ्चाशिका | सटीका | ०— २—० |
| १७ अन्नायउंछकुलकं | सावचूरिकम् | ०— २—० |
| १८ विचारसप्ततिका | सावचूरिका | ०— ३—० |
| १९ अल्पबहुत्वविचारगर्भितं महावीरस्तवनं महादण्डकस्तोत्रं च | सावचूरिकम् | ०— २—० |
| २० पञ्चसूत्रं | सटीकम् | ०— ६—० |
| २१ जम्बूस्वामिचरित्रम् | | ०— ४—० |
| २२ रत्नपालनृपकथानकम् | | ०— ५—० |
| २३ सूक्तरत्नावली | | ०— ४—० |
| २४ मेघदूतसमस्यालेखः | | ०— ४—० |
| २५ चेतोदूतम् | | ०— ४—० |
| ×२६ पर्युषणाष्टाहिकाव्याख्यानम् | | ०— ६—० |
| ×२७ चम्पकमालाकथा | | ०— ६—० |

| ग्रन्थनाम. | | मूल्यम्. |
|---|---|---|
| ×२८ सम्यक्त्वकौमुदी | | ०—१२—० |
| ×२९ श्राद्धगुणविवरणम् | | १— ०—० |
| ×३० धर्मरत्नप्रकरणं | सटीकम् | ०—१२—० |
| ×३१ कल्पसूत्रं | सुबोधिकाख्यया व्याख्ययोपेतम् | ०— ०—० |
| ×३२ उत्तराध्ययनसूत्रं | सटीकम् | ५— ०—० |
| ×३३ उपदेशसप्ततिका | | ०—१३—० |
| ×३४ कुमारपालप्रबन्धः | | १— ०—० |
| ×३५ आचारोपदेशः | | ०— ३—० |
| ×३६ रोहिण्यशोकचन्द्रकथा | | ०— २—० |
| ×३७ गुरुगुणषट्त्रिंशत्षट्त्रिंशिकाकुलकं | सटीकम् | ०—१०—० |
| ×३८ ज्ञानसारः | सटीकः | १— ४—० |
| ३९ समयसारप्रकरणं | सटीकम् | ०—१०—० |
| ×४० सुकृतसागरमहाकाव्यम् | | ०—१२—० |
| ×४१ धम्मिल्लकथा | | ०— २—० |
| ४२ प्रतिमाशतकं | लघुटीकायुतम् | ०— ८—० |
| ×४३ धन्यकथानकम् | | ०— २—० |
| ×४४ चतुर्विंशतिजिनस्तुतिसंग्रहः | | ०— ६—० |
| ×४५ रौहिणेयकथानकम् | | ०— २—० |
| ×४६ लघुक्षेत्रसमासप्रकरणं | सटीकम् | १— ०—० |
| ×४७ बृहत्संग्रहणी | सटीका | २— ८—० |
| ×४८ श्राद्धविधिः | सटीका | २— ७—० |
| ×४९ षड्दर्शनसमुच्चयः | सटीकः | ३— ०—० |
| ×५० पञ्चसंग्रहपूर्वार्द्धं | सटीकम् | ३— ८—० |
| ×५१ सुकृतसंकीर्तनम् | | ०— ८—० |
| ×५२ चत्वारः प्राचीनाः कर्मग्रन्थाः | सटीकाः | २— ८—० |
| ×५३ सम्बोधसप्ततिका | सटीका | ०— १—० |
| ×५४ कुवलयमालाकथा | | १— ८—० |
| ५५ सामाचारीप्रकरणं आराधक-विराधकचतुर्भङ्गी च | सटीका | ०— ८—० |
| ५६ करुणावज्रायुधनाटकम् | | ०— ४—० |
| ×५७ कुमारपालमहाकाव्यम् | | ०— ८—० |

| ग्रन्थनाम. | मूल्यम्. |
|---|---|
| ५८ महावीरचरियम् | १— ०—० |
| ५९ कौमुदीमित्रानन्दं नाटकम् | ०— ६—० |
| ६० प्रबुद्धरौहिणेयनाटकम् | ०— ५—० |
| ६१ धर्माभ्युदयनाटकं सूक्तावली च | ०— ४—० |
| ६२ पञ्चनिर्ग्रन्थीप्रकरणम् सटीकम् | ०— ६—० |
| ६३ रयणसेहरीकहा | ०— ६—० |
| ६४ सिद्धप्राभृतं सटीकम् | ०—१०—० |
| ६५ दानप्रदीपः | २— ०—० |
| ६६ बन्धहेतूदयत्रिभङ्गीप्रकरणं सटीकम्, जघन्योत्कृष्टपदे एककालं गुणस्थानकेषु बन्धहेतुप्रकरणं सटीकम्, चतुर्दशजीवस्थानेषु जघन्योत्कृष्टपदे युगपद्वन्धहेतुप्रकरणं सटीकम्, बन्धोदयसत्ताप्रकरणं च सटीकम् | ०—१०—० |
| ६७ धर्मपरीक्षा जिनमण्डनीया | १— ०—० |
| ६८ सप्ततिशतस्थानकप्रकरणं सटीकम् | १— ०—० |
| ६९ चेइयवंदणमहाभासं छायाटिप्पणीयुतम् | १—१२—० |
| ७० प्रश्नपद्धतिः | ०— २—० |

| ग्रन्थनाम. | मूल्यम्. |
|---|---|
| ×७१ कल्पसूत्रं किरणावलीटीकोपेतम् | ०— ०—० |
| ७२ योगदर्शनं सटीकं योगविंशिका च सटीका | १— ८—० |
| ७३ मण्डलप्रकरणं सटीकम् | ०— ६—० |
| ७४ देवेन्द्रनरकेन्द्रप्रकरणं सटीकम् | ०—१२—० |
| ७५ चन्द्रवीरशुभा-धर्मधन-सिद्धदत्तकपिल-सुमुखनृपादिमित्रचतुष्ककथाः | ०—११—० |
| ७६ जैनमेघदूतकाव्यं सटीकम् | २— ०—० |
| ७७ श्रावकधर्मविधिप्रकरणं सटीकम् | ०— ८—० |
| ७८ गुरुतत्त्वविनिश्चयः सटीकः | ३— ०—० |
| ७९ ऐन्द्रस्तुतिचतुर्विंशतिका सटीका | ०— ४—० |
| ८० वसुदेवहिण्डीप्रथमभागः | ३— ८—० |
| ८१ वसुदेवहिण्डीद्वितीयभागः | ३— ८—० |
| ८२ बृहत्कल्पसूत्रं सटीकं प्रथमो भागः | ४— ०—० |
| ८३ ,, ,, द्वितीयो भागः | ६— ०—० |
| ८४ ,, ,, तृतीयो भागः | ५— ४—० |
| ८५ सटीकाः चत्वारो नव्यकर्मग्रन्थाः | २— ०—० |
| ८६ पञ्चम-षष्ठकर्मग्रन्थौ सटीकौ | |
| ८७ बृहत्कल्पसूत्रं सटीकम् चतुर्थो विभागः | ६— ८—० |
| ८८ बृहत्कल्पसूत्रं सटीकम् पञ्चमो विभागः | ५— ४—० |

## श्रीआत्मानन्द-जैनग्रन्थरत्नमालायां मुद्र्यमाणा ग्रन्थाः ।

बृहत् कल्पसूत्रं सटीकं षष्ठो विभागः

धर्माभ्युदयमहाकाव्यम् (सङ्घपतिचरितम्)

## श्रीआत्मानन्द-जैनग्रन्थरत्नमालायां मुद्रयिष्यमाणा ग्रन्थाः ।

वसुदेवहिण्डी तृतीयो विभागः

मलयगिरिशब्दानुशासनम्